

JAYAVALLABHA'S  
**VAJ 'ĀLAGGAM**

with  
Hindi Translation and Explanation

*by*

VIS. LNATH PATHAK  
M. A , Sahityacarya, Prakritacarya  
Lecturer  
H. T. Inter College, Tanda  
Faizabad (U. P.)



P. V. RESEARCH INSTITUTE  
VARANASI - 221005  
1984

## समप्पणं

एण्ह जस्स दुल्लहा चाणो जस्स पावणं किच्छं ।  
जस्स सुवयणं सिविणीहूअं, डंवर-सुमण-सरिच्छं ॥  
जस्स पेत्तए णच्चइ ख्वं, झाणे गुणो वलगाइ ।  
जस्स चेट्ठिए चिन्तिज्जते, अग्गो उररम्मि लगाइ ॥  
जेण जए हं कओ अपुत्तो, अंवा कआ अवित्ता ।  
कआ य भइणी भाइविहूणा, सुहा सुयोमल-चित्ता ॥  
दीवावली जेण मह णीआ, जणणीए तिलछट्ठी ।  
रक्खा-पव्वं हिअं ससाए, पियामहस्स विलट्ठी ॥  
घणं जेण तारिसं मेल्लिअं, तिमिरं मज्झ समीवे ।  
दिणे ण णस्सइ उइए सुरिए, णिसि ण पलित्ते दीवे ॥  
अज्ज तस्स णिट्ठुरस्स हा हा, दूरं गयस्स सगं ।  
हरिप्पसायस्सिणमप्पिज्जइ, सस्स वज्जालमं ॥



## समर्पण

अब जिसकी वाणी दुर्लभ है, जिसका मिलना कठिन है,  
जिसका सुन्दर मुंह गूलर के फूल के समान सपना हो गया,  
जिसका रूप आँखों में नाचता है,  
जिसका गुण ध्यान पर चढ़ा है,  
जिसकी चेष्टायें सोचने पर हृदय में आग लग जाती है,  
जो जगत् में मुझे अपुत्र, माँ को निर्धन और सुकोमल  
हृदया बहन सुधा को भ्रातृहीन करके चला गया,  
जिसने मेरी दीवाली, माँ की तिलपष्ठी बहन का  
रक्षाबन्धन और पितामह की लाठी छीन ली, जिसने  
मेरे निकट वह घना अन्धकार छोड़ दिया है जो  
न तो दिन में सूर्य के निकलने पर नष्ट होता है और  
न रात में दीपक जलाने पर,  
हाय ! आज सुदूर स्वर्ग को गये हुए उसी निष्ठुर हरिप्रसाद  
को यह वज्जालम्ह आँसुओं के साथ समर्पित है ।



## प्रकाशकीय एवं सम्पादकीय

साहित्य के क्षेत्र में सुभाषितों एवं सूक्तियों का अपना स्थान है। सुभाषित काव्यों में धर्म, नीति, वैराग्य, शृङ्गार आदि सभी विधाओं को स्थान मिला है। सुभाषित और सूक्तियाँ कभी तो किसी मूल ग्रन्थ का एक अङ्ग होती हैं और कभी उन्हें उन कथाग्रन्थों से अथवा उपदेशपरक ग्रन्थों से अलग करके संकलित कर लिया जाता है। जैन आचार्यों ने भी प्राकृत और नस्कृत भाषा में ऐसे अनेक सूक्तिग्रन्थों का संकलन किया है। वज्जालग भी एक सूक्तिग्रन्थ है। इसके सन्दर्भ में हमें स्पष्ट हो जाना चाहिए कि इसकी अधिकांश गाथाएँ संकलनकर्ता की अपनी मौलिक रचना न होकर विविध ग्रन्थों से संकलित की गयी हैं। यद्यपि यह सम्भव है कि इसमें कुछ सूक्तियों का प्रणयन स्वयं संकलनकर्ता ने भी किया हो। संकलनकर्ता ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही इस तथ्य को स्पष्ट कर देता है—

विविह कइविरइयाण गाहाण वरकुलाणि धेतूण ।

इय वज्जालग विहिगा जयवल्लह नाम ॥

अर्थात् विविध कवियों द्वारा रचित श्रेष्ठ गाथाओं को लेकर जयवल्लभ ने वज्जालग की रचना की। अतः यह स्पष्ट है कि यह एक संकलन ग्रन्थ है।

प्राकृत साहित्य में सूक्ति-कोशों की यह परम्परा राजा हाल से प्रारम्भ होती है। उनकी गाथा सप्तशती (गाथासत्तसई) सुप्रसिद्ध है। गाथासत्तसई के बाद प्राकृत के सूक्ति-कोशों में वज्जालग का स्थान माना जा सकता है। यद्यपि हाल के गाथासत्तसई और वज्जालग के बीच उबएस-माला जैसे अन्य सूक्तिग्रन्थ निर्मित हुए हैं, किन्तु साहित्यिक दृष्टि से तो हमें उनके बाद वज्जालग को ही स्थान देना होगा। ऐसा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हिन्दी जगत् को अलभ्य रहे, यह कभी सदैव खटकती रही। आज वज्जालग नामक यह सुभाषित ग्रन्थ हिन्दी अनुवाद सहित पाठकों के हाथों में प्रस्तुत करते हुए हम प्रसन्नता एवं सकोच का अनुभव कर रहे हैं। हमें प्रसन्नता तो इस अर्थ में है कि प्राकृत का एक ग्रन्थालय—जा हिन्दी-पाठकों के लिए दुर्लभ था—मुलभ हो गया। वस्तुतः यह



ग्रन्थ सर्वप्रथम जर्मन विद्वान् लेबर द्वारा विंग्लोथिका इण्डिका के क्रमांक २२७ पर कलकत्ता से सन् १९४४ मे प्रकाशित हुआ था । लेबर के परिचयात्मक निबन्ध मे इस ग्रन्थ पर प्रकाश डाला गया और अंग्रेजी मे भी अनूदित होकर प्रकाशित हुआ । प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी की ओर से सन् १९६९ मे प्रो० एम० वी० पटवर्धन के द्वारा यह प्रथम बार अंग्रेजी अनुवाद के साथ छपा । किन्तु आज तक इस सरस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद उपलब्ध नहीं था । वस्तुतः हमने जो इसके प्रकाशन के लिए सकोचमिश्रित प्रसन्नता का प्रयोग किया, उसका कारण यह है कि इसका हिन्दी अथवा अन्य किसी भारतीय भाषा मे प्रकाशन करना बड़े साहस का कार्य था । वस्तुतः जब श्रीविश्वनाथ पाठक ने इसका हिन्दी अनुवाद हमारे समक्ष प्रस्तुत किया तो उसके प्रकाशन के सन्दर्भ मे निर्णय लते समय हमे असमंजस की स्थिति से गुजरना पडा । यद्यपि इसके पूर्व उनके वज्जालग की कुछ गायानों के हिन्दी विवेचन "श्रमण" मे प्रकाशित हो चुके थे । वस्तुतः भारतीय भाषाओं मे अनुवाद के सहित इसके प्रकाशन के लिए कोई भी साहस नहीं जुटा रहा था । प० बेचर-दासजी ने इसका गुजराती मे अनुवाद भी किया, किन्तु वह भी अभी तक प्रकाशित नहीं हो पाया है । प्राकृत भारती से भी इसकी कुछ चुनी हुई गायानों का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हो रहा है । किन्तु समग्र वज्जालग को हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित करना एक बहुत बड़े साहस का काम है । हमने यह साहस किया है । हम इस बात का भी पूर्व-अनुमान कर चुके हैं कि इसकी उभय प्रकार की प्रतिक्रियाएँ हो सकती हैं । कुछ लोग इस सन्दर्भ मे विद्याश्रम की प्रकाशन नीति की आलोचना भी कर सकते हैं, किन्तु हमने इस सन्दर्भ में विशुद्ध रूप से एक अकादमीय दृष्टिकोण मे सोचा है । प्रथम तो हम यह आवश्यक समझते हैं कि यदि प्राकृत भाषा और उसकी कृतियों की रक्षा करनी है तो हमे ऐसा साहस करना ही होगा । अन्यथा साहित्यिक दृष्टि से महत्वपूर्ण अनेक सरस प्राकृत-कृतियों के परिचय से ही विद्वत्समाज वंचित रह जायेगा । वस्तुतः ग्रन्थकार और टीकाकार की अव्यक्त प्रेरणा से ही हम यह साहस जुटा पाये हैं, जय एक जैन मुनि इन गायानों का संग्रह कर सकता है और दूसरा उस पर वृत्ति भी लिख सकता है तो हम नहीं समझते कि इसका प्रकाशन कर हमने कोई अपराध किया है । पुनः वज्जालग मे ऐसा बहुत कुछ है, जो मनुष्य को सम्यक् जीवन जीने की एक बला सिखा सकता है । वस्तुतः वज्जा-

लग की गाथाएँ मनुष्य को एक जीवनदृष्टि प्रदान करती हैं। यह ठीक है कि उसमें काम-मम्बन्धी गाथाओं का भी संकलन है, किन्तु काम भी मानव-जीवन का एक अंग है। वस्तुतः वह हमारे जीवन के अन्तर्ग में बैठा है और उसे जीवन से नकारा नहीं जा सकता है। यह ठीक है कि उसका परिशोधन और परिष्कार सम्भव है और हम यह भी देखते हैं कि बङ्गालाग के रचयिता ने अनेक प्रसंगों में मनुष्य की काम-वृत्ति के परिष्कार का निर्देश दिया है। वस्तुतः प्रस्तुत ग्रन्थ के हिन्दी अनुवाद और गाथाओं के स्पष्टीकरण में श्री विस्वनाथ पाठक ने जो परिश्रम किया था, उसे विद्वज्जन के सामने लाना हमें अनिवार्य लग रहा था और इसीलिए हमने भावी आलोचनाओं की चिन्ता न कर इसे प्रकाशित करने का साहस किया। श्री पाठक जी का प्रयत्न इसलिए भी मराहनीय है कि उन्होंने ऐसी अनेक गाथाओं को—जिन्हें संस्कृत टीकाकार रत्नदेव और अग्रेजी अनुवादक प्रो० एम०वी० पटवर्धन ने अस्पष्ट कहकर छोड़ दिया था—विवेचित करने का प्रयास किया है। उनका श्रम सार्थक होगा, यदि विद्वज्जन उनके इस विवेचन से लाभान्वित होंगे। हम इस प्रकाशन के सन्दर्भ में विद्वज्जनों की प्रतिक्रियाओं से लाभान्वित हो, यही एकमात्र अपेक्षा रखते हैं। वस्तुतः इस ग्रन्थ का प्रकाशन उन लोगों को—जो साहित्यिक अभिरुचि रखते हुए भी यह मानकर चलते हैं कि लालित्य और सौन्दर्य-बोध केवल संस्कृत भाषा में ही सम्भव है, उन्हें—अपनी दृष्टि को परिवर्तित करने के लिए विवश करेगा। स्वयं ग्रन्थकार की यह सूक्ति कि जिसने अमृतमय प्राकृत काव्य को न पटा है और न सुना है फिर भी रागात्मकता की बात करने हैं, वे लज्जित क्यों नहीं होते—हमें सार्थक लगती है। अब यह प्रकाशन सुधीजनों के हाथों में है और वे ही इसकी उपयोगिता, महत्ता और आवश्यकता के निर्णायक हैं। हमने तो मात्र लेखक, अनुवादक और पाठक के बीच एक माध्यम बनने का कार्य किया है, वह भी कितना उचित या अनुचित है, यह भी निर्णय पाठकों को ही देना है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के हिन्दी अनुवाद के लिए श्री पाठकजी ने जो परिश्रम किया है, वह कभी भी विस्मृत नहीं किया जा सकता है। प्रो० विस्वनाथ पाठक अपने सकोची स्वभाव के कारण यद्यपि अधिक लोगों के परिचय में नहीं आ सके हैं, परन्तु ग्रन्थ के हिन्दी अनुवाद एवं अर्थ-विश्लेषण से वह छिपी हुयी प्रतिभा प्रकाश में आयेगी—ऐसा हमारा निश्चित विश्वास

है। आज जब प्राकृत भाषा के विद्वान् अल्प से अल्पतम होते जा रहे हैं, तब प० विश्वनाथ पाठक जैसे प्राकृत भाषा में गहरी पैठ रखने वाले विद्वान् को पाकर निश्चय ही हम एक सन्तोष का अनुभव कर रहे हैं। प्राकृत में उनकी गति क्या है, इसका प्रभाव तो स्वयं उनका अनुवाद ही है। उन्होंने पूर्व के टीकाकारों और अनुवादकों द्वारा अस्पष्ट और अज्ञात गायत्री का सगतिपूर्ण अर्थ देकर अपने प्राकृत ज्ञान-गाम्भीर्य को प्रकट कर दिया है। प्रकाशन की इस वला में हम उनका हार्दिक अभिनन्दन करते हैं। यदि उनका यह श्रम हमारे साथ न होता तो आज यह ग्रन्थ आप नव के हाथों में नहीं पहुँच पाता।

हम प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी के मन्त्री प० दलमुख भाई मालवणिया के अत्यन्त आभारी हैं, जिन्होंने मूल गायत्री और उनकी संस्कृत छाया को अंग्रेजी संस्करण से यथावत् लेने की अनुमति प्रदान की। प० विश्वनाथ पाठक को जहाँ पूर्व संस्करण की संस्कृत छाया में त्रुटियाँ परिलक्षित हुईं, उन्हें हमने परिशिष्ट (ख) में स्थान दिया है। मूल भाग में प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी के संस्करण के अनुसार ही गायत्री और उसकी छाया को रखा गया है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन एवं मुद्रण के कार्यों में डा० रविकर मिश्र एवं डा० अरुणप्रताप सिंह आदि का जो सहयोग मिला है, उसके लिए भी हम आभारी हैं।

अन्त में हम रत्ना प्रिंटिंग वर्क के संचालकों के प्रति अपना आभार प्रकट करते हैं, जिन्होंने इस ग्रन्थ के सुन्दर एवं कलापूर्ण मुद्रण में हमें सहायता दिया है।

भूपेन्द्रनाथ जैन  
मन्त्री

डा० सागरमल जैन  
निदेशक

सोहनलाल जन विद्या प्रसारक समिति,  
फरीदाबाद

पा० वि० शोधमस्यान  
वाराणसी

## वज्जालग के हिन्दी अनुवाद सहित प्रस्तुत संस्करण के प्रकाशन-हेतु एवं वैशिष्ट्य

(१) वज्जालग अपने हिन्दी अनुवाद सहित प्रथम बार प्रकाशित हो रहा है। इसके पूर्व इस ग्रन्थ के जो भी सम्पादित और अनूदित संस्करण थे, वे अंग्रेजी अथवा अन्य विदेशी भाषाओं में ही थे। स्व० प० वेचरदासजी ने गुजराती में इसका अनुवाद किया था। परन्तु वह भी अभी तक अप्रकाशित ही है। अतः यह सगर्व कहा जा सकता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ किसी भारतीय भाषा में प्रथम बार प्रकाशित होकर पाठकों के सम्मुख आ रहा है।

(२) वज्जालग के अंग्रेजी संस्करण में प्रो० पटवर्धन ने यह स्वीकार किया है कि पर्याप्त प्रयास करने पर भी अनेक गायार्थों के सन्तोषजनक अर्थ नहीं लग पाये हैं, साथ ही अनेक गायार्थों को अस्पष्ट कहकर अननूदित ही छोड़ दिया गया है। प्रस्तुत संस्करण में उन सभी गायार्थों का अर्थ एवं सगतिपूर्ण व्याख्या की गयी है।

(३) अंग्रेजी अनुवाद में जिन अनेक गायार्थों की सगतिपूर्ण व्याख्या नहीं हो पायी थी, उनकी सगतिपूर्ण एवं प्रामाणिक व्याख्या करने का प्रयत्न किया गया है, साथ ही संस्कृत टीकाकार रत्नदेव ने भी जिन गायार्थों अथवा शब्दों को अव्याख्यात छोड़ दिया था अथवा जिनकी भ्रामक व्याख्या की थी, उन सभी के वास्तविक अर्थ को सविस्तार स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

(४) संस्कृत टीका के वाक्यों का अन्यथा अर्थ समझकर अंग्रेजी अनुवाद में जो भ्रान्तियाँ हो गयी थी, उनका प्रस्तुत संस्करण में निराकरण किया गया है। इसके साथ ही पूर्ववर्ती टीकाकारों की अशुद्ध संस्कृत छाया को परिशिष्ट 'ख' में परिमार्जित एवं सशोधित करके प्रस्तुत किया गया है।

(५) प्रो० पटवर्धन ने अपने अंग्रेजी अनुवाद में अनेक गायार्थों को संस्कृत टीका पर जो अनुचित आक्षेप किये थे, प्रस्तुत संस्करण में उनका समुचित परिमार्जन किया गया है ।

(६) वज्जालग को हस्तप्रतियो में जो अतिरिक्त गायार्थ उपलब्ध हुई हैं, उनका भी हिन्दी में अनुवाद किया गया है ।

(७) धम्मियवज्जा के अर्थ को नवीन दृष्टिकोण से व्याख्यायित करने का प्रयत्न किया गया है ।

(८) वज्जालग का अन्य नाम 'जयवल्लभ' था—इस प्रवाद का निरसन किया गया है ।

(९) विस्तृत भूमिका में ग्रन्थकार का काल, वज्जालग शब्द का अर्थ, वज्जालग का वैशिष्ट्य प्रभृति विषयों पर विशद विवेचन किया गया है ।

—विश्वनाथ पाठक

## विषय-सूची

### भूमिका

मूल गायार्ण एवं उनका हिन्दी अनुवाद

पृष्ठमंख्या १—२७३

सोयारवज्जा (श्रोतृ पद्धति) २; गाहावज्जा (गाया पद्धति); कव्यवज्जा (काव्य पद्धति) ५८; सज्जनवज्जा (सज्जन पद्धति) १२; दुज्जनवज्जा (दुर्जन पद्धति) १८; मित्रवज्जा (मित्र पद्धति) २२; नेहवज्जा (स्नेह पद्धति) २६; नीइवज्जा (नीति पद्धति) २८; घोरवज्जा (घोर पद्धति) ३२; साहसवज्जा (साहस पद्धति) ३६; दिव्यवज्जा (दिव पद्धति) ४२; विहिवज्जा (विधि-पद्धति) ४४; दीणवज्जा (दीण पद्धति) ४७, दारिद्र्यवज्जा (दारिद्र्य पद्धति) ४८; पट्टवज्जा (प्रभु पद्धति) ५०; सेव्यवज्जा (सेवक पद्धति) ५२; मुह्ववज्जा (मुभट पद्धति) ५६; धवलवज्जा (धवल पद्धति) ६०; विघ्नवज्जा (विघ्न पद्धति) ६४; गयवज्जा (गज पद्धति) ६४; सीहवज्जा (सिंह पद्धति) ६८; बाह्वज्जा (व्याध पद्धति) ७०; हरिणवज्जा (हरिण पद्धति) ७४; करह-वज्जा (करम पद्धति) ७६; मालईविज्जा (मालती पद्धति) ७८; इदिर-वज्जा (इन्दिर पद्धति) ८०; सुरतरुविसेसवज्जा (सुरतरुविशेष पद्धति) ८६; हंसवज्जा (हंस पद्धति) ८८; चंदवज्जा (चन्द्र पद्धति) ९०; छइल्लवज्जा (विदग्ध पद्धति) ९२; पंचमवज्जा (पञ्चम पद्धति) ९६; नयणवज्जा (नयन पद्धति) ९८; यणवज्जा (स्तन पद्धति) १०२; लावणवज्जा (लावण्य पद्धति) १०६; सुरयवज्जा (सुरत पद्धति) १०८; पेम्मवज्जा (प्रेम पद्धति) ११२; माणवज्जा (मान पद्धति) ११८; पवसियवज्जा (प्रोषित पद्धति) १२४; विरहवज्जा (विरह पद्धति) १२६; अणंगवज्जा (अनङ्ग पद्धति) १३२; पुरिमालावज्जा (पुरुषालाप पद्धति) १३४; पियाणुरायवज्जा (प्रियानुराग पद्धति) १३६; दूईवज्जा (दूतो पद्धति) १४०; ओलुग्गाविया-वज्जा (अवरणा पद्धति) १४२; थयियवज्जा (थयिक पद्धति) १४८; धन्नवज्जा (धन्य पद्धति) १५०, हिययसंवरणवज्जा (हृदयसंवरण पद्धति) १५२; सुघरिणीवज्जा (सुगृहिणी पद्धति) १५४; सईवज्जा (सती पद्धति) १५६; असईवज्जा (असती पद्धति) १६०; जोदसियवज्जा (ज्योतिषिक-

पद्धति) १६८; लेह्यवज्जा (लेखक पद्धति) १७४; विज्जवज्जा (वेद्य पद्धति) १७४, धम्मियवज्जा (धार्मिक पद्धति) १७८; जंतियवज्जा (यान्त्रिक पद्धति) १८२; मुसलवज्जा (मुसल पद्धति) १८४; बालामवरणवज्जा (बालासंवरण पद्धति) १८६; कुट्टिणीसिक्खावज्जा (कुट्टिनोशिखा पद्धति) १८८; वेसावज्जा (वेद्या पद्धति) १९२; किविणवज्जा (कूपण पद्धति) १९८; उड्डवज्जा (कूपस्तनक पद्धति) २००; कण्हवज्जा (कृष्ण पद्धति) २०२; रुद्धवज्जा (रुद्ध वज्जा) २०६; हियाओवज्जा (हृदयवती पद्धति) २०८; ससयवज्जा (शयक पद्धति) २१४, वसन्तवज्जा (वसन्त पद्धति) २१६; गिम्हवज्जा (ग्रीष्म पद्धति) २२०; पाठसवज्जा (प्रावृट् पद्धति) २२०; सरयवज्जा (शरत्पद्धति) २२४; हेमन्तवज्जा (हिमन्त पद्धति) २२४, सिसिरवज्जा (शिशिर पद्धति) २२४, जरावज्जा (जरा पद्धति) २२६, महिलावज्जा (महिला पद्धति) २२८, पुक्ककयकम्मवज्जा (पूर्वकृतकर्म पद्धति) २३०; ठाणवज्जा (स्थान पद्धति) २३२, गुणवज्जा (गुणपद्धति) २३४, गुणाणिदावज्जा (गुणनिन्दा पद्धति) २३६; गुणमलाहावज्जा (गुणरत्नावा पद्धति) २३८; पुरिसणिदावज्जा (पुरुषनिन्दा पद्धति) २४०; कमलवज्जा (कमल पद्धति) २४०, कमलणिदावज्जा (कमलनिन्दा पद्धति) २४२, हनमाणसवज्जा (हसमानस पद्धति) २४६; चक्कवायवज्जा (चक्काव पद्धति) २४६; चंदणवज्जा (चन्दन पद्धति) २४८; वडवज्जा (वट पद्धति) २५०, तालवज्जा (ताल पद्धति) २५२; पलासवज्जा (पलाश पद्धति) २५२, वडवानलवज्जा (वडवानल पद्धति) २५४; रयणायवज्जा (रत्नाकर पद्धति) २५४, समुद्दिदावज्जा (समुद्रनिन्दा पद्धति) २६०, सुवण्णवज्जा (सुवर्ण पद्धति) २६२; आइच्चवज्जा (आदित्य पद्धति) २६४, दीवयवज्जा (दीपक पद्धति) २६४; पियोन्नावज्जा (प्रियोन्नाप पद्धति) २६६, दोसियवज्जा (दोषिक पद्धति) २६८; पज्जनगाहानुमल (पर्यन्तगाथायुगलम्) २७२ ।

परिशिष्ट 'क' (अतिरिक्त गायार्थे) -

२७४-३४१

गाहावज्जा २७४, कव्ववज्जा २७४, तज्जनवज्जा २७८, दुज्जनवज्जा २७८, मित्तवज्जा २८०, नेह्वज्जा २८४, नोइवज्जा २८४, साहमवज्जा २९०, सेवपवज्जा २९०, सुद्धवज्जा २९०, गववज्जा २९२, बाह्वज्जा २९४, करह्वज्जा २९४, इदिदिरवज्जा २९६, हसवज्जा २९८, छइल्लवज्जा २९८, नयणवज्जा ३०२, थगवज्जा ३०४, लावणवज्जा ३०८, मुरयवज्जा

३१०, पेम्भवज्जा ३१०, माणवज्जा ३१४, पवणियवज्जा ३१४, विरहवज्जा ३१६, अणवज्जा ३१८, पियाणुरायवज्जा ३१८, दूर्ध्वज्जा ३२०, ओटु-गावियावज्जा ३२०, पथियवज्जा ३२२, धनवज्जा ३२४, हियमवरण-वज्जा ३२४, सुघरिणीवज्जा ३२६, सईवज्जा ३२६, असईवज्जा ३२८, जोइसियवज्जा ३३२, धम्मियवज्जा ३३२, बालासवरणवज्जा ३३८, कुट्टिणीसिक्खावज्जा ३३४, वेसावज्जा ३३४, कण्हवज्जा ३३४, हिमालो-वज्जा ३३६, वसतवज्जा ३३६, पाउसवज्जा ३३८, बालासिलोवज्जा ३४० ।

परिशिष्ट 'ख' (कल्पित गायार्थों के अर्थ पर पुनर्विचार) : ३४२-४९६

गाथा क्रमांक (१) ३४२, गाथा क्रमांक (३) ३४३, गाथा क्रमांक (१०) ३४७, गाथा क्रमांक (२०) ३४७, गाथा क्रमांक (४६) ३४८, गाथा क्रमांक (५०) ३४९, गाथा क्रमांक (५३) ३५०, गाथा क्रमांक (५७) ३५०, गाथा क्रमांक (५८) ३५१, गाथा क्रमांक (६१) ३५२, गाथा क्रमांक (७०) ३५३, गाथा क्रमांक (७३) ३५४, गाथा क्रमांक (१०६) ३५५, गाथा क्रमांक (११०) ३५६, गाथा क्रमांक (१२१) ३५६, गाथा क्रमांक (१२७) ३५६, गाथा क्रमांक (१५४) ३५७, गाथा क्रमांक (१५९) ३५७, गाथा क्रमांक (१६२) ३५८, गाथा क्रमांक (१८३) ३५९, गाथा क्रमांक (२१०) ३५९, गाथा क्रमांक (२२५) ३६०, गाथा क्रमांक (२४०) ३६०, गाथा क्रमांक (२४१) ३६०, गाथा क्रमांक (२४४) ३६१, गाथा क्रमांक (२४९) ३६१, गाथा क्रमांक (२५५) ३६३, गाथा क्रमांक (२८१) ३६४, गाथा क्रमांक (२८८) ३६४, गाथा क्रमांक (१९१) ३६५, गाथा क्रमांक (३०२) ३६७, गाथा क्रमांक (३०९) ३६८, गाथा क्रमांक (३२८) ३७०, गाथा क्रमांक (३३४) ३७१, गाथा क्रमांक (३६९) ३७१, गाथा क्रमांक (३७४) ३७२, गाथा क्रमांक (३९४) ३७२, गाथा क्रमांक (३९७) ३७३, गाथा क्रमांक (४००) ३७४, गाथा क्रमांक (४०२) ३७५, गाथा क्रमांक (४१६) ३७७, गाथा क्रमांक (४१८) ३७८, गाथा क्रमांक (४१९) ३७९, गाथा क्रमांक (४२३) ३८०, गाथा क्रमांक (४६०) ३८१, गाथा क्रमांक (५००) ३८३, गाथा क्रमांक (५०१) ३८४, गाथा क्रमांक (५०३) ३८७, गाथा क्रमांक (५०४, ३९०, गाथा क्रमांक (५०७) ३९१, गाथा क्रमांक (५१२) ३९३, गाथा क्रमांक (५१६) ३९४, गाथा क्रमांक (५१८) ३९६, गाथा क्रमांक



(५२०) ३९७, गाथा क्रमांक (५२१) ३९८, गाथा क्रमांक (५२४) ४००,  
 गाथा क्रमांक (५३८) ४०१, गाथा क्रमांक (५३९) ४०२, गाथा क्रमांक  
 (५४८) ४०३, गाथा क्रमांक (५५५) ४०५, गाथा क्रमांक (५६१) ४०६,  
 गाथा क्रमांक (५६२) ४०७ गाथा क्रमांक (५६३) ४०८ गाथा क्रमांक  
 (५६४) ४११, गाथा क्रमांक (५६६) ४१२, गाथा क्रमांक (५७०) ४१३,  
 गाथा क्रमांक (५७६) ४१५ गाथा क्रमांक (५७९) ४१६, गाथा क्रमांक  
 (५८५) ४१८, गाथा क्रमांक (५८७) ४१८, गाथा क्रमांक ( ९८) ४१९,  
 गाथा क्रमांक (६००) ४२१ गाथा क्रमांक (६०४) ४२३, गाथा क्रमांक  
 (६०९) ४२४, गाथा क्रमांक (६१०) ४२६ गाथा क्रमांक (६२८) ४२७,  
 गाथा क्रमांक (६३४) ४२९, गाथा क्रमांक (६३६) ४३०, गाथा क्रमांक  
 (६४०) ४३१, गाथा क्रमांक (६४१) ४३२, गाथा क्रमांक (६४५) ४३४,  
 गाथा क्रमांक (६५५) ४३४, गाथा क्रमांक (६५६) ४३५ गाथा क्रमांक  
 (६५७) ४३७, गाथा क्रमांक (६६२) ४३९ गाथा क्रमांक (६६३)  
 ४४१, गाथा क्रमांक (६७३) ४४३, गाथा क्रमांक (६८१) ४४३,  
 गाथा क्रमांक (६८३) ४४४, गाथा क्रमांक (६९३) ४४७, गाथा  
 क्रमांक (६९५) ४४८, गाथा क्रमांक (६९९) ४४९, गाथा क्रमांक  
 (७०१) ४५०, गाथा क्रमांक (७०२) ४५१, गाथा क्रमांक (७१२)  
 ४५२, गाथा क्रमांक (७१३) ४५५, गाथा क्रमांक (७१७) ४५६,  
 गाथा क्रमांक (७३०) ४५७, गाथा क्रमांक (७३५) ४५८, गाथा क्रमांक  
 (७३९) ४६०, गाथा क्रमांक (७४१) ४६२, गाथा क्रमांक (७६२) ४६३,  
 गाथा क्रमांक (७८७) ४६५, गाथा क्रमांक (७८९) ४६५ ।

### अतिरिक्त गाथाएँ

गाथा क्रमांक (३१ × ७) ४२५, गाथा क्रमांक (७२ × २) ४२६, गाथा  
 क्रमांक (९० × ६) २६७, गाथा क्रमांक (९० × १२) ४६८, गाथा क्रमांक  
 (१६१ × १) ४६९, गाथा क्रमांक (१९९ × २) ४७१, गाथा क्रमांक  
 (१९९ × ४) ४७२, गाथा क्रमांक (१९९ × ५) ४७४, गाथा क्रमांक  
 (२१४ × १) ४७४, गाथा क्रमांक (२१४ × ५) ४७६, गाथा क्रमांक  
 (२८४ × ६) ४७८, गाथा क्रमांक (२०० × ६) ४७९, गाथा क्रमांक  
 (३१२ × २) ४८०, गाथा क्रमांक (३१२ × ११) ४८१, गाथा क्रमांक  
 (३१८ × ६) ४८२, गाथा क्रमांक (३४९ × ६) ४८३, गाथा क्रमांक

(३४२ × १०) ४८४,	गाथा क्रमांक	(३९७ × २) ४८४	गाथा क्रमांक
(४०१ × १) ४८५,	गाथा क्रमांक	(४५४ × २) ४८६	गाथा क्रमांक
(४२६ × ८) ४८७	गाथा क्रमांक	(५०७ × १) ४९०	गाथा क्रमांक
(५५९ × २) ४९०,	गाथा क्रमांक	(६२४ × ३) ४९२,	गाथा क्रमांक
(६३७ × १) ४९४,	गाथा क्रमांक	(६४१ × ३) ४९५ ।	

गायानुक्रमणिका

४२७-५१२

## शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पक्ष	अशुद्ध	शुद्ध
६	९	गवार	गामार
६	१८	रस	रस
९	५	जिस	जिस मे
१२	४	पठितु	पठित्वा
२४	२	सुरो	सूरो
"	२१	सीस	सीस
२६	४	अधिकतर	अधिकतर
४८	१३	सानुरागमसि	सानुरागोऽसि
८२	१५	निर्भरोत्कण्ठम्	निर्भरोत्कण्ठम्
८४	२०	निश्चितमिन्दिरेण	निश्चितमिन्दिरेण
९८	६	हयपचमस्स	हमपचमस्स
९९	२१	पक्षयुक्त	पक्षयुक्त
१०१	६	पक्षो	पक्षो
१०७	१३	उस की	उस के
१०८	४	अङ्गप्यमादित	अङ्गप्यमादित
१११	१७	उन	उस
१२०	१	पसिओस	परिओस
१३०	१४	डहई	डहई
१३८	१४	गाढालिगिए	गाढालिगिए
१५३	८	कायाग्नि	कामाग्नि
१५४	२२	तदा	तहा
१५६	८	वरावयो	वरावयो
१६३	५	वह	हम
"	"	करता रहे	करते रह
"	८	को इस	इस
१६५	१०	? ॥१६॥	॥१६॥

१६६	१६	मार्गय	मार्गय
१६७	२५	सुनओ	सुनाओ
१६८	४	पथिक	पथिक
"	८	गणयति	यदि गणयति
१६९	२७	जिस से न पडे मुझे	पडे जिस से न
		समझाना ।	मुझे समझाना ।
१८१	५	धूर्तारित प्रेम	धूर्तारित से प्रेम
१८६	१०	मदह नहओ	मदसणेहओ
१८८	८	इत	इव
१९०	१८	पत्त	पत्ते
१९४	१७	असोलसवासो	असोलमवासो
२०९	२४	समान	समाप्त
२२४	८	शुक्राना	पुशुकाना
२३७	२०	(अच्छाईयाँ	अच्छाईयाँ
२४४	१५	वर्धितकोश	वर्धितकोशो
२४७	१२	(उत्तर)	(इतर)
२५६	७	प्रशसत	प्रशसत
२५७	६	नमक का लक्षण से	नमक, लक्षणा से
२६२	३	त्वदमुधे	त्वमुदधे
२६३	१३	उठता	उठाता
"	२५	क्लिश्यमानो	क्लिश्यमानो
२७०	८	मग	मम
२९५	३	प्रिया कोमल	प्रिया के कोमल
३००	२५	प्रवसपूधू	प्रवस धूप
३०३	१४	जिस का	जिस की
३२६	७	मा रोदिहि	मा रुदिहि
३३४	२६	मालाइदल	मालइदल
३४३	२	को	के
३५०	१२	(अवञ्चिन)	(अवाञ्चिन)
३५३	१९	पुजीभूत	पुजीभूत
३५८	५	(आवदपाले)	(आवइपाले)
३६०	०	चक्खिउ	चक्खिउ

३६०	२१	मरण । पूर्ववर्तिचेष्टासाम्य	मरण पूर्ववर्ति चेष्टा साम्य
३६१	८	अभीष्ट	अनिष्ट
३६२	३१	हो ही जाती ?	हो ही जातो है ?
३७३	१६	तरुणीचल्लोचन	तरुणीचल्लोचन
३७५	१०	तादृश	तादृश
३७७	१७	सश्लेषोऽस्य सल्लग्नता	सश्लेषोऽस्य संलग्नता
३८०	२२	कदम	देवता
३८७	६	दिशा	दशा
३८८	१७	निराकाश	साक्षात्
४०२	१	रयणेणा	रयणेण
४०४	९	उसिरुण	उसिरुण
४०५	१०	हे मूर्ख	हे मूर्ख
४०६	२१	द्वारा विहीन	द्वारा
„	२६, २७	रोटी के अर्थ	रोटी के पक्ष में अर्थ
४०८	१४	मुट्ठी संबहइ	मुट्ठी संबहइ
४०९	२१	(विध्यायाति)	(विध्यायति)
४१३	१६	टिप्पणी में पता नहीं कि	टिप्पणी में लिखा है कि
„	२५	(भगुरता)	(भगुरता) द्वारा
„	२६	में	×
४१४	६	सुलभ	मानें तो वह सुलभ
„	२१	वादी	वादी
४१५	२३	नपुंसकम्	नपुंसकम्
„	२५	वेश्याहृदय	वेश्याहृदयम्
४१६	३	कामविकाराच्छेदकम्	कामविकारोच्छेदकम्
४२१	२६	तृप्त्याभाव	तृप्त्यभाव
४२२	२४	पाणय	पाणय
४२३	२१	अत्यो अणं	अत्यो घण
४२५	१९	स्तभात्	स्तस्मात्
४४४	१०	याद	यदि
४५०	४	चतुर्थ = चरण निविष्ट	चतुर्थ चरण निविष्ट

४५०	२७	गुरुत्वलाघव वशात्	गुरुत्वलाघवच्छन्दो- वशात्
४५२	२०	जनीये	जानीये
४५३	२८	आप्याञ्च	आप्यञ्च
४५९	१५	(फलनामनद्धि )	(फलनामनद्धि )
४६१	१५	मुकुलयश्च	मुकुलयतश्च
४६४	१	यानी पात्रिण	यानपात्रिण
"	२७	उपाधि = वैतथ्य	उपाधि वैतथ्य
"	२८	सायत्तिक	सायत्तिक
४६६	५	जब	जब प्रेमो
४६८	४	यदृच्छ	यदृच्छा
४७३	८	पूर्णस्वर	पूर्वस्वर
४७५	७	विरल से विरल	विरल से विरल
४७६	१३	या जस्स	य जस्स
"	१०	पश्चात्ताप	पश्चात्ताप
४७८	१८	अन्य को	अन्यकोई
४८२	२१	बुद्धा	बुद्ध
४८४	६	निपेध	(निपेध)
४८७	२	अलीकसगमाशयो	अलीकसगमाशया
४८८	२७	रमिता युक्ता	रमिता भुक्ता
४९६	११	(क्षुधया वा)	(क्षुधया वा)
"	२१	साधा	सोधा

## भूमिका

प्राकृत सुभाषित ग्रन्थों में वज्जालम्ब का अप्रतिम स्थान है। यद्यपि उसे गाथा सत्तसई के समान प्रसिद्धि नहीं प्राप्त हो सकी तथापि उसकी गाथायें किसी भी साहित्य की गौरवान्वित करने में समर्थ हैं। ईसा की प्रथम शताब्दी में हाल ने सामयिक एवं प्राचीन कवियों की उत्कृष्ट मुक्तक रचनाओं को सत्तसई में संचलित कर उन्हें जीवित रखने का जैसा स्तुत्य प्रयास किया था वैसा ही प्रयास आगे चल कर जैन भुनि अयवस्तु ने भी किया है। यदि ये दोनों सग्रह ग्रन्थ न होते तो आज हम कितने बड़ा हूँ काव्य रत्नों से वंचित रहते और भारती के कठहार की कई लड़ियाँ अपूरी होती। गाथा सत्तसई का महत्त्व सर्वविदित है। यह मुक्तक काव्यों का प्राचीनतम सग्रह है। वज्जालम्ब भी मुक्तक काव्यों का सग्रह है और सत्तसई की अपेक्षा पर्याप्त अर्वाचीन है, फिर भी उसका ऐतिहासिक एवं साहित्यिक महत्त्व कम नहीं है। इसमें सत्तसई के अनन्तर रचित मुक्तका के वे सुन्दर परम्परा उदास मुचड़े दिखाई देते हैं, जिनके अभावे कवियों के नाम भी हम नहीं जानते। काव्य की कितनी ही अणिमायें और प्रौढोक्तियाँ वज्जालम्ब में जीवित हैं। उनमें कुछ सत्तसई काल में प्रचलित रही होंगी, परन्तु हाल ने जिन्हें अपने सकलन में स्थान नहीं दिया था और कुछ पश्चात् विकसित हुई होंगी, जिनका प्रभाव उत्तरवर्ती हिन्दी साहित्य पर भी पड़ा है। यह ग्रन्थ भाषा व कितने नूतन प्रयोगों, अप्रस्तुत योजना की कितनी नई प्रवृत्तियों और विभिन्न रसों की अक्षय निधि सँजोये दीर्घ काल तक उपेक्षित पड़ा रहा, इसका कोई व्यवस्थित एवं सर्वांग पूर्ण संस्करण कभी भी उपलब्ध नहीं था। प्राकृत ग्रन्थ परिपद ने अंग्रेजी अनुवाद के साथ इस अमूल्य ग्रन्थ का प्रकाशन कर साहित्य-जगत का बहुत बड़ा उपकार किया है। यदि उक्त संस्करण उपलब्ध नहीं होता तो कदाचित् मुझे वज्जालम्ब पर कुछ लिखने का अवसर ही न मिलता।

### वज्जालम्ब का अर्थ

ग्रन्थकार के शब्दों में वज्जालम्ब विभिन्न पद्यों के समूहों का ऐसा सग्रह है जिसके प्रत्येक समूह का एक एक पृथक् विषय (तोषक) होता है, वज्जा का अर्थ पद्धति है—

एकत्ये पत्यावे जत्य पटिज्जति पउर गाहाओ ।

त खलु वज्जालम्ब वज्ज ति पट्ठई मणिया ॥

वज्जा शब्द संस्कृत वज्जा का प्राकृत रूप है। प्राचीन संस्कृत में उसका अर्थ भस्मे ही गमन या मार्ग रहा हो कालान्तर में वह वर्ग (समूह) के अर्थ में प्रचलित

हो गया था<sup>१</sup>। व्रज् धातु से दो समूहार्थक शब्द निष्पन्न होते हैं—व्रज और व्रज्या। प्रथम अति प्रचलित है और द्वितीय प्रायः अप्रचलित। प्राचीन काल में अपनी या अन्य की स्फुट रचनाओं को सगृहीत करने की परंपरा थी। जिन ग्रन्थों में ऐसी रचनाओं का संग्रह किया जाता था, वे कोप कहलाते थे। आचार्य हेमचन्द्र के काव्यानुशासन में लिखा गया है कि कोप में स्वरचित और पररचित सूक्तियाँ सगृहीत रहती हैं।<sup>२</sup> साहित्य दर्पण के अनुसार अन्योन्यान्वयपेक्षक (स्फुट) पद्यों का संग्रह कोप है। व्रज्या क्रम से रचित कोप-काव्य अति मनोरम होता है।<sup>३</sup> सजातीय पद्यों के एकत्र सन्निवेश (संग्रह) का नाम व्रज्या<sup>४</sup> है। इन उल्लेखों से सूचित होता है कि प्राचीन काल में कोप-रचना की दो प्रमुख परिपाटियाँ थीं। एक में अपन या अन्य के सुन्दर पद्य इतस्ततः सगृहीत कर दिये जाते थे, उन्हें विषयों के अनुसार एक स्थान पर नहीं रखा जाता था। दूसरी में पद्यों का विषयानुसार वर्गीकरण किया जाता था। एक वर्ग के पद्य एक साथ, एक ही क्रम में रखे जाते थे। एक वर्ग में सगृहीत सभी पद्य एक ही विषय का वर्णन करते थे अतएव वे सभी सजातीय कहलाते थे। प्रथम परिपाटी प्राचीन है और द्वितीय अर्वाचीन। प्राकृत में प्रथम का प्रतिनिधि ग्रन्थ गाथा सत्तसई है और द्वितीय का वज्जालग। वर्तमान वज्जालग ९५ व्रज्याओं (वज्जाओं) या वर्गों में विभक्त है। द्वितीय ढग के संग्रहों या कोप-काव्यों में वर्ग का आचार विषय ही होता था। अतः भागे चलकर वर्ग वाचक व्रज्या शब्द अधिकार या प्रकरण के अर्थ में प्रचलित हो गया। इतना ही नहीं व्रज्या के समानार्थक पद्धति का भी उसी अर्थ में प्रयोग होने लगा। इस सन्दर्भ में आचार्य हेमचन्द्र की निम्नलिखित सूचना अत्यधिक महत्वपूर्ण है। उनके अनुसार वज्जा (व्रज्या) का अर्थ है अधिकार या, प्रकरण—

वज्जा अहियारे (व्रज्या अधिकारे)।

—देशीनाममाला, ७।३२

लग्न शब्द का मूल यद्यपि संस्कृत लग्न है तथापि प्राकृत में वह भी एक नये अर्थ में प्रयुक्त होने लगा था। देशीनाममाला में उसका अर्थ चिह्न लिखा है—

लग्ग चिन्हे (लग्नं चिह्ने) —७।१७

१. व्रज्या प्रस्थाने वर्गे पर्यटनेऽपि च ।—मेदिनी

२. स्व पर कृत सूक्तिसमुच्चय कोपः ।—काव्यानुशासन, ६।१३

३. कोप. इत्येक समूहः स्यादन्योन्यान्वयपेक्षकः ।

व्रज्यात्रमेणरचित. स एवात्र मनोरमः ॥—साहित्य दर्पण, ६।३२०.

४. सजातीयानामेकत्रसन्निवेशो व्रज्या ।



प्रो० पटवर्धन ने वज्जालम्ब का अर्थ वज्जाओं (प्रकरणों) का समूह किया है जो ठीक नहीं जान पड़ता, क्योंकि वे लग्न की समूह वाचकता का सतोपजनक प्रमाण नहीं दे सके हैं। पिशेल ने उस काव्य को वज्जालम्ब बताया है जिसका प्रधान लक्षण (चिह्न) वज्जा (प्रकरण) है। मुझे यह अर्थ अधिक सटीक एवं प्रामाणिक लगता है। इस दृष्टि से हम किराताजुनीय और शिशुपालवध की भी श्रव्य काव्य कह सकते हैं क्योंकि उनके प्रत्येक सर्ग के अन्त में श्री या लक्ष्मी शब्द का प्रयोग है<sup>१</sup>। प्राकृत में भी कृष्णलोला युक् ने सिरिचिध (श्री चिह्न) नामक काव्य की रचना की है जिसके प्रत्येक सर्ग के अन्त में सिरि (श्री) का प्रयोग है। रचना-शैली के आधार पर ग्रन्थ का नामकरण कोई नई बात नहीं है और न अस्वामाधिक हो है। गाहासत्तसई का नाम भी सग्रह शैली की दिशा में स्पष्ट संकेत करता है। उसमें पद्यों की शतक क्रम में रत्न कर प्रत्येक शतक के समाप्त होने की सूचना दी गई है। प्रस्तुत सग्रह ग्रन्थ में शतक क्रम की प्रमुखता नहीं है। गाथायें प्रकरण के अनुषार रखी गई हैं। दूसरे शब्दों में यह शतकबद्ध नहीं, प्रकरणबद्ध रचना है। अतः सत्तसई से अपना शैलीगत वैशिष्ट्य प्रकट करने के लिए सग्रहकार ने इसे प्रकरणबद्ध (वज्जालम्ब) ग्रन्थ सज्ञा दी है। यदि हम लग्न की देखी शब्द मान कर चिह्न के अर्थ में न ग्रहण करें, उसे संस्कृत लग्न के अर्थ में ही रहने दें, तो वज्जालम्ब से उस काव्य का अर्थ-बोध होगा जो वज्जाओं (प्रकरणों) से संलग्न हो (वज्जाभिः लग्नं निबद्धं काव्यं वज्जालम्बम् अर्थात् प्रकरणबद्ध रचना) या वज्जाबद्ध शैली में रचा गया हो<sup>२</sup>। विद्वानों के अनुसार इस काव्य का दूसरा नाम अपवल्लभ है। इस बहुवचनित मत का निराकरण तृतीय गाथा के अर्थ-निरूपण में किया गया है।

### संग्रहकार और उनका समय

सग्रहकार ने सर्वज्ञ बदन पद्मज निवासिनी श्रुत देवी को प्रारंभ में प्रणाम किया है, इस से उनका जैन होना निश्चित है। टीकाकार रत्नदेव के अनुसार

१. श्री शब्दरम्यकृतमर्गसमाप्तिलक्ष्म लक्ष्मीपतेरचरितकीर्तनमात्रवाद ।

तस्पात्मजः सुकविकीर्तितुरागयोऽदः काव्य व्यस्त शिशुपालवधाभिधानम् ॥

—माघ

२. संस्कृत में प्रकरण या अबिकार के अर्थ में वज्जा शब्द का प्राचीनतम प्रयोग विद्याकर प्रणीत सुभाषितरत्नकोष में दिखाई देता है। इस सुभाषित सग्रह का रचनाकाल ११०० ई० के लगभग है।

उन का नाम जयवल्गु है । वे स्वैताम्बर जैन थे । स्वयं संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित हान पर भी उन्होंने लोगों को संस्कृतज्ञान दान्य एवं शृंगारप्रिय देस कर प्राकृत गाथाओं का यह संग्रह प्रस्तुत किया था<sup>१</sup> । संग्रहकार ने स्वयं भी मुद्रालंकार शैली में अपना नाम दिया है<sup>२</sup> । वेदुराग्रहीन एवं साम्प्रदायिक संकीर्णता से निमुक्त अर्थात् प्रीत होत है । जैन होने पर भी अपने संग्रह में जैनोत्तर साहित्य को प्रमुख स्थान देना उन के हृदय की उदारता का सजीव प्रमाण है । इस से अधिक संग्रहकार के सम्बन्ध में कोई विशेष बात ज्ञात नहीं है । वज्जालंग की अनेक सरस गाथाएँ ध्वन्यालोक, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, काव्यानुशासन, सरस्वतीकण्ठाभरण प्रभृति ग्रन्थों में उदाहृत हैं परन्तु एक भी स्थान पर उसके नाम का उल्लेख नहीं है । समझ है, काव्य शास्त्र के विभिन्न आचार्यों ने उक्त गाथाएँ किसी अन्य स्रोत से प्राप्त की हों । संस्कृत या प्राकृत की किसी अन्य कृति में भी वज्जालंग या उस के रचयिता की कोई चर्चा नहीं है । ग्रन्थकार ने स्वयं अपना समय नहीं दिया है, अतः उनके काल का निर्धारण करना एक दुःसाध्य कार्य है । वज्जालंग के टीकाकार रत्नदेव ने अपनी टीका का समय सन् १६९३ (ई० १३३६) दिया है जिससे केवल इतना पता चलता है कि मूल ग्रन्थ की रचना इस के पूर्व ही कभी हुई होगी । वाक्पतिराज (७५०ई०) की एक गाथा वज्जालंग में सर्वहीत है । इस आधार पर प्रो० पटवर्धन का मत है कि यह ७५० ई० और १६३६ ई० के मध्य कभी रचा गया होगा । मुझे चतुपन्नमहापुरिसचरित<sup>३</sup> और लीलावर्द्ध<sup>४</sup> की एक-एक गाथा वज्जालंग में मिली

१ देखिये टीका

२ इयं वज्जालंग विरिणो जयवल्गु नाम ।—तृतीय गाथा

३ दधति अहो उद्ध अदति मूलकुरव्व पुह्विण ।

वीयाहि व एववो कुलाहि पुरिसा समुपण्णा ॥—चतुर्वहरो ७२२

वज्जालंग में इस का विवृत पाठ इस प्रकार है—

उद्ध दधति अहो ददति मूलकुरव्व भुवणमि ।

विज्जाहिमए ववो कुलाहि पुरिसा समुपण्णा ॥—७०२

४ ता तुगो मेरगिरो मयरहरो ताव होइ दुत्तारो ।

ता विसमा वज्जगई जाव ण घोरा पवज्जति ॥

—चतुपन्नमहापुरिसचरित-२९।३

यह घोर वज्जा की तेरहवीं गाथा है ।

५ गहिण धूमज्जि कीरो ममई पत्तहात्थो ।

है। परन्तु उक्त दोनों ग्रन्थों का रचनाकाल पूनव्या निर्णय न होने के कारण इस सन्दर्भ में कुछ कहा नहीं जा सकता है। प्रो० पटवर्धन को कई अन्य ग्रन्थों की गाथाओं के साथ उद्योतन सूरि कृत कुवलयमाला को भी दो 'गाथायें वज्जालग में मिली हैं। मैंने मेरुतुगाचार्य प्रणत प्रबन्धचिन्तामणि और राजसेवर सूरि सन्दर्भ प्रबन्धकोश में भी वज्जालग की अनेक गाथायें देखी हैं जा कही अन्यत्र से उद्धृत जान पड़ती हैं, परन्तु उनका किसी अन्य स्थान से सगृहीत होना भी संभव है। प्रो० पटवर्धन ने कुवलयमाला को उक्त दोनों गाथाओं का विश्वसनीय आधार स्थान नहीं माना है। मैं उनके उद्योतन सूरि विरचित होन में सन्देह का कोई विशेष कारण नहीं देखता हूँ क्योंकि कुवलयमाला कोई समग्र-ग्रन्थ नहीं है चम्पू-शैली में निबद्ध एक उत्कृष्ट-कृति है। कुवलयमाला का रचनाकाल ७७९ ई० है। अतः वज्जालग इसके पश्चात् हो रचा गया होगा। वज्जालग में भवभावना की एक गाथा मुझे उपलब्ध हुई है<sup>२</sup>। भव भावना का रचनाकाल समत् ११७० (११९३ ई०) है। यदि उक्त गाथा भलवारी हेमचन्द्र की हो

ओसरमु मिसिर-गरवइ पुहई लद्धा प्रसन्न ॥—शोलावई ७४ × १

यह शोलावई की सभी प्रतियों में नहीं पाई जाती है। वसन्त वज्जा में इस को सगृहीत किया गया है।

१ मा दोसे चिचय मेहहह विरले वि गुणे पयासह जगन्त ।

अबल पडरो वि उयही भण्णइ रमणायरो लोए ॥

—कुवलयमाला पृ० ३

यह रमणायर वज्जा की तीसरी गाथा है। पयासह के स्थान पर पयसह और उयही के स्थान पर उवही पाठ है।

अरथी विज्जा पुरिसत्तण्णइ अण्णइ प्रणसहस्साइ ।

देव्वायसे कज्जे सम्वाइ जगस्स विहवति ॥—कुवलयमाला पृ० १२

यह गाथा दिम्ब वज्जा में है। वहाँ जगस्स के स्थान पर गरस्स पाठ है।

२ जाई रुस विज्जा तिन्नि वि निवडतु कंदरे विवरे ।

आयो चिचय परिवह्णउ जण गुणा पावढा वुत्ति ॥

—पृ० ५३४ कोशाम्बी विप्रकथा

यह दरिद्रवज्जा में पाई जाती है। होंति के स्थान पर वुत्ति पाठ है। भव भावना के छन्दोबद्ध 'कोशाम्बी विप्रकथा' प्रकरण नितान्त सहज भाव से जान वाला यह गाथा कही से उद्धृत नहीं है भलवारी हेमचन्द्र की हो रचना है।

रचना हो तो वज्जालाग का रचनाकाल ११२३ ई० और १२३६ ई० के मध्य माना जा सकता है । ग्रन्थ की अपभ्रंशबहुला भाषा भी इसी तथ्य की पुष्टि करती है ।

### वज्जालाग का परिमाण

वज्जालाग विभिन्न कवियों की मनोरम रचनाओं का संग्रह है, जिसमें अधिकांश गायार्थें मूलतः मुक्तक हैं और कुछ प्रबंधों, आख्यायिकाओं और चरित-काव्यों से सङ्गृहीत की गई प्रतीत होती हैं । हाल की सप्तसई में प्रत्येक गाथा के माथ कवि का नाम भी दिया गया था परन्तु इसमें कवियों का नाम नहीं है । रत्नदेव-कृत संस्कृत टीका में स्थित 'गाहादार' (गाथा-द्वार) की अन्तिम गाथा में वज्जालाग को 'सप्तसईय' बताया गया है । इससे पता चलता है कि प्रारम्भ में इस ग्रन्थ में केवल सात सौ गायार्थें रहें होंगी । कालान्तर में इसकी कल्लेवर वृद्धि होती गई । परिणामतः गाथाओं की संख्या पर्याप्त बढ़ गई और वज्जाओं की संख्या भी लगभग दूनी हो गई । इस समय इस में ७९५ गायार्थें और ९५ वज्जायें पाई जाती हैं । गाहादार में मूल वज्जाओं (प्रकरणों) का उल्लेख इस प्रकार है—

गाहाण कध्वाण सज्जण पिसुणाण नीइ-धीराण ।  
सइ-असइ-धरणि-नेहाण छेय-जतीण मुसलाण ॥  
धम्मिय वेज्ज-निमित्तिय-वेसाण सेवयाण सुहडाण ।  
हरि-मयण-सुरय हिययालियाण दाहाण नयणाण ॥  
सिहिणाण ओलगावियाण दूईण धन्नससाण ।  
पचम-वियोग-पिम्माण भाण-भाण-सवरणाण ॥  
मालइ-भमर-गयाण करहय लायण-वालकित्तीण ।  
दइयाणुरायवालसठवण-वाल-सिक्खणा ॥  
पथिय-हसघणाण वसतयाण य सत्तसइयमि ।  
एव अट्टालीसा हवति वज्जात्ता नायव्वा ॥

—आठवीं गाथा की टीका

इसके अन्तर्गत मूल ग्रन्थ में ४८ वज्जायें और सात सौ गायार्थें हो थी । वर्तमान संस्करण की उपर्युक्त ७९५ गायार्थों में विभिन्न प्रतिपों की अतिरिक्त गाथाओं की भी मिला देने पर यह संख्या बढ़ कर ९९६ हो जाती है । गाहादार में वर्णित ४८ वज्जाओं में ४३ वज्जायें वर्तमान संस्करण में स्पष्टतया उपलब्ध

होती है।<sup>1</sup> बाल-कित्ती और धन-वज्जाओं का पता नहीं है। मानसवरण, बालसवरण और बालसिक्खा को सन्दिग्धरूप से द्वियमसवरण बालसवरण और कुट्टिणोसिक्खा के रूप में स्वीकार कर सकते हैं। शेष वज्जायें, जो गाहादार में उल्लिखित नहीं हैं, वे या तो नई जोड़ गई हैं या विभिन्न वज्जाओं के विभाजन से बनी हैं।<sup>2</sup> जैन विद्वान् के द्वारा संगृहीत होने पर भी वज्जालम्ब में जैनधर्म के सबेस नमण्ड हैं। अधिकतर गाथाओं में हिन्दू पुण्यों के ही सन्दर्भ उपलब्ध होने हैं। शिव, ब्रह्मा, विष्णु, उदयो, पार्वती, गण्ड, क्षीरसागर कृष्ण, राधा प्रभृति नाम और सागरमवन, रासलीला, बलिबन्धन अरिष्टासुरमदन आदि घटनाओं की वर्णन हैं। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ग्रन्थ की सम्पूर्ण सामग्री का ध्यान केवल जैनोत्तर साहित्य से किया गया है। सम्प्रहकार ने सुभाषित शब्द का प्रयोग त्रिषु व्यापक अर्थ में किया है, उसको पश्चिम में रसपेशक काव्य भी आ जाते हैं। मैं समझता हूँ, सच्चे अर्थों में जिन्हें सुभाषित कहा जा सकता है वे उपदेश और नीति से सम्बन्धित पद्य ही अधिकतर जैन साहित्य के विभिन्न ग्रन्थों से लिए होंगे और रस, अलंकार एवं ध्वनि से युक्त शृंगारिक गाथायें जैनोत्तर ग्रन्थों से चुनी गई होंगी। साहित्य की जिन कृतियों का आलोचन कर इस मनोरम गाथाकाव्य का प्रणयन किया गया है उनमें प्रबन्ध काव्य भी हो सकते हैं और मुक्तक भी। साथ ही साथ बहुत से सामयिक कवियों की सुन्दर रचनाओं को भी संकलित किया गया होगा। उन आधारभूत ग्रन्थों में कुछ आज उपलब्ध भी हो सकते हैं और कुछ समय-काल कवलित भी हो चुके होंगे। अतः कौन सी गाथा किम कवि की है, इस का पूर्णतया पता लगाना असम्भव है। हाथ संगृहीत गाथा-सप्तमई की ८३ गाथायें वज्जालम्ब में पाई जाती हैं। उनका विस्तृत विवरण प्रो० पटवर्धन की अंग्रेजी भूमिका में दिया गया है परन्तु यह निश्चित नहीं है कि उनका गाथाएँ गाहासप्तमई से ही संगृहीत हुई हैं।

**संग्रह का प्रयोजन**

मगलाचरण की गाथा में पता चलता है कि ग्रन्थकार का लक्ष्य इस ग्रन्थ के माध्यम से धर्म, अर्थ और काम की शिक्षा देना था। विद्वानों ने विभिन्न

१. सम्भवतः अतिरिक्त गाथाओं में विद्यमान बाल-सिलोह वज्जा हो बाल-कित्ती है जो किसी कारण अपने स्थान में च्युत हो गई है। बाल-कित्ती और बाटा मिलोय—दोनों शब्द समानार्थक हैं।

२. देखिये, प्राच्य ग्रन्थ परिपद् में प्रकाशित वज्जालम्ब में प्रो० पटवर्धन की अंग्रेजी भूमिका।

३. धम्मपिटकमज्झिम सुवण्ण सुहासिय बोच्छ।

वज्जाओं को उक्त तीनों वर्गों में पृथक्-पृथक् बाँटने का प्रयास किया है। मेरे विचार से यह वर्गीकरण न आवश्यक है और न उपयुक्त। धर्म, अर्थ और काम—ये तीनों पुरुषार्थ एक दूसरे के आश्रित एवं पूरक हैं, अतः प्रत्येक से सम्बन्धित गाथाओं को बिल्कुल पृथक् कर लेना सरल कार्य नहीं है। धर्म की चर्चा होने पर अर्थ अछूता नहीं रह सकता है, अर्थ का प्रसंग उठने पर धर्म स्वयं चर्चित हो जाता है और काम का प्रश्न उपस्थित होने पर धर्म और अर्थ सहज भाव से सामने आ जाते हैं। तीनों का प्राधान्य और गुणोत्ताम्य संभव है, पर्याय्य नहीं। विद्वानों ने धर्म को अर्थ और काम का हेतु बताया है—धर्मा-दर्शश्च कामश्च।

प्रो० पटवर्धन के वर्गीकरण से सात वज्जायें धर्म से, सैंतालीस वज्जायें अर्थ से और पैंतीस वज्जायें काम से सम्बन्धित हैं। वज्जालम्ब की विभिन्न वज्जाओं को ध्यानपूर्वक पढ़ने पर उक्त वर्गीकरण की झुटियाँ स्पष्टरूप से झलकने लगती हैं। जोइसिय और विज्ज वज्जाओं में उद्योतिष और वैद्यक के पक्ष में जो अर्थ निकलते हैं क्या उनका सम्बन्ध अर्थ से नहीं है? सुहृद वज्जा में जो नैतिकता, कर्तव्यपरायणता और आत्मोत्थान का वर्णन करने वाली गाथाएँ हैं, क्या वे धर्म से अछूती हैं? दीण वज्जा में जहाँ प्रार्थनामगकारी पुत्र को गर्भ में भी न धारण करने के लिए माता से निवेदन किया गया है वहाँ क्या प्रकारान्तर-से दानशौलता की सुव्यक्त प्रेरणा नहीं मिलती है? मोह-वज्जा की अधिकतर गाथाएँ क्या धर्म का निरूपण नहीं करती? जहाँ दुष्टों के निकट न जाने का उप-देश है वह दुज्जणवज्जा क्या केवल अर्थ की सीमित परिधि में बाँधी जा सकती है? क्या दारिद्र्य वज्जा की वे मार्मिक गाथाएँ जो दरिद्रों के प्रति दयित्व कथना एवं सहानुभूति के भाव जगा देती हैं, हमें अपना कर्तव्य सोचने के लिए बाध्य नहीं कर देती? सेदम-वज्जा की दसवीं गाथा क्या हमें सन्तोष की शिक्षा नहीं देती? यदि धम्मिय वज्जा का श्रृंगारिक अर्थ काम से सम्बद्ध है तो क्या दूसरा अर्थ सपासता से नहीं? जहाँ पण्डितजन की वैश्यालय में न जाने का उपदेश दिया गया है और जहाँ अर्थ पिशाचिनी वेश्याओं की प्रवचनाओं को खुले शब्दों में भर्त्सना की गई है, वह बेस्ता-वज्जा क्या कोरे काम तत्त्व का ही प्रतिपादन करती है, अर्थ और धर्म का नहीं? कृषण की निंदा वरहमें दान की प्रेरणा नहीं देती? हिमाली वज्जा की सभी गाथाएँ क्या काम का ही निरूपण करता है? कुछ गाथाएँ (पाँचवीं और चौदहवीं) क्या व्यर्थपूर्ण शैली में चरित्र की शिक्षा नहीं देती? कर्मफल की अपरिहार्यता का प्रतिपादन करने वाली पुव्व-

कथकम्म वज्जा क्या अर्थ तक ही सीमित है, हमें सरकर्म करने की प्रेरणा नहीं देती ? चन्दन, बट, ताल और पलाश से सम्बद्ध वज्जाओं के वाच्यार्थ की पहुँच अर्थ तक है, तो क्या उनका व्यंग्यार्थ किसी धार्मिक तत्त्व की ओर इंगित नहीं करता है ? समुद्रदण्डिता की भाषायें क्या अर्थ का ही पाठ पठा कर चुप हो जाती हैं ? वार्पण्य की निन्दा क्या सदासत्ता, परोपकार और दान की शिक्षा नहीं देती ? हम उन्हें केवल अर्थ की सकुचित सीमा में बन्द कर क्या साहित्यिक अन्याय नहीं करते हैं ? इसी प्रकार अन्य वज्जाओं में भी विभिन्न पुरुषार्थों का प्रतिपादन परस्पर अनुस्यूत है, प्रत्येक को पुष्ट करना असम्भव है<sup>१</sup> ।

### वज्जालग का संक्षिप्तः

सम्पूर्ण ग्रन्थ १५ वज्जाओं में (प्रकरणों में) विभक्त है, जिनमें केवल प्राकृत केप्रियत एव लोकप्रिय छन्द गाहा<sup>२</sup> (गाथा) का प्रयोग किया गया है । इस छन्द के प्रथम चरण में बारह, द्वितीय में अठारह, तृतीय में बारह और चतुर्थ में पन्द्रह मात्राएँ होती हैं । प्रारम्भ में श्रुतदेवी की प्रणाम कर तुमापित संग्रह के प्रयोजन के साथ प्राकृत काव्य का माधुर्य और शृंगारपेचस्व प्रतिपादित करते हुए यह बताया गया है कि ग्रन्थ का नाम वज्जालग है । इसके अनन्तर वज्जालग का अर्थ और उसके पारायण से मिलने वाले फल का संक्षिप्त वर्णन है । प्रारम्भ की दो वज्जाओं (गाहावज्जा और काव्यवज्जा) में काव्य से सम्बन्धित कुछ भाव्यताओं के संकेत हैं, जिन्हें सम्भवतः ध्यान में रखकर ही गायकों का संग्रह किया गया होगा ।

काव्य रचना कष्टमाव्य होती है, उसका पाठ करना भी सरल कार्य नहीं है परन्तु उनके मर्मज्ञ श्रोता सबसे दुर्लभ हैं । जब सहृदय श्रोता उपलब्ध हो जाते हैं तब किसी भी भाषा का काव्य अपूर्व रस देने लगता है (६, ७) । स्फिष्टर काव्य का प्रमुख दोष है, उसके रहने पर अलंकार, लक्षण और

१. प्रो० पटवर्धन ने जोहगिय, विज्ज, पम्मिय, वेस्ता और हिमाली वज्जाओं को नाम के वर्ग में रखा है और मुह्ठ, दीण, नोह, दुज्जण, दारिह, सेवय, निदिण, पुम्बकयकम्म, चदन, बह्ठाल, पलास और समुद्रदण्डिता वज्जाओं को अर्थ के वर्ग में । (वज्जालग की भूमिका) ।

२. पदमे बारह मत्ता बीए अट्ठारहहिं संजुत्ता ।

अह पदमे ताह सीयं दहर्पच विहसिमा गाहा ॥—प्राकृत पैगल

गेयत्व—सभी गुणों से महित गाथा भी चित्त में खेद उत्पन्न करती है (९, १०) । गाथाओं का मर्म (ध्वनितत्त्व) सहृदय सबेद्य है (११) । वही रचना कामिनी के समान आनन्द प्रदान करती है जो सुन्दर छन्दों एवं सुललित शब्द योजना के साथ-साथ अलंकार और रस से युक्त हो (१२) । सत्वाव्य दोषहीन, ललितपद विन्यासयुक्त, स्फुट (प्रसाद गुणयुक्त) और मधुर होता है । (२४)<sup>१</sup>

काव्य का पाठ भले ही सब लोग कर लें परन्तु उसका परमार्थ (ध्वनि) केवल विद्वान् जन जान पाते हैं<sup>२</sup> (१४) । काव्य का सौन्दर्य उस समय बिल्कुल चौपट हो जाता है जब उसे गंवार लोग सीखने लगते हैं । काव्य का उद्गम हृदय में होता है परन्तु उसका उत्प्रेरक चिन्तन है<sup>३</sup> (७, ८, १९) । जो सबकी प्रशंसा पाने में समर्थ हो वही सत्काव्य है । जिसे सुनकर रोमांच न हो जाय और लोग सिर न हिला दें वह काव्य व्यर्थ है । काव्य की आलोचना वस्तुतः वही कर सकता है जो स्वयं अनुपयुक्त पदों को हटाकर उनके स्थान पर उपयुक्त पद रखने में समर्थ हो । काव्य-पाठक के निम्नलिखित दोष गिनाये गये हैं—

विराम के स्थान पर न छकना, रसहीन होना, देशकाल की उपेक्षा करना, अनुनासिक उच्चारण, स्वरित पाठ, मुँह ऐँठना या बिगाड़ना और राग तोड़ देना (२७) ।

प्राकृत काव्यों के सम्बन्ध में बताया गया है कि वे मधुर वर्णों और छन्दों से विभूषित, शृंगार बहुल तथा देशी शब्दों से युक्त होते हैं । स्फुटता (प्रसादत्व)

१. ये विचार काव्य के निम्नलिखित लक्षणों के अधिक निकट हैं—

निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुण भूषणा ।

सालकारसानेकवृत्तिर्वाक्काव्यनामशाक् ॥—चन्द्रालोक

साम्यशब्दार्थसन्दर्भ गुणलङ्कार भूषितम्

स्फुटरीतिरसोपेत काव्य कुर्वति प्रीतये ॥—वाग्मटालङ्कार

निर्दोष गुणवत्काव्यमलङ्कारैरत्नङ्कृतम् ।

रसान्वित कवि कुर्वन् कीर्ति प्रीति च विन्दति ॥—सरस्वती काण्डाभरण

२. वेद्यते स तु काव्यार्थं तत्त्वज्ञैरेव वेद्यम् ।—ध्वन्यालोक

३. यहाँ चिन्तन में बुद्धि और कल्पना—दोनों का समावेश समझना चाहिए ।

हृदय रागात्मक तत्त्व का बोधक है । इस प्रकार काव्य के तीन तत्त्व यहाँ

प्रतिपादित हैं—बुद्धि-तत्त्व, कल्पना-तत्त्व और रागात्मक तत्त्व ।



विश्रुता गान्भीर्य और प्रावृत्तार्थता (ध्वनिगमितता) उनके प्रमुख गुण हैं (१०) ऐसे शृंगार रस से लबालब भरे, युवतीजन-वत्लभ और मधुराक्षर प्राकृत काव्यों के रहते मला कोई संस्कृत कैसे पढ़ सकता है ? अन्त में अपार भक्ति एवं निष्ठा के उद्गार प्रकट करते हुए प्राकृत काव्य, प्राकृत-कवि और प्राकृत-काव्य-मर्मज्ञ को प्रणाम किया गया है ।

वज्रालङ्कार के प्रारम्भ की पाँच और अन्त की दो गाथायें सप्रहर्षता की रचनायें हैं, शेष अन्ध कवियों की । सम्पूर्ण ग्रन्थ में विभिन्न रसों का अभाव न रहने पर भी शृंगार की प्रमुखता है । अनेक वज्रालङ्कारों में कदम्ब, चोमरस, धीर, अद्भुत और शान्त रसों के उदाहरण बिलेरे पड़े हैं । नायकनिष्ठ प्रणय के दो रूप हैं—स्वकीया के प्रति और परकीया के प्रति । इसी प्रकार नायिकानिष्ठ प्रणय भी द्विविध है—आर या उपपत्ति के प्रति और पति के प्रति । यद्यपि प्राचीन प्रबन्ध काव्यों में स्वकीया का पवित्र प्रणय ही समादृत होता रहा है, तथापि मुक्तक काव्यों की परम्परा में दोनों को स्पृहणीय प्रतिष्ठा प्राप्त हो चुकी थी । वज्रालङ्कार में परकीया नायिका के उद्गम प्रणय का चित्र उपस्थित करने-वाली प्रभूत गाथायें विद्यमान हैं । सम्पूर्ण ग्रन्थ रस, ध्वनि, वक्रोक्ति और अलङ्कृति से परिपूर्ण है । इन्हीं विशेषताओं के कारण इसकी किन्तनी गाथायें काव्यशास्त्र के शीर्षस्थ ग्रन्थों के विभिन्न प्रकरणों में उद्धृत हैं । पद्यवि स्पष्ट, सत्प्रेक्षा, परिकर, काव्यालङ्कार, समासोक्ति, अपह्नुति, दीपक, लुप्त्ययोगिता, अति-शयोक्ति, विरोधाभास, व्यतिरेक, अर्थान्तरभ्यास आदि अलङ्कार-व्यन-व्ययन पर अनायाम मिल जाते हैं तथापि अप्रस्तुत प्रशंसा (वाच्यप्रशंसोक्त पञ्चम भेद,

बनायास आ जाती है । उपमाओं में सादृश और साधर्म्य की अपेक्षा शब्द साम्य का ही प्राधान्य दिखाई देता है । साम्य की इस अनूतार्यता के कारण वर्णनों में कृत्रिमता आ गई है । ऐसे ही स्थलों को लक्ष्य करते हुए आचार्य हट्ट ने उपमा की केवल अर्थालंकार न मानकर अभयालंकार की कीटि में रख दिया था<sup>१</sup> । ऐसे उदाहरणों में शब्द के अतिरिक्त साम्य का अन्य सुदृढ़ आधार न होने के कारण हिन्दी अनुवाद पढ़ते समय कभी-कभी मूल शब्द के अभाव में पूरी उपमा अनर्गल प्रलाप से प्रतिभासित होने लगती है । शब्द साम्यमूलक पूर्णोपमा की वर्णन शैली के दो रूप हैं—एक में उपमान और उपमेय एवं उनके विशेषणों में सामानाधिकरण्य रहता है और द्वितीय में नहीं । द्वितीय शैली को यदि व्याकरण के श्रोत्र से देखें तो वह अनेक स्थानों पर दोष-पूर्ण लगेगी ।

घट्टो वंकग्गोवो अवंचिओ विसमदिट्टिदुप्पेच्छो ।

अहिणवरिद्धिब्ब खलो सुलादिन्नुब्ब पडिहाइ ॥

इस गाथा में खल की उपमा शब्द साम्य के आधार पर नये घनी और शूल-प्रोत चोर से दी गई है । उपमान, उपमेय और उनके विशेषणों में एक ही विभक्ति, एक ही वचन और एक ही लिंग है । यह उपमा कवि की अप्रतिहत-प्रज्ञा और अगाध पांडित्य का परिचय देती है । कोरे शब्दसाम्य की बायबी भित्ति पर एक उपमेय का दो-दो उपमानों के साथ सफल साम्य निर्वाह करना कोई खेल नहीं है ।

ठड्डा खलो व्व सुयणो व्व सगया नरवइ व्व व्व मंडलिया ।

धणया सह दुग्गयचित्थिय व्व हियए न मामंति ॥

इस मालोपमा में उपमान खल, सुयण, नरवइ और दुग्गयचित्थिय एकवचन हैं, जबकि उपमेय धणया बहुवचन है ।

सम उत्तंगविसाला उम्मथियकणयकलससंकासा ।

कामणिहाणो व्व यणा पुण्णविहीणाण दुप्पेच्छा ॥

इस उपमा में उपमान कामणिहाण एकवचन है और उपमेय यणा बहुवचन । अर्थ करने समय बहुवचन विशेषण बहुवचन उपमेय के साथ तो सरलतापूर्वक अन्वित हो जाते हैं, परन्तु उपमान से अन्वित करने के लिये उन्हें एकवचन में परिवर्तित करना पड़ता है ।

१. स्फुटमर्षालङ्कारावेतावुपमासमुच्चयो क्रियते ।

आश्रितः सदमान सामान्यमिहापि सम्भवतः ॥

तुच्छ तवर्णि पि घरे धरिणी तह कह वि नेइ वित्थार ।  
जह ते वि वन्धवा जलनिहि जव्वा थाह ण याणति ॥

इस भाषा में उपमेय तवर्णि में द्वितीया है और उपमान जलनिहि में प्रथमा । यदि घरे को उपमेय मानें तो उसमें सप्तमी है और उपमान में प्रथमा । और यदि वित्थार को उपमेय मान लें तो उस में द्वितीया है और उपमान में प्रथमा ।

पेम्म अणाइ परमत्थ पयडण महम्महो व्व वहुमेय ।

मोहाणुराअजणय अव्वो कि वदिमो निच्च ॥

इसमें उपमेय पेम्म नपुंसक लिंग है और उपमान महम्मह पुलिग । सभी विशेषण उपमेय के अनुसार नपुंसकलिंग ही हैं । उपमान से सम्बन्धित करने के लिये उन्हें पुलिग बनाना पड़ता है । विशेषण ही क्यों कभी-कभी विशेष्य के लिंग की भी बहुत अधिक चिन्ता नहीं की गई है । ४१५ वीं भाषा में जहाँ प्रिय के घर की तुलना राज प्रायण से काते हुए उसे द्वितीये से परिपूर्ण बताया गया है, वहाँ राजपद में अर्थ करते समय दूतों को दूत बना लेने का शायित्व समर्थ पाठको को सौंप दिया गया है । उपमा बलकार और ध्वनि, दोनों रूपों में उपलब्ध होती है ।

वज्जालाग में श्लेष को जो प्राधान्य प्राप्त है वह अन्य शब्दालंकारों को नहीं । श्लेष के स्वतन्त्र उदाहरण तो कम ही मिलेंगे, परन्तु अन्य अलंकारों के सहायक के रूप में वह बार-बार आता है । प्रायः विरोध, समासोपिठ, विभावना, उपमा, उद्गेषा, रूपक और दीपक के साथ वह बिल्कुल घुल मिल गया है । ऐसे स्थलों पर श्लेषाभास ही समझना चाहिये, क्योंकि उसका पूरा विकास तो तब होता है जब दोनों अर्थ समकक्ष हों । लगता है, सप्रहकार का मुकाब श्लेष की ओर अधिक था । हाल की सत्तसई में शब्द साम्य और श्लेष का अभाव तो नहीं है पर वे निताम्य विरल हैं । शारदिक क्रीडा की इस पुष्कलता के कारण बहुत सी भाषाओं में रस का वह तारस्य सुरक्षित नहीं रह सका है जो किसी उत्कृष्ट काव्य को सहृदय सबस बनाता है । जब एक या दो शब्द ही बार-बार भिन्न-भिन्न भाषाओं में प्रयुक्त होकर श्लेष या प्रतिनिधित्व करते दिखाई देते हैं और समान भावों की शृङ्खलाबद्ध पुनरुक्ति होने लगती है तब पूरी वज्जा पिष्टपेपण सी लगती है<sup>१</sup> । यह बात श्लेष के सम्बन्ध में ही नहीं है,

विभिन्न वज्राओं में विकृत समान भाव और समान पदावली प्रायः देखने में आती है। उन स्थलों के पक्ष में केवल इतना कहा जा सकता है कि मद्रह्वार ने समान भावों समान रचना पद्धति और समान पदयोजना से युक्त पद्यों को एक साथ सकलित कर तुलनात्मक दृष्टि का परिचय दिया है। जहाँ किसी अङ्गोल या गोप्य अर्थ की प्रतीति कराना उद्ध्य रहता है वहाँ गाथाओं में या श्लेष का अवलम्ब लिया गया है या प्रतीक का। गुह्य-प्रकाशन की यह पद्धति बहुत प्राचीन है। इससे अङ्गोलत्व या घाम्यत्व किञ्चित् आच्छादित हो जाता है। वैद्य, प्यातिपिक, ऐसक, याविक, कूपखनक, भुसल, धामिक और दौपिक (दत्त निवेदा)—ये आठ वज्रायें उपर्युक्त शैली में उत्कट एवं उच्छ्वसल शृंगार का वर्णन करती हैं। इतना अङ्गोल काव्य अन्यत्र मिलना कठिन है। ऐसक, धामिक, भुसल और कूपखनक में प्रतीक है और शेष में श्लेष। प्योतिपिक प्रकरण में प्रतीक और श्लेष—दोनों का अपासमय उपयोग किया गया है। इस प्रकरण में श्लेष का केन्द्र शुक्र शब्द है। ग्यारह गाथाओं के प्रकरण में यह नौ गाथाओं में प्रयुक्त हुआ है। वैद्य प्रकरण में विद्यम और पुस्तकारय शब्द कई बार आते हैं, परन्तु उनमेंभाव वैविध्य भी है। धामिक वज्रा में एक ही शैली में रची विभिन्न भाषायें सकलित हैं। उनमें ऐसे पुष्पों या वनस्पतियों के नामों में अनिप्राम्य विशेष की ध्यान में रखते हुए स्वामिक प्रत्यय (प्राकृत में य) जोड़ कर भुश शैली में बार-बार रम (रत) शब्द की उपस्थिति कराई गई है, जिनके अन्त में प्रायः र अक्षर पड़ता है। प्राकृत में अनाद्य क की परिणति अ अथवा य में होती है। अतः प्रत्येक वृक्ष या पुष्प के अन्त में अनिवार्यतः बार-बार रम (रत रमण या रम्युन) की उपस्थिति, विनोपत, वैसे ही पुष्पों एवं वृक्षों के अन्वेषक पुजारी (धामिक) की शृंगार प्रियता की ओर मनाक सकेत करती है। इस उद्देश्य से कुरवक और घत्तूर को भी बलाह कुरय और चुत्तोरय बना दिया गया है। गाथाओं में जहाँ लिङ या अम्य किसी ऐसे शब्द का निवेश नहीं है वहाँ शृंगार ॥ सूचन मान होता है, वाचन नहीं। करण्ड शब्द से अण्डकोश की सूचना कुछ उसी प्रकार लगती है जैसे काव्य प्रकाश में 'रुचि कु' से अरलील चिकु शब्द की।

१ रतदेव में करण्ड शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है—

गृहीत कराम्यामण्डक मुष्नी येन अर्थात् जिसने दोनों हाथों से अण्डकोश को पकड़ लिया है

कंचीरएहि कणवीरएहि घुत्तीरएहि बहुरएहि ।  
जइ इच्छसि देहरयं धम्मिय ता मह घरे एज्ज ॥

इस गाथा में टीकाकार ने द्वितीयार्थ का प्रतिपादन निम्नलिखित शब्दों के द्वारा किया है—

'यथान्तरे काञ्चीरतः कन्यारतैर्वृत्तारतैर्गृहिर्देहरतं कर्तुं यदीच्छति तदा मम गृहमागच्छेरिति' अर्थात् बहुत से काञ्चीरतों, कन्यारतों और घुत्तारतों से यदि देहरत करना चाहते हो तो मेरे घर आओ । यह अर्थ असंगत है, क्योंकि पूर्वार्थ में उल्लिखित विभिन्नरत उत्तरार्ध निविष्ट देहरत के साधन नहीं हो सकते । रत स्वयं रत का साधन नहीं हो सकता है । साधन-साध्य या करण-कर्म का ऐक्य सम्भव नहीं है । यदि पूर्वार्थ को तृतीया को सह के अर्थ में मान लें तो अर्थ का स्वरूप इस प्रकार हो जायगा—

यदि बहुत से काञ्चीरतों, कन्यारतों और घुत्तारतों के साथ देहरत करना चाहते हो तो मेरे घर आ जाओ । यह अर्थ भी विसंगति से मुक्त नहीं है, क्योंकि सभी रतों में देह-सम्बन्ध अनिवार्य है और विभिन्न रतों के साथ देह-रत करने की इच्छा सभी हो सकती है, जब अन्य रत देह-रत से भिन्न हों । साथ ही विभिन्न रतों का स्वरूपतः देहरत से अमेद होने के कारण पुनः देहरत की इच्छा में कृतकरण दोष को आपत्ति है । यदि यह मानें कि तृतीया निवृत्ति रत के अधिकरण को लक्ष्य करती है तो भी उचित नहीं है, क्योंकि कन्या, काषी और घुत्ता के साथ ही देहरत सम्भव है, उनकी रति-क्रीडाओं के साथ नहीं । रतिक्रिया के साथ रतिक्रिया लोक व्यवहार विरुद्ध है । अतः सर्वत्र श्लेष की प्रकल्पना निरर्थक है ।

इस गाथा में रय (रत) पर समाप्त होने वाले कञ्चीरय, कणवीरय, घुत्तीरय और देहरय से यह मुद्रार्थ सूचित होता है कि पुजारी की रय (रत) में विशेष अमिष्टि है । अतः अन्तिम शब्द देहरय में सक्रमप्रसर श्लेष के द्वारा इत्थरी का यह तात्पर्य है कि जब तुम्हारी प्रत्येक प्रयोजनीय वस्तु के साथ रय सम्बन्ध जुड़ा है तब एक बन्धन और आगे बढ़ जाओ और मेरे घर आकर देहरत भी कर लो । टीकाकारों ने धम्मियवज्जा-निविष्ट पुरुषों के सभी नामों में श्लेष का अस्तित्व स्वीकार कर प्रत्येक के दो-दो अर्थ दिये हैं और मने मो हिन्दी

देहरय = १. मन्दिर, २. देहरत ।

अनुवाद में यथासंभव उनका अनुवर्तन किया है परन्तु यह वास्तव में एक साके-  
तिक काव्यशैली है। श्लेष स जो द्वितीयार्थ निकलता है उसमें केवल विलष्ट  
कल्पना है, चमत्कार नहीं। कई स्थलों पर विसंगतियाँ उभर आई हैं—

विप्रसिधमुहाइ धण्णुज्जलाइ मयरदपामडिल्लाइ ।

धुत्तरियाइ धम्मिय पुण्णेहि विणा न लब्भति ॥

इस शायी में विकसित मुखत्व, धर्णोज्ज्वलत्व और मकरकन्दप्रकटितत्व धर्मों  
का सम्बन्ध केवल धतूरे के पुष्प से है, साध्य रूप व्यापार धुत्तोरय (धूर्ता स्त्री  
से होने वाली मैथुन क्रिया) से नहीं। उनसे धर्मों का साक्षात्सम्बन्ध धूर्ता से  
अवश्य है परन्तु वह शब्द तो समास में गुणोन्मूत हो चुका है। इसी प्रकार—

सिसिर मयरदपज्जरणपडरपसरत्त परिमलुल्लाइ ।

कणवीरयाइ गेण्हसु धम्मिय सम्भावरत्ताइ ॥

यहाँ पूर्वार्ध निविष्ट विशेषण और उत्तरार्ध स्थित सद्भाव रक्तत्व दोनों का  
अन्वय कनर पुष्प (कणवीर) से ही सम्य है, कन्यारत्त से नहीं, क्योंकि धर्मों का  
सम्बन्ध प्रधान से होता है, गौण से नहीं। यदि चाहें तो इस वज्रा की पाँचवीं  
और छठवीं गाथाओं में दत्ताक्षरा नामक प्रहेलिका मानकर निम्नलिखित ङग से  
मृगारिक अर्थ ले सकते हैं।

धेतूण करड भमइ वावडो परपरोहडे तूण ।

धुत्तोरएसु रत्तो एक्क पि न मल्लए धम्मो ॥

प्रहेलिका की प्रकृति के अनुसार करड शब्द में क और धुत्तोरय में धु अक्षर  
अधिक जोड़ दिये गये हैं। इन्हें पृथक् कर देने पर रड (रषडाम्) और तीरएसु  
(स्त्रीरत्तेषु) शब्द दोब रह जायेंगे। अब शायी का यह अर्थ हो जायगा—

दूसरे के पिछवाड़े व्यापारशील धार्मिक राई की लेकर भटक रहा है। वह  
स्त्रीरत्तो में (स्त्री के साथ सम्भोग में) इतना अनुरक्त है कि एक को भी नहीं छोड़  
सकता है।

सुलहाई परोहडसठियाइ धुत्तोरयाणि मोत्तूण ।

कुरयाण कए रण्ण पेच्छह कह धम्मिओ भमइ ॥

यहाँ धुत्तोरयाणि में धु और कुरयाण में कु अक्षर अधिक हैं। इन्हें निकाल  
देने पर क्रमशः तीरयाणि (स्त्रीरत्ताणि) और रयाण (रत्तानाम्) शब्द दोब रह  
जायेंगे। अब अर्थ यह होगा—

देशी, पिछवाड़े स्थित सुलभ स्त्रोरत को छोड़कर वह धार्मिक कैसे रतों (सभोगों) के लिए वन में भटक रहा है ।

### रचना का उद्देश्य

सग्रहकार के सग्रह का उद्देश्य भले ही त्रिवर्ग रहा हो, मुझे इस रचना का उद्देश्य कुछ अन्य ही प्रतीत होता है, जो किसी भी दशा में कम महत्वपूर्ण नहीं है । तीसरी वज्जा में प्राकृत काव्यो, प्राकृत कविया और प्राकृत काव्यों के विदग्ध पाठकों को श्रद्धापूर्वक प्रणाम किया गया है । देशी शब्दों से रचित, मधुर शब्दों और अक्षरों में निबद्ध स्फुट-मन्मोर गूढार्थ प्राकृत काव्यों को पढ़ने का उपदेश दिया गया है । इतना ही नहीं, यह भी कहा गया है कि ललित, मधुराक्षरयुक्त, मुक्तीजनकल्लभ, शृंगारपूर्ण प्राकृत काव्यों के रहते कौन संस्कृत पढ़ सकता है ? इससे स्पष्ट परिलक्षित होता है कि ग्रन्थनाम वज्जालग्य के माध्यम से प्राकृत भाषा और साहित्य का प्रचार और प्रसार चाहते थे । वस्तुतः इसी उद्देश्य को समक्ष रखकर उन्होंने इतस्ततः विचारी प्राकृत की अमूल्य गाथाओं को संगृहीत कर एक ऐसा मनोरम काव्य ग्रन्थ बनाया, जिसकी सरसता से आकृष्ट होकर संस्कृत काव्य-प्रेमी भी संस्कृत छोड़ प्राकृत काव्य का ही रसास्वादन करें । वज्जालग्य की सरसता को देखते हुये हम निःसर्कोच कह सकते हैं कि सग्रहकार अपने उद्देश्य में पूर्ण सफल हैं । इसने अतिरिक्त वज्जालग्य के सग्रह का अन्य भी हेतु है । उस युग में धीरे-धीरे अपभ्रंश और प्राकृत को छोड़कर सामान्य जन लोकभाषा काव्य की ओर आकृष्ट हो रहे थे । ऐसी बशा में प्राकृत की घृष्ट एवं अप्रसिद्ध रचनाओं की सुरक्षा का भी प्रश्न था । सग्रहकार की सूक्ष्म दृष्टि इस भावी संकट पर पड़ी और उन्होंने श्रेष्ठ रचनाओं को एकत्र कर उन्हें नष्ट होने से बचा लिया, साथ ही पाठकों को एक ही ग्रन्थ में निदिष्ट विषयों पर विभिन्न कवियों की इन्द्रधनुषी कल्पनाओं से मण्डित मनोहर सूक्तियों के रसास्वादन का अमूल्य अवसर भी प्रदान किया ।

### साहित्यिक मूल्य

वज्जालग्य विभिन्न कवियों की उत्कृष्ट गाथाओं की अनुपम मञ्जूषा है । इस में लगभग एक सहस्र गाथाएँ विद्यमान हैं । यह संख्या माहासत्तसई की अपेक्षा लगभग डेढ़ गुनी है, परन्तु विषया का जो विलक्षण वैविध्य सत्तसई में मिलता है, वह वज्जालग्य में नहीं है । इसका कारण गाथाओं का वज्जा-बद्ध होना है । वज्जाओं में निदिष्ट विषय ही गाथाओं के प्रतिपाद्य हैं । यदि वज्जाओं को देखें,

तो उनमें भी सर्वत्र विषय-भेद नहीं है। बहुत सी वज्जायें बिल्कुल समान भाव-भूमि का ही स्पर्श करती हैं। विरह, प्रोषित, प्रियानुराग, हृदयसंवरण, बाला-संवरण और ओलगाविया की भावभूमि एक है। उनमें प्रायः विरह का वर्णन है। इस और चन्द्रन में केवल प्रतीक-भेद है, विषय-भेद नहीं। अप्रस्तुतप्रससा के स्थलों पर प्रायः भिन्न-भिन्न वज्जाओं में एक ही व्यंग्य की पृथक् प्रतीकों के माध्यम से प्रतीति कराई गई है। ऐसे स्थलों पर बाह्य-भेद होने पर भी आन्तरिक भेद नगण्य है। विभिन्न वज्जाओं में वैसे भी बिल्कुल समान भाव और समान पदावली प्रायः दृष्टिगत होती है। इस दोष के मार्जन के लिये यही कहा जा सकता है कि सद्यह्वार ने समान भाव, समान रचना-पद्धति और समान शब्द-योजना से सम्बन्धित गाथाओं को तुलनात्मक दृष्टि से एक साथ संगृहीत कर दिया होगा। परन्तु यह सब होने पर भी वज्जालग्य मरसता और मौलिकता की दृष्टि से एक अनुपम काव्य है। उसमें भाव, कल्पना और शिल्प—तीनों का अद्भुत साहचर्य है। रसो का तारतम्य वहाँ उभे भाव पक्ष के उच्च दिश्वर पर प्रतिष्ठित करता है, वही शैलीगत वैदम्ब्य और भणिति भणित्ता के कारण उसका कलावस्तु भी कमनीय बन गया है। इसी कारण वज्जालग्य को गाथाओं में जहाँ प्राचीन काव्य-कवियों का अनुवर्तन है, वहाँ भी एक नवत्व दिखाई देता है। कवणा, मैत्रा, परोपकार, दान, प्रणय, नीति, सदाचार, उदारता, उत्साह आदि श्रेष्ठ मानवीय गुणों की सत्प्रेरणा देने वाला यह काव्य अपने ढंग का अनूठा है। यदि इसमें उच्छृङ्खल कुलटाओं के कुटिल स्वराचार का जुगुप्सित वर्णन है, तो महिमामयी सतिमों के पवित्र आदर्श भी विद्यमान हैं। यदि अशक्तुदमायी दुष्टों की वक्रगति का निरूपण है, तो समाज-सेवी स्वार्थ-हीन सज्जनों के सरल, इलाध्य चरित के भी हृदयावर्जक चित्र हैं। यदि एक ओर अपने लिये भी, अर्जित द्रव्य का व्यय न करने वाले मक्खीभूष कृपणों की निन्दा है, तो दूसरी ओर उदार-चरित महामुरखों की प्रशंसा भी है। एक ओर उद्दाम जीवन के वासनापूर्ण वीभत्स चित्र हैं, तो दूसरी ओर जरा की अपरिहार्य विभीषिका भी है। एक ओर परिवार के लिए तिल-तिल जोड़ने वाली तप धूत कुलपनाओं के कमनीय एवं कर्मठ व्यक्तित्व की मनोरम शांति है, तो दूसरी ओर विषय-लोलुप लोलेन्द्रिय धनियों का रक्त चूसन वाली प्रपचनहुला बारबिलासिनियों की काली करतूतों का महाफोड भी किया गया है। इस प्रकार यह काव्य समाज का यथार्थ एवं उभयपक्षी चित्र प्रस्तुत करने के कारण कोरे आदर्शवादी काव्यों के समान एकांगी नहीं है। समाज के शिव और अशिव, पीयूष और कालकूट, राम और रावण—



सब पर उसकी सूक्ष्म दृष्टि है। इसमें यदि स्पृहणीय आदर्श का समुज्ज्वल आकर्षण है, तो यथार्थ की उपेक्षणीय व्यावहारिक वृत्तपता भी कम नहीं है। अतः यह काव्य सच्चे अर्थों में एक साहित्यिक कृति है।

वज्जालग एक उत्कृष्ट काव्य होने के साथ-साथ कवियों और समीक्षकों का उचित मार्गदर्शक भी है। प्रारम्भिक दो वज्जाओं में काव्य, काव्य-श्रोता और काव्य-समीक्षकों के सम्बन्ध में अनेक मान्यताएँ दी गई हैं।

ध्वनि, अलंकार, मेयत्व और ललितपद-विन्यास की सुपमा से भरित इसकी प्रसन्न-गम्भीर शैली प्रत्येक हृदय को मुग्ध कर देती है। इसमें यत्र-तत्र विभिन्न रसों के सुन्दर उदाहरण बिखरे पड़े हैं। कुछ पंक्तियाँ देखिये—

गणभूमि में घायल पड़े बीर की आँते गृध्र झींच रहे हैं, परन्तु वह उस पीडा को असह्य होने पर भी इमलिये सह रहा है कि पाम में पड़े हुये स्वामी की मूर्च्छा पक्षों की हवा से टूट जाय—

पक्खणिलेण पट्टणो विरमउ मुच्छ त्ति पास पडिएण ।

गिद्धत वड्ढणं दूसह पि साहिज्जइ भडेण ॥

—यहाँ बीमत्स रस बीररस का अग होने के कारण गुणीभूत है।

किसी प्रोपितपतिका बहू का प्रधासी पति दूर प्रवास में ही मर चुका है। वह बेधारी यह समाचार नहीं जानती है। अतः प्रत्येक दिन जब बेणी बाँधकर गृह-शिखर से (प्रिय को बुला लाने के लिये) कौआ उड़ाने लगती है, तब सारा गाँव रो पड़ता है—

अमुणिय पिय मरणाए वायसमुड्ढाविरोइ धरिणीए ।

रोवाविज्जइ गामी अणुदियह वड्ढवेणीए ॥

—कवण रस

कृपण जन यह जानकर पृथ्वी में अपना घन गाड़ देते हैं कि हमें एक दिन रसातल में जाना ही है, तो पहले से ही प्रस्थान नयो न रस दें—

निहणति घण धरणीयलमि इय जाणिऊण किविणजणा ।

पायाले गतव्वं ता गच्छउ अमाठाणं पि ॥

—हास्य रस

मनुष्य की आयु सी वर्ष है। उसमें भी आधे रातें निकल जाती हैं। उस ओप आधे भाग का भी आधा जरा और शैशव छीन लेते हैं।—जीवन जल-बिन्दु

के समान हैं, यौन जरा के साथ उत्पन्न होता है, सब दिन समान नहीं होते, तब भी लोग क्यों निष्ठुर बन जाते हैं—

वरिससय णरवाऊ तस्स वि अद्धेण हुति राईओ ।  
अद्धस्स वि अद्धयर हरइ जरा बालभावो य ॥  
जीय जलविंदुसम उप्पज्जइ जोव्वण सह जराए ।  
दियहा दियहेहि समा ण हुति किं निट्ठुरो लोओ ॥

—शान्त रस

हरिद्र सेवक भूमि पर शयन करता है, जीर्ण चीर बाँधता है ब्रह्मचर्य का पालन करता है और भिक्षा माँगता है, यद्यपि वह इस प्रकार मुनियों का आचरण करता है, परन्तु ( मुनियों के समान ) उस धर्म नहीं प्राप्त होता है । कितना आश्चर्य है—

भूमीसयण जरचीरवधण बभचेरय भिक्षा ।  
मुणिवरिय दुग्गयसेवमाण धम्मो पर नत्थि ॥

—अद्भुत रस

कोई बीर अश्व पर इतनी दृढ़ता से बैठा हुआ था कि पेट पर कृपाण का प्रहार होने से आधा शरीर कट कर पृथ्वी पर गिर गया और आधा अश्व की पीठ पर ही रह गया—

गाढासणस्स कस्स वि उयरे निहयस्स मडलग्गेण ।  
अद्ध महीइ पडिय तुरगपिट्ठिट्ठय अद्ध ॥

यहाँ बीर रस अद्भुत का अनुवाहक है ।

बीर ने एक पद तो गजराज के दाँत पर रख दिया और दूसरा कुम्भस्थल पर । तीसरे पद के लिए स्वान न पाने पर उसकी वही शोभा हुई, जो बलि को बाँधते समय विष्णु की हुई थी—

एक दंतमि पय बीय कु भूमि त्तिमलहत्तो ।  
बलिबधविलसिय महुमस्स आलवए सुहडो ॥

यहाँ उपमा से उपकृत बीर रस का अप्रतिम वर्णन है ।

घायल भट रणागण में पड़ा है । उसके अंग शोणित से लिप्त हो गये हैं । एक शृगाली उसकी छाती पर बैठकर मुँह सूँघ रहा है । लगता है जैसे कोई कामिनी अपने प्रेमी का मुख चूम रही हो—

वच्छत्थल च सुहडस्स रुहिरकुकुमविलित्तयगस्स ।  
वर कामिणि व्व चुवइ उरे निसन्ना सिवा वयण ॥

—वीभत्स रस

रींद्र और मयानक रसों के स्वतन्त्र एवं असकीर्ण उदाहरण नहीं मिलते हैं । इस प्रकार वज्जालग्य में विभिन्न रसों का अभाव नहीं है, परन्तु उसका प्रधान रस शृंगार ही है । सम्पूर्ण ग्रन्थ प्रणय के मनोरम चित्रों से परिपूर्ण है । सयोग और वियोग के विविध पटलों का जैसा सुरम्य उद्घाटन वज्जालग्य में है, वैसा बहुत कम ग्रन्थों में दिखाई देता है । यहाँ प्रणय केवल मानवीय-हृदय की ही निधि है, पशुओं और मूक वनस्पतियों के भी निश्छल हृदय से उसका तरल रस फूटने लगता है । प्रेमी की जागेरिक, मानसिक एवं सामाजिक अन्तर्दशाओं का बड़ी ही सूक्ष्मता से प्रतिपादन किया गया है । वेम्बवज्जा में बताया गया है कि प्रेम विष्णु के समान अनादि और परमार्थ का प्रकाशक है । आनाप, बक्रोषित, ससर्ग और औत्सुक्य—ये उसके चार सोपान हैं । जहाँ जागरण नहीं है, ईर्ष्या, खेद एवं मान नहीं है और जहाँ मक्खी चाटुकारिता नहीं है, वहाँ प्रेम भी नहीं है । उभयपक्षी प्रेम ही आनन्ददायक होता है । उसकी गति शुक्चचुवत् वक्र है, क्योंकि प्रिय को न देखने पर असुखता, देखने पर ईर्ष्या, सुख में स्थित होने पर मान और दूर चले जाने पर दुःख होता है । प्रेमी अपने को संकष्टों दुखों में डाल देता है । मक्खी प्रेम वही समझना चाहिये, जहाँ दूर चले जाने पर भी, अन्य से सम्बन्ध जोड़ लेने पर भी मन नहीं फिरता है । मनसा बाचा कर्मणा जिसका कोई प्रेमी नहीं है, वही मुन की नींद सोता है । इन लोक में कोई भी ऐसा नहीं दिखाई देता, जिसने दिन किसी को हृदय अर्पित कर देने पर सुख से बीतले हों । प्रेम व्यक्ति को उपह्रास्य बनाकर छाड़ता है । मान के चले जाने, स्नेह के मट्ट हो जाने और सद्भाव के न रह जाने पर, कल्प अभ्यर्चना के बल् पर प्रेम नहीं टिक सकता । प्रेम के भीषण हो जाने के पाँच कारण हैं—न देखना, अधिक देखना, देखने पर भी न बालना, मान और प्रवास । दो प्रेमियों में जब विरोध हो जाने पर पुन मन्थि होती है, तब उत्पन्न करने कीतल किये हुये जल के समान प्रेम का स्वाद मिश्रित हो जाता है । सारी चतुराई तभी तक है, जब तक किसी से प्रेम नहीं हो जाता । कामदेव के पाँच बाण हैं—दृष्टि, दृष्टि का प्रसार, दृष्टि के प्रसार में गति, रति में सद्भाव और सद्भाव से प्रेम । मदिरा चन्द्र-किरण, मधुमाम, कामिनियों का ममापण और पंचम स्वर का मोत—ये उसके परिवार हैं । वज्जालग्य की निम्नलिखित वज्जायें उस महामहिमाशाली प्रणय का निरूपण करती हैं—

१. व्याघ

३. हरिण (मानवेतर प्रणय)

२. पंचम

४. नयन

के लिये ऋजु और स्रजु के लिये रक्त । मान के लिये यद्यपि स्वतन्त्र एक वज्रा है, तथापि तत्सम्बन्धित गाथायें अन्यत्र भी उपलब्ध होती हैं । मान के हेतु के रूप ने प्रणय और ईर्ष्या—दोनों के दर्शन होते हैं । प्रवास का वर्णन अनेक वज्राओं में प्रमुख रूप से किया गया है । प्रीति, विरह, पुरुषालाप, अवहणा, धन्य आदि वज्रायें प्रवासियों की विरहव्यथा का कष्ट वर्णन करती हैं । नारीनिष्ठ वियोग की अपेक्षा पुरुषनिष्ठ वियोग कम है । पथिक और अन्य वज्राओं में विप्रलम्भ के आश्रय पुरुष हैं । परकीया के विरह का कारण लोकमर्यादा है । कहीं-कहीं एकपक्षीय प्रणय और लज्जादि भी सद्योय में अन्तराय उपस्थित करते हैं । विरही नारी के आन्तरिक सौन्दर्य की स्मृतियाँ कम करते हैं । बाह्य रूप का आकर्षण ही प्रायः उनके प्रलापों का केन्द्र है ।

विरह को वास्तविक अग्नि कहा गया है । वह काम रूपी वायु से प्रेरित और स्नह रूपी ईंधन से उद्दीपित होने पर असह्य बन जाता है । सन्निपात के समान उसमें ज्वर, शीत और रोमाच के लक्षण प्रकट होते हैं । विरहताप के वर्णन अतिशयोक्ति पूर्ण हैं । शीतोपचार की रुद्धियों को स्वीकार किया गया है । चन्द्र और चन्दन भी विरहिनियों को दण्य करते हैं । वे प्रायः अनग और चन्द्र की उपालम्भ देती हैं । कहीं-कहीं निःस्वार्थ प्रणय के ऐसे उदात्त वर्णन भी मिलते हैं, जहाँ प्रेमिका प्रेमी के सुवासिक अंगों के स्पर्श की भी याचना नहीं करती, उसे देख केना ही पर्याप्त समझती है—

अच्छउता फँससुहँ अमयरसाजी वि दूररमणिज्जं ।  
दंसणमेत्तेण वि पिययमत्स भण कि ण पज्जत्त ॥

प्रणय की परिधि बहुत विस्तृत है । पशुओं के अनेक प्रणय-चित्र निरान्त मार्मिक हैं । उनमें विरह-ताप की तीव्रता मनुष्यों से कम नहीं । प्रिया की स्मृति में धाहँ मरते गजेन्द्र के शृङ्ख पर स्थित हरित तुणों का कौर जल कर भस्म हो जाता है । वियोगी चक्रवाक पद्मवन को अग्नि, नलिनी को बिता, अपने शरीर को मृतक और सरोवर को श्मशान समझता है । अस्ताचलशिखरारूढ रवि को देखता हुआ वह विरहाकुल होकर चतुर्गुहीत मृणालों को न खाता है और न गिराता ही है । ऐसा लगता है जैसे शरीर से प्रयाण करते हुये प्राणों को रोक रखने के लिये कठ में अर्गल लगा दी गई हो । चक्रदम्पति को कभी सुख नहीं मिलता । रात्रि में अलग-अलग रहते हैं, तो वियोग की दाहण यन्त्रणा झेलते रहने पर भी प्रमातृकालिक मिलन की आशा उन्हें जीवित रखती है, परन्तु कल्पना

असलक्ष्य-क्रम ध्वनि कहा गया है । उसके अनेक उदाहरण पहले दिये जा चुके हैं । सचारी भावों के भी कतिपय उदाहरण प्रस्तुत हैं—

सैयच्छलेण पेच्छह तणुए अगमि से अमायत ।  
लावण ओसरइ व्व तिवल्गिओवाणपतीए ॥

—भीतुक्थ

पत्ते पिमपाहुणए मगलवलयाइ विक्किणतीए ।  
दुग्गयघरिणो-कुलवालिपाइ रोवाविवो गाम्मे ॥

—दैग्य

उब्भेउ अगुलिं सा विलया जा मह पइ न कामेइ ।  
सो को वि जपउ जुवा जस्म मए पेसिया दिठ्ठी ॥

—गर्व

छिन पुणो वि छिज्जउ महुमहक्ककेण राहणो सीस ।  
गिलिओ जेण विमुक्को असईण दूसओ चन्दो ॥

—भ्रमर्ष

समरिक्कण य रुणं तोइ तुम तह विमुक्कपुक्कार ।  
निद्वय जह सुहियम्स वि जणस्स ओ निवडिओ बाहो ॥

—विपाद

निम्नलिखित भाषा में प्रतिकूल सचारी भाव का उन्मेष रसापकर्षक है—

नइ पूर सच्छहे जोव्वणमि दिअहेसु निच्चपहिएसु ।  
अणियत्तासु वि राईसु पुत्ति किं दइहमाणे ण ॥

यही श्रृंगार विरोधी विभाव यौवन की चञ्चलता, दिन की गतिमत्ता और रातों की अनिर्वर्तनशीलता के द्वारा जगत् की अनित्यता का प्रतिपादन हान से निर्वेद की उपस्थिति हो जाती है ।

वज्जालम्भ य भावों का सारल्य अलंकारों के रसानुगुण विनिवेश के कारण और भी बढ़ गया है । विविध वज्जाओं से यमक (गा० १८८) रूपक (गा० १९) उत्प्रेक्षा (गा० ३१४, ३२२, ३१३) विभावना (गा० ३९, बाला श्लोक ४) विशेषोक्ति (गा० १५२, ४६४) विषम (गा० ८२, ६३९, ३०० × ५) नाग्यलिंग (गा० १७७, ३२१) अतिशयोक्ति (गा० ५५४) अत्युक्ति (गा० ४३४) उत्तर (गा० २११, ४९४) विरोधामास (गा० ३३, ५६१) अन्योन्य

कीजिये, वे दिन कैसे बीतते होंगे, जिनमें प्रत्येक क्षण सम्बन्ध तक बिछुड़ जाने, का भय बना रहता है। करम अशोक पल्लवों से परिपूर्ण नन्दनवन में खरता है फिर भी मरस्यल के सुखों की मधुरस्मृतियाँ उसे कचोटती रहती हैं। वे शैलशृंग, वे पोलुपल्लव, वे करील कुड्मल और जन्मभूमि की वे विलास कीड़ायें अन्यत्र कहाँ हैं ? भ्रमर मालती के वियोग में मरणावस्था की प्राप्ति हो जाता है। वह गुनगुनाता है, चक्कर काटता है, बाँपता है, पत्तों को हिलाता है और अगो को पटकता है। यह मानवेंतर प्रणय शृंगार कोटि में नहीं, भावकोटि में आता है।

शृंगार रस के अन्तर्गत स्वाधीन पतिका, प्रोषित पतिका, विरहोत्कटिका और लज्जिता नायिकाओं के ही वर्णन अधिक हैं। असती, वैद्य, ज्योतिषिक, मुसल आदि वज्जाओं में प्रणय अश्लीलता की सीमा तक पहुँच गया है, परन्तु व्यंग्य-प्रधान शैली का आशय लेने के कारण कल्पना कम हो गई है। धार्मिक वज्जा की सांकेतिक शैली अपने ढंग की अनुठी है। यथासम्भव अश्लील भय को गुप्त ही रखा गया है। व्यंग्य के रूप में बड़ा विदग्धता के साथ उसका संकेत किया गया है। जहाँ तक हो सके है, वहाँ तक वाच्यार्थ को अमर नहीं होने दिया गया है। जैसे हम अपने गुह्य अंगों को सुरम्य वस्त्रों से आवृत कर लेते हैं, नग्न नहीं रहने देते हैं, उसी प्रकार कुशल कवि भी अपने अभिप्रेत अर्थ को व्यंग्य रस कर ही विदग्ध गोष्ठियों में प्रस्तुत करते हैं। उसमें यदि कहीं अमरता भी होती है, तो उसका नग्न प्रदर्शन नहीं रहता है। इस प्रकार शैली बंदगध्य से मनाक् प्रच्छादित अश्लीलता पर सबकी दृष्टि नहीं पड़ती है। वह तो सहृदय-संवेद्य होती है। मुसल, लेखक और यात्रिक वज्जाओं के वाच्यार्थ बिल्कुल अश्लील नहीं हैं। ज्योतिषिक और वैद्य वज्जाओं में शृंगार का प्रच्छादन श्लेष से किया गया है। जिन वायाओं में न तो श्लेष है और न कोई प्रतीक ही है, वही भी उत्कट शृंगार संलक्ष्यक्रम वस्तुध्वनि के रूप में प्रतीयमान हो रहता है, वाच्य नहीं। जहाँ वाच्यार्थ में श्लेषता का अभाव है, वहाँ भी अनेकार्थक शब्दों के कारण छांटी व्यंजना का स्फुरण हो जाता है। समाशोषित के रूपों पर वस्तुतः अश्लीलता रहती नहीं है। वही विदग्ध (उपमेय, प्रस्तुत) में श्लेष नहीं रहता है। अठ, कार्य, लिग और विशेषणों के सार्वभौम कारण अप्रस्तुत व्यवहार का व्यंजना से आवास मान होता है।

असलक्ष्य-त्रय ध्वनि कहा गया है । उनके अनेक उदाहरण पहले दिये जा चुके हैं ।  
संचारी भावों के भी कतिपय उदाहरण प्रस्तुत हैं—

सेयच्छलेण पेच्छह तणुए अगमि से अमायत ।  
लायण्ण ओनरइ व्व तिवल्मिगोवाणपतीए ॥

—ओत्मुख्य

पत्ते पियपाहूणए मगलक्कल्याइ विक्किणतीए ।  
दुग्गयघरिणो-कुलवालियाइ रावात्रिवो गाम्मे ॥

—दीग्य

उम्मेठ अगुलिं सा विलया जा मट पइ न कामेइ ।  
सो का वि जपठ जुवा जम्म मए पेसिया दिठ्ठी ॥

—गर्ब

छिन्न पुणो वि छिज्जठ महुमहवक्केण राहुणो सीस ।  
गिन्निजो जेण विमुक्को असईण दूमओ चन्दो ॥

—अमर्ष

समरिठ्ठण म रुण्ण तोइ तुम तह विमुक्कपुक्कार ।  
निद्दय जह सुहियम्म वि जणम्म ओ निवडिओ बाहो ॥

—विषाद

निम्नलिखित भाषा में प्रतिकूल संचारी भाव का उन्मेष रसापकर्षक है—

नइ पूर मच्छहे जोव्वणमि दिअहेसु निच्चपहिंसु ।  
अणिपत्तामु वि राईसु पुत्ति कि दइदमाणे ण ॥

यही श्रृंगार विराधी विभाव यौवन की बचलता, दिन की शक्तिमत्ता और रातों की अनिर्वर्तनीयता के द्वारा जगत की अनित्यता का प्रतिपादन हान से निर्वेद की उपस्थिति हो जाती है ।

वज्रालम्ब में भावों का तारल्य अलंकारों के रसानुबुध विनिवेश के कारण और भी बढ़ गया है । विविध वज्रालंभों में यमक (गा० १८८) रूपक (पा० १९) सत्प्रेक्षा (गा० ३१४, ३२२, ३१३) विभावना (गा० ३९, बाला श्लोक ४) विशेषोक्ति (गा० १५२, ४६४) विषम (गा० ८२, ६३९, ३०० X ५) वाच्यलिंग (गा० १७७, ३२१) अतिशयोक्ति (पा० ५५४) आयुक्ति (गा० ४३४) उत्तर (गा० २११, ४९४) विरोधानास (गा० ३३, ५६१) अन्योन्य

(गा० ७३) हेतु (गा० ६०२) तद्गुण (गा० ५५१, ५९६) सार (गा० ८५, १३५) अर्थान्तरन्यास (गा० ७८, ५४३, ५५७, १९३, ८० X १) तुल्ययोगिता (गा० ८९, ६८१) दोषक (गा० ९, १३, २४) अपह्नुति (गा० ६४९) यथा-सह्य (गा० ६५८) दृष्टान्त (गा० ३५, ७०३) व्यतिरेक (गा० १४) एकावली (गा० ३४) आक्षेप (गा० ३६७, ४३८) समुच्चय (गा० २९६, ६३८) समा-सोक्ति (गा० ७११, ७०९) पुनरुक्तवदाभास (गा० २५५) आदि अलकारों के उदाहरण बिखरे पड़े हैं । अलकारों की सकीर्णता का एक उदाहरण देखिये —

सेयच्छलेण पेच्छह तणुए अंगमि से अमायत ।

लावण्ण ओसरइ व्व तिवलिसोवाणपतीहि ॥

यहाँ 'ओसरइ व्व' में क्रियोत्प्रेक्षा है । उसके अंग हैं—रूपक, अपह्नुति और काव्यलिङ्ग । काव्यलिङ्ग का हेतु है—द्वितीय चरण म विद्यमान अत्युक्ति ।

निम्नलिखित गाथा में कवि की उपमा गहिउ चोर से दन के कारण अनौचित्य है—

कह कह वि रएइ पय मग्ग पुलएइ छेय मारहइ ।

चोरो व्व कई अत्थं धेऊण कह वि निव्वहइ ॥

समुच्चय के साथ श्लेष का मणि-काञ्चन संयोग दसनीय है—

एक्को च्चिय दुव्विसहो विरहो मारेइ गयवई भीमो ।

किं पुण गहियसिलीमुहसमाहवो फग्गुणो पत्तो ॥

अन्य अलकारों में चमत्कार मृष्टि करने वाले श्लेष के कतिपय उदाहरण इस प्रकार हैं—

हिट्ठकयकंटमाण पयडियकोसाण मित्तसमुहाण ।

मामि गुणवनयाण कह कमले वसहु न हु कमला ॥

यही अप्रस्तुत व्यवहार समारोपात्मक समासोक्ति और काव्यलिङ्ग का आधार श्लेष है । कभी-कभी यह अर्थान्तरन्यास में समर्थ समर्थक-भाव की सिद्धि के लिये आवश्यक बन गया है—

जह जह वड्डेइ ससी तह ओ पेच्छ धेप्पदमएण ।

वयणिज्जवज्जयाया वस्म वि जइ हुति रिद्धोआ ॥

विमिओमि की स वेमव किं न वओ धम्ममगहो मूढ ।

वत्तो मण परिओमो विसाहियं भुंजमाणस्म ॥

द्वितीय गाथा के पूर्वार्ध में अनुप्रास की कमनीयता भी कम नहीं है ।



प्रहेलिका के स्थलों पर अर्थभ्रम उत्पन्न करने का कार्य श्लेष ही करता है—

कस्म कएण किसोयरि वरणयरं वहसि उत्तमगेण ।

कण्णेण वण्णवहण वाणरसंस म हत्येण ॥

इसके अतिरिक्त अनेक गाथाओं में वह व्यतिरेक ( गा० १५० ) ध्याधान ( गा० १६१ ) रूपक ( गा० ४३६ ) और विरोध का साधक है एवं शब्दशक्ति मूलक सत्ययक्रमवस्तु ध्वनि के स्थलों पर भी उसकी उपयोगिता दिखाई देती है—

जइ सो न एइ गेहं ता दूद अहोमुही तुम कीम ।

मो हो ही मज्झ पिओ जो तुज्झ न खडए वयण ॥

यहाँ वचन खंडन की प्रतीति वदन खंडन के रूप में होती है, जिसका हेतु श्लेष है ।

उपर्युक्त स्थलों पर श्लेषकृत चमत्कार का अस्तित्व होने पर भी अन्य अलंकारों का प्राधान्य है । वज्जालंग में श्लेष की भारी सख्या देखकर पता चलता है कि संग्रहकार शब्द-चमत्कार के प्रबल समर्थक थे ।

### वज्जालंग में प्रकृति और प्रतीक

प्रायः काव्यों में प्रकृति की अवतारणा तीन रूपों में की जाती है—आलम्बन, उद्दीपन और अपस्तुत योजना । आलम्बन के रूप में प्रकृति-चित्रण वहाँ होता है, जहाँ प्रकृति ही कवि का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय रहती है । ऐसे स्थलों पर सामान्य वस्तु सूचना भी हो सकती है और चित्रोपमता भी । प्रथम में अर्थग्रहण मात्र होता है और द्वितीय में बिम्ब-ग्रहण । साहित्य में वस्तुनिष्ठ बिम्बप्राप्ति वर्णन की ही उत्कृष्ट माना गया है । वाल्मीकि, कालिदास और भवभूति ने प्रकृति के विविध परप एवं ममृण दृश्यों का चित्रण करते समय अद्भुत बिम्बों की सृष्टि की है । वज्जालंग में उस कोटि के बिम्बों की बात तो दूर है, सामान्य बिम्ब के दर्शन भी दुर्लभ है । परन्तु इसका यह अभिप्राय कथमपि नहीं है कि वज्जालंग की गाथायें निम्नस्तर की हैं । साहित्यिक दृष्टि से उनका भी महत्त्व असुण्य है । प्रकृति-वर्णन में बिम्बों की सृष्टि करना या न करना, केवल प्रतिभा पर नहीं, दृष्टि पर भी निर्भर है । बहुत से महाकवि इस बात पर ध्यान नहीं देते कि प्रकृति का कौन सा दृश्यसङ्ग कैसा है अथवा किस प्राची की धारारिक मुद्रा विशेष का स्वरूप क्या है । उनकी दृष्टि प्रकृति और मानव-जीवन के

‘विविध व्यापारों में विद्यमान सारूप्य पर हो अधिक रहती है। ऐसे कवि प्रकृति को प्रतीक के रूप में ग्रहण करते हैं। प्रकृति उनका साध्य नहीं, साधन-मात्र रहती है। अतः उनके वर्णनों में बिम्बसूष्टि का कोई प्रश्न ही नहीं है। इसी दृष्टि-भेद के कारण वज्रालम्ब में प्रकृति आलम्बन के रूप में कम उपलब्ध होती है। उद्दीपन और अप्रस्तुत योजना के अन्तर्गत ही उसका अधिक विनियोग दिखाई देता है। वस्तुतः अप्रस्तुत योजना के रूप में प्रकृति का जितना प्रचुर प्रयोग किया गया है, उतना उद्दीपन के रूप में भी नहीं। अप्रस्तुत योजना दो प्रकार की है—उपमान और प्रतीक। प्रथम में प्राकृतिक दृश्य विद्यान का कोई अवसर ही नहीं है। द्वितीय प्रकार में भी, प्रतीक स्वतन्त्र नहीं रहते हैं, उन्हें सामान्यवशात् किसी अभिप्रेतार्थ की प्रतीति कराने के लिये ही ग्रहण किया जाता है। प्रतीकात्मक काव्यों की शैली सावैतिक होती है, वहाँ प्रकृति के उतने अंश पर ही कवि का ध्यान केन्द्रित रहता है, जितने की उसे आवश्यकता रहती है। अतः जहाँ प्रकृति-स्वरूप नहीं, केवल संकेत का प्राधान्य है, वहाँ बिम्ब-रचना कैसे संभव होगी। वज्रालम्ब में प्रयुक्त प्रधान प्रतीक इस प्रकार हैं, जिनमें अधिकांश का सम्बन्ध प्रकृति से है—

प्रतीक	अर्थ
गज	प्रतापी या स्वाभिमानी पुरुष
विष्णु	आश्रयदाता
घवल	कर्मठ सेवक
सिंह	पराक्रमी पुरुष
करम	प्रणयी, जन्मभूमि से विपुल पुरुष
बलि	नायिका, सुन्दरी
इन्द्रिन्दिर (झमर)	प्रणयी, छली प्रणयी
सुर-तट-विशेष	श्रेष्ठ आश्रयदाता
हंस	सज्जन अथवा विद्वान्
लेखक	मैयूनकारी
यात्रिक	”
मुसल	लिय
उद्द	भोगी
धारक	प्रवासी, प्रणयी
कमल	राजा और कुत्सित आश्रयदाता

हंस-मानस	आश्रित-आश्रय
चन्दन	सज्जन
घट	आदर्श आश्रयदाता
ताल	कृपण स्वामी <sup>१</sup>
बडवानल	तेजस्वी पुरुष या शत्रु
मिग्घ	महापुरुष और आश्रयदाता
सुवर्ण	गुणवान्
दीपक	गुणवान्
रत्नाकर	धनी, कृपण, आश्रयदाता
कटहल	सुमेध स्वामी
जलजर	दाता
चातक	माचक
कृष्णदन्त	निम्बट्टू सेवक
सज्ज्वलदन्त	कर्मठ सेवक
मधुपटल	मानन्द
कौस्तुभ	गुणवान्
धन्व	"
पाटला	श्रेष्ठ कुम्हरी
जलरकु	सल
भ्रमर	सल

उपर्युक्त प्रतीकों में अविकतर साहित्यिक परम्परा में पुनरावलोकन से ही प्रसिद्ध हैं। इनमें बाह्य दृष्टि से जितना विविध्य है, आन्तरिक दृष्टि से उतना नहीं है। प्रायः एक अर्थ के प्रत्यामक कई-कई प्रतीक दिखाई देते हैं। परन्तु इन प्रतीकों के माध्यम से जिन भावों का सम्प्रेषण किया गया है, वे बड़े भासिक हैं। कहीं-कहीं एक ही प्रकरण में एक ही वस्तु के लिये कई प्रतीक बारी-बारी आये हैं, फिर भी आधिक्य समझने में यत्नता नहीं आन पाई है। शृंगारिक अभिव्यक्ति के लिए अनक नूतन और मौलिक प्रतीकों का भी सृष्टि की गई है।<sup>१</sup>

ऋतु-वर्णन के प्रसंग में यद्यपि प्रकृति-वर्णन का पर्याप्त अवसर था, परन्तु वहाँ भी वह उद्दोषण विभाव का अंग बनकर रह गई है। प्रकृति का उपयोग

१. इन प्रतीकों का परिचय अनुवाद में यथास्थान दिया गया है।

वही तक सीमित रह गया है, जहाँ तक वह किसी मानवीय मनोभाव के उत्कर्ष या अपकर्ष में सहायक होती है। ऐसे वर्णनों में प्राकृतिक दृश्य विधान कवि का लक्ष्य नहीं है, फिर भी कल्पना की कमनीयता और शैली की वक्रता देखकर मन मुग्ध हो जाता है। तुलना में प्रकृति सुख की अपेक्षा दुःख का उद्दीपन करने के लिये अधिक प्रयुक्त है। गायानों में विप्रलम्भ शृंगार की बहुलता ही इसका हेतु है। जब पावस में सान्द्र मेघ गभीर-गर्जन करने लगते हैं और जब कल्लोलावर्त-सकुल कूलकपा कल्लोलिनीयाँ सलिल-पूर-प्लावित वसुन्धरा की दुर्लभ्य बना देती हैं, तब मार्गों के अवरोध हो जाने के कारण प्रोषित-पतिकर प्रवासी प्रियतम के लौटने की आशा छोड़ देता है। प्रियतम के ध्यान में तल्लीन वृषाकलेवरा विरहिणियों की वेदना दल कर सहानुभूति से मेघों का हृदय भी द्रवित हो उठता है और जलधारा के ध्याज में अश्रु टपकन लगते हैं। हरित शाडूलमण्डित वनस्पती में नर्तनशील उच्छ्रित शिखर मयूर उन प्रवासियों का पता पूछने लगन हैं, जो अपनी प्रसक्तियों को अकेली छोड़ कर दूर चले गये हैं। कलकठौ प्रवासियों की चेनाधनी देने लगती है कि जब तक तुम्हारी प्रिया मर नहीं जाती, तब तक घर लौट आओ। एकाग्रत सदन में अवशि-गगना-तत्पर अकेली पथिक-प्रिया को विद्युत पिगास कृष्ण मेघ उल्काविष्टास सा दिखाई देता है (६४१, ६४७, ६४८ ६४९, ६५०)। शिशिर के दिनों को इसलिये क्षाप दिया जाता है कि उनके कारण अप्रिय पानी के प्रति भी प्रणय का अभिनय करना पड़ता है (६६५)। गृह प्राण में प्रवर्धमान सहकार तब भी वसन्त आने पर वसा, अश्रु और मास का शोषण करने लगता है (६३९)। शीघ्र में दवाग्नि की मति में मलिन विन्ध्य शिखरों को देख कर प्रोषितपतिकार्य वर्षा के क्षामल मेघों की सभावना से व्याकुल हो उठती है।

उपर्युक्त उदाहरणों में प्रकृति विविध परिस्थियों में पड़े मानव-हृदय को माना रूपों से प्रभावित करती है। वरञ्चालग में प्रकृति एक रूप में और दिखाई देती है। वहाँ वह न तो उद्दीपन के रूप में प्रभाव डालती है और न प्रतीक के रूप में। समका उद्देश्य केवल व्यञ्जनाव्यापार द्वारा किसी अभिप्रेतार्थ की अभिव्यक्ति कराना है :—

मा खसु ओणयमुही धवलायतेसु सालिछेत्तेसु ।

हरियालमडियमुहा नड व्व मणवाडया जाया ॥

शांति क्षेत्रों के श्वेत हो जाने पर (मूल जाने पर) शिर झुकाये मत रोज़ो, हरियाल से विभूषित मुख वाले भट के समान सन के खेत तैयार हो गये हैं।

पुत्रेण सणं पच्छेण वंजुला दाहिणेण वट विडवो ।  
पुत्तिइ पुण्णेहि विना न लब्भए एरिसो गामो ॥

पूर्व में सन, पश्चिम में वट और दक्षिण में वरगद है, वेटी! बिना पुष्प के ऐसा गांव नहीं मिलता है ।

जत्थ न खुज्जियविडवो न नई नवनं न उज्जडो गेहो ।  
तरथ भण वह वसिज्जइ सुविसत्थवज्जिए गामे ॥

जहाँ न कुबड़े पेड़ हैं, न नदी हैं, न वन है और न उजड़ा घर ही है, उस निश्चिन्त स्थान में रहित गांव में बत्ताओं कैसे रहा जाय ? इन गापाओं में गांव की प्राकृतिक स्थिति का वर्णन प्रच्छन्न प्रणय में अपेक्षित संकेत-स्थलों की सुलभता अथवा दुर्लभता के उद्देश्य से किया गया है । अनेक गापाओं में जहाँ प्रकृति के स्वतन्त्र चित्र मिलते हैं, वहाँ भी अलङ्कारों के चमत्कार में उसका स्वरूप तिरोहित हो गया है । परन्तु बीच-बीच में ऐसी भी वर्णन उपलब्ध होते हैं, जिनका दाम्बश्चित्र चित्र को बरबस मोह लेता है—

रंदारविदमयरदाणंदियालो रिछोली ।  
रणक्षणइ कसणमणिमेहल व्व महुमासलच्छीए ॥

इस गापा में विद्याल अरविन्द मन्दिर में मकरन्द-पान से मुदित मधुकर-माला का उपमा के माध्यम से, जो चित्र अंकित किया गया है, उसमें नाद-सौन्दर्य ने चार चांद लगा दिये हैं ।

इस प्रकार यद्यपि वज्जालग में प्रकृति के बिम्बग्राही चित्रों की कमी है, किन्तु उद्दीपन के रूप में उसके वर्णन बड़े हृदयग्राही हैं ।

**भाषा एवं शैली**

वज्जालग की भाषा को हम मिश्रित भाषा कह सकते हैं । कतिपय विशेषताओं के आधार पर उसे जैनमहाराष्ट्री मान लेना बहुत उचित नहीं है, क्योंकि ग्रन्थ की सारी गाथाएँ न तो एक कवि की रचनाएँ हैं और न उनका रचना काल ही एक है । वे विभिन्न कालों में विभिन्न कवियों के द्वारा रची गई हैं । अतः भाषा को एकरूपता और व्यवस्था का सर्वत्र अभाव दिखाई देता है । यदि कतिपय गाथाओं में जैनमहाराष्ट्री की प्रवृत्तियाँ दृष्टिगत होती हैं, तो कुछ में अर्धमागधी के भी प्रयोग मिलते हैं । सबसे अधिक प्रभाव तो अपभ्रंस का है । संक्षेप में विभिन्न प्रकृति लक्षणों की संक्षेपता ही वज्जालग की भाषा का प्रधान लक्षण है । उसमें यदि पेशाचो के समान ण के स्थान

पर न का प्रयोग है, तो मागधी के समान ज क स्थान पर म भी विद्यमान है । यदि महाराष्ट्री में प्रचलित ( वतवा के स्थान पर ) ऊण के दर्शन होत हैं, तो अर्धमागधी क समान वतवा का तुमुन के अर्थ में प्रयोग भी है । यदि इस प्रकार लक्षणों की संकीर्णता पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करें, तो अपभ्रंश का प्रभाव सर्वाधिक है । जिन गाथाओं पर यह प्रभाव जितना अधिक है, उन्हें रचनाकाल दृष्टि से उतना ही अर्वाचीन समझना चाहिए । संक्षेप में भाषा की निम्नलिखित विलक्षणताय दशनीय है —

१. आम् क स्थान पर ह, छि के स्थान पर हि, हेमि के स्थान पर हैहि, अन्ति क स्थान पर हि और लोट प्रथम पुरप एक वचन में उ के स्थान पर हु का प्रयोग ।

२. इ, इवि एवं प्रभृति वृथकालिक क्रिया-प्रत्ययों का अपभ्रंशानुकूल प्रयोग ।

३. निष्ठा के अर्थ में मूलजातु का प्रयोग ।

४. अपभ्रंश उ प्रत्यय ।

५. टुप्तविभक्तिक प्रयोग ।

६. एतद् के स्थान पर एह, युष्मद् का तृतीया में एह ।

७. लाट में सि के स्थान पर इ, करसु के स्थान पर करि ।

८. छन्दों की आवश्यकता क अनुसार स्वरों में परिवर्तन, काट-छांट, लघु की दाघ और दीघ का लघु बना देना ।

९. व्यत्यय, किमी स्वर के स्थान पर अन्य स्वर का प्रयोग ।

१०. समास में छन्दों की गति सुरक्षित रखन क लिय व्यञ्जन-द्वित्व ।

११. म, व और र का आगम<sup>१</sup> ।

१२. म के स्थान पर व एवं व क स्थान पर म ।

१३. द्वित्व क स्थान पर द्वित्व का अभाव, मण्णे क स्थान पर मणे और दुत्सह क स्थान पर दूसह ।

विभिन्न वज्राञ्ज में दशो शब्दों का भारी संख्या में प्रयोग मिलता है । कितन दशो गद्द तो एस हैं, जो प्रसिद्ध शब्दकोषों में भा अप्राप्य है । ऐस चण्डा का बाहुय कवियों पर उनकी मातृभाषा ( प्रान्तीय भाषा ) क प्रभाव का सूचक है क्योंकि उस समय तक प्रान्तीय भाषायें पर्याप्त विकसित हो चुकी थी ।

१. वर्णागम की प्रवृत्ति पालि में भी है, वहाँ व, न, ठ, र और म का आगम होता है—

वनतरगा चागमा

—भोम्लान, १/४५ ।

एक ही वज्जा में निविष्ट विभिन्न गाथाओं में शैली-भेद विद्यमान है । यदि कही दीर्घ मध्यान्त-पदावली के विकट बन्ध है, तो कहीं समास की गन्ध भी नहीं है और कहीं समास है, किन्तु नितान्त विरल । यदि कही श्लेष के कारण अधिक जटिलता है, तो दूसरी ओर ऐसी आढम्बरहीन गायों भी हैं, जहाँ एक-एक पद से अनायास अर्थ छलकता दिखाई देता है । बंदर्भों रीति का प्राधान्य है । प्रसाद और माधुर्य गुणों की अनुपम छटा दर्शनीय है । किसी-किसी वज्जा में ( जैसे सुहृद् और साहय ) ओज भी है । निम्नलिखित गाथाओं की विलक्षण प्रामादिकता दर्शनीय है—

धर-धर धरेद्-हियं जीहा धोलेह कंठमज्जमि ।  
नासइ प्रह्लावणं देहि त्ति परं भणंतस्स ॥  
तां ह्व ताव गुणा लज्जा सच्च कुलक्कमो ताव ।  
ताव च्चिय अहिमाणो देहि त्ति ण भण्णए जाव ॥

अनेक गाथायें अलंकार के भार से लदी हैं । शब्दालंकारों में यमक के उदाहरण कम हैं । अनुप्रास अनायास ही सुलभ हो जाता है । वस्तुतः श्लेष की ओर ही कवियों का झुकाव अधिक है । इसी कारण अनेक गाथायें बहुत दुस्रह बन गई हैं । प्रायः गाथाओं में शब्दों की सँवारने की अपेक्षा अर्थों की अलंकृत करने का अधिक प्रयास किया गया है, इसीलिये श्लेष जैसा शब्दालंकार भी अन्य का अंग होकर गौण हो रह गया है । मुहावरों और लोकोक्तिओं के प्रयोग भी अनेक गाथाओं में मिलते हैं ( गा० ५५६, ४४९ X १३ ) । ध्वन्यात्मक एवं अनुरणनात्मक शब्दों के द्वारा रसानुभूति की तीव्र बनाया गया है । अनेक गाथायें बिल्कुल आढम्बर-हीन और अनलंकृत होने पर भी अपने भोले-पन से चित्त की अभिमूढ कर लेती हैं । ऐसे स्थलों पर भाषा का जो बहुतिम सृज स्वस्व उपलब्ध होता है, वह अभ्यन्त खोजने पर ही दिखाई देगा । यद्यपि कुछ स्थलों पर व्याकरण विषय प्रयोग भी मिलते हैं, किन्तु गुणों की भीड़ में उन पर दृष्टि नहीं जाती है । उपमाओं में मूर्त उपमानों का बाहुन्य है । सवादात्मक शैली को अपनाने से कई गाथाओं में अद्भुत नाटकीयता आ गई है—

“कइया गओ पियो” “पुत्ति अज्ज” “अज्जेव कइदिणा होत्ति ।”<sup>१</sup>  
“एक्को” “एद्दमेत्तो” भणित मोहं गया वाला ॥

१. वज्जालग, गा० ६६० ।

२. इसी सवादात्मक शैली में रचित निम्नलिखित श्लोक दर्शनीय है ।

“कुसलं राहे” “सुहिओ सि कंस” “कंसो कहि” “कहि राहा ।”

इय वालियाइ भणिए बिलखसहसिर हरि नमह ॥

प्रथम उदाहरण में नायिका के भोलेपन के साथ गाय की सरलता और स्यादम्बरशून्यता भी अनुपम है ।

संज्ञक और व्यञ्जक शब्दों के उचित प्रयोग के कारण वज्जालग की शैली में पर्याप्त भगिमा आ गई है । अनेक गायार्थ ध्वनि काव्य के सर्वोत्तम उदाहरणों के रूप में रची जा सकती है । संज्ञक शब्द कभी-कभी अपने वाच्य के साथ अर्थान्तर में सक्रमित हो जाने हैं और कभी-कभी उनका वाच्यार्थ विस्फुल विरोहित हो जाता है—

मयणाणिल सधुविस्सय णेहिधदूसह दूरपज्जलिओ ।

ढहह सहि पियविरहो जलणो जलणोच्चिय वराओ ॥

—अर्थान्तर सक्रमित वाच्य ध्वनि

यहाँ द्वितीय जलण (ज्वलन) शब्द अपने अर्थ के साथ अर्थान्तर (नाम मात्र का अग्नि) में सक्रमित हो गया है । अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि का एक उदाहरण देखिये—

क्वडेण रमति जण पिय पयपति अत्थलोहेण ।

ताण णमो वेस्साण अप्पा वि न बलहो जाण ॥

यहाँ नमस्कार का वास्तविक अर्थ असंगत होने के कारण उपेक्षित है । उक्त शब्द का अर्थ ‘अथदापूर्वक ग्रहण’ नहीं, ‘अथदापूर्वक स्वाम’ है । बहुत सी गायार्थों में बकता, बोद्धा, काकु, वाक्य, वाच्य, अभ्यसन्निधि, प्रस्ताव (प्रकरण) देश, काल और हाव-भावादि का वैशिष्ट्य से वाचक शब्द भी स्वार्थ विग्रान्त न होकर व्यंग्य के वाहक बन गये हैं । वाच्य और व्यंग्य की प्रतीतियों में पूर्वापर क्रम लक्षित होने कारण ऐसे काव्यों को शास्त्राय भाषा में सलस्य-क्रम ध्वनि कहा गया है । वस्तु ध्वनि का एक निदर्शन प्रस्तुत है—

जिस हिन्दी क प्रसिद्ध कवि पद्याकर ने जगद्गिनोद में अनूदित किया है—

बाले ! नाथ ! विमुञ्च मानिनि ! ह्य रोपान्मया कि कृतम्,

सोदोष्मानु, न मज्जराध्यति भवान् सर्वेष्पराया मयि ।

तत्कि रोदिति गद्गदेनवचसा, कस्याग्रतो ह्यते,

नन्वेतन्मय, का तवास्मि, दयिता नास्मीत्यतो ह्यते ॥



अस्ता बहिरर्धलिया बहुविहवीवाह सकुलो गामो ।  
मज्झ पइ य विएसे वो तुज्झ वसेरय देइ ॥

इसका भावानुवाद मैंने यों किया है—

सास विचारी के आँख नहीं बह,  
देखती है दिन में ही अंधेरा ।  
आज विवाह में लोग गये सब,  
लौटेंगे होने के बाद सबेरा ।  
नोई नहीं है अकेली हूँ गेह में,  
दूर विदेश में कत का डेरा ।  
ढूँढ लो रात में दूसरा ठौर, है,  
कौन यहाँ जो तुम्हें दे वसेरा ॥

यही प्रोषित पतिका बधनी है और बोझा ( ग्याता ) है प्रोषित नवयुवक । दोनों में आगिक संपर्क की वासना समान है । मृना घर और रात्रि का ममय—ऐसे अनुकूल देश-काल में वासना तृप्ति का कितना सुन्दर अवसर है । अतः भावुक एक विदग्ध काव्य मर्मज्ञों की नायिका के निपेय में भी गुप्त स्वीकृति की झलक मिल जाती है । रीति काल के प्रसिद्ध कवि मुत्तइब मिथ ( कविराज ) ने निम्न-लिखित कवित्त में ऐसी ही व्यञ्जक परिस्थिति को उपस्थित करने का प्रयास किया है—

ननद निनारी, सासु मायके सिधारी,  
अहै रेनि अधियारी भरी, सूसत न करु है ।  
पीतम को गोन, कविराज न सोहात भोन,  
दारुन बहन पीन, लाग्यो मेघ झरु है ॥  
सग ना सहेली, बैस नवल अकेली,  
तन परी तलवेली-महा लाग्यो मेन सरु है ।  
अई अधिरात, मेरो जियरा डरात,  
जागु जागु रे बटोही । यहाँ चोरन को डरु है ॥

परन्तु कवि ने "तन परी तलवेली-महा, लाग्यो मेन सरु है"—इस वाक्य-द्वारा व्यंग्य को बिल्कुल वाच्य कर दिया है । अतः यह कवित्त पूर्वोदाहृत गाथा की समकक्षता में नहीं आ सकता है । इसकी अपेक्षा, इसी सम्वदम में कवीन्द्र का यह कवित्त वस्तु ध्वनि का सुन्दर उदाहरण है—

शहर मँझार ही पहर एक लागि जैहै,  
छोरे पै नगर के सराय है उतारे की ।  
कहत कविद भग माँझ ही परेगी साँझ,  
खबर उडानी है बटोही द्वेक मारे की ।  
घर के हमारे परदेश को सिघारे,  
यातें दया के बिचारी हम रीति राह बारे की ।  
उतरो नदी के तीर, बरके तरे ही तुम,  
चौको जनि चौकी तही पाहरू हमारे की ॥

इसमें प्राकृत-भाषा के समान ही व्यञ्जना का पूर्ण निर्वाह है । कही-कही व्यंग्य इतना अपरिहाय हो गया है कि बिना उसके भाषा का अर्थ ही अधूरा और असंगत प्रतीत होन लगता है—

एकसर पहर दारिय माइ द गइ द जुझमाभिडिए ।  
वाहि न लज्जसि नच्चसि दोहम्मे पायडिज्जते ॥

व्याध ने मुद्धरत व्याघ्र और गजेन्द्र को एक ही बाण से मार गिराया है । पति के इस शीघ्र में पुनर्कृत हो कर व्याध वधू नाचन लगती है । सखी कहती है—अरी नाचती क्यों है ? यह तो तेरा दुर्भाग्य प्रकट हुआ है । स्त्रीजिये, पति का पराक्रम भी पत्नी का दुर्भाग्य-सूचक बन गया । कितनी बड़ी असंगति है, इस अर्थ से । परन्तु दूसरे क्षण व्यञ्जना व्यापार का उन्मेष होता है । आखिर विवाहित व्याध का अपरिमित बाहुबल सुरक्षित कैसे रह गया ? यदि वह अपनी पत्नी के प्रणय-पाश में आबद्ध होता तो नि सदह विषय सेवन से क्षीण हो गया होता और एक ही बाण से दो दुर्धर्य व्यंग्य पशुओं का वध न कर पाता । अतः वह अपनी पत्नी से प्रेम नहीं करता है । स्त्री का इससे बढ कर दुर्भाग्य और क्या हो सकता है ? गाथाओं में जहाँ व्यंग्य प्रधान नहीं रहता, वहाँ भी वह कभी वाच्य का साधक होता है, तो कभी अंग । कभी उसकी प्रधानता मन्दिम्य होती है, तो कभी वाच्य और व्यंग्य दोनों समकक्ष होते हैं । व्यंग्य जब वाच्य का अंग होता है, तब समासोक्ति होती है और जब दोनों समकक्ष होते हैं, तब अप्रस्तुतप्रशंसा । वाच्य की अपेक्षा व्यंग्य का प्राधान्य होने पर काव्य का अभिधान ध्वनि होता है । वज्जालग, मं, दू, तीनों के नदरदृष्ट, पड़े पड़े हैं ।

वज्जालग की रचनाशैली विदग्धता से परिपूर्ण है । इससे सराबार होने पर भी उसकी गाथाओं को समझने के लिए केवल शब्द और अर्थ के ज्ञान से काम

नहीं चल सकता है, उनमें प्रतिपादित व्यंग्य की समझने के लिए वैदुषी के साथ-साथ महदयता भी अपेक्षित है। शैली की उदात्तता, भावों की तीव्रता, भाषा की सजीवता, अलंकारों की गरिमा और भणिति-भविष्य की दृष्टि से यह प्राकृत साहित्य के श्रेष्ठतम काव्यों में से एक है।

### नैतिक आदर्श

नैतिक दृष्टि से भी बज्जालग्य एक सुन्दर कृति है। समाज में भले-बुरे लोगों की ठीक-ठीक पहचान पाना एक कठिन कार्य है। प्रस्तुत ग्रन्थ में खलों और सज्जनों के लक्षण देकर एक को स्यामने और दूसरे को अगीकार करने के उपदेश हैं। सज्जनों के चरित्र का बड़ा ही उदात्त चित्रण किया गया है। सज्जन क्रोध नहीं करता, यदि करता है, तो अमंगल नहीं सोचता। यदि सोचता है, तो कहता नहीं और यदि कहता है, तो लज्जित हो जाता है। बृद्ध रोग से क्लृपित होने पर भी मूंह से अप्रिय वचन नहीं निकलने। वह न तो दूसरे का उपहास करता है और न अपनी श्लाघा। विप्रियकारी के प्रति भी उसका व्यवहार मधुर ही रहता है। दुष्टों के कठोर वचन सुन कर वह हँस देता है। निस्पृह उपकार में तत्पर रहता है, किसी का भी अहित नहीं करता। उसका क्रोध बिजली की बौंध के समान क्षणभंगुर होता है और उनकी मंत्री पाषाण-रेखा के समान कभी भी घुमिल नहीं होती। दोनों का उद्धार, धारणापत का रक्षण, अपराधियों को क्षमा कर देना—ये सज्जन की विशेषताएँ हैं। वह बिगड़ परिस्थिति में भी वचनमय नहीं करता है। मंत्री के प्रसंग में जल और दुग्ध का दृष्टान्त दिया गया है। जल जब मिलता है, सब दुग्ध को अधिक बना देता है और ओटाने पर पहले वही जलता है। सच्चा मित्र वही है, जो आपत्ति में पहले काम आता है। वस्तुतः उसे ही मित्र बनाना उचित है, जो भित्ति-घिन्न के समान किसी सबट और देह-काल में पराङ्मुख न हो। कुलीन व्यक्ति का वाग्व्यवहार लौह-शृङ्खला तथा अग्नि समीपाशों से सुदृढ़ होता है। अगस्पर्श ही प्रेम का लक्ष्य नहीं है, प्रेमी को देख लेने मात्र से सुख की प्राप्ति होती है। खलों के चरणों में प्रणत होकर त्रैलोक्य की संपत्ति अर्जित कर लेने की अपेक्षा सम्मान-पूर्वक तृण का अर्जन भी सुखद है। धीरवज्जा में धैर्यगुण की प्रशंसा की गई है और बताया गया है कि धीर-पुरुषों को ही लक्ष्मी प्राप्त होती है। आकाश तभी तक विस्तीर्ण है, समुद्र तभी तक अगाध है और शैलश्रेणियाँ तभी तक दुर्लभ हैं, जब तक उनकी तुलना धीरों से नहीं की जाती है। धीरों के लिए मेघ तृण के समान, स्वर्ग घर के प्राण के समान, आकाश हाथ से छुये हुये के समान और समुद्र क्षुद्र नदी के समान हो

जाता है। धीर-पुरुष सदैव पुरुषार्थ में प्रवृत्त रहता है, भाग्य के भरोसे बैठा नहीं रहता। साहसवज्जा में साहस के लिये प्रेरित करते हुये कहा गया है कि साहसी व्यक्ति मनोवांछित फल प्राप्त करने ही दम लेता है, राहु के केवल भस्तक ही पा, शरीर, हाथ-पाँव आदि नहीं थे, फिर भी वह चन्द्रमा को निगल गया। धीरो के साहस को देखकर प्रतिदैव (भाग्य) भी भयाक्रान्त हो जाता है और अनुकूल कार्य करने लगता है। व्यवसाय का फल है विभव, विभव का फल है विह्वलजनोद्धार, विह्वलजनोद्धार से यश की प्राप्ति होती है और यश से सब कुछ मिल जाता है। सत्पुरुषों की ऐश्वर्य में विनम्र और ऐश्वर्यहीन होने पर उन्नत रहना चाहिये। दान की सत्प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करती हुई गाथा कहती है—हे जननी! ऐसे पुत्र को जन्म मत देना, जो दूसरे से याचना करने में प्रवृत्त हो। जिसने याचना करने पर याचक को निराश कर दिया हो, उसे तो गर्भ में भी न धारण करना। प्रभु-वज्जा में बताया गया है कि स्वामी को भूतों का अनादर और सुपाशों का समादर करना चाहिये। सेवकवज्जा में सेवा का उज्ज्वल आदर्श वर्णित है। आदर्श सेवक स्वामी से मुँह खोलकर कुछ नहीं माँगता है, विनम्र सेवा को ही अपनी याचना समझ कर सन्तुष्ट रहता है। कृपि की प्रशंसा में यह कथन है—यदि पीवर स्तनो वाली तीन गायें, चार समर्थ बैल और रालक धान्य की मजरियाँ निष्पन्न हैं, तो सेवा-भूति को दूर से ही प्रणाम कर लेना चाहिये। सुहृद-वज्जा में पराक्रम की प्रशंसा है। धवलवज्जा में कर्मठ भाग्य का आदर्श प्रतीक माध्यम से वर्णित है। सिंहवज्जा में साहस, पराक्रम और व्यवसाय की प्रेरणा दी गई है। हरिणवज्जा में संगीत पर प्राणों की बलि चढ़ा देने वाले ऋषियों के मर्मस्पर्शी चित्र कलाकारों का उचित पुरस्कार देने के लिये उरसाहित करते हैं। करभवज्जा में मातृभूमि के अलीकिक धनुराग की अद्भुत भाँकी प्रस्तुत की गई है। करभ नन्दवन में भी रहकर जम्भभूमि के महत्त्व को नहीं भूल पाता है। सुरतर विष्णु और हंस वज्जाओं में श्रेष्ठ आश्रय को छोड़ कर निरा आश्रय में रहने की निंदा की गई है। वेसावज्जा में वेदयागमन की धीर निंदा है। कुटिलता, बकृता, वचना और असत्य—ये दूसरे के दोष मले ही हों, वेसा के भूषण हैं। उसकी छाती उस शंवाल लिप्त प्रस्तर के समान है, जिस पर चढ़ने वाले का पतन अवश्यमावी है। वेसा स्मयान का उस शृगाली के समान है, जो एक मृतक को खाती है, दूसरे को कटाक्ष से सुरक्षित रखती है और तीसरे पर दृष्टि रखती है। जरावज्जा अज्ञात की क्षण-भंगुरता का प्रतिपादन करती है। गुणवज्जा में कृल की अपेक्षा गुण को श्रेष्ठ कहा गया है।

कर्म ही मानव को उच्च और नीच स्थान प्राप्त कराता है। मन्दिर और कूप बनाने वाले क्रमशः ऊपर और नीचे मुँह करके चलने हैं। समय भारतीय संस्कृति की आत्मा है। निम्नलिखित गाथा में कुलवालिकाओं के मनोनिग्रह का कितना मनोरम चित्र है—

इच्छापियत्तपसरो कामो कुलवालियाण कि कुणइ ।

सीहो व्व पंजरगओ अंग च्चिय झिज्जइ वराओ ॥

गाथा के अनुसार भारतीय ललना इन चार वस्तुओं का समाहार है—शीला, वंश, आलापिनी, पारावत और कौकिल। जो सब के सा चुकने पर लाती है, सब के सो जाने पर सोती है और सबसे पहले उम जाती है, वह स्त्री नहीं, घर की लक्ष्मी है। आदर्श गृहिणी घर के घोड़े से भक्ष्यजनों को कुछ इस प्रकार बड़ा देती है कि बाघव भी समुद्र के समान पाह नहीं पाते हैं। दरिद्र महिलाओं के सन्तोष और गाम्भीर्य का वर्णन इस प्रकार है—

दुग्गयघरमि घरिणी रक्खंती आउलत्तणं पइणी ।

पुच्छियदोहलसद्धा उययं चिय दोहलं कहइ ॥

गमिणी पत्नी से पति पूछता है—“तुम्हारी इच्छा क्या है?” वह सोचती है कि यदि कहीं कोई दूसरी वस्तु माँगूंगी तो ये अकिंचनता बश नहीं दे पायेंगे। अतः कहती है—‘मेरी कुछ भी इच्छा नहीं है, केवल जल पीना चाहती हूँ’। जल, राजा और रक सब को सुलभ है। यह है भारतीय महिला का तपःपूत व्यवित्तत्व। जब नैऋत के लोग ठाढ़-बाट से आते हैं, तब आभिजात्य पर गर्व रखने वाले निःस्व पति को मर्यादा बनाये रखने में तत्पर गृहिणी उन पर क्रुपित हो उठती है। कामुक देवर का मन दूषित हो जाने पर चरित्रगुणशालिनी भार्गवी चिन्ता से क्षीण होती जाती है, परन्तु यह बात अपने क्रोधो पति को नहीं बताती, क्यों कि मय है कि कहीं समुक्त परिवार विघटित न हो जाय। सुघरिणी-बज्जा में परिवार की भाव खेने वाली तपस्विनी ललनाओं के कर्मठ व्यवित्तत्व एवं त्यागमय जीवन के अनेक मार्मिक प्रसंग हैं, जो दूसरों के लिये अनुकरणीय हो सकते हैं। एक दरिद्र के घर में कुछ भी नहीं रह गया है। संयोग से एक अतिथि आ जाता है। कुटुम्बभरण में लगी दरिद्र गृहस्वामिनी अपने विवाह का मांगलिक धल्य बँच कर उसका आतिथ्य करती है—

पत्ते पियपाहुणए मगलवल्लयाइ विक्किणंतीए ।

दुग्गयघरिणीकुलवालियाइ रोवाविओ गामो ॥

दैन्य, श्रद्धा, कुलाभिमान और कर्तव्यनिष्ठा का विलक्षण दृश्य है। बन्नी वैभव के दिनों में जहाँ वायस बलि खाया करता था, अब उसी घर की गिरी दशा आ गई है। प्रत्येक दिन की तरह वह परिचित वायस आज भी आया परन्तु बिना कुछ पाये निराशा होकर उठ गया। यह देख कर दरिद्र गृहिणी इतना रोई, जितना दान्यवों के मरने पर भी न रोती—

बन्धवमरणे वि हृहा दुग्धयघरिणोऽ वि न तद्वा रुण्य ।

अपत्तबलिविलम्बे बल्लहकाए समूहोणे ॥

दरिद्रता में भी एक गृहिणी के त्याग और तप की तब पराकाष्ठा हो जाती है, जब वह स्वयं मूल से पीड़ित होन पर भी, बालकों के खाने से बचा हुआ भोजन दुःखियों में बाँट देती है—

हिंभाण भुत्तसेस छुहाकिलत्ता वि देइ दुहिमाण ।

कुलभोरवेण वरईत्त रोरघरिणीत्त सिज्जति ॥

यह है दया, दैन्य और कुलभोरव की साक्षान् प्रतिमूर्ति। नारी केवल भोग्या नहीं है। वह गृहकार्य में गृहिणी, सुख में वैश्या, सुजनों में कुलवधू, बृद्धावस्था में सखी एवं सबक में मन्त्री और सेवक है—इन पक्षियों में बड़ अने-कान्तवाद का सुन्दर उदाहरण बन गई है—

घरवावारे घरिणी वेस्सा सुरयमि कुलवडू सुयणे ।

परिणइ मज्झमि सही विहुरे मति व्व भिन्नी व्व ॥

जैन धर्म में एषान्त बुद्धि की उन्नति बताया गया है। वज्रालम्ब की सघह-शीली इस धार्मिक भाव्यता की सूचना देती है। यदि वज्रालम्बों का इस दृष्टि से अवलोकन करें, तो यह तथ्य स्पष्ट हो जायेगा। सयोग-विरोध, कमलनिन्दा-कमलप्रशंसा, प्रेमनिन्दा-प्रेमप्रशंसा, सुघरिणी-कुट्टिनी, सखी-असखी, पतिव्रता-वैश्या, दानी-नृपण, महिलानुराग-महिलानिन्दा (महिलावज्रा), भायवाद-पुरुषार्थवाद, सुजन-दुर्जन, प्रभु-सेवक, दोल घोर आदि युग्मों के द्वारा जिन परस्पर विरोधी धर्मों को प्रस्तुत किया गया है, उनके कारण पाठकों के मन में पदार्थ सम्बन्धी दुराग्रह या स्थिर ऐकान्तिक धारणा नहीं बन सकती है। स्थूल दृष्टि से ग्रन्थ में वासनात्मक चित्रों की बहुलता दिखाई पड़ती है, परन्तु सूक्ष्म-चक्षुषों से कुछ और ही बात समझ में आती है। प्रेम में वियोग की प्रधानता क्या समझ देती है? क्या वह प्रणय का दुःख परिणति की ओर इंगित नहीं करती? यदि ग्रन्थ का लक्ष्य विलासिता का प्रचार होता, तो प्रेमवज्रा में ये गायार्थ क्यों संकलित की जाती—

ताव च्चिय होइ सुहं जाव न कीरइ पिओ जणो को वि ।  
 पियसंगो जेहि कओ दुक्खाण समप्पिओ अप्पा ॥  
 सो मुवइ सुहं सो दुक्खवज्जिओ सो सुहाण नयखाणी ।  
 वाए मणेण काएण जस्स न हु वल्लहो को वि ॥

स्तनवज्जा में यदि संग्रहकार को स्तनामिलाप प्रतिपादन ही अभीष्ट होता,  
 तो अन्त में ये गाथाएँ नहीं आ सकती थी—

यणजुयलं तीइ निरंतरं पि दट्ठूण तारिमं पडियं ।  
 मा करउ को वि गब्बं एत्थ असारमि संसारे ॥  
 वह नाम तीइ तं तह सभावगरुओ वि थणहरो पडिओ ।  
 अहवा महिलाण चिरं हियए को नाम सठाइ ॥

### परिवर्तित संस्कृत छाया

वाञ्छित अर्थमिद्वि के लिये मैंने उपलब्ध संस्कृत छाया में स्वान-म्यान पर  
 प्रमाण पुरस्सर परिवर्तन किये हैं । इन सम्बन्ध में मेरी विवेचनात्मक स्थापनायें  
 परिशिष्ट ख में दी गई हैं । यही उपलब्ध संस्कृत छाया-पाठ परिवर्तन के साथ  
 नीचे दिया जा रहा है—

### गाथांक

- |     |                                                                       |                 |
|-----|-----------------------------------------------------------------------|-----------------|
| १   | मुज्जाना मुभापित वक्यामि<br>मुज्जेम्यः मुभापितं वक्यामि               | (परिवर्तित पाठ) |
| ५७  | पिमुने मुखम्<br>पिमुनेन मुखम्                                         | (परिवर्तित पाठ) |
| ६१  | बहुकूटकण्ठभूतानाम्<br>१—बहुकूटकण्ठ भूतानाम् २—बहुकूटकण्ठ भूतानाम्     | (परिवर्तित पाठ) |
| ९०  | भयान्मना सपद्यते<br>भयस्त्ववता सपद्यते                                | (परिवर्तित पाठ) |
| १२१ | शास्त्रार्थे पठितस्य (स्वस्वार्थे पठितस्य वा)<br>रास्त्रार्थे पठितस्य | (परिवर्तित पाठ) |
| १२७ | लक्ष्मीः स्थिराणि प्रेमाणि<br>लक्ष्मीरपि राति (ददाति) प्रेमाणि        | (परिवर्तित पाठ) |
| १६२ | स्नेहस्य पदस्य वा<br>स्नेहस्य पयसो वा                                 | (परिवर्तित पाठ) |

- २८१ उत्सृष्टवृषभदाहैक मण्डिता  
स्थूलवृषभदाहैकमण्डिता (परिवर्तित पाठ)
- २९१ नयने समानीततीक्ष्णे (तीक्ष्णौ) परपुष्प जीवहरणे (हरणी)  
अमितसिते (असितसितौ) च भुग्धे  
मयने सम्मानितपद्मयुने (समानीत तीक्ष्णौ) परपुष्प जीव हरणे (हरणी)  
असितसित (असितश्रोको) च भुग्धे (परिवर्तित पाठ)
- ३०९ अमूनमयाविव समदौ (समृगौ) शशोव  
निविकारो (अमगौ) मद इव समदो (ममृगौ) शशोव (परिवर्तित पाठ)
- ३७४ गोशब्दर्यान्तदानि  
गोशब्दर्यास्तोर्यानि (परिवर्तित पाठ)
- ४०० कररुहै तन् स्पृश्यन्ती  
कररुहैस्तन् स्पृश्यमाना (तनौ स्पृश्यमाना वा) (परिवर्तित पाठ)
- ४०२ आशवास्यते द्वासा यावन्न द्वासा समाप्यन्त  
१-आशवास्यते सादा यावन्न द्वासा समाप्यन्ते (परिवर्तित पाठ)  
२- " सासा " " " " " "
- ४१६ दूति कल्पित्वा  
दूती कल्पित्वा (परिवर्तित पाठ)
- ५०१ विपरीन रविबिम्बे (रतिबिम्बे) नक्षत्राणा (नक्षत्राणाम्) स्थानगृहीतानाम्  
विपरीन रविबिम्बे (विवृतेरतिबिम्बे) नक्षत्राणा (नक्षत्राणाम्, नक्षत्राणां,  
भास्वनक्षत्राणा वा) स्थानगृहीताना (स्थानगृहीतानां, मानेनग्रणीयानां  
गृहीतस्थानानां वा) (परिवर्तित पाठ)
- ५१६ प्रज्ञप्तिज्ञानाम्  
पञ्चाशत्स्त्रीणाम् (प्रज्ञप्तिज्ञानं प्रणीतानां प्राज्ञप्तिवेद्या वा)  
(परिवर्तित पाठ)
- ५१६ पुष्कारय (पुष्काररतम्)  
पुष्कारय, पुष्कारक, पुष्कारकम् (परिवर्तित पाठ)
- " वैटम्  
वैटम् (विटम्बम्) (परिवर्तित पाठ)
- ५१८ गठरयेन (गठरतेन)  
गठरजसा (गठरतेन) (परिवर्तित पाठ)



- ५२० प्रहृष्यते  
मा हन्यताम् (परिवर्तित पाठ)
- ५२१ अन्न (अन्यत्) न रोचत एव मम पिपासया (प्रियासया) पूरित हृदयम् ।  
स्नेहमुरताद्राङ्गो तव सुरत बँध प्रतिभाति ॥  
अन्न (अन्य ) न रोचत एव मम पिपासया (प्रियासया) पूरित हृदयम् ।  
मेह सुरजसार्द्राङ्गो (स्नेहमुरताद्राङ्गो स्नेहसुरयाद्राङ्गो वा)  
तव सुरज (सुरत) बँध प्रतिभाति (परिवर्तित पाठ)
- ५४८ अदृष्टदोषा अपि रज्यन्ते  
अदृष्टदोषा अपि रज्यन्ते (अदृष्ट दोषा विरज्यन्ते) । (परिवर्तित पाठ)
- ५५५ ऊर्वाक्षि वेदना अपि नमन्ति चरिता अपि गुणं ।  
ऊर्वाक्षि वेदनयापि नमन्ति चर्याया अपि गुणः । (परिवर्तित पाठ)
- ५६२ बाणसम्बन्धम्  
१. बाणसम्बन्धम्, २. बाणसम्बन्धम् (परिवर्तित पाठ)  
प्रचुरकुटिला  
प्रचुरकुटिला (पौर कुटिला) (परिवर्तित पाठ)  
मुष्ट्या सवहति  
१. मुष्ट्या मुष्टे वा स्व बहति २. मुष्ट्या सवहति । (परिवर्तित पाठ)
- ५६३ यात प्रिय प्रिय प्रति एक निर्वापयति तमेव प्रदीप्तम् ।  
भवत्यपरस्थित एव वेदयासार्थस्तृणान्निख ॥  
यात प्रिय प्रिय (यातोऽप्रिय प्रिय) प्रति एक विध्यापयति  
(विध्यापयति) तदेव (तमेव) प्रदीप्त (प्रलिप्तम्) ।  
भवत्यपरस्थित एव ( भवत्यपरस्थित एव ) वेदयासार्थ  
तृणान्निख । (परिवर्तित पाठ)
- ५६४ पुलकितेनाङ्गेन  
पुलकितेनाङ्गेन (प्रदक्षितेनाङ्गेन) (परिवर्तित पाठ)
- ५६६ न गणयति रूपवन्त न कुलीनं नैव रूपसम्पन्नम् ।  
न गणयति रूपवन्त न कुलीनं नैवारूपसम्पन्नम् । (परिवर्तित पाठ)
- ५७० बाल्या काल गमय  
स्व पाश्या काल गमय (परिवर्तित पाठ)
- ५७६ मा जानीत मम सुखं वेदयाहृदय समन्मनोस्लापम् ।  
मा जानीत मम सुखं वेदयाहृदय स्वमदनोस्लापम् । (परिवर्तित पाठ)

- ५९८ तृष्णका  
तृष्णावती (परिवर्तित पाठ)
- ६०० कश्चितोऽसि कस्मात् केशव किं न कृतो घन्यासग्रहो  
(घान्य सग्रह ) मूढ ।  
कुतो मनः परितोषो विशाखिका (विषाधिक) भुञ्जानस्य ।  
कश्चितोऽसि (कृष्टोऽसि) कस्मात् केशव किं न कृतः  
घन्यासग्रहो (घान्य सग्रहः) मूढ ।  
कुतो मनः परितोषो विशाखिका ( विषाधित ) भुञ्जानस्य ।  
(परिवर्तित पाठ)
- ६०९ चन्द्राहतप्रतिबिम्बाया यस्या मुक्ताट्टहास-भीतायाः ।  
चन्द्राघृत प्रतिबिम्बाया (चन्द्राहत प्रतिबिम्बाया.)  
आतिमुक्ताट्टहासभीतायाः । (परिवर्तित पाठ)
- ६१० ललितकमलसरोभ्रमरम् ।  
ललितकमलसर भ्रमरम् । (परिवर्तित पाठ)
- ६३४ दिङ्मणिमञ्जरीभिः  
दिशि मणिमञ्जरीभिः (परिवर्तित पाठ)
- ६४० यद्बालक इति भणितोऽसि ।  
यद्ब्रमालय इति भणितोऽसि (परिवर्तित पाठ)
- ६४१ मा रज्य शुभजनके शोभाञ्जनके च दृष्टमात्रे ।  
भङ्ग्यस इति साहसिका सा हसिता सर्वलोकेन ॥  
मा रज्य सुभञ्जनक शोभाञ्जनके च दृष्ट मात्रे ।  
भङ्ग्यस इति शास्त्राश्रिता ( प्रियाश्रिता वा ) सा  
हसिता सर्वलोकेन । (परिवर्तित पाठ)
- ६५६ प्रियमप्रिय जनो बहति  
प्रियामप्रिया जनो बहति (परिवर्तित पाठ)  
सोतावपनञ्जयो जातः  
सोतावपनञ्जयो (सोतायवनञ्जतं सोताकपनञ्जत वा)  
जातः (जातम्) । (परिवर्तित पाठ)
- ६५७ अक्लृप्तालक्षणधूसरा दूदन्ते परपरुताः ।  
पश्य विशिरवाटगृहीता अलक्षणा दोनपुरुषा इव ॥

अवधूतालशाययूसरा (अवधूतक लक्षणयूसरा)

दृश्यन्ते परस्परम् ।

पदय निशिरवानलतिका (निशिरवातगृहीता)

अलशया दीन पुरुषा इव ॥ (परिवर्तित पाठ).

६६२ मकुचितकपनशीलाङ्ग- सङ्कुनशीलो दत्तसकलपदमार्ग ।

पलितेभ्या लज्जमानो न गणयति अतीते दत्तम् ॥

सदुचितकम्पशीलाङ्ग दक्षसङ्कुनशील (स्वसङ्कुनशील)

दत्तमवलपदमार्ग (दत्तसकलपदमार्ग)

दत्तसजलपदमार्गो वा ।

पलितभ्यो लज्जमानो न गणयत्यपि स्वया दत्तम् ॥

(परिवर्तित पाठ)

६६३ मन्मथभग्ननिदिष्योपय्याङ्ग च करोति जराराज ।

प्रेक्षाम् निष्ठुरहृदय इदानीं सेवते तं काम ॥

मन्मथनिदिष्यमशय सख्या अङ्गं च धूणयति जराराज

(श्वर राज)

प्रेक्षाम् निष्ठुरहृदय इदानीं तं सेवते काम ॥

(परिवर्तित पाठ).

६८१ धधूनां वधूजनं तथा च ।

वधूनां वधूजने तथा च ।

(परिवर्तित पाठ)

६८१ गृहीत विमुक्तानेनो जमयन्ति सामाजिका नरेन्द्राणाम् ।

दण्डस्तथैव स्थित आमुल हन्ति दण्डकारः ॥

गृहीतविमुक्तानेनो जमयन्ति सामाजिको नरेन्द्राणाम् ।

दण्डस्तथैव स्थित आमुल हन्ति तेन (दण्डकारः) ॥ (परिवर्तित पाठ)

६९० किं तत्र जानेनापि पुरणेन पदपुरणेऽप्यसमर्थेन ।

येन न यथाशक्तं भूतं गरिष्ठं भुवनान्तरं सकलम् ॥

किं तत्र जानेनापि पुरणेन पदपुरणेऽप्यसमर्थेन

(पद पुरणेऽप्यसमर्थेन) ।

येन न यथाशक्तं भूतं गरिष्ठं भुवनान्तरं (भुवनान्तरं)

सकलम् ॥ (परिवर्तित पाठ)

७०२ कार्यं प्रवृत्त्यथो व्रजन्ति मुलाङ्कुरा इव भुवने ।

विद्याधिवे कृत कृतात् पुरुषा समुत्पन्नाः ॥

- १० × ६ तुलायेण कार्यकर्तृणाम्  
काकतालीयेन कार्यकर्तृणाम् (परिवर्तित पाठ)
- ९० × १२ बुद्धि सत्य मित्र '(?) नो महाकाम्यम् ।  
बुद्धि सत्य मित्र चरन्ना महाकाम्यम् । (पूरित पाठ)
- १९९ × ४ रे रत्नकोटिगविन् गजेन्द्र न खलु सेवनीयोऽसि ।  
रे रत्नकोटिगविन् (रत्नकोटिगविन्) गजेन्द्र  
(गजेन्द्र) न खलु सेवनीयोऽसि । (परिवर्तित पाठ)
- १९९ × ५ लघुत्व मोत  
लघुत्व प्राप्त (परिवर्तित पाठ)
- २१४ × १ अहा स्वपित लुलितधम्मिल्लकुन्तलकलाप ।  
ओ स्वपिति विरलाच्छुल्लितधम्मिल्लकुन्तलकलाप ।  
(पूरित पाठ)
- पश्चात्तर मे छाया का निम्नलिखित स्वरूप होया—  
ओ स्वपिति विरलानच्छुल्लिताधामिककुन्तलकलाप ।  
(परिवर्तित पाठ)
- २१४ × ५ धनुर्हर समुल्लिखति  
धनुर्मर समुल्लिखति (परिवर्तित पाठ)
- २८४ × ६ कि कार्यं तेऽपि जानन्ति ।  
कैङ्कर्यं यस्य ते विजानन्ति (परिवर्तित पाठ)
- ३०० × ६ बाष्पाम्यन्तरप्रसृतगलत " (?) अक्षिणी ।  
बाष्पाम्यन्तरप्रसृतगलद्बाष्पामिरक्षिणी । (पूरित पाठ)
- ३१२ × ११ पथि प्रपाकलशाम्यामिव स्तनाभ्या दग्धमुल्लाम्याम् ।  
पथि प्रपाकलशाम्यामिव स्तनाभ्यामघोमुल्लाम्याम् ॥  
(परिवर्तित पाठ)
- ३१२ × ११ स्थानकराम्यामाम्यामधामुल्लाम्यामनवरतप्रोढाम्याम् ।  
स्तनाभ्या नरन्द्राम्यामिव किं क्रियते पदविमुक्ताम्याम् ॥  
स्थानचरैरेतरेषोमुखैरनवरतप्रोढे ।  
स्तनैर्नरेन्द्रैरिव किं क्रियते पयोविमुक्ते  
(पदविमुक्ते) । (परिवर्तित पाठ)
- ३१८ × ६ करोति लालाकुल हृदयम् ।  
करोति लालापुक्त हृदयम् । (परिवर्तित पाठ)

व्रजन्ति अथ कर्ष्यं अयन्ते मूलाङ्कुरा इव पृथिव्याः ।

बीजादिव एकत मुलाद् पुरुषा समुत्पन्नाः ॥

यह सस्कृत छाया गउडवहो काव्य से उद्धृत है ।

७१२ आत्मानं पर न जानासि नून सगुणोऽसि लक्ष्मीपरिचरितः ।

उज्ज्वलसम्मुख प्रेक्षच्च तद्वदनमपि खलु न स्थापयति ॥

आप्यात (आत्मन ) पर न जानासि नून सगुणोऽसि

(शकुनोऽसि) लक्ष्मीपरिचरित (लक्ष्मीपरिकारित) ।

उज्ज्वलसमूह (उज्ज्वलसम्मुख) प्रेक्षस्व ह

तावदयनमपि (तद् वदनमपि) न स्थापयति ॥ (परिवर्तित पाठ)

७१७ सरसाना मूय परिसस्थितानाम्

सरसाना मूयं परिसस्थिताना

(क्षूर परिसस्थितानाम्) (परिवर्तित पाठ)

७२० उत्तमकुलेषु अग्न तव चन्दन तस्वराणा मध्ये ।

उत्तम कुल सुजन्म तव अग्नि तस्वराणा मध्ये । (परिवर्तित पाठ)

७२९ मुकुलयतश्च मुक्तास्तव पलाशा पलाश शकुनै ।

येन मधुमास समये निजवदनं झटिति श्यामलितम् ॥

मुकुलयतश्च मुक्तास्तव पलाशा पलाश स्वगुणै

(शकुनै)

येन मधुमाससमये (मधुमाससमये) निजवदनं

झटिति श्यामलितम् (परिवर्तित पाठ)

७४१ दृष्ट्वा किञ्चु क्षासास्त्व बालमा कस्माद् वञ्चितः ।

दृष्ट्वा किञ्चु क्षासया ताम्रवत्या कस्माद् वञ्चितः ॥

(परिवर्तित पाठ)

७६२ मध्ये ॥ यानवर्तिनोऽर्षाधिनी यद् गता पारे ।

मध्येन यानपान्तिनोऽर्षाधिनी यद् गता पारे । (परिवर्तित पाठ)

७८९ विस्तारेण त्यक्तम्

विस्तारे स्थु

(परिवर्तित पाठ)

अतिरिक्त गायार्थे

७२×२ अदृष्टे रणरणको दृष्ट ईर्ष्या अदृष्टे मान ।

अदृष्टे रणरणको दृष्ट ईर्ष्या अतीष्टके मान । (परिवर्तित पाठ)

- १० × ६ तुलाग्रेण कार्यकर्तृणाम्  
काकतालोयेन कार्यकर्तृणाम् (परिवर्तित पाठ)
- १० × १२ बुद्धिं सत्यं मित्रं----(?) नो महाकाव्यम् ।  
बुद्धिः सत्यं मित्रं चरन्ना महाकाव्यम् । (पूरित पाठ)
- ११९ × ४ रे रत्नकोटिगविन् गजेन्द्र न खलु सेवनीयोऽसि ।  
रे रत्नकोटिगविन् (रत्नकोटिगविन्) गजेन्द्र  
(गजेन्द्र) न खलु सेवनीयोऽसि । (परिवर्तित पाठ)
- ११९ × ५ लघुन्व नीतः  
लघुन्व प्राप्तः (परिवर्तित पाठ)
- २१४ × १ अहो स्वपिति-----कुण्डलधम्मिल्लकुण्डलकलापः ।  
ओ स्वपिति विरलाच्छुण्डलधम्मिल्लकुण्डलकलापः ।  
(पूरित पाठ)
- यत्नान्तर मे छाया वा निम्नलिखित स्वरूप होया—  
ओ स्वपिति विरलान्छुण्डलधम्मिल्लकुण्डलकलापः ।  
(परिवर्तित पाठ)
- २१४ × ५ धनुर्हरं समुल्लिखति  
धनुर्मरं समुल्लिखति (परिवर्तित पाठ)
- २८४ × ६ किं कार्यं तेऽपि जानन्ति ।  
कैङ्कर्यं यस्य ते विजानन्ति (परिवर्तित पाठ)
- ३०० × ६ बाष्पाभ्यन्तरप्रसूतगलन्----(?) अक्षिणी ।  
बाष्पाभ्यन्तरप्रसूतगलद्बाष्पाभिरक्षिणी । (पूरित पाठ)
- ३१२ × ११ पयि प्रपाकशाम्यामिव स्तनाभ्या दग्धमुखाभ्याम् ।  
पयि प्रपाकशाम्यामिव स्तनाभ्यामधोमुखाम्भ्याम् ॥  
(परिवर्तित पाठ)
- ३१२ × ११ स्थानकराभ्यामाम्भ्यामधोमुखाम्भ्यामनवरतप्रोढाम्भ्याम् ।  
स्तनाभ्या नरेन्द्राम्भ्यामिव किं क्रियते पदविमुक्ताभ्याम् ॥  
स्थानचरैरेतैरधोमुखैरनवरतप्रोढैः ।  
स्तनैर्नरेन्द्रैरिव किं क्रियते पयोविमुक्तैः  
(पदविमुक्तैः) । (परिवर्तित पाठ)
- ३१८ × ६ करोति लालाकुलं हृदयम् ।  
करोति लाठामुक्तं हृदयम् । (परिवर्तित पाठ)

प्रकटितबाहुमूलमवनमिन स्थूलस्तन मरोत्पङ्गम् ।  
 दिवसेन मा समाप्यता तवैनन्विकुर-सयमनम् ॥३॥  
 सुखित इति जीवति विद्वो अयतेऽविद्वो तवाक्षिवाणेन ।  
 इति शिक्षिता केनाप्यपूर्वमेतं धनुर्वेदम् ॥४॥  
 निपनति यत्र यत्रैव तव मनोहर तरलनरलिता दृष्टिः ।  
 सुन्दरि तत्र तत्रैवाङ्गेषु विजृम्भते मदनः ॥५॥  
 दाशिवदने मा व्रजात्र तढागे मृगशावकाक्षि ।  
 मुकुल्यन्ति न जानासि दशशङ्खशङ्खया कमलानि ॥६॥

मैंने व्याख्या की अपेक्षा से ब्रजालय के उपलब्ध पाठ में कठिण परिवर्तन किये हैं । वे स्पष्ट इस प्रकार हैं—

पापांक	उपलब्ध पाठ	स्वीकृत पाठ
२८१	घोरवसण दाह्वकमडिया	घोरवसह दाह्वकमडिया इस पाठ में वसण के स्थान पर वसह का स्वीकृति टीकाकार रत्नदत्त ने की है ।
५१२	पुणो वि अग	पुणो विअग (पुणो वि अग) श्लेषानुराध से दोनों पाठ स्वी- कार्य हैं ।
५२०	महम्मद	म हम्मद
५४८	विरज्जति	१-विरज्जति २-वि रज्जति
५६१	वि लग्गए कठ	१-विलगाए कठ २-वि लग्गए कठ
५६२	वेस्सा मुट्ठीइ सबहइ	१-वेस्सा मुट्ठीइ स बहइ । २-वेस्सा मुट्ठीइ सबहइ । श्लेष में दोनों स्वीकार्य हैं ।
५७०	सपत्तिगइ काल गमेसु	स पत्तियाइ काल गमेसु
६०९	चदाहयपडिबिवाइ, जाइ मुक्कट्टहागभोयाए	चदाहयपडिबिवाइ, जाइमुक्कट्टहास भोयाए
६३४	दिसिमणिमबरोहि	दिसि मणिमज्जरोहि
७०२	उड्ड वच्चति अहो वयति मूलकुर भव भ्रवणमि ।	वच्चति अहो उड्ड अइति, मूलकुरव्व पुहईए ।

३४९ × १० नैति तैरेव\* (?)

नैति तैरेव सञ्चै\* ।

यह छाया सस्कृत टीका के आधारे पर दी गई है ।

४२१ × १ रूपस्य हितक्लेशस्य

रूपस्य हितक्लेशस्य (हितक्लेशस्य)

(परिवर्तित पाठ)

४९६ × ८ बहुले तमोऽन्धकारे रमितप्रभुषतयो श्वश्रून्पयो ।

सममेव सगतौ (मिलितौ) द्वयोरपि\* (?) हस्तौ ॥

बहुले तमोऽन्धकारे रमितप्रभुषतयो श्वश्रून्पयो

(साधुसोष्णयो) ।

सममेव सगतौ द्वयोरपि शरद्द्वहे

(सारद्वहे) हस्तौ (परिवर्तित एव पूरित पाठ)

५५९ × २ आर्या माकन्दनिधोन् किमपि कुमारी शिक्षयति ।

आर्या माकन्दनिधोना किमपि कुमारी शिक्षयति । (परिवर्तित पाठ)

६२४ × ३ कर्णेन कर्णवहन वानरसह्य च हस्तेन ।

कर्णेन कणवधन (कणवहन) वानरसह्या

(वानरसह्य वा) च हस्तेन । (परिवर्तित पाठ)

६३७ × १ दत्तपुष्पदानेन

दत्तपुष्पदानेन (दत्तपुष्पदानेन)

(परिवर्तित पाठ)

६४१ × ३ ज्वलतीव क्षुधया सर्वाङ्गम्

ज्वलतीव क्षुधया सर्वाङ्गम्

(परिवर्तित पाठ)

प्राकृत ग्रन्थ परिपत्तु द्वारा प्रकाशित वज्जालम्भ में बालासिलोपवज्जा का केवल मूल प्राकृत पाठ ( अग्नेवी अनुवाद सहित ) उपलब्ध है । इस सस्करण में भी परिशिष्ट क के अन्त में उसका मूल पाठ (सानुवाद) ही छाया है । अन्य वज्जाओं के समान उसकी भी सस्कृत छाया होनी चाहिये थी । परन्तु ग्रन्थ छपते समय इस बात पर ध्यान नहीं गया । अध्यताओं के सौकर्य के लिये उस वज्जा की स्वरचित सस्कृत छाया दे रहा हूँ—

बालासिलोपवज्जा (बालाश्लोकवज्जा)

तव तुङ्गपयोधरविषमदुर्गमध्यस्थित कुरङ्गाक्षि ।

करिष्यति पुनरिव नून हरेण सह विग्रहमनङ्ग ॥१॥

अपहस्तितमयप्रसरो नून प्रसृताक्षि मन्मथ इदानीम् ।

हरयुद्धसहो वर्तते तव तुङ्गपयोधराख्यः ॥२॥



प्रकटितबाहुमूलमवनमित स्थूलस्तन भरोत्पङ्गम् ।  
 दिवसेन मा समाप्यता तवैनच्चिकुर-संयमनम् ॥३॥  
 सुखित इति जीवति विद्वो म्रियतेऽविद्वो तवाक्षित्राणेन ।  
 इति शिक्षिता केनाप्यपूर्वमेतं धनुर्वेदम् ॥४॥  
 निपतति यत्र यत्रैव तव मनोहर तरलतरलिता दृष्टिः ।  
 सुन्दरि तत्र तत्रैवाङ्गेषु विजृम्भते मदनः ॥५॥  
 शशिवदने मा व्रजात्र तडागे मृगशावकाक्षि ।  
 मुकुल्यन्ति न जानासि शशाङ्कशङ्कया कमलानि ॥६॥

मैंने व्याख्या की अपेक्षा से बज्जालग के उपलब्ध पाठ में कतिपय परिवर्तन किये हैं । वे स्थल इस प्रकार हैं—

पाषाक	उपलब्ध पाठ	स्वीकृत पाठ
२८१	घोरवसण दाह्वकर्मडिया	घोरवसह दाह्वकर्मडिया इस पाठ में वसण के स्थान पर वसह को स्वीकृति टीकाकार रत्नदेव ने की है ।
५१२	पुणो वि अगं	पुणो विअग (पुणो वि अग) श्लेषानुरोध से दोनों पाठ स्वीकार्य हैं ।
५२०	महम्मइ	म हम्मइ
५४८	विरज्जति	१-विरज्जति २-वि रज्जति
५६१	वि लग्गए कठ	१-विलग्गए कठ २-वि लग्गए कठ
५६२	वेस्सा मुट्ठीइ सबहइ	१-वेस्सा मुट्ठीइ स वहइ । २-वेस्सा मुट्ठीइ सबहइ । श्लेष में दोनों स्वीकार्य हैं ।
५७० ।	सपत्तियाइ काल गमेसु	स पत्तियाइ काल गमेसु
६०९	चदाह्वपडिबिबाइ,	चदाह्वपडिबिबाइ,
	जाइ मुक्कट्टहागभोयाए	जाइमुक्कट्टहास भोयाए
६३४	दिसिमणिमजरीहि	दिसि मणिमजरीहि
७०२	उरुठ वच्चति अहो वयति	वच्चति अहो उरुठ अइति,
	मूलकुर ठव भुवणमि ।	मूलकुरव्व पुहईए ।

विज्जाहियए कत्तो,

बोआहि व एकत्तो

कुलाहि पुरिसा समुप्पन्ना ॥

कुलाहि पुरिसा समुप्पन्ना ॥

यह पाठ 'मज्झिमसुत्त' के आधार पर है ।

७१२ अण पर न याणसि नूण

अण्णा पर न याणसि नूण

सउणो सि लच्छिपरियरिओ ।

सउणोसि लच्छिपरियरिओ ।

उज्जलसमुहो पेच्च्ह,

उज्जलसमुहो पेक्ख ह

ता वयण पि हु म ठावेइ ॥

ता वयण पि हु म ठावेइ ॥

७३० उत्तमकुलेसु जम्म

उत्तमकुले सुजम्म

७६२ मज्जे न जाणवत्ती

मज्जेण जाणवत्ती

२८४ X ६ किं कज्ज जस्स त वि याणति

किं कज्ज जस्स ते वियाणति ।

उपर्युक्त स्थलों के हिन्दो अनुवाद को हृदयवश करने के लिए परिशिष्ट ख का अवलोकन नितान्त आवश्यक है । साथ ही और भी बहुत सी गाथायें ऐसी हैं, जिनका मर्म वही समझा जा सकता है । परिशिष्ट ख में व्याकरण, कोष और साहित्य के प्रसिद्ध ग्रन्थों से विविध प्रमाण उद्धृत कर अपनी मौलिक आर्थिक मान्यताओं की सुदृढ़ स्थापना की गई है । पूर्ववर्ती व्याख्याकार जिन गाथाओं में विद्यमान श्लेष को गहाँ पहचान सके थे, उनमें प्रमाण पुरस्सर श्लेष का अस्तित्व सिद्ध किया गया है । बहुत सी गाथायें अत्यन्त शब्दों में निहित निगूढ अर्थ की अनवगति के कारण दुरुह हो गयीं, असंगत भी प्रतीत होती थी । उनकी विशद विवेचना की गई है और अर्थ को स्पष्ट कर आर्थिक विसंगति को दूर कर दिया गया है ।

मैंने अनेक गाथाओं में वर्णित कामियों की कुचेष्टाओं का प्रकाशन निरूपित रहकर ही किया है । अतः निर्दोष हूँ । अन्धकार में प्रकाश होने पर द्रष्टा को चाहे घट दिखाई पड़े चाहे विषपर सर्प, इसमें दोषक का क्या दोष है ? जो रहेगा वही ता दिखाई देगा—

गाहासु कामीण कुचेष्टिआइ मए अलित्तेण गिरुविआइ ।

कुडो पआसिज्जइ सण्णो वा को एत्थ दीवस्स तममि दोसो ॥

प्रस्तुत व्याख्या सर्वथा दोषमुक्त है—यह कहना अत्युक्ति होगी, क्योंकि इस सम्बन्ध में मेरा यह कथन है—

जए ससंको ण कलकवज्जिओ ण रत्ति रहिओ दिअहो वि दिस्सइ ।

एआहिअरणमि मई अ विव्वमो कहं णु होज्जा रअणा अदुट्ठा ॥ ●

## आभार

मैंने कई वर्ष पूर्व प्राकृत ग्रन्थ परिपत् द्वारा प्रकाशित वज्जालग का अवलोकन किया था। उसकी अंग्रेजी भूमिका में सम्पादक प्रो० माधव बासुदेव पटवर्धन ने बहुत सी गाम्पाओं की व्याख्या करने में असमर्थता प्रकट की थी और अपने पाठकों से उनका अर्थ खोजने का आग्रह किया था। उसी समय मेरे मन में वज्जालग की नई व्याख्या करने का विचार उत्पन्न हुआ था, जिसके फलस्वरूप यह पुस्तक आपके समक्ष प्रस्तुत है। व्याख्या का कार्य १९७८ ई० में ही पूर्ण हो गया था। परिशिष्ट-ख का रचना १९७९ ई० में हुई थी। उसी वर्ष नवम्बर में डॉ० हरिहर सिंह ने उसे भारावाहिक रूप से 'अमण' में प्रकाशित करना प्रारम्भ कर दिया था। इसी बीच मोनाम्प स डॉ० सागरमल जैन न पार्श्वनाथ विद्याश्रम घोष संस्थान के निदेशक-पद को सुशोभित किया। उन्होंने परिशिष्ट-ख को अमण के अकों में हस्तगत प्रकाशित करने की अपेक्षा एक पुस्तक का रूप देना अधिक उपयुक्त समझा और फिर उसके साथ हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण वज्जालग के प्रकाशन की योजना बनी।

इस ग्रन्थ का आधार प्राकृत ग्रन्थ परिपत् द्वारा प्रकाशित वज्जालग है। जहाँ-जहाँ टीका या अंग्रेजी अनुवाद की चर्चा हुई है, वहाँ रत्नदेव की संस्कृत टीका और प्रो० पटवर्धनकृत अंग्रेजी अनुवाद से अभिप्राय समझना चाहिए। अधिकतर अंग्रेजी अनुवाद के आलोच्य अंशों को उद्धृत न कर उनका हिन्दी अनुवाद या सारासमान रख दिया गया है। ऐसे स्थलों पर अंग्रेजी अनुवाद की शब्दावली देखने के लिए पाठकों को प्राकृत ग्रन्थ परिपत् द्वारा प्रकाशित वज्जालग की शरण लेनी पड़ेगी। प्राकृत ग्रन्थ परिपत् ने मुझे वज्जालग के मूल पाठ का उपयोग करने की अनुमति दी है। अतः उसका आभारी हूँ।

मूल प्राकृत पाठ और संस्कृत छाया प्राकृत ग्रन्थ परिपत् द्वारा प्रकाशित संस्करण के अनुसार ही हैं। ऐसी स्थिति में अनेक गाम्पाओं के मूल पाठ और हिन्दी अनुवाद में पर्याप्त विराघ दिखाई देगा। अतः संस्कृत छाया और मूल प्राकृत पाठ में जहाँ-जहाँ भी परिवर्तन या परिवर्धन अभिप्रेत है, उसका उल्लेख भूमिका में कर दिया गया है। उन स्थलों का हिन्दी अनुवाद मैंने अपने स्वीकृत पाठ के अनुसार किया है।

कुछ प्रतीकात्मक वज्जाओं में उत्कट अस्थीलता से बचने के लिये व्यंग्य का उद्घाटन नहीं किया गया है। प्रारम्भ में प्रतीकों के अर्थ लिख दिये गये हैं। यदि आप उन प्रतीकों को पहचान कर प्रकरण में प्रवेश करेंगे तो व्यंग्य समझने में कोई कठिनाई नहीं होगी। मेरा लक्ष्य वज्जात्म्य का श्रयोद्धार है, परिष्कार नहीं। अतः विवशता की स्थिति में ही मूल पाठ में थोड़े-बहुत परिवर्तन किये गये हैं।

पुस्तक का अन्तिम प्रूफ मैं नहीं देख पाया, अतः संस्करण की ओर से पर्याप्त सावधानी होते हुये भी मुद्रण सम्बन्धी त्रुटिपूर्ण दोष रह गई है। त्रुटियों की संख्या परिशिष्ट ख में अधिक है। पुस्तक का वह भाग निरन्तर महत्वपूर्ण है, अतः आप से निवेदन है कि कही विसंगति का आभास होन पर साथ में सलग दुर्दिपत्रक अवश्य देख लें।

राज गोपाल सस्कृत महाविद्यालय के प्रधानाचार्य आचार्यप्रवर बीरनन्द द्विवेदी व मौन्य से प्राप्त बृहत्संहिता का उपयोग कई भाषाओं की व्याख्या में किया गया है। डॉ० हरिहर सिंह ने 'अमण' में वज्जात्म्य की कुछ भाषाओं के अर्थ पर पुनर्विचार' शीर्षक से परिशिष्ट ख के प्रारम्भिक भाग का प्रकाशन किया था। पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान व शोध-सहायक डॉ० रवि चक्र मिश्र एवं डॉ० अरुण प्रताप सिंह ने मुद्रण-सम्बन्धी सारा दायित्व बड़ी कुशलता एवं तत्परता से वहन किया है, एतदर्थ मैं उक्त मनी महानुभावों का ऋणा हूँ। मेरे शिष्य सम्पूर्णानन्द उपाध्याय एम० ए०, साहित्याचार्य न पाण्डुलिपि प्रस्तुत करने में सहायता की है, अतः उनका मंगलमय भविष्य की कामना करता हूँ। मेरी पुत्री आयुष्मती मुष्ठा बी० ए० और मेरी पत्नी श्रीमती ललिता देवी विपत्ति व मर्म-वेधी क्षणों में भी सम्पूर्ण पारिवारिक दायित्व अपने ऊपर लेकर मुझे कुछ जितन का अवसर प्रदान करती रहती हैं, परन्तु उन्हें धन्यवाद कैसे दूँ, वे तो अपने ही अभिलिख अंग हैं।

अन्त में पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान के निदेशक डॉ० माधवलाल जैन के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करना अपरिहार्य समझता हूँ, क्योंकि वज्जात्म्य को इस रूप में आप व समझ प्रस्तुत करने का श्रेय उन्हीं को है।

## वज्जालग

- १ \*सव्वन्नुवयणपकयणिवासिणि णमिऊण मुयदेवि ।  
धम्माइतिवग्गजुय सुयणाण मुहासिय वोच्छ ॥ १ ॥  
सदंजवदनपद्धजनिवासिनी प्रणम्य श्रुतदेवीम् ।  
धर्मादित्रिवर्गयुत सुजनाना सुभाषित वक्ष्यामि ॥
- २ अमय पाइयकव्व पढिउ सोउ च जे न जाणति ।  
कामस्स तत्तवत्ति कुणति ते कह न लज्जति ॥ २ ॥  
अमृत प्राकृतकाव्य पठितु श्रोतु च ये न जानन्ति ।  
कामस्य तत्त्ववार्ता कुर्वन्ति त कथ न लज्जन्ते ॥
- ३ \*विविह्वइविरइयाण गाहाण वरकुलाणि धेतूण ।  
रइय वज्जालग विहिणा जयवल्लह नाम ॥ ३ ॥  
विविधकविविरचिताना गाथाना वरकुलानि गृहीत्वा ।  
रचितं ब्रज्यालग्न विधिना जयवल्लभ नाम ॥
- ४ एककत्थे पत्थावे जत्थ पटिज्जति पउरगाहाओ ।  
त खलु वज्जालग वज्ज त्ति य पढई भणिआ ॥ ४ ॥  
एकार्थे प्रस्ताव यत्र पठ्यन्ते प्रचुरगाथा ।  
तत्खलु ब्रज्यालग्न ब्रज्येति च पद्धतिर्भणिता ॥
- ५ एय वज्जालग सव्व जो पढइ अवसरम्मि सया ।  
पाइयकव्वकई सो होहिइ तह कित्तिमतो य ॥ ५ ॥  
एतद्ब्रज्यालग्न सर्वं य पठ्यवसरे सदा ।  
प्राकृतकाव्यकवि म भविष्यति तथा कीर्तिमाश्च ॥
- १ सोयारवज्जा [श्रोतृपद्धति]
- ६ दुक्ख कीरइ कव्व कत्रम्मि कए पउजणा दुक्ख ।  
सते पउजमाणे सोयारा दुल्लहा हूति ॥ १ ॥  
दुःख क्रियते काव्य काव्य कृते प्रयोजना दुःखम् ।  
सति प्रयुज्जाने श्रोतारो दुर्लभा भवन्ति ॥

## वज्जालग

१ सर्वज्ञ जिन के मुखकमल में बसने वाले श्रुतदेवी (सरस्वती) को प्रणाम कर धर्म, अर्थ और काम से युक्त श्रुतज्ञान-रूपी सुभाषित कहूँगा (अथवा सज्जनों के लिए सूक्तियाँ कहूँगा) ॥ १ ॥

२ जो अमृततुल्य प्राकृत-काव्य को पढ़ना-सुनना नहीं जानते वे काम सम्बन्धी तत्त्वचर्चा करते हुए लज्जित क्यों नहीं होते ? ॥ २ ॥

३ "विविध कवियों द्वारा रची हुई गायत्री में से श्रेष्ठ गायत्री समूह का चयन कर निश्चय हो विधि पूर्वक 'जगत वल्लभ' वज्जालग की रचना की गई है ॥ ३ ॥

४ जहाँ एक प्रस्ताव (प्रसङ्ग) में बहुत सी गायत्रियाँ पड़ी (कही) जाती हैं, वह वज्जालग है। पद्वति को वज्जा कहा गया है ॥ ४ ॥

५ जो इस वज्जालग को उचित अवसर पर सदैव पढ़ता है, वह प्राकृत-काव्य का कवि और यशस्वी होता है ॥ ५ ॥

### १—सोयारवज्जा (श्रोतृपद्वति)

६ काव्य-रचना कष्ट से होती है, (काव्य रचना) हो जाने पर उसे सुनाना कष्टप्रद होता है और जब सुनाया जाता है, तब सुनने वाले भी कठिनाई से मिलते हैं ॥ १ ॥

- ७ सक्कयमसक्कय पि हु अत्थो सोयारसगमवसेण ।  
 अप्पुव्वरसविसेस जणेइ ज त महच्छरिय ॥ २ ॥  
 सस्कृतमसस्कृतमपि खल्वर्थ श्रोतृसगमवशेन ।  
 अपूर्वरसविशेष जनयति यत्तन्महाश्चर्यम् ॥
- ८ मुत्ताहल व कव्व सहावविमल सुवण्णसघडिय ।  
 सोयारकण्णकुहरम्मि पयडिय पायड होइ ॥ ३ ॥  
 मुक्ताफलमिव काव्य स्वभावविमल सुवणसघटितम् ।  
 श्रोतृकणकुहरे प्रपतित (प्रकटित) प्रकट भवति ॥

## २ गाहावज्जा [गाथापद्धति]

- ९ अद्धक्खरभणियाइ नूण सविलासमुद्धहसियाइ ।  
 अद्धच्छिपेच्छियाइ गाहाहि विणा न नज्जति ॥ १ ॥  
 अर्धाक्षरभणितानि नून सविलासमुद्धहसितानि ।  
 अर्धाक्षिप्रेक्षितानि गाथाभिर्विना न ज्ञायन्ते ॥
१०. \*सालकाराहि सलक्खणाहि अन्नन्नरायरसियाहि ।  
 गाहाहि पणइणीहि य खिज्जइ चित्त अइतीहि ॥ २ ॥  
 सालङ्काराभि सलक्षणाभिरन्यान्यरागरसिता(का)भि ।  
 गाथाभि प्रणयिनीभिश्च खिद्यते चित्तमनागच्छन्तीभि ॥
- ११ एय चिय नवरि फुड हियय गाहाण महिलियाण च ।  
 अणरसिएहि न लब्भइ दविण व विहीणपुण्णेहि ॥ ३ ॥  
 एतदेव केवल स्फुट हृदय गाथाना महिलाना च ।  
 अरसिकेन लभ्यते द्रविणमिव विहोनपुण्ये ॥
- १२ सच्छदिया सरूवा सालकारा य सरसञ्जल्लावा ।  
 वरकामिणि व्व गाहा गाहिज्जती रस देइ ॥ ४ ॥  
 सच्छन्दस्वा (स्वच्छन्दिवा) सरूपा सालङ्कारा च सरसोल्लापा ।  
 वरकामिनोव गाथा गीयमाना (गाह्यमाना) रस ददाति ॥

७ सस्कृत अथवा असस्कृत (प्राकृत) में वर्णित कोई भी अर्थ (भाव) श्रोता का सम्पर्क पा कर जो अपूर्व रस-विशेष उत्पन्न कर देता है, वही बहुत बड़ा आश्चर्य है ॥ २ ॥

८. जैसे स्वभाव से उज्ज्वल भौकिक जब सुवर्णसूत्र से सघटित (ग्रथित) होकर कर्णरन्ध्र में पड़ता है, तब आकर्षक बन जाता है, वैसे ही स्वभावतया निर्दोष काव्य जब सुन्दर अक्षरों से रचित होकर श्रोता के कानों में पड़ता है, तब अभिव्यक्त होता है (अर्थात् उस का महत्त्व ज्ञात होता है) ॥ ३ ॥

## २—गाहावज्जा (गाथापद्धति)

९. रमणियों की अर्द्धाक्षर-भणिति (अर्द्ध-उच्चारित कथन), विभ्रमपूर्ण मधुर-हास्य और कटाक्षावलोकन, निःसन्देह बिना गाथाओं के (पदे) नहीं जाने जाते ॥ १ ॥

१० \*जैसे आभूषणों से भण्डित, सुलक्षणा (सामुद्रिकशास्त्र वर्णित लक्षणों से युक्त) तथा अन्य-अन्य रातों में रसयुक्त (या प्रेम के रस को समझने वाली) प्रेयसियों के (प्रतीक्षा करने पर भी) न आने पर चिन्त दुःखी हो जाता है, वैसे ही जब उपमादि अलंकारों से अलंकृत, व्याकरण-प्रतिपादित लक्षणों से युक्त और विभिन्न रागों (संगीत स्वरों) में रसित (ध्वनित) होने वाली गायार्यें समझ में नहीं आती, तो मन में खेद होना है ॥ २ ॥

११. यह सत्य (स्पष्ट) है, कि नीरस व्यक्ति गायार्यों का गुप्तमान और महिलाओं का प्रेम (हृदय) वैसे ही नहीं पा सकते, जैसा पृथ्वीहीन जन द्रव्य ॥ ३ ॥



- १३ गाहाण रमा महिलाण विवभमा कइजणाण उल्लावा ।  
कस्म न हरति हियय वालाण य मम्मणुल्लावा ॥ ५ ॥  
गायाना रसा महिलाना विभ्रमा कविजनानामुल्लापा ।  
कस्म न हरन्ति हृदय वालाना च मन्मनोल्लापा ॥
- १४ सव्वो गाहाउ जणो वीसत्यो भणइ सव्वगोटीसु ।  
परमत्यो जो ताण सो नाओ महइइल्लेहि ॥ ६ ॥  
सव्वो गाथा जनो विश्वस्तो भणति सव्वंगोष्ठोपु ।  
परमार्यो यस्तासा स ज्ञातो महाविदग्धे ॥
- १५ गाहा रुअइ वराई सिक्खिज्जती गवारलोएहि ।  
कीरइ लुचपलुचा जह गाई मददोहेहि ॥ ७ ॥  
गाथा रोदिति वरावी सिक्ष्यमाणा ग्रामीणलोके ।  
क्रियते लुच्चप्रलुब्धा यथा गौमन्ददोधूमि ॥
- १६ गाहे भज्जिहिसि तुम अहवा लहुयत्तण वि पाविहिसि ।  
गामारदतदिढकठिणपीडिया उच्छुलट्ठि व्व ॥ ८ ॥  
गापे भइक्षसे त्वमयवा लघुत्वमपि प्राप्स्यसि ।  
ग्रामीणदन्तदृढकठिनपीडिता इक्षुपक्षिरिव ॥
- १७ गाहाण गीयाण ततीसद्दाण पोढमहिलाण ।  
ताण चिय सो दढो जे ताण रस न याणति ॥ ९ ॥  
गायाना गीताना सन्त्रीशब्दाना प्रौढमहिलानाम् ।  
तेषामेव स दण्डो ये तेषा रस न जानन्ति ॥
- १८ छद अयाण माणेहि जा कित्था सा न होइ रमणिज्जा ।  
वि गाहा अह सेवा अहवा गाहा वि सेवा वि ॥ १० ॥  
छन्दो(छन्दस्य)अजानद्भिर्या वृता सा न भवति रमणीया ।  
नि गाथाय सेवा, अथवा गाथापि सेवापि ॥

१३. गाथाओं के रम, महिलाओं के विभ्रम, कवियों की उक्तिर्था और बालकों के अव्यक्त शब्द (तोतली बोलियाँ) किसका मन नहीं मोह लेते हैं ॥ ५ ॥

१४ सभी कविजन सभी गोष्ठियों में विश्वस्त होकर गाथाएँ पढ़ते हैं, परन्तु उनमें गूढ़ार्थ (व्यंग्य-अर्थ) श्रेष्ठ विदग्ध जन ही जान<sup>१</sup> पाते हैं ॥ ६ ॥

१५ जब गवारा लोग सीखने लगते हैं, तब बेचारी गाथा रो पड़ती है। वे वैसे ही उसे नोच-खरोच डालते हैं, जैसे अनाड़ी दुहने वाला गाय को ॥ ७ ॥

१६ गाये<sup>१</sup> गवारा के दूढ़ और कठोर दाँतों से पीड़ित हाकर (अर्थात् मुखों के द्वारा उच्चारित होकर) तुम ईश्वर के समान या तो भग्न हो जाओगी या लघु (निस्सार) हो जाओगी [इन्व रम निकल जाने के कारण लघु (निस्सार) हो जाती है और गाथा अक्षर के अशुद्ध उच्चारण से लघु (छोटी) हो जाती है] ॥ ८ ॥

१७ जो गाथाओं, गीतों, तन्त्रीशब्दों (वाद्ययन्त्र के स्वर) और प्रौढ़ महिलाओं का रम नहीं जानने, उनके लिए यही दण्ड है कि वे आनन्द से वंचित रह जाते हैं<sup>२</sup> ॥ ९ ॥

१८ छन्द (छन्द और इच्छा) न जानने वालों के द्वारा जो की जाती है, वह सुन्दर नहीं होती। क्या ? गाथा या सेवा अथवा गाथा और सेवा दोनों। (छन्द के ज्ञान के अभाव में गाथा और सेवा की इच्छा के ज्ञान के अभाव से सेवा रमणीय नहीं होती है) ॥ १० ॥

१. शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेदते ।

वेदते स तु काव्यार्थतत्त्वचरैव केवलम् ॥ —ध्वन्यालोक, कारिका ७

२. तथीनाद कवित्त रम सरस राग रति रग ।

अनबूढे बूढ़े तिरै, जे बूढ़े सब अग ॥ —बिहारी, २६३

## ३. कव्ववज्जा [काव्यपद्धति]

- १९ चिन्तामदरमंथाणमथिए वित्थरम्मि अत्थाहे ।  
 उप्पज्जति कईहिययसायरे कव्वरयणाइ ॥ १ ॥  
 चिन्तामन्दरमन्थानमथिते विस्तृतेऽस्ताधे ।  
 उत्पद्यन्ते कविहृदयसागरे काव्यरत्नानि ॥
- २० \*रयणुज्जलपयसोह त कव्व ज तवेइ पडिक्कत्त ।  
 पुरिसायतविलासिणिरसणादाम मिक्क रमत्त ॥ २ ॥  
 रचनोज्ज्वल (रत्नोज्ज्वल) पदशोभ तत् काव्य यत्-  
 तापयति प्रतिवक्ष्य (प्रतिपक्षम्) ।  
 पुरुषायमाणविलासिनीरशनादामेव रसान्तम् (रसत्) ॥
- २१ पाइयकव्वम्मि रसो जो जायइ तह य छेयभणिएहि ।  
 उययम्स य वासियसीयल्स्स तित्ति न वच्चामो ॥ ३ ॥  
 प्राकृतकाव्ये रसो यो जायते तथा च छेकभणिते ।  
 उदकस्य च वासितशीतलस्य तृप्ति न व्रजाम ॥
- २२ कह वह वि राइ पय मग्ग पुलएइ छेयमारुहइ ।  
 चोरो व्व कई अत्थ घेत्तूण कह वि निव्वहइ ॥ ४ ॥  
 कथकथमपि रचयति पद मार्गं प्रलोकयति छेकम्-  
 (छेदम्) आरोहति ।  
 चोर इव कविरथं गृहीत्वा कथमपि निबन्धति ॥
- २३ सद्दावसद्दभीरु पए पए कि पि कि पि चित्तो ।  
 दुयखेहि वह वि पावइ चोरो अत्थ कई कव्व ॥ ५ ॥  
 शब्दापशब्दभीरु पदे पदे विमपि विमपि चिन्तयन् ।  
 दुःखे कथमपि प्राप्नोति चोरोऽर्थं कवि वाक्यम् ॥
- २४ सद्दपणोदु दोसेहि वज्जिय सुगलिय फुड मद्दुर ।  
 पुण्णेहि वह वि पावइ छदे कव्व कत्त च ॥ ६ ॥  
 शब्दप्रवृत्त दोषेर्वजिनं मुगलिनं स्पृष्टं मधुरम् ।  
 पुण्ये कथमपि प्राप्नोति च्छन्दसि (च्छन्दे) काव्य कत्र च ॥

### ३—कव्यवज्रा (काव्यपद्धति)

१९ चिन्तन-स्थी मन्दर (पर्वत) की मयानी से (मन्यान में) मयिन, कवियों के विस्तृत और अगाध हृदय सिन्धु में काव्य-रत्न उत्पन्न होते हैं ॥ १ ॥

२० \*जिस रचनावैशिष्ट्य के द्वारा पदों (शब्दों या छन्दों के चरणों) की उज्ज्वल (निर्दोष, श्रुति कटुत्वादि रहित) शोभा रहती है तथा जिनके भीतर (शृंगारादि) रस स्थित रहता है, उस काव्य की प्रशंसा से प्रत्येक हृदय वैसे ही विचलित हो उठता है, जैसे रत्नों द्वारा चरणों की शोभा को उज्ज्वल बनाने वालों, विपरीत-रति-ससक्त रमणों की वणिज-रसाना (करघनी की मधुर ध्वनि) सपलियों को सतप्त कर देती हैं ॥ २ ॥

२१. प्राकृत-काव्य, विदग्ध-भणिति (द्विचर्यक व्यंग्योक्ति) तथा सुवामित शीतल जल से जो आनन्द उत्पन्न होता है, उससे हम पूर्णतया तृप्ति नहीं होती है ॥ ३ ॥

२२ जैसे चोर सावधानी से पैर रखता है, (भयवश इधर-उधर) मार्ग देखता है, भित्ति-छिद्र (संघ) पर चटना है और किसी प्रकार कठिनाई से घन ले जाता है, वैसे ही कवि सावधानी से पद-रचना करता है, वैदर्भी आदि मुकुमार और कठोर मार्गों (शैलियों) का चिन्तन करना है, छेकानुग्राम की योजना करता है और अर्थ को लेकर कठिनाई से उसका निर्वाह करता है ॥ ४ ॥

२३ चार अच्छे-बुरे शब्दों (या शकुन या अपशकुन की सूचना देने वाली आवाजों से) से डरता हुआ पद-पद पर कुछ सोचना हुआ, क्लेश-पूर्वक अर्थ (धन) प्राप्त करता है और कवि शुद्ध एवं अशुद्ध शब्दों के प्रति सतर्क रहता हुआ, छन्द के प्रत्येक चरण पर कुछ चिन्तन करना हुआ काव्य को कठिनाई से प्राप्त करता है (काव्य की रचना करता है) ॥ ५ ॥

२४ उचित शब्दों से रचित, दोष-रहित, ललित, प्रसाद एवं माधुर्य-युक्त और छन्दों में रचित कविता तथा आज्ञानुवर्तिनी, निर्दोष, सुन्दर, स्वच्छ-हृदय, मधुर-स्वभाव एवं वशीभूत स्त्री किसी प्रकार पुण्य से ही प्राप्त होती है ॥ ६ ॥

\* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य ।

- २५ अणवरयवहलरोमचकचुय जणियजणमणाणद ।  
ज न धुणावइ सीस कव्व पेम्म च किं तेण ॥ ७ ॥  
अनवरतवहलरोमाञ्चकञ्चुक जनितजनमनआनन्दम् ।  
यत्न धूनयति शीर्षं काव्य प्रेम च किं तेन ॥
- २६ सो सोहइ दूसतो कइयणरइयाइ विविहकव्वाइ ।  
जो भजिऊण अवय अन्नपय सुदर देइ ॥ ८ ॥  
स शोभते दूषयन् कविजनरचितानि विविधकाव्यानि ।  
यो भङ्क्त्वा अपदम् अन्यपद सुन्दर ददाति ॥
- २७ अत्यक्को रसरहिओ देसविहीणोऽणुणासिओ तुरिओ ।  
मुहवचणो विराओ एए दोसा पढतस्स ॥ ९ ॥  
अविरतो रसरहितो देशविहीनोऽनुनासिकस्त्वरित ।  
मुखवञ्चनो विराग एते दोषा पठन् ॥
- २८ देसियसहपलोट्टु महुक्खवरछदसठिय ललिय ।  
फुडवियडपायडत्थ पाइयकञ्च पढेयव्व ॥ १० ॥  
देशीयशब्दप्रवृत्तं मधुराक्षरच्छन्द संस्थितं ललितम् ।  
स्फुटविवटप्रवटार्थं प्राकृतवाक्यं पठनीयम् ॥
- २९ ललिए महुक्खवरए जुवईजणवल्लहे ससिगारे ।  
मते पाडयकव्वे को सक्कइ सक्कय पढिउ ॥ ११ ॥  
ललिते मधुराक्षरे युवतिजनवल्लभे सशृङ्गारे ।  
सति प्राकृतवाक्ये न शक्नोति संसृष्टं पठितुम् ॥
३०. अमुहा बुहाण मज्जे पडति जे छदलक्खणविहूणा ।  
ते भमुहाग्गणिवाडियं पि मीम न लक्खति ॥ १२ ॥  
अवुधा बुधाना मध्य पठन्ति ये छन्दालक्षणविहीना ।  
त भ्रमद्गनिपातिनामपि शीर्षं न स्मर्यति ॥

२५ जो अनवरत विपुल रोमांच के साथ जन मन में आनन्द उत्पन्न  
 हुआ शिर न धुनवा दे (हिलवा दे), वह प्रेम और काव्य व्यर्थ है  
 'प्रेम या काव्य से क्या लाभ ?' ॥ ७ ॥

२६ वही कवि-रचित विविध-काव्यों को दूषित करता हुआ  
 (की आलोचना करता हुआ) शोभित होता है, जो अनुपयुक्त पद को  
 कर अन्य उपयुक्त पद की योजना करने में समर्थ है ॥ ८ ॥

२७ विराम के स्थान पर न रुकना, रसहीन होना, देश-माल की  
 जा करना, अनुनासिक उच्चारण, त्वरितपाठ, मुँह बिगाड़ना और लय  
 न पाठ करना—ये काव्य-पाठक के दोष हैं ॥ ९ ॥

२८ देशी शब्दों से रचित, मधुर अक्षरों और छन्दों में आयत्त,  
 ङ (कुड), गम्भीर और गूढार्थवा (पायदत्त = प्रायुतार्थ = ध्यनि) ललित  
 हृन्-काव्य पठनीय हैं ॥ १० ॥

२९ ललित, मधुराक्षर से युक्त, युक्तियों में प्रिय और श्रृंगार-रस  
 युक्त प्राकृत-काव्य के रहने हुए कौन गम्भीर पद मनेगा अर्थात् गद्दी  
 का ॥ ११ ॥

- ३१ \*पाइयकव्वस्स नमो पाइयकव्व च निम्मिय जेण ।  
ताह चिय पणमामो पढिऊण य जे वि याणति ॥ १३ ॥  
प्राकृतकाव्याय नम प्राकृतकाव्य च निर्मितं पेन ।  
तेभ्यश्चैव प्रणमाम पठितु च येऽपि जानन्ति ॥

४ सज्जणवज्जा [सज्जनपद्धति]

- ३२ महणम्मि ससी महणम्मि सुरतरु महणसम्भवा लच्छी ।  
सुयणो उण कहसु मह न याणिमो कत्थ सम्भूओ ॥ १ ॥  
मथने शशो मथने सुरतहर्मथनसम्भवा लक्ष्मी ।  
सुजन पुन कयय मम न जानीम कसभूत ॥
- ३३ सुयणो सुद्धसहावो मइलिज्जतो वि दुज्जणजणेण ।  
छारेण दप्पणो विय अहिययर निम्मलो होइ ॥ २ ॥  
सुजन शुद्धस्वभावो मलिनीक्रियमाणोऽपि दुर्जनजनेन ।  
क्षारेण दर्पण इवाधिकतर निर्मलो ऽति ।

३१. \*प्राकृत-काव्य को नमस्कार है, जिन्होंने प्राकृत-काव्य की रचना की है उन्हें नमस्कार है। जो पढ़ कर उन्हें जान लेते हैं (समझ लेते हैं) उन्हें भी हम प्रणाम करते हैं ॥ १३ ॥

#### ४—सज्जनवज्जा (सज्जनपद्धति)

३२. मन्यन से चन्द्रमा, मन्यन से कल्पवृक्ष और मन्यन से ही लक्ष्मी की उत्पत्ति हुई है। तो फिर बताओ, हम नहीं जानते कि सज्जन कहाँ से उत्पन्न हुआ? (अर्थात् उसे भी मन्यन से ही उत्पन्न होना चाहिए) ॥ १ ॥

३३. विशुद्ध-स्वभाव सज्जन दुर्जन-द्वारा लालित (मलिन) किये जाने पर भी, वैसे ही अधिक निर्मल हो जाता है, जैसे छार से दर्पण ॥ २ ॥

३४. सज्जन क्रोध ही नहीं करता है, यदि करता है तो अमंगल नहीं सोचता, यदि सोचता है तो कहता नहीं और यदि कहता है तो लज्जित हो जाता है ॥ ३ ॥

३५. दृढ़ रोप से कल्पित होने पर भी सज्जन के मुख से अप्रिय वचन कहा से निकल सकते हैं? चन्द्रमा की किरणें राहु के मुख में भी अमृत ही गिरती हैं (टपकाती हैं) ॥ ४ ॥

३६. विधाता ने यह अच्छा ही किया जो ससार में सुजनो की रचना कर दो। वे देखे जाने पर दुःख हर लेते हैं और बोलते समय सभी सुख प्रदान करते हैं ॥ ५ ॥



- ३७ न हसति पर न थुवति अप्पय पियसयाइ जपति ।  
 एसो सुयणसहावो नमो नमो ताण पुरिसाण ॥ ६ ॥  
 न हसन्ति पर न स्तुवन्त्यामान प्रियशतानि जल्पन्ति ।  
 एष सुजनस्वभावो नमो नमस्तेभ्य पुरुषेभ्य ॥
- ३८ अकए वि कए वि पिए पिय कुणता जयम्मि दीसति ।  
 कयविप्पिए वि हु पिय कुणति ते दुल्लहा सुयणा ॥ ७ ॥  
 अकृतेऽपि कृतेऽपि प्रिये प्रिय कुर्वन्तो जगति दृश्यन्ते ।  
 कृतविप्रियेऽपि खलु प्रियं कुर्वन्ति ते दुर्लभा सुजना ॥
- ३९ सव्वस्स एह पयई पियम्मि उप्पाइए पिय काउ ।  
 सुयणस्स एह पयई अकए वि पिए पिय काउ ॥ ८ ॥  
 सर्वस्यैषा प्रकृति प्रिय उत्पादिते प्रिय कर्तुम् ।  
 सुजनस्यैषा प्रकृतिरकृतेऽपि प्रिये प्रिय कर्तुम् ॥
- ४० फहस न भणसि भणिओ वि हससि हसिअण ज पसि पियाइ ।  
 सज्जण तुज्झ सहावो न याणिमो कस्स सारिच्छो ॥ ९ ॥  
 परुष न भणसि भणितोऽपि हससि हसित्वा जल्पसि प्रियाणि ।  
 सज्जन तव स्वभावो न जानीम कस्य सदृक्ष ॥
- ४१ नेच्छसि परावयार परोवयार च निच्चमावहसि ।  
 अवराहेहि न कुप्पसि सुयण नमो तुह सहावस्स ॥ १० ॥  
 नेच्छसि परापकार परोपकार च नित्यमावहसि ।  
 अपराधैनं कुप्पसि सुजन नमस्तव स्वभावाय ॥
- ४२ दोहि चिय पज्जत्त बहुएहि वि किं गुणेहि सुयणस्स ।  
 विज्जुप्फुरिय रोसो मित्ती पाहाणरेह व्व ॥ ११ ॥  
 द्वाभ्यामेव पर्याप्त बहुभिरपि किं गुणे सुजनस्य ।  
 विद्युत्स्फुरित रोषो मैत्री पापाणरेक्षेव ॥

३७. सज्जनो का यह स्वभाव है कि वे न तो दूसरों का उपहास करते हैं और न अपनी प्रशंसा । सैकड़ों प्रियवचन बोलते रहते हैं (अर्थात् सदैव प्रिय-वचन ही बोलते हैं) । ऐसे पुरुषों को नमस्कार है ॥ ६ ॥

३८. जगत् में प्रियकार्य करने या न करने पर भी प्रिय करने वाले पुरुष तो दिखाई देते हैं, परन्तु जो विप्रिय करने पर भी प्रिय ही करते रहते हैं वे सज्जन दुर्लभ हैं ॥ ७ ॥

३९. प्रिय करने पर प्रिय करना—यह सभी की प्रकृति है, परन्तु प्रिय न करने पर भी प्रिय करना—यह सज्जनों की प्रकृति है ॥ ८ ॥

४०. हे सज्जन ! तुम कठोर वचन नहीं बोलते हो, (किसी के द्वारा कठोर वचन) बोलने पर भी हँस देते हो, हँस कर प्रिय कहते हो, हम नहीं जानते कि तुम्हारा स्वभाव किसके समान है ॥ ९ ॥

४१. दूसरों का अपकार नहीं चाहते, नित्य परोपकार करते रहते हो और अपराधों से क्रुपित नहीं होते हो, हे सज्जन ! तुम्हारे स्वभाव को नमस्कार है ॥ १० ॥

४२. सज्जन के बहुत से गुणों से क्या प्रयोजन ? उसके ये दो गुण ही पर्याप्त हैं—विजली की क्रोध के समान क्षणभंगुर क्रोध और पापाण-रेखा के समान चिरस्थायिनी मैत्री ॥ ११ ॥

- ४३ रे रे कलिकालमहागण्ड गलगज्जियस्स को कालो ।  
अज्ज वि सुपुरिस्केसरिकिसोरचलणकिया पुहवी ॥ १२ ॥  
रे रे कलिकालमहागजेन्द्र गलगजितस्य क काल ।  
अद्यापि सुपुरुषकेसरिकिसोरचरणाद्धिता पृथ्वी ॥
- ४४ दीण अब्भुद्धरिउ पत्ते सरणागए पिय काउ ।  
अवरद्धेसु वि खमिउ सुयणो न्चिय नवरि जाणेइ ॥ १३ ॥  
दीनमभ्युद्धतुं प्राप्ते शरणागते प्रिय कर्तुम् ।  
अपराधेष्वपि क्षन्तु सुजन एव केवल जानाति ॥
- ४५ वे पुरिसा घरइ धरा अहवा दोहिं पि धारिया धरणी ।  
उवयारे जस्स मई उवयरिय जो न पम्हुसइ ॥ १४ ॥  
द्वौ पुरुषौ धरति धरायवा द्वाभ्यामपि धारिता धरणी ।  
उपकारे यस्य मतिरुपकृत यो न विस्मरति ॥
- ४६ \*पडिवज्जति न सुयणा अह पडिवज्जति अह वि दुक्खेहिं ।  
पत्थररेहू व्व समा मरणे वि न अन्नहा होइ ॥ १५ ॥  
प्रतिपद्यन्ते न सुजना अथ प्रतिपद्यन्ते कथमपि दुखे ।  
प्रस्तररेखेव समा मरणेऽपि नान्यथा भवति ॥
- ४७ सेला चलति पलए मज्जाय सायरा वि मेल्लति ।  
सुयणा तहिं पि काले पडिवन्न नेय सिढिलति ॥ १६ ॥  
शैलाश्चलन्ति प्रलये मर्यादा सागरा अपि भुञ्जन्ति ।  
सुजनास्तस्मिन्नपि काले प्रतिपन्न नैव शिथिलयन्ति ॥
- ४८ चदणतरुव्व सुयणा फलरहिया जइ वि निम्मिया विहिणा ।  
तह वि कुणाति परत्थ निययसरीरेण लोयस्स ॥ १७ ॥  
चन्दनतरुरिव सुजना फलरहिता यद्यपि निर्मिता विधिना ।  
तयापि कुर्वन्ति परार्थं निजकशरीरेण लोकस्य ॥

४३ अरे कलिकाल स्त्री महागजेन्द्र ! तुम्हारी गर्जना का यह कौन सा अवसर है ? आज भी यह पृथ्वी सत्पुरुष-रूपी सिंह कुमार के चरणों से अङ्कित है ॥ १२ ॥

४४ दीनों का उद्धार करना, शरणागत का प्रिय (मङ्गल) करना और अपराधियों को भी क्षमा कर देना—यह केवल सज्जन ही जानता है ॥ १३ ॥

४५ पृथ्वी दो प्रकार के पुरुषों को धारण करता है अथवा दो प्रकार के पुरुषों ने पृथ्वी को धारण किया है—जिम को मति उपकार म (लगा) है और जो किए हुये उपकार को नहीं भूलता ॥ १४ ॥

४६ \*सज्जन पहले तो वचन देते ही नहीं, यदि देते हैं तो बहुत कठिनाई से और जब वचन दे देते हैं, तो वह (दिया गया वचन) पापाग-रेखा के समान सदैव अटल रहना है और मरने पर भी उसमें अन्यथाभाव नहीं होना (अर्थात् अपना जीवन देकर भी उस वचन का निर्वाह करते हैं) ॥ १५ ॥

४७ प्रलय काल में पर्वत भी चलायमान हो जाते हैं, सागर भी अपनी सीमाय छोड़ देते हैं। किन्तु सज्जन व्यक्ति उस काल में भी अपने वचन को भंग नहीं करते ॥ १६ ॥

४८ यद्यपि विधाता ने सज्जनों को चन्दनतरु के समान फलरहित बनाया है तथापि वे अपने शरीर से लोगों का उपकार करते रहते हैं (या जगत् का उपकार करते रहते हैं) ॥ १७ ॥

\* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य ।

१ चन्दन में फल नहीं लगता है और सज्जन में फल अर्थात् स्वार्थ नहीं होता है ।

## ५ दुज्जणवज्जा [दुर्जनपद्धति]

- ४९ हयदुज्जणस्स वयण निरत्तर बहलकज्जलच्छाय ।  
सकुद्ध भिउडिजुय कया वि न हु निम्मल दिट्ठ ॥१॥  
हतदुर्जनस्य वदन निरन्तर बहलकज्जलच्छायम् ।  
सक्रुद्ध भूकुटियुत कदापि न खलु निर्मल दृष्टम् ॥
- ५० \*थद्धो वकगीवो अवचिओ विसमदिट्ठिदुप्पेच्छो ।  
अहिणवरिद्धि व्व खलो सूलादिन्नु व्व पडिहाइ ॥ २ ॥  
स्तब्धो वक्रग्रीवोऽवाञ्छितो विषमदृष्टिदुष्प्रेक्ष्य ।  
अभिनवार्द्धिरिव खल शूलादत्त इव प्रतिभाति ॥
- ५१ नहमासभेयजणो दुम्मुहओ अत्थिखडणसमत्थो ।  
तह वि हु मज्झावलिओ नमह खलो नहरणसरिच्छो ॥३॥  
नखमासभेदजननो दुर्मुखो(द्विमुखो)र्ज्जि (अस्थि) खण्डनसमर्थ ।  
तथापि खलु मध्यावलितो नमत खलो नखलूसदृक्ष ॥
- ५२ अकुलीणो दोमुहओ ता महुरो भोयण मुहे जाव ।  
मुरउ व्व खलो जिण्णम्मि भोयणे विरसमारसइ ॥ ४ ॥  
अकुलीनो द्विमुखस्तावन्मधुरो भोजन मुखे यावत् ।  
मुरज इव खलो जीर्णो भोजने विरसमारसति ॥
- ५३ \*निद्धम्मो गुणरहिओ ठाणविमुक्को य लोहसभूओ ।  
विघइजणस्स हियय पिसुणो बाणु व्व लग्गतो ॥ ५ ॥  
निर्धर्मो गुणरहित स्थानविमुक्त्स्व लोभ (लोह)सभूत ।  
विध्यति जनस्य हृदय पिशुनो बाण इव लगद् ॥

### ५—दुज्जणवज्जा (दुर्जनपद्धति)

४९. जिसको कान्ति निरन्तर घने काजल के समान मलिन रहती है, जिसकी दोनो भौंहें चट्टी रहती हैं, ऐसे दुष्ट का मुख कभी भी निर्मल नहीं दिखाई देता ॥ १ ॥

५०. \*जिसकी ग्रीवा (गर्व से) वक्र रहती है, (भयानक दृष्टि के कारण) जिसे देखना कठिन है ऐसा वचित न होने वाला (अर्थात् कभी धोखा न खाने वाला) अभिमानो (यद्ध = स्तब्ध), खल (दुष्ट-पुरुष) शूल-प्रोन (शूलों पर चढ़ाये हुए) मनुष्य और अभिनव धनी के समान प्रतीत होता है ॥ २ ॥

५१. जिस प्रकार नहत्तो नख और मांस को अलग-अलग करने वाली, अम्यि का खण्डन करने में समर्थ, द्विमुखी एव मध्य वक्र होती है, उसी के समान दुष्ट जन भी प्रेमी जनों में भेद उत्पन्न करने वाले, अर्थियों अर्थान् याचकों के हिन का खण्डन करने में समर्थ, द्विमुखी अर्थान् अन्दर-बाहर से एक समान न रहने वाला (कभी कुछ और कभी कुछ कहने वाला) तथा वक्र हृदय वाला होता है, उसे (दूर से ही) नमस्कार कर लो ॥ ३ ॥

५२. दुष्ट पुरुष मृदङ्ग के समान होता है। जिस प्रकार मृदङ्ग अकुलोन (भूमि का स्पर्श न करते हुये गोद में रख कर बजाया जाता है) होता है, उसीप्रकार दुष्ट भी अकुलीन होता है। जिसप्रकार मृदङ्ग के दो मुख होते हैं, उसी प्रकार दुष्ट भी द्विमुखी होता है अर्थात् सामने प्रशंसा व पीछे निन्दा करने वाला होता है। जिस प्रकार मृदङ्ग तभी तक ही स्वर देता है जब तक उस पर आटा लगा रहता है, उसी प्रकार दुष्टजन भी तभी तक मधुर भाषी होते हैं जब तक उनके मुख में भोजन रहता है अर्थात् उनका हित साधन होता रहता है। जैसे मृदङ्ग आटा निकल जाने पर स्वरहीन हो जाता है, उसी प्रकार दुष्टजन भी मनलप निकल जाने पर कटुभाषी बन जाते हैं ॥ ४ ॥

५३. जिस प्रकार लौह से बना हुआ वाण धर्म अर्थात् धनुष से रहित होकर गुण अर्थान् प्रत्यङ्वा से छूटकर, स्थान (आजोडादि प्रयत्न विशेष) से विमुक्त होकर, लगने पर प्राणियों के हृदय का भेदन करता है, उसी प्रकार दुष्ट जन भी लोभ के बशामून होकर धर्म और गुण से रहित हो मिलने पर लोगों के हृदय को पीड़ा पहुँचाना है ॥ ५ ॥

- ५४ जम्मे विज न हूय न हु होसइ ज च जम्मलक्खे वि ।  
त जपतितह च्चिय पिसुणा जह होइ सारिच्छ ॥ ६ ॥  
जन्मन्यपि यन्न भूत न खलु भविष्यति यच्च जन्मलक्षेऽपि ।  
सज्जल्पन्ति तथैव पिशुना यथा भवति सदृक्षम् ॥
- ५५ गुणिणो गुणेहि विहवेहि विहविणो होतु गव्विया नाम ।  
दोसेहि नवरि गव्वो खलाण मग्गो च्चिय अउव्वो ॥ ७ ॥  
गुणिनो गुणैर्विभवैर्विभविनो भवन्तु गविता नाम ।  
दोषै केवल गर्वं खलाना मार्ग एवापूर्वं ॥
- ५६ सत्त न देति वारेति देतय दिन्नय पि हारति ।  
अणिमित्तवइरियाण खलाण मग्गो च्चिय अउव्वो ॥ ८ ॥  
सन्न ददति वारयन्ति ददत दत्तमपि हारयन्ति ।  
अनिमित्तवैरिणा खलाना मार्ग एवापूर्वं ॥
- ५७ \*परविवरलद्धलक्खे चित्तलए भीसणे जमलजीहे ।  
वक्कपरिसविकरे गोणसे व्व पिसुणे सुट्ट कत्तो ॥ ९ ॥  
परविवरलद्धलक्ष्ये चलचित्ते (चित्रले) भीषणे यमलजिह्वे ।  
वक्कगमनशीले गोतस इव पिशुने सुख कुत ॥
- ५८ \*असमत्थमततताण कुलविमुक्काण भोगहीणाण ।  
दिट्ठाण को न बीहइवितरसप्पाण व खलाण ॥ १० ॥  
असमर्थमन्त्रतन्त्रेभ्य कुलविमुक्तेभ्यो भोगहीनेभ्य ।  
दृष्टेभ्य को न बिभेति व्यन्तरसर्पेभ्य इव खलेभ्य ॥
- ५९ एय चिय बहुलाहो जीविज्जइ ज खलाण मज्झम्मि ।  
लाहो ज न डसिज्जइ भुयगपरिवेडिए चलणे ॥ ११ ॥  
एतदेव बहुलामो जीव्यते यत् खलाना मध्ये ।  
लामो यन्न दश्यते भुजङ्गपरिवेष्टिते चरणे ॥

५४. जो इस जन्म में नहीं हुआ और जिम्मा लाओ जन्मों में भी हो पाना सम्भव नहीं है, उसे दुर्जन (पिशुन) ऐसे (सहज भाव से) कह जाता है जैसे बिलकुल सच हो ॥ ६ ॥

५५. \*यदि गुणवान् गुण से और धनवान् धन से गर्वित हो जाते हैं तो हो जायें। खलो का तो मार्ग ही अदभुत है, वे तो दोषों पर ही गर्व करते हैं ॥ ७ ॥

५६. अकारण बैर रखने वाले खलो का मार्ग ही अशुभ है। वे स्वयं सम्पत्ति होते हुए भी नहीं देते, देने वाले को रोकते हैं और दिया हुआ द्रव्य भी छीन लेते हैं ॥ ८ ॥

५७. \*दूसरों के विवरो (विलो) में प्रविष्ट हो जाना ही जिसका लक्ष्य है, जिसके शरीर पर चित्तिया हैं, जिसकी दो जिह्वाएँ हैं और जो कुटिल गति से चलना है उस भयानक सर्प को जैसे सुख नहीं मिलना है, ठीक वैसे ही उन दुष्ट जनों को भी सुख नहीं मिलना है जो दूसरों के छिद्रों (दोषों) को ही देखते रहते हैं, जो चञ्चलचित्त वाले हैं, जो अत्यन्त कठोर हैं, जो चुगलखोर हैं और जिनकी गति वक्र है ॥ ९ ॥

५८. \*मन्त्र-तन्त्र से असाध्य, (साँपों के) आठों कुलों से बहिर्भूत, फणहीन व्यन्तरसर्पों के समान जिनके निवारण में उपदेश एवं उपाय व्यर्थ हैं, जो परिवार की मर्यादा से मुक्त हैं, जो विषय-सेवन से नोच हो चुके हैं, ऐसे खलो को देख कर कौन नहीं डरता<sup>१</sup> ? ॥ १० ॥

५९. खलो के बीच जीवित रहे, यही बहुत बड़ा लाभ है। पैर में लिपटा साँप यदि नहीं काटता तो यही बहुत है ॥ ११ ॥

\* विशेष विवरण परिलिख्य 'ख' में द्रष्टव्य।

१. इस पर प्रो० पटवर्धन की टिप्पणी उचित नहीं है।



- ६० न सहइ अढ्मत्यणिय असइ गयाण पि पिट्ठिमसाइ ।  
 दट्ठूण भासुरमुह खलसीह को न वीहेइ ॥ १२ ॥  
 न सहतेऽभ्यर्थनाम् (न सहतेऽभ्रस्तनितम्) अश्नाति  
 गतानामपि (गजानामपि) पृष्ठमासानि ।  
 दृष्ट्वा भासुरमुख खलसीह को न विमेति ॥
- ६१ \*मा वच्चह वीसभ पमुहे बहुकूडकवडभरियाण ।  
 निव्वत्तियकज्जपरमुहाण सुणयाण व खलाण ॥ १३ ॥  
 मा व्रजत विथम्म प्रमुखे बहुकूटकपटभृतानाम् ।  
 निर्वर्तितकार्यपराङ्मुखानां क्षुनकानामिव खलानाम् ॥
- ६२ जेहि चिय उढ्मविया जाण पसाएण निगयपयावा ।  
 समरा ड्हति विझ खलाण मग्गो न्चिय अउव्वो ॥ १४ ॥  
 यैरेवोर्ध्वोऽकृता येषां प्रसादेन निगंतप्रतापा ।  
 शबरान् दहन्ति विन्ध्य खलानां मार्गं एवापूर्वं ॥
- ६३ सरसा वि दुमा दावाणलेण डज्झति सुक्खसवलिया ।  
 दुज्जणसगे पत्ते सुयणो वि मुह न पावेइ ॥ १५ ॥  
 सरसा अपि दुमा दावानलेन दह्यन्ते शुष्कसबलिता ।  
 दुर्जनसगे प्राप्ते सुजनोऽपि सुखं न प्राप्नोति ।
- ६४ खलसज्जणाण दोसा गुणा य को वणिउ तरइ लोए ।  
 जइ नवरि नायराओ दोहि जीहासहस्सेहि ॥ १६ ॥  
 खलसुजनयोर्दोषान् गुणाश्च को वर्णयितुं शक्नोति लोके ।  
 यदि केवलं नागराजो द्वाभ्यां जिह्वासहस्राभ्याम् ।

### ६ मित्तवज्जा [मित्रपद्धति]

- ६५ एकक चिय सलहिज्जइ दिणेशदियहाण नवरि निव्वहण ।  
 आजम्म एकमेक्वेहि जेहि विरहो न्चिय न दिट्ठो ॥ १७ ॥  
 एकमेव दलाध्यते दिनेशदिवसयोः केवलं निर्वहणम् ।  
 आजन्मैवैकाम्यां याभ्यां विरह एव न दृष्टः ॥

६०. दुष्टजन सिंह के समान होते हैं। उन से कौन नहीं डरता ? सिंह मेघों को गर्जना नहीं सह सकता तो खल अभ्यर्थना को। सिंह गजों का भी पृष्ठ-मांस खा जाता है तो खल परोक्ष में लोगों की निन्दा करता है। सिंह का मुँह (नुकीले) दाँतों के कारण भयानक रहता है तो खल का मुँह देखने में ही भयानक लगता है ॥ १२ ॥

६१. \*अपना कार्य समाप्त हो जाने पर मुँह दूसरी ओर कर लेने वाले कुत्तों के समान, अत्यन्त छल-कपट से परिपूर्ण तथा अपना काम निकलाने पर मुँह फेर लेने वाले खलों के समस्त विश्वासपूर्वक मत जाओ ॥ १३ ॥

(कुत्ते मैथुन समाप्त हो जाने पर अपना मुँह फिरा लेते हैं)

६२. जिसके द्वारा उमर उठाये गये और जिसके द्वारा उन का प्रताप प्रकट हुआ उसी विन्ध्य पर्वत को शबर जला डालते हैं। खलो का मार्ग ही विचित्र है ॥ १४ ॥

६३. शुष्क काष्ठों से मिल कर सरस वृक्ष भी दावानल में दग्ध हो जाते हैं। दुर्जन के संसर्ग में सुजन भी सुख नहीं पाता ॥ १५ ॥

६४. खलो के दोष और सज्जनों के गुणों का वर्णन कौन कर सकता है ? यदि कोई कर सकता है, तो दो हजार जिह्वाओं से केवल नागराज शेष ॥ १६ ॥

#### ६—मित्तवज्जा (मित्रपद्धति)

६५. अकेले सूर्य और दिन का प्रणय-निर्वाह इलाध्य है, जिन्होंने आजन्म एक दूसरे का वियोग ही नहीं देखा ॥ १ ॥

\* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य ।

- ६६ पडिवन्न दिणयरवासराण दोण्ह अखडिय सुहइ ।  
सुरो न दिणेण विणा दिणो वि न हु सूरविरहम्मि ॥ २ ॥  
प्रतिपन्न दिनकरवासरयोद्धंयोरखण्डित शोभते ।  
सूर्यो न दिनेन विना दिनमपि न खलु सूर्यविरहे ॥
- ६७ मित्त पयतोयसम सारिच्छ ज न होइ किं तेण ।  
अहियाएइ मिलत्त आवइ आवट्टए पढम ॥ ३ ॥  
मैत्र पयस्तोयसम सदृश यन्न भवति किं तेन ।  
अधिकायते मिलदापद्यावर्तते प्रथमम् ॥
- ६८ त मित्त कायव्व ज किर वसणम्मि देशकालम्मि ।  
आलिहियभित्तिबाउल्लय व न परमुह ठाइ ॥ ४ ॥  
तन्मित्र कर्तव्य यत् किल व्यसने देशकाले ।  
बालिखितभित्तिपुत्रक इव न पराङ्मुख तिष्ठति ॥
- ६९ त मित्त कायव्व ज मित्त कालकवलीसरिस ।  
उयएण धोयमाण सहावरग न मेल्लेइ ॥ ५ ॥  
तन्मित्र कर्तव्य यन्मित्र कालकम्बलीसदृशम् ।  
उदकेन धाव्यमान स्वभावरङ्ग न मुञ्चति ।
- ७० \*सगुणाण निग्गुणाण य गल्या पालति ज जि पडिवन्न ।  
पेच्छह वसहेण सम हरेण वोलाविओ अप्पा ॥ ६ ॥  
सगुणाना निग्गुणाना च गुरव पालयन्ति यदेव प्रतिपन्नम् ।  
प्रेक्षध्व वृषभेण सम हरेणा तिक्रामित आत्मा ॥
- ७१ छिज्जउ सीस अह होउ वघण चयउ सव्वहा लच्छी ।  
एडिदन्नपालणे सुपुरिसाण ज होइ ल होउ ॥ ७ ॥  
छिद्यता शीर्षमथ भवतु वन्धन त्यजतु सवथा लक्ष्मी ।  
प्रतिपन्नपालने सुपुरपाणा यद्भवति तद्भवतु ॥

६६ दिनकर और दिन-दोनों की अखंड प्रतिपत्ति (मैत्री या अनुराग) की शोभा है। दिन के बिना सूर्य और सूर्य के बिना दिन नहीं रह सकता ॥ २ ॥

६७ जो मैत्री जल और दुग्ध के समान नहीं है उस से लाभ क्या ? जल जब मिलना है तब दूध को अधिक बना देता है और औटाने पर वही पहले जलता है (आपत्ति में भी वही पहले काम आता है) ॥ ३ ॥

६८ मित्र उसे बनाना चाहिये जो भित्ति-चित्र के समान किसी भी संकट और देश-काल में कभी विमुक्त न हो ॥ ४ ॥

६९. मित्र उसे बनाना चाहिये जो काले कम्बल के समान जल से धोये जाने पर भी सहज-रंग को नहीं छोड़ता अर्थात् साथ नहीं छोड़ता है ॥ ५ ॥

७० \*महापुरुष, सगुणो और निर्गुणो में, जिस का जो (कार्य) स्वीकार कर लेते हैं, उस की रक्षा करते हैं। देखो, शिव ने बैल के साथ अपना जीवन बिता दिया ॥ ६ ॥

७१ चाहे शिर कट जाय, चाहे कारागार में चले जायें और चाहे सत्र प्रकार से निर्धन ही क्यों न हो जायें, अगीकृत की रक्षा में जो होना है यह सब हो जाय, सज्जनों को उस की चिन्ता नहीं रहती है ॥ ७ ॥

- ७२ दिढलोहसकलाण अन्नाण वि विविहपासवघाण ।  
ताण चिय अहिययर वायावघ कुलीणस्स ॥ ८ ॥  
दृढलोहशृङ्खलाभ्योऽन्येभ्योऽपि विविघपाशबन्धेभ्य ।  
तेभ्य एवाधिकतर वाग्बन्धन कुलीनस्य ॥

### ७ नेहवज्जा [स्नेहपद्धति]

- ७३ चदो धवलज्जइ पुण्णिमाइ अह पुण्णिमा वि चदेण ।  
समसुहदुक्खाइ मणे पुण्णेण विणा न लब्धमि ॥ १ ॥  
चन्द्रो धवलीक्रियते पूर्णिमयाय पूर्णिमापि चन्द्रण ।  
समसुखदुखानि मन्ये पुण्येन विना न लभ्यन्ते ॥
- ७४ एक्काइ नवरि नेहो पयासिओ तिहुयणम्मि जोण्हाए ।  
जा सिज्जइ क्षीणे ससहरम्मि वड्ढेइ वड्ढते ॥ २ ॥  
एकया केवल स्नेह प्रकाशितस्त्रिभुवने ज्योत्स्नया ।  
या क्षीयत क्षीणे शशधरे वर्धते वर्धमाने ॥
- ७५ सिज्जइ क्षीणम्मि सया वड्ढइ वड्ढतयम्मि सविसेस ।  
सायरससीण छज्जइ जयम्मि पडिवन्नणिव्वहण ॥ ३ ॥  
क्षीयते क्षीणे सदा वर्धते वर्धमाने सविशेषम् ।  
सागरशशिनो राजते जगति प्रतिपन्ननिर्वहणम् ॥
- ७६ पडिवन्न जेण सम पुव्वणिओएण होइ जीवस्स ।  
दूरट्ठिअ न दूरे जह चदो कुमुयसडाण ॥ ४ ॥  
प्रतिपन्न येन सम पूर्वनियोगेन भवति जीवस्य ।  
दूरस्थितो न दूरे यथा चन्द्र कुमुदपण्डानाम् ॥
- ७७ दूरट्ठिया न दूरे सज्जनचित्ताण पुव्वमिलियाण ।  
गयणीट्ठिओ वि चदो आसासइ कुमुयसडाइ ॥ ५ ॥  
दूरस्थिता न दूरे सज्जनचित्ताना पूर्वमिलितानाम् ।  
गगनस्थितोऽपि चन्द्र आश्वासयति कुमुदपण्डानि ॥

७२. कुलीन व्यक्ति का वाग्बन्धन (वान में बँध जाना) सुदृढ़ लोह-शृङ्खला तथा अन्य विविध पाशों के बन्धन से भी अधिक (सुदृढ़) है ॥ ८ ॥

### ७—नेह-वज्जा (स्नेह-पद्धति)

७३. \*पूर्णिमा चन्द्रमा को घबल बना देती है और चन्द्रमा पूर्णिमा को । में समझता हूँ कि जिन मित्रों के सुख-दुःख समान होते हैं वे पुण्य के बिना नहीं प्राप्त होते ॥ १ ॥

७४. केवल ज्योत्स्ना ने तीनों लोकों में स्नेह प्रकाशित किया है, जो चन्द्रमा के क्षीण हो जाने पर क्षीण हो जाती है और बढ़ने पर बढ़ जाती है ॥ २ ॥

७५. मसार में सागर और चन्द्रमा का स्वीकृत-प्रणय-निर्वाह सर्वदा सुखोपनि होता है, क्योंकि सागर चन्द्रमा के क्षीण होने पर क्षीण हो जाता है और बढ़ने पर विशेष-रूप से बढ़ जाता है ॥ ३ ॥

७६. पूर्वकृत-कर्म की प्रेरणा से जीव जिस के साथ प्रीति का सम्बन्ध जोड़ लेता है वह दूर रहने पर भी दूर नहीं रहता, जैसे चन्द्रमा कुमुदवन से ॥ ४ ॥

७७. पूर्व-मिलित सज्जनो के चित्तों से दूर रहने पर भी कोई दूर नहीं रहता । आकाश में रह कर भी चन्द्रमा कुमुद वनों को आदवस्त कर देता है ॥ ५ ॥

\* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य ।

७८. दिट्ठे वि हु होइ मुहं जइ वि न पावन्ति अंगसंगाइ ।  
 दूरद्विओ वि चंदो सुणिच्चुइं कुणइ कुमुयाणं ॥ ६ ॥  
 दृष्टेऽपि खलु भवति सुय यद्यपि न प्राप्नुवन्त्यङ्गसगान् ।  
 दूरस्थितोऽपि चन्द्रः सुनिर्वृतिं करोति कुमुदानाम् ।
७९. एमेव कह वि कस्म वि केण वि दिट्ठेण होइ परिओसो ।  
 कमलायराण रइणा किं कज्ज जे वियमन्ति ॥ ७ ॥  
 एवमेव कथमपि वस्यापि केनापि दृष्टेन भवति परितोषः ।  
 कमलाकराणां रविणा किं कार्यं येन विक्रमन्ति ॥
८०. कत्तो उगमइ रई कत्तो वियसति पकयवणाइ ।  
 मुयणाण जए नेहो न चलइ दूरद्वियाणं पि ॥ ८ ॥  
 धृत उदगच्छति रविः कुतो विक्रमन्ति पद्मजवनानि ।  
 मुजनानां जगति स्नेहो न चलति दूरस्थितानामपि ॥

### ८. नीइवज्जा [नीतिपद्धतिः]

८१. ज जम्म मम्मभेयं चालिज्जंत च दूमए हियय ।  
 तं तम्म कण्णकडुय कुलेमु जाया न जंपति ॥ १ ॥  
 यद्यस्य मर्मभेदम् उच्यमानं च दूनर्था हृदयम् ।  
 तत्तस्य वचनवद्वक्त्रे कुत्रेयु जाता न जल्पन्ति ॥
८२. मतेहि अमतेहि य परम्म किं जंपिएहि दंमेहि ।  
 अन्यो जमो न लब्धइ मो वि अमित्तो यओ होइ ॥ २ ॥  
 गद्गिरगद्गिरस्य वग्न्य किं जल्पितोद्वेगः ।  
 अर्था यतो न लभ्यो न चाहितः कृतो भवति ॥
८३. अण्हिय वायव्यं जइ मसइ परहियं च मम्म ॥

७८. प्रेमी यद्यपि अगो का स्पर्श नहीं पाते हैं तथापि देख कर भी उन्हें सुख मिल जाता है। चन्द्रमा सुदूर स्थित होने पर भी कुमुद-कानन को आह्लादित कर देता है<sup>१</sup> ॥ ६ ॥

७९. किसी को देख कर भी किसी को अकारण ही सुख मिल जाता है। सूर्य से कमलो का क्या प्रयोजन है जो (उसे देख कर) विकसित हो जाते हैं ॥ ७ ॥

८०. सूर्य कहा निकलता है और कमल कहा खिलते हैं। ससार में सृजनो का प्रेम दूर रहने पर भी विचलित नहीं होता ॥ ८ ॥

### ८—नीद्वज्जा (नीति-पद्धति)

८१. जो किसी के मर्म का भेदन करने वाला है और कहने पर हृदय को दुःख देता है, कुलीन व्यवित उसे उससे नहीं कहते ॥ १ ॥

८२. दूसरों के विद्यमान अथवा अविद्यमान दोषों को कहने से क्या लाभ ? न तो अर्थ मिलता है और न यश। अपितु उस को भी शत्रु बना लिया जाता है ॥ २ ॥

८३. अपना हित करना चाहिये और हो सके तो परहित करना चाहिये। अपने हित और पराये हित में (यदि किसी एक को करना पड़े तो) अपना हित ही करना चाहिए ॥ ३ ॥

१. अमिलताण व दीसइ णेहो दूरे वि सठियाण पि ।

जइ वि ॥ रवि गयणयले दह तह वि तहइ मुट्ट णलिणो ॥



- ७८ दिट्ठे वि हु होइ सुह जइ वि न पावति अगसगाइ ।  
 दूरट्ठिओ वि चदो सुणिब्बुइ कुणइ कुमुयाण ॥ ६ ॥  
 दृष्टेऽपि खलु भवति सुख यद्यपि न प्राप्नुवन्त्यङ्गसगान् ।  
 दूरस्थितोऽपि चन्द्र सुनिर्वृति करोति कुमुदानाम् ॥
- ७९ एमेव कह वि कस्स वि केण वि दिट्ठेण होइ परिओसो ।  
 कमलायराण रइणा कि कज्ज जे वियसति ॥ ७ ॥  
 एवमेव कथमपि कस्यापि केनापि दृष्टेन भवति परितोष ।  
 कमलाकराणा रविणा कि कार्य येन विकसन्ति ॥
- ८० कत्तो उग्गमइ रई कत्तो वियसति पकयवणाइ ।  
 सुयणाण जए नेहो न चलइ दूरट्ठियाण पि ॥ ८ ॥  
 कुत उद्गच्छति रवि कुतो विकसन्ति पङ्कजवनानि ।  
 सुजनाना जगति स्नेहो न चलति दूरस्थितानामपि ॥

### ८ नीइवज्जा [नीतिपद्धति]

- ८१ ज जस्स मम्मभेय चालिज्जत च दूमए हियय ।  
 त तस्स कण्णकडुय कुलेसु जाया न जपति ॥ १ ॥  
 यद्यस्य मर्मभेदम् उच्यमानं च हूनयति हृदयम् ।  
 तत्तस्य कर्णकटुक कुलेषु जाता न जल्पन्ति ॥
- ८२ सतेहि असतेहि य परस्स किं जपिएहि दोसेहि ।  
 अत्थो जसा न लब्धमइ सो वि अमित्तो कओ होइ ॥ २ ॥  
 सद्भिस्सद्भिश्च परस्य किं जल्पितैर्दोषैः ।  
 अर्थो यशो न लभ्यते स चाभिन्नं वृत्तो भवति ॥
- ८३ अप्पहिय कायव्व जइ सक्कइ परहिय च कायव्व ।  
 अप्पहियपरहियाण अप्पहिय चेव कायव्व ॥ ३ ॥  
 आत्महितं वर्तव्यं यदि शक्यते परहितं च वर्तव्यम् ।  
 आत्महितपरहितयोर्यात्महितं चेव वर्तव्यम् ॥

७८. प्रेमी यद्यपि अंगों का स्पर्श नहीं पाते हैं तथापि देख कर भी उन्हें सुख मिल जाता है। चन्द्रमा सुदूर स्थित होने पर भी कुमुद-कानन को आह्लादित कर देता है<sup>१</sup> ॥ ६ ॥

७९. किसी को देख कर भी किसी को अकारण ही सुख मिल जाता है। सूर्य से कमलो का क्या प्रयोजन है जो (उसे देख कर) विकसित हो जाते हैं ॥ ७ ॥

८०. सूर्य कहा निकलता है और कमल कहा खिलते हैं। संसार में सुजनो का प्रेम दूर रहने पर भी विचलित नहीं होता ॥ ८ ॥

### ८—नीइवज्जा (नीति-पद्धति)

८१. जो किसी के भग्न का भेदन करने वाला है और कहने पर हृदय को दुःख देता है, कुलीन व्यक्ति उसे उससे नहीं कहते ॥ १ ॥

८२. दूसरों के विद्यमान अथवा अविद्यमान दोषों को कहने से क्या लाभ ? न तो अर्थ मिलता है और न यश। अपितु उस को भी शत्रु बना लिया जाता है ॥ २ ॥

८३. अपना हित करना चाहिये और हो सके तो परहित करना चाहिये। अपने हित और पराये हित में (यदि किसी एक को करना पड़े तो) अपना हित ही करना चाहिए ॥ ३ ॥

१. अमिलताण व दोसइ चेहो दूरे वि सठिपाण पि ।

जइ वि हू रवि गयणयले इह तह वि लहइ सुहु णलिणो ॥

८४. पुरिसे सच्चसमिद्धे अलियपमुक्के सहावसंतुट्ठे ।  
तवधम्मणियममइए विसमा वि दसा समा होइ ॥ ४ ॥  
पुरुषे सत्यसमृद्धेल्लोकप्रमुक्ते स्वभावसन्तुष्टे ।  
तपोधर्मनियममये विपमापि दशा समा भवति ॥
८५. सीलं वरं कुलाओ दालिहं भव्वय च रोगाओ ।  
विज्जा रज्जाउ वरं खमा वरं सुट्ठु वि तत्राओ ॥ ५ ॥  
शीलं वरं कुलात् दारिद्र्यं भव्यं च रोगात् ।  
विद्या राज्याद्वरं क्षमा वरं सुष्ठ्वपि तपसः ॥
८६. सील वर कुलाओ कुलेण किं होइ विगयसीलेण ।  
कमलाइ कदमे सभवति न हु हुति मलिगाइं ॥ ६ ॥  
शील वर कुलात् कुलेन किं भवति विगतशीलेन ।  
कमलानि कदमे संभवन्ति न खलु भवन्ति मलिनानि ॥
८७. ज जि खमेइ समत्थो धणवतो ज न गव्वमुव्वहइ ।  
ज च सविज्जो नमिरो तिसु तेसु अलकिया पुहवी ॥ ७ ॥  
यत् खलु क्षमते समर्थो धनवान् यन्न गर्वमुद्बहति ।  
यच्च सविद्यो नमस्त्रिभिस्तैरलङ्घ्यता पृथ्वी ॥
८८. छदं जो अणुवट्ठइ मम्म रक्खइ गुणे पयासेइ ।  
सो नवरि माणुमाण देवाण वि वल्लहो होइ ॥ ८ ॥  
छन्द योज्युवन्ते मर्म रक्षति गुणान् प्रकाशयति ।  
स न केवलं मानुषाणां देवानामपि वल्लभो भवति ॥
८९. छणवचणेण वरिसो नासइ दिवमो कुभोयणे भुत्ते ।  
कुक्कलत्तेण य जम्मो नामइ धम्मो अहम्मेण ॥ ९ ॥  
रागवज्जनेन वर्यो नश्यति दिवमः कुभोजने भुक्ते ।  
कुक्कलत्रेण च जन्म नश्यति धर्मोऽधर्मेण ॥

८४ सत्यनिष्ठ, असत्यरहित, स्वभाव से सन्तुष्ट और तप, धर्म एवं नियम से युक्त पुरुष की विषम दशा भी सम हो जाती है ॥ ४ ॥

८५ कुल से शील श्रेष्ठ है, रोग से दारिद्र्य श्रेष्ठ है, विद्या राज्य से श्रेष्ठ है और जमा बडे से बडे तप से भी श्रेष्ठ है ॥ ५ ॥

८६ कुल से शील श्रेष्ठ है । शीलच्युत कुल से क्या लाभ ? कमल पत्र में जन्म लेता है परन्तु मलिन नहीं होता ॥ ६ ॥

८७ जो मनुष्य समर्थ होने पर भी क्षमा करता है, धनवान् होने पर भी गर्व नहीं धारण करता और जो विद्वान् होने पर भी विनम्र रहता है—इन तीनों से पृथ्वी अलंकृत होती है<sup>१</sup> ॥७॥

८८ जो छन्दानुवर्तन करता है (अर्थात् किसी को इच्छा के अनुकूल कार्य करता है), रहस्य की रक्षा करता है और गुणों को प्रकाशित करता है, वह केवल मनुष्यों का नहीं देवों का भी प्रिय हो जाता है ॥ ८ ॥

८९ सत्सव न करने से वर्ष नष्ट हो जाता है और कुभोजन से दिन । बुबलत्र (दुष्ट स्त्री) से जन्म नष्ट हो जाता है और अधर्म से धर्म ॥ ९ ॥

---

१ इसका अन्तिम धरण हेमचन्द्र ने प्राकृत व्याकरण में उद्धृत किया है ।

- ९० \*छन्त धम्म पयड च पोरिस परकलत्तवचणय ।  
 गजणरहिओ जम्मो राढाइत्ताण सपडइ ॥ १० ॥  
 छन्नो धम्मं प्रकट च पोरुप परकलत्तवच्चनम् ।  
 कलङ्करहित जन्म भव्यात्मना सपद्यते ॥

### ९ धीरवज्रा [धीरपद्धति]

- ९१ अप्पाण अमुयता जे आरभति दुग्गम कज्ज ।  
 परमुहपलोइयाण ताण कह होइ जयलच्छी ॥ १ ॥  
 आत्मानममुञ्चन्तो य आरभन्ते दुर्गम कार्यम् ।  
 परमुखावलोकित्वा तेषा कथं भवति जयलक्ष्मी ॥
- ९२ सिग्घ आरुह कज्ज पारद्ध मा कह पि सिढिलेसु ।  
 पारद्धसिढिलियाइ कज्जाइ पुणो न सिज्झति ॥ २ ॥  
 शीघ्रमारोह कार्यं प्रारब्धं मा कथमपि शिथिलय ।  
 प्रारब्धशिथिलितानि कार्याणि पुनरनं सिद्ध्यन्ति ॥
- ९३ अच्छउ ता इयरजणो अगे च्चिय जाइ पच भूयाइ ।  
 ताह च्चिय लज्जिज्जइ पारद्ध परिहरतेण ॥ ३ ॥  
 आस्ता तावदितरजनोऽङ्ग एव यानि पञ्च भूतानि ।  
 तेभ्य एव लज्जयते प्रारब्धं परिहरता ॥
- ९४ क्षीणविहवो वि सुयणो सेवइ रन्न न पत्थए अन्न ।  
 मरणे वि अइमहग्ग न विक्किणइ माणमाणिकक ॥ ४ ॥  
 क्षीणविभवोऽपि सुजन सेवतेऽरण्यं न प्रार्थयतेऽन्यम् ।  
 मरणेऽप्यतिमहार्घं न विक्रीणाति मानमाणिक्यम् ॥
- ९५ वे मग्गा भुवणयले माणिणि माणुत्तयाण पुरिसाण ।  
 अहवा पावति सिंरि अहव भमता सम्पपति ॥ ५ ॥  
 द्वौ मार्गौ भुवनतले मानिनि मानोत्तताना पुरुषाणाम् ।  
 अथवा प्राप्नुवन्ति श्रियमथवा भ्रमन्त समाप्यन्ते ॥

९०. \*गुप्तधर्म, प्रकटपराक्रम, परस्त्री-त्याग और निष्कलंक जन्म—  
ये भव्यात्माओं को ही प्राप्त होते हैं ॥ १० ॥

## ९. घोर-चज्जा (घोर-पद्धति)

९१. अपने प्राणों की चिन्ता बिना छोड़े (अर्थात् स्वयं कष्ट न उठाते हुए), जो लोग दुर्गम (दुःसाध्य) कार्य प्रारम्भ कर देते हैं, उन दूसरों का मुँह जोहने वालों को लयमी कैसे प्राप्त हो सकती है ? ॥ १ ॥

९२. कार्य का आरम्भ शीघ्र करो, प्रारब्ध (अर्थात् प्रारम्भ किए हुए) कार्य में किसी भी प्रकार की शिथिलता मत करो। प्रारम्भ किए हुए कार्यों में शिथिलता आ जाने पर वे पुनः पूर्ण नहीं होते हैं ॥ २ ॥

९३. प्रारब्ध (प्रारम्भ किए हुए) कार्य को छोड़ते समय अन्य लोग तो दूर रहें, अपने ही शरीर में जो पचभूत हैं, उन्हीं से लाज लगती है ॥ ३ ॥

९४. सुजन धनहीन होने पर भी अरण्य का सेवन करता है अर्थात् वन में चला जाता है। किन्तु अन्य से याचना नहीं करता। वह मर जाने पर भी स्वाभिमान-रूपी अमूल्य माणिक्य को नहीं बेचता ॥ ४ ॥

९५. हे भानिनि ! जगत् में भानोन्नत (स्वाभिमानी) पुरुषों के दो मार्ग हैं—या तो लक्ष्मी प्राप्त करते हैं या परिभ्रमण करते हुए समाप्त हो जाते हैं (अथवा अपने को समर्पित कर देते हैं) ॥ ५ ॥

\* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य ।

- ९६ वेणिं वि हृति गर्डो साहसवताण धीरपुरिषाण ।  
 वेल्लहलकमलहृत्था रायसिरी अहव पव्वज्जा ॥ ६ ॥  
 द्वे अपि भवतो गतो साहसवता धीरपुरुषाणाम् ।  
 विकसितकमलहस्ता राजश्रीरथवा प्रव्रज्या ॥
- ९७ अहवा मरति गुरुवसणपेल्लिया खडिऊण नियजोह ।  
 नो गतूण खलाण चवति दीणक्खर धीरा ॥ ७ ॥  
 अथवा म्रियन्ते गुरुवसनप्रेरिता खण्डयित्वा निजजिह्वाम् ।  
 नो गत्वा खलाना जल्पन्ति दीनाक्षर धीरा ॥
- ९८ अह सुप्पइ पियमालिगिऊण उत्तुगथोरथणवट्ठे ।  
 अह नरकरकककालमकुले भीसणमसाणे ॥ ८ ॥  
 अथ सुप्यते प्रियमालिङ्गयोत्तुङ्गपृथुस्तनपृष्ठे ।  
 अथ नरकरङ्ककङ्कालमकुले भीषणदमशाने ॥
- ९९ अह भुजइ सह पियकामिणीह कच्चोलथालसिप्पीहि ।  
 अहवा विमलकवाले भिक्ख भमिऊण पेयवणे ॥ ९ ॥  
 अथ भुङ्क्ते सह प्रियकामिनीभि कच्चोलथालशुक्तिभि ।  
 अथवा विमलकपाले भिक्षा भ्रान्त्वा प्रतवने ॥
- १०० नमिऊण ज विटप्पइ खलचलण तिहुयण पि कि तेण ।  
 माणेण ज विटप्पइ तण पि त निव्वुइ कुणइ ॥ १० ॥  
 नत्वा यदज्यते खलचरण त्रिभुवनमपि कि तेन ।  
 मानेन यदज्यते तूणमपि तन्निर्वृति कराति ॥
- १०१ ते धत्ता ताण नमो ते गह्या माणिणो यिरारभा ।  
 जे परयत्तमणपडिपेल्लिया दि अन्न न पयति ॥ ११ ॥  
 त ध्यात्तभ्यो नमस्त गुरवो मानिन म्यिरारम्भा ।  
 ये गुरुवसनप्रतिप्रेरिता अप्यन्य न प्राययन्ते ॥

९६ साहसी धीरपुरुषों की दो गतियाँ होती हैं—हाथ में सुन्दर (या कोमल) कमल को धारण करने वाली लक्ष्मी की प्राप्ति अथवा प्रव्रज्या ॥ ६ ॥

९७ धीर पुरुष भारी कष्ट (दुःख) से प्रेरित होने पर (या पीड़ित होने पर) अपनी जिह्वा काट कर मर भले ही जाय परन्तु खलो के आगे जाकर दीन वाणी नहीं बोलना है ॥ ७ ॥

९८ (धीर पुरुष) या तो प्रिया का आलिंगन कर उत्तम एवं स्थूल उरोजों के फलक पर शयन करना है या नर-कपालों और ककालों से भरे भयानक द्मशान में ॥ ८ ॥

९९. धीर पुरुष या तो सुन्दर कामिनियों के साथ कञ्चोलों (प्यालों), थालियों और शुक्तिपात्रों में भाजन करता है या भिक्षा माँग कर प्रेतवन (द्मशान) में उज्ज्वल नरकपाल में (भोजन करता है) ॥ ९ ॥

१०० खलो के चरणों में प्रणत हो कर यदि तीनों लोको की सपत्ति अर्जिन कर ली जाय, तो उसमें क्या ? सम्मान से यदि तृण भी अर्जिन हो, तो वह सुग देता है ॥ १० ॥

१०१ जो मुख्यमन (दारुण दुःख) से पीड़ित होने पर भी अन्य से याचना नहीं करते, वे उद्योग में स्थिर रहने वाले, गौरवशाली और स्वामि-मानी पुरुष धन्य हैं, उन्हें नमस्कार है ॥ ११ ॥



१०२. तुगो च्विय होइ मणो मणसिणो अंतिमामु वि दसासु ।  
अत्यतस्स वि रइणो किरणा उट्ट चिय फुरंति ॥ १२ ॥

तुङ्गमेव भवति मनो मनस्विनोऽन्तिमास्वपि दशामु ।  
अस्नमयमानम्यापि रवे. किरणा ऊर्ध्वमेव स्फुरन्ति ॥

१०३. ता तुगो मेरुगिरी मयरहरो ताव होइ दुत्तारो ।  
ता विसमा कज्जगई जाव न धीरा पवज्जति ॥ १३ ॥

तावत्तुङ्गो मेरुगिरिमन्त्रालयस्तावद्भवति दुस्तरः ।  
तावद्विपमा कार्यगतिर्यावन्न धीराः प्रपद्यन्ते ॥

१०४. ना वित्तिण्ण गयण ताव च्विय जलहरा अइगहीरा ।  
ता गल्या कुलसेला जाव न धीरेहि तुल्लति ॥ १४ ॥

तावद्विस्तीर्णं गगनं तावदेव जलधरा अतिगभीरा ।  
तावद्गुल्फा कुलसेला यावन्न धीरेस्तुल्यन्ते ॥

१०५. मेरु तिण व मणो घरगण हत्यछित्त गयणयल ।  
वाहलिया य ममुद्दा माहमवताण पुरिमाण ॥ १५ ॥

मेरुस्तृणमिव स्वर्गो गृहाङ्गणं हस्तस्पृष्टं गगनतलम् ।  
क्षुद्रनद्यः समुद्रा साहसवता पुरपाणाम् ॥

१०६. मघटियघडियविघडियघटतविघडतमघडिज्जत ।  
अवहन्यज्ज दिव्व करेइ धीरो ममारद ॥ १६ ॥

मघटिनघटिनविघटिनघटमानविघटमानमघट्यमानम् ।  
अपहृत्य देव करोति धीरः समारुद्रम् ॥

१० माहमवजा [माहमपद्धति]

१०७. माहममवलवतो पावइ हियइन्ठिय न मदेहो ।  
जेणुत्तमगमेत्तेण राट्टणा कवलिओ चदो ॥ १ ॥

माहममवलम्बमानः प्राप्नोति हृदयेऽप्यन न मदेहः ।  
येनोत्तमान्नामात्रेण राट्टणा कवलिनश्चन्द्रः ॥

१०२. मनस्वियों का मन अन्तिम दशा में भी उत्थन ही रहता है ।  
अस्त होते समय भी सूर्य की किरणें ऊपर ही चमकती हैं ॥ १२ ॥

१०३. जब तक धीर पुरुष कोई कार्य करना स्वीकार नहीं कर लेते,  
तभी तक मेरुपर्वत ऊँचा है, समुद्र दुस्तर है और तभी तक कार्य-सिद्धि में  
बाधाएँ रहती हैं ॥ १३ ॥

१०४. आकाश तभी तक विस्तीर्ण है, समुद्र तभी तक अति अगाध  
है और कुलशैल तभी तक बड़े है, जब तक उनकी तुलना धीरों से नहीं  
की जाती ॥ १४ ॥

१०५. साहसी पुरुषों के लिए मेरु तृण के समान, स्वर्ग घर के आँगन  
के समान, आकाश हाथ से छुये हुए के समान और समुद्र क्षुद्र नदियों के  
समान हो जाता है ॥ १५ ॥

१०६. \*जो पहले साय था या बना था या बिगड़ गया था एवं अब  
जो बन रहा है या बिगड़ रहा है या साय दे रहा है, उस भाग्य को छोड़  
कर धीर पुरुष समारब्ध कार्य को कर डालता है ॥ १६ ॥

### १०—साहस-वज्र (साहस-पद्धति)

१०७. साहस का अवलम्बन करता हुआ मनुष्य मनोवाञ्छित फल  
प्राप्त करता है—इस में सन्देह नहीं । राहु के केवल मस्तक ही था (शरीर  
ह्रास्य, पाँव आदि नहीं थे) फिर भी चन्द्रमा को जितल गया ॥ १ ॥

१ यह गाथा शीलाकृत चतुष्टयमहापुराणचरित में भी है (२९।३) ।

\* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य ।

१०८. त किं पि साहस साहसेण साहति माहसमहावा ।  
ज भाविष्ठण दिव्वो परमूहो घुणइ नियनीन ॥ २ ॥  
तत् किमपि साहस साहसेन साधयन्ति साहसत्वभावा ।  
यद् भावयित्वा देव पराद्मुखं धूनयति निजगिर ॥
१०९. यरथरइ घरा खुम्भति सावरा होइ विम्हलो दइवो ।  
अनमववनायसाहसमल्लजसाण धीराण ॥ ३ ॥  
कम्पते घरा धुम्भन्ति सागरा भवति विह्वल देवम् ।  
असमव्यवसायसाहसनल्लव्ययगोन्धो धीरेण्य ॥
११०. \*अगणितसमविपमाण साहसतुगे समारुहताण ।  
रक्खइ धीराण मण आसन्नमयात्तलो दइवो ॥ ४ ॥  
अगणितसमविपमाणा साहसतुङ्गे समारोहताम् ।  
रक्षति धीराणा मन आसन्नमयाकुल देवम् ॥
१११. त किं पि कम्मरयण धीरा ववसति साहसवमेण ।  
ज वभहरिहराण वि लग्गइ चित्ते चमक्कारो ॥ ५ ॥  
तत्किमपि कर्मरत्न धीरा व्यवस्यन्ति साहसवसेन ।  
यद् ब्रह्महरिहराणामपि लगति चित्ते चमक्कार ॥
११२. धीरेण सम समनीमियाइ रे दिव्व आरुहत्तम् ।  
होहिइ किं पि कलक धुव्वत ज न फिट्ठिहिइ ॥ ६ ॥  
धीरेण सम समगोपिकाया रे देवारोहत् ।  
भविष्यति कोऽपि कल्हो धाव्यमानो यो न याम्पति ॥
११३. जह जह न समप्पइ विट्ठिवमेण विट्ठत्तकजपरिणामो ।  
तह तह धीराण मणे वड्ढइ विट्ठो समुच्छाहो ॥ ७ ॥  
यथा यथा न समाप्यते त्रिधिवसेन विषट्मानकमंपरिणाम ।  
तथा तथा धीराणा मनसि वर्धते द्विगुण समुत्साह ॥

१०८. साहसपूर्ण स्वभाव वाले पुरुष अपने साहस से कुछ ऐसा साहसमय कार्य सिद्ध कर लेते हैं कि जिसे देख कर प्रतिकूल भाग्य (पराजय के कारण) अपना सिर घुनने लगता है ॥ २ ॥

१०९. अथक परिश्रम और साहस से यश प्राप्त करने वाले धीर पुरुषों में पृथ्वी थरानो है, सागर क्षुब्ध हो जाते हैं और भाग्य विस्मित हो जाता है ॥ ३ ॥

११०. \*निकटवर्ती (पराजय जन्य) भय से आकुल देव सम एव विषम (अनुकूल एवं प्रतिकूल) अवस्थाओं को न गिनने वाले (परवाह न करने वाले) एवं साहस के समुन्नत शिखर पर आरोहण करने वाले धीर पुरुषों का मन रमता है (अनुकूल कार्य करने लगता है या उन के संकल्प को पूर्ण करता है) ॥ ४ ॥

१११. धीरजन अपने साहस से कर्मरत्न का कुछ ऐसा व्यवसाय (उद्योग या व्यापार) करते हैं जो शिव और विष्णु के मनो को भी आश्चर्य लगता है ॥ ५ ॥

११२. अरे भाग्य ! धीर के साथ स्पर्धा करने पर (तुझे) कुछ ऐसा बलक लगेगा जो घोने पर भी नहीं मिटेगा ॥ ६ ॥

११३. जैसे-जैसे भाग्यवश विगड़ते हुए कार्य का परिणाम नहीं प्राप्त होता, वैसे-वैसे धीरों के मन में ठूना उत्साह बढ़ने लगता है ॥ ७ ॥

\* विंशति विवरण परिनिष्ठ 'स' में द्रष्टव्य ।

१ परिणाम, यहाँ मथलता सूचक है ।

११४. फलसंपत्तीइ समोणयाइ तुगाइ फलविपत्तीए ।  
 हिययाइ सुपुरिसाणं महातरुणं व सिहराइ ॥ ८ ॥  
 फलसपत्त्या समवनतानि तुङ्गानि फलविपत्त्या ।  
 हृदयानि सुपुरुषाणा महातरुणामिव शिखराणि ।
११५. हियए जाओ तत्थेव वडिडओ नेय पयडिओ लोए ।  
 ववसायपायवो सुपुरिसाण लविस्वज्जइ फलेहि ॥ ९ ॥  
 हृदये जातस्तत्रैव वर्धितो नैव प्रकटितो लोके ।  
 व्यवसायपादप सुपुरुषाणा लक्ष्यते फलैः ॥
११६. ववसायफल विहवो विहवस्स य विहलजणसमुद्धरण ।  
 विहलुद्धरणेण जसो जसेण भण किं न पज्जत्त ॥ १० ॥  
 व्यवसायफल विभवो विभवस्य च विह्वलजनसमुद्धरणम् ।  
 विह्वलोद्धरणेन यशो यशसा भण किं न पर्याप्तिम् ॥
११७. आढत्ता सप्पुरिसेहि तुंगववसायदिन्नहियएहि ।  
 कज्जारभा होहिहि निप्फला कह चिर काल ॥ ११ ॥  
 आरम्भाः सत्पुरुषैस्तुङ्गव्यवसायदत्तहृदयैः ।  
 कार्यारम्भा भविष्यन्ति निष्फला. कथं चिरं कालम् ॥
११८. न महुमहणस्स वच्छे मज्झे कमलाण नेय खीरहरे ।  
 ववमायसायरे सुपुरिमाण लच्छी फुड वमइ ॥ १२ ॥  
 न मधुमयनस्य वक्षसि मध्ये कमलाना नैव क्षीरनिधौ ।  
 व्यवसायमागरे सुपुरुषाणा लक्ष्मी स्फुट वमनि ॥
११९. तद्वियहारभवियावडाण मित्तेक्ककज्जरमियाण ।  
 रविरह्नुतरयाण व सुपुरिमाण न हू हिययवीनामो ॥ १३ ॥  
 तद्विषयारम्भव्यापृताना मित्रैकचार्यरमिवानाम् ।  
 रविरह्यतुरगानामिव =पुरुषाणा न मनु हृदयविश्रामः ॥

११४. सत्पुरुषों के हृदय बड़े वृक्षों के शिखर के समान ऐश्वर्य प्राप्त होने पर (वृक्ष-पक्ष में फल लगने पर) विनम्र (वृक्ष-पक्ष में अवनत) और ऐश्वर्यहीन होने पर (वृक्ष-पक्ष में फल झड़ जाने पर) उन्नत हो जाता है (वृक्ष-पक्ष में फल न रहने पर ढालियाँ ऊपर चली जाती हैं) ॥ ८ ॥

११५. सत्पुरुषों का व्यवसायरूपी वृक्ष हृदय में उत्पन्न होना है, वही बढ़ता है, लोक में प्रकट नहीं होता, जब उस का फल (परिणाम) सम्मुख आता है सभी उसे लोग जान पाते हैं ॥ ९ ॥

११६. व्यवसाय का फल है विभव और विभव का फल है बिह्वल जनो का उद्धार । बिह्वल जनो के उद्धार से यश प्राप्त होता है और यश से कहीं क्या नहीं मिलता ? ॥ १० ॥

११७. जिन का मन उन्नत व्यवसाय (कार्य) में लग चुका है, उन सत्पुरुषों के द्वारा आरम्भ किए हुए कार्य चिरकाल तक वैसे निष्फल रह सकते हैं ॥ ११ ॥

११८. लक्ष्मी न तो विष्णु के वक्षस्थल पर रहती है, न कमलों के मध्य में और न क्षीरसिन्धु में । वह तो प्रकट रूप से सत्पुरुषों के व्यवसाय-सागर में निवास करती है ॥ १२ ॥

११९. सूर्य के रथ के घोड़ों के समान सत्पुरुषों को हादिक विश्राम नहीं ही मिलता है । सूर्य के रथ के घोड़े उस दिन का आरम्भ करने में मलग्न रहते हैं और सत्पुरुष उसी दिन आरम्भ किए हुए कार्य में व्यापृत रहते हैं । सूर्य के रथ के घोड़ों को एक मात्र सूर्य के कार्य में ही आनन्द मित्रता है तो सत्पुरुषों को मित्र के एक मात्र कार्य को पूर्ण करने में ही आह्लाद मिलना है ॥ १३ ॥

## ११ दिव्यवज्रा [दैवपद्धति]

- १२० अथो विज्जा पुरिसत्तण च अन्नाइ गुणसहस्साइ ।  
दिव्वायत्ते कज्जे सब्वाइ नरस्स विहडति ॥ १ ॥  
अथो विद्या पौण्य चान्यानि गुणसहस्राणि ।  
दैवायत्ते कार्ये सर्वाणि नरस्य विषटन्ते ॥
- १२१ \*सत्यत्ये पडियस्म वि मज्झेण एइ किं पि त कज्ज ।  
ज न कहिउ न सहिउ न चेव पच्छाइउ तरइ ॥ २ ॥  
शास्त्रार्थे पतितस्यापि मध्येनैति तत् किमपि कार्यम् ।  
यत्र कथयितुं न शक्नुते न चैव प्रच्छादयितुं शक्नोति ॥
- १२२ जइ विसइ विसमविवर लघइ उर्याहि करेइ ववसाय ।  
तह वि हु फल न पावइ पुरिसो दिव्वे पराहुत्ते ॥ ३ ॥  
यदि विनति विपमविवरे लङ्घयत्युदधिं कुरुते व्यवसायम् ।  
तथापि क्षलु फलं न प्राप्नोति पुरुषो दैवे परागभूते ॥
- १२३ नग्घति गुणा विहडति वधवा वल्लहा विरज्जति ।  
ववसाओ न समप्पइ नरस्स दिव्वे पराहुत्ते ॥ ४ ॥  
नार्थन्ति गुणा विषटन्ते बान्धवा वल्लभा विरज्यन्ते ।  
व्यवसायो न समाप्पते नरस्य दैवे परागभूते ॥
- १२४ ज ज डाल लवइ हत्थे गहिऊण वीसमइ जत्थ ।  
सा सा तडत्ति तुट्टइ नरस्स दिव्वे पराहुत्ते ॥ ५ ॥  
या या शाखा लम्बते हस्ते गृहीत्वा विश्राम्यति यस्याम् ।  
सा सा तटदति श्रुत्यति नरस्य देव परागभूते ॥
- १२५ ज नयणेहि न दोसइ हियएण वि ज न चितिय कह वि ।  
त त मिरम्मि निवडइ नरम्म दिव्वे पराहुत्ते ॥ ६ ॥  
यन्नयनाभ्यां न दृश्यते हृदयेनापि यन्न चिन्तितं कथमपि ।  
तत्तच्छिरसि निपतति नरस्य दैवे परागभूते ॥

## ११—दिव्य-वज्रा (देवपद्धति)

१२० जब मनुष्य का कोई कार्य भाग्याधीन रहता है तब अर्थ, विद्या, पौरुष और अन्य सभी सहस्रो गुण व्यर्थ हो जाते हैं ॥ १ ॥

१२१ \*प्रशंसनीय प्रयोजन (शस्तार्थ) में पड़े हुये (लगे हुये) मनुष्य को भी बीच में कुछ वह कार्य आ जाता है जिसे वह न कह सकता है, न सह सकता है और न छिपा सकता है ॥ २ ॥

१२२ देव के पराङ्मुख होने पर यदि पुरुष विपन्न विवर में प्रवेश करता है, मनुष्य को पार करता है और व्यवसाय करता है तो भी उसका फल नहीं पाता ॥ ३ ॥

१२३ मनुष्य का भाग्य विपरीत होने पर उसके गुणों का मूल्य नहीं रह जाता, बान्धव साथ छोड़ देते हैं, प्रियजन विरक्त हो जाते हैं और व्यवसाय की समाप्ति नहीं होती (उसका काम पूरा नहीं हो पाता है) ॥ ४ ॥

१२४ मनुष्य का भाग्य विपरीत हो जाने पर वह जिस जिस डाली को हाथ से पकड़कर विश्राम करता है, वही-वही तड़तड़ा कर टूट जाती है ॥ ५ ॥

१२५ जब मनुष्य का भाग्य विपरीत हो जाता है तब वे-वे आपत्तिर्या सिर पर पड़ती हैं जिन्हें न तो आँखों से देखा गया है और न मन में जिनकी कल्पना ही की गई है ॥ ६ ॥

\* विशेष विवरण परिशिष्ट 'स' में द्रष्टव्य ।



## १२—विहिवज्जा [विधिपद्धति]

- १२६ खडिज्जइ विहिणा ससहरो वि सूरस्स होइ अत्थमण ।  
 हा दिव्वपरिणईए कवलिज्जइ को न कालेण ॥ १ ॥  
 खण्डयते विधिना शशधरोऽपि सूर्यस्य भवत्यस्तमनम् ।  
 हा देवपरिणत्या कवलीक्रियते को न कालेन ॥
- १२७ \*को एत्थ सया सुहिओ कस्स व लच्छी विराइ पेम्माइ ।  
 कस्स व न होइ खलण भण को हु न खडिओ विहिणा ॥२॥  
 कोऽत्र सदा सुखित कस्य वा लक्ष्मी स्थिराणि प्रेमाणि ।  
 कस्य वा न भवति स्खलन भण क खलु न खण्डितो विधिना ॥
- १२८ उन्नय नीया नीया वि उन्नया हुति तक्खण च्चेव ।  
 विहिपरिणामियकज्ज हरिहरबम्हा न याणति ॥ ३ ॥  
 उन्नता नीचा नीचा अप्युन्नता भवन्ति तत्क्षणादेव ।  
 विधिपरिणामितकाय हरिहरब्रह्माणो न जानन्ति ॥
- १२९ विहिणा ज चिय लिहिय नलाडवट्टीइ तेण दइवेण ।  
 पच्छा सो वि पसन्नो अन्नह करिउ न हु समत्थो ॥ ४ ॥  
 विधिना यदेव लिखित ललाटपट्टे तेन देवेन ।  
 पश्चात्सोऽपि प्रसन्नोऽन्यथा कतु न खलु समर्थ ॥
- १३० किं करइ किर वराओ साहसववसायमाणगरुओ वि ।  
 पुरिसो भमापयावो विहिणा विवरीयरूवेण ॥ ५ ॥  
 किं करोति किल वराक साहसव्यवसायमानगुरुरपि ।  
 पुरुषो भग्नप्रतापो विधिना विपरोतरूपेण ॥
- १३१ वेणि वि महणारभे पेच्छह ज पुव्वकम्मपरिणामो ।  
 उप्पज्जइ हरह विस कण्हस्म घणत्थणा लच्छी ॥ ६ ॥  
 द्व अपि मयनारम्भे प्रेक्षच्च यत् पूर्वकमपरिणाम ।  
 उत्पद्यते हरस्य विष कृष्णस्य घनस्तनी लक्ष्मी ॥

## १२—विहि-वज्जा (विधि-पद्धति)

१२६ विधि के द्वारा चन्द्रमा भी खंडित होता है और सूर्य का भी अस्तमन होता है। हाय, भाग्य की परिणति से काल किसे नहीं खा जाता ॥ १ ॥

१२७. \*यहाँ कौन सदा सुखी है और लक्ष्मी भी किसे सदैव प्रेम प्रदान करती है? किसका स्खलन नहीं होता है? विधि ने किने नहीं खंडित किया? ॥ २ ॥

१२८ विधिवश परिणन होने वाले कार्यों को ब्रह्मा, विष्णु और शिव भी नहीं जानते। उन्नत भी नीच और नीच भी क्षण भर में उन्नत हो जाते हैं ॥ ३ ॥

१२९ भाग्य से विधि ने जो भी ललाट पर लिख दिया, उसे पश्चात् प्रमत्त होने पर वह भी अन्यथा करने में समर्थ नहीं है ॥ ४ ॥

१३०. साहम से भारी उद्योग करने वाला बेचारा पुरुष भी क्या करता है? उसके प्रनाप को विपरीत-रूप-धारी विधि भग्न कर देता है ॥ ५ ॥

१३१. पूर्ववृत्तजर्म का जो परिणाम होता है उसे देखिये—शिव और विष्णु, दोनों सागर-मन्यन में आरम्भ से ही उपस्थित थे। शिव को विप मित्र और विष्णु को पीन पयोधरा लक्ष्मी<sup>१</sup> ॥ ६ ॥

\* विशेष विवरण परिशिष्ट 'स' में द्रष्टव्य।

१ मैन वज्रालम्ब की गाथाओं के भावों को लेकर कनिषथ सबंधे लिखे हैं। पाठका के मनोरञ्जन के लिये अनुवाद के साथ उन्हें भी दे रहा हूँ—

दोनों ने सागर मन्यन में धम एक ही साथ समान लगाया।

दिये विष्णु पुरावृत्त कर्म का क्या फल दोनों व सामन आया।

हाय लगी हरि के बधला तिमकी छवि देल मयक रजाया।

पीने को भोले महेश ने अन्त में हाथ दुरस्त हठाहर पाया ॥

१३२ विहिविहिय चिय लब्धइ अमय देवाण महुमहे लच्छी ।  
 रयणायरम्मि महिए हरस्स भाए विस जाय ॥ ७ ॥  
 विधिविहितमेव लभ्यतेऽमृत देवाना मधुमथने लक्ष्मी ।  
 रत्नाकर मथिते हरस्य भागे विष जातम् ॥

१३ दीणवज्जा [दीनपद्धति]

- १३३ परपत्थणापवन्त मा जणणि जणेमु एरिस्स पुत्त ।  
 उयरे वि मा धरिज्जमु पत्थणभगो कओ जेण ॥ १ ॥  
 परप्रार्थनाप्रपन्न मा जननि जनयेदृश पुनम् ।  
 उदरेऽपि मा धारय प्राथनामङ्ग कृतो येन ॥
- १३४ ता रुव ताव गुणा लज्जा सच्च कुलक्कमो ताव ।  
 ताव च्चिय अहिमाणो देहि त्ति न भण्णए जाव ॥ २ ॥  
 तावद्रूप तावद्गुणा लज्जा सत्य कुलक्रमस्तावत् ।  
 तावदेवाभिमानो देहीति न भण्यते यावत् ॥
- १३५ तिणतूला वि हु लहुय दीण दइवेण निम्मिय भुवणे ।  
 वाएण किं न नीय अप्पाण पत्थणभएण ॥ ३ ॥  
 तूणतूलादपि खलु लघुर्दीनो दैवेन निर्मितो भुवने ।  
 वातेन किं न नीत आत्मान प्रार्थनभयेन ॥
- १३६ थरथरथरेइ हियय जीहा घोलेइ कठमज्झम्मि ।  
 नासइ मुह्लावण्ण देहि त्ति पर भणतस्स ॥ ४ ॥  
 कम्पते हृदय जिह्वा घूणते कण्ठमध्ये ।  
 नश्यति मुखावस्थ देहीति पर भणत ॥
- १३७ किसिणिज्जति लयता उयहिजल जलहरा पयत्तेण ।  
 धवलीहुति हु देत्ता देनलयततर पेच्छ ॥ ५ ॥  
 कृष्णोभवन्ति गृह्णन्त उदधिजलं जलधरा प्रयत्नेन ।  
 धवलीभवन्ति खड्ग ददतो ददद्गृह्णन्ततर प्रेक्षस्व ॥

१३२. रत्नाकर का मन्थन होने पर देवी को अमृत मिला, विष्णु को लक्ष्मी मिली और शिव के भाग में विष आया । जो विधि-विहित होता है, वही मिलता है ॥ ७ ॥

### १३—दीण-वज्रा (दीन-पद्धति)

१३३. हे जननि ! ऐसे पुत्र को जन्म मन देना जो दूसरे से याचना करने में प्रवृत्त हो । जिसने याचना करने पर याचक को निराश कर दिया है, उसे तो गर्म में भी न धारण करना ॥ १ ॥

१३४. तभी तक गुण है और तभी तक लज्जा, तभी तक सत्य एवं कुल-कर्म है और तभी तक अभिमान, जब तक 'दे दो' यह न कहिये ॥ २ ॥

१३५. देव ने जगत् में दरिद्र को तृण और तूल (रूई) से भी लघु (हल्का) बनाया है । तो फिर उसे हवा क्यों न उड़ा ले गई ? इस भय से कि कहीं मुझ से भी न कुछ मांग ले' ॥ ३ ॥

१३६—केवल 'दे दो' यह कहने के लिये उद्यत होते ही हृदय धरा जाता है, कंठगत जिह्वा काँपने लगती है और मुख का लावण्य नष्ट हो जाता है ॥ ४ ॥

१३७. जत्र भेष प्रयत्न पूर्वक समुद्र से जल लेने लगते हैं तब श्यामल हो जाते हैं । जत्र देने लगते हैं (वरसने लगते हैं) तब उज्ज्वल हो जाते हैं । देने वाले और लेने वाले का अन्तर देख लो ॥ ५ ॥

- १ लघु है तृण मूल में जितना यह जानने है सब लोग मले ।  
लघु बाग का फूल है, तूल भी है, लघु धूल भी है पड़ी पाँव-तले ।  
मक्खे लघु भिन्नु दरिद्र हो है, लघुता जिसे झाड़ से देख जले ।  
उड़ा ले गई क्यों न हवा उसको, भय था कि कहीं कुछ मांग न ले ॥

## १४—दारिद्र्यज्जा [दारिद्र्यपद्धति]

- १३८ दारिद्र्य तुज्झ गुणा गोविज्जता वि धीरपुरिसेहि ।  
पाहुणएसु छणेसु य वसणेसु य पायडा हुति ॥ १ ॥  
दारिद्र्यक तव गुणा गोप्यमाना अपि धीरपुरुषै ।  
प्राघूर्णकेषु क्षणेषु च व्यसनेषु च प्रकटा भवन्ति ॥
- १३९ दारिद्र्य तुज्झ नमो जस्स पसाएण एरिसी रिद्धी ।  
पेच्छामि सयललोए ते मह लोया न पेच्छति ॥ २ ॥  
दारिद्र्यक तुभ्य नमो यस्य प्रसादेनेदृश्यद्धि ।  
प्रेक्षे सकललोकास्ते मा लोका न प्रेक्षन्ते ॥
- १४० जे जे गुणिणो जे जे वि माणिणो जे वियड्ढसमाणा ।  
दालिद्दे रे वियवखण ताण तुम साणुराओ सि ॥ ३ ॥  
ये ये गुणिनो ये येऽपि मानिनो ये विदग्धसमाना ।  
दारिद्र्य रे विचक्षण तेषा त्व सानुरागमसि ॥
- १४१ दीसति जोयसिद्धा अजणसिद्धा वि के वि दीसति ।  
दारिद्र्यजोयसिद्ध म ते लोया न पेच्छति ॥ ४ ॥  
दश्यन्ते योगसिद्धा अज्जनसिद्धा अपि केचन दश्यन्ते ।  
दारिद्र्ययोगसिद्ध मा ते लोका न प्रेक्षन्ते ॥
- १४२ जे भग्गा विहवसमीरणेण वक ठवति पयमग्ग ।  
ते नूण दालिद्दोसहेण जइ पजलिज्जति ॥ ५ ॥  
ये भग्गा विभवसमीरणेण वक्क स्थापयन्ति पदमार्गम् ।  
ते नून दारिद्र्योपधेन यदि प्राञ्जलीक्रियन्ते ॥
- १४३ किं वा कुलेण कीरइ किं वा विणएण किं व रूपेण ।  
धनरहियाण सुदरि नराण को आयर कुणइ ॥ ६ ॥  
किं वा कुलन क्रियते किं वा विनयेन किं वा रूपेण ।  
धनरहिताना मुन्दरि नराणा क आदर करोति ॥

### १४—दारिद्र्यज्जा (दारिद्र्य-पद्धति)

१३८ दारिद्र्य ! घोर पुरुषो द्वारा छिपाये जाने पर भी तुम्हारे गुण पाहुनो, उत्सवो और व्यसनो (सकटो) मे प्रकट हो जाते हैं ॥ १ ॥

१३९ दारिद्र्य ! तुम्हे नमस्कार है, तुम्हारी कृपा से मुझे ऐसी सिद्धि प्राप्त हो गई है कि मैं सब लोगो को देखता हूँ परन्तु मुझे वे लोग नहीं देखते ॥ २ ॥

१४० दारिद्र्य ! तुम बड़े विचक्षण (विद्वान्) हो, (क्योकि) जितने गुणवान्, स्वाभिमानी और विदग्धो मे सम्मानित लोग हैं, उन पर अनुरक्त रहते हो ॥ ३ ॥

१४१ भोग-सिद्ध देखे जाते हैं और कुछ अजनसिद्ध भी दिखाई देते हैं । मैं दारिद्र्य-योग-सिद्ध हूँ, मुझे अन्य लोग नहीं देख पाते हैं ॥ ४ ॥

१४२ जो वैभव-रूपी वातव्याधि से भग्न होकर टेढ़ा पैर रख कर चलते हैं वे निश्चय ही दारिद्र्य-रूपी महौषध से सीधे हो जाते हैं ॥ ५ ॥

१४३ सुन्दरि ! कुल, विनय और रूप से क्या होता है ? जो मनुष्य धन-हीन हो जाता है उसका वीन आदर करता है ? ॥ ६ ॥

- १४४ जाई रूव विज्जा तिग्नि वि गच्छतु कदरे विवरे ।  
अत्यो च्चिय परिवड्ढउ जेण गुणा पायडा हुति ॥ ७ ॥  
जातो रूप विद्या त्रीण्यपि गच्छन्तु कन्दरे विवरे ।  
अर्थ एव परिवर्धता येन गुणा प्रकटा भवन्ति ॥
- १४५ धम्मत्यकामरहिया जे दियहा निद्वणाण वोलीणा ।  
जइ ताइ गणेइ विही गणेउ न हु एरिस जुत्त ॥ ८ ॥  
धर्मार्यकामरहिता ये दिवसा निर्धनानामतिक्रान्ता ।  
मदि तान् गणयति विधिर्गणयतु न सत्त्वोदृशं युष्मत् ॥
- १४६ सकुयइ सकुयते वियसइ वियसतयम्भि सूरम्मि ।  
सिमिरे रोरकुडुव पकयलील समुव्वहइ ॥ ९ ॥  
सकुचति सकुचति विकसति विकसति सूर्ये ।  
शिशिरे दरिद्रकुटुम्ब पङ्कजलोला समुद्रहति ॥

### १५ पहुवज्जा [प्रभुपदति]

- १४७ छज्जइ पहुस्म ललिय पियाइ माणो खमा समत्यस्स ।  
जाणतस्स य भणिय मोण च अयाणमाणस्स ॥ १ ॥  
राजत प्रभोललित प्रियाया मान क्षमा समर्थस्य ।  
जाननञ्च भणित मौन चाजानन ॥
- १४८ सच्छद वोलिज्जइ किज्जइ ज नियमणस्म पडिहाइ ।  
अजसम्स न वीहिज्जइ पहुत्तण तेण रमणिज्ज ॥ २ ॥  
स्वच्छन्द कथ्यते क्रियते यन्निजमनस प्रतिभाति ।  
अयगामो न भीयते प्रभुत्व तेन रमणीयम् ॥
- १४९ जम्मदिणे थणणिवडणभएण दिज्जति धाइउच्छग्गे ।  
पहुणो ज नीयरया मन्ने त खीरमाहप्प ॥ ३ ॥  
जन्मदिने स्तननिपननभयेन दायन्ते धान्मुत्तम्हे ।  
प्रभवो यन्नीचरता मन्ये तन्नीरमाहाम्यम् ॥

१४४ जाति, रूप और विद्या—ये तीनों कन्दरा और बिलों में चले जायें । जिससे गुण-वृद्धि होनी है, वह धन ही बड़े ॥ ७ ॥

१४५ निर्धनो के जो दिन घमं, अर्थ और काम के अभाव में बोट चुके हैं, यदि विधाता उन्हें भी आयु के भीतर गिनता है, ता गिन ले परन्तु यह उचित नहीं है ॥ ८ ॥

१४६ तिशिर मे दरिद्र-कुटुम्ब पङ्क्तों की लोला धारण कर लेता है । वह सूर्य के सकुचित होने पर सकुचित और उसके विकसित होने पर विकसित होता है ॥ ९ ॥

### १५—पहु-वज्जा (प्रभुपद्धति)

१४७ प्रभु की क्रोडा, प्रिया का मान, समर्थ की क्षमा, ज्ञानी का भाषण और मूर्ख का मौन शोभा देता है ॥ १ ॥

१४८ स्वच्छन्दता से वार्ने की जाती हैं, जो अपने मन को रुचता है, वह कार्य किया जाता है और अपयश से भी नहीं डरा जाता—इसी से प्रभुत्व रमणीय है ॥ २ ॥

१४९ प्रभुजन (राजा) जो नीचों (अकुलीन लोगों) में अनुरक्त होते हैं—में समझता हूँ, यह दूध का प्रभाव है । (क्योंकि) वे जन्म के दिन ही माता के स्तनों के पतन-भय से घात्री की गोद में दे दिये जाते हैं ॥ ३ ॥



१५० हिट्टट्ठे जडणिवह तह य सुपत्ताइ उत्तमगेसु ।

जह होइ तरू तह जइ पहुणो ता किं न पज्जत्त ॥ ४ ॥

अधोऽधो मूलनिवह (जडनिवह) तथा च सुपत्राणि (सुपात्राणि) उत्तमाङ्गेषु ।

यथा भवति तरुस्तथा यदि प्रभवस्तत् किं न पर्याप्तम् ॥

१६. सेवयवज्जा [सेवकपद्धति]

१५१ ज सेवयाण दुक्ख चारित्तविवज्जियाण नरणाह ।

त होउ तुह रिऊण अहवा ताण पि मा होउ ॥ १ ॥

यत्सेवकाना दुःख चारित्र्यविवर्जिताना नरनाथ ।

तद्भवतु तव रिपूणामथवा तेषामपि मा भवतु ॥

१५२ भूमीसयण जरचीरबंधण बभचेरय भिक्खा ।

मुणिचरिय दुग्गयसेवयाण धम्मो पर नत्थि ॥ २ ॥

भूमीशयन जरच्चीरबन्धन ब्रह्मचर्यं भिक्षा ।

मुनिचरित दुर्गन्तसेवकाना धर्मं पर नास्ति ॥

१५३ जइ नाम कह वि सोक्ख होइ तुलग्गेण सेवयजणस्स ।

त खवणयसंगारोहण व विग्गोवयसएहि ॥ ३ ॥

यदि नाम कथमपि सौख्य भवति काकतालीयेन सेवकजनस्य ।

तत्तत्पणकस्वर्गारोहणमिव व्याकुलभावशतैः ॥

१५४ \*ओलग्गिओ सि धम्मम्मि होज्ज एहि नरिद वच्चामो ।

आलिहियकुजरस्स व तुह पहु दाण चिय न दिट्ठ ॥ ४ ॥

अवलग्नोऽसि धर्मे भूया इदानी नरेन्द्र व्रजाम ।

आलिखितकुञ्जरस्येव तव प्रभो दानमेव न दृष्टम् ॥

१५५ आसन्नफलो फणसो व्व नाह सयत्तस्स सेवयजणस्स ।

अम्ह पुण पत्थिव पत्थिओ वि तालो तुम जाओ ॥ ५ ॥

आसन्नफलो पनस इव नाथ सवलस्य सेवकजनस्य ।

अस्माकं पुन पार्थिव प्रार्थितोऽपि तालस्त्वं जात ॥

१५० जिस प्रकार वृक्ष जड़ों को नीचे और पत्तों को मस्तक पर धारण करते हैं, उसी प्रकार यदि प्रभु-गण भी जड़ों (मूर्तियों) का अनादर और सुपानों (विद्वानों) का सम्मान करते, यहो क्या पर्याप्त (समुचित) नहीं था ? ॥ ४ ॥

### १६—सेवक-वज्रा (सेवक-पद्धति)

१५१ हे नरनाथ ! चारित्र्य-शून्य सेवकों को जो दुःख झेलना पड़ता है, वह तुम्हारे शत्रुओं को मिले, अथवा उन्हें भी न हो ॥ १ ॥

१५२ दरिद्र सेवक भूमि पर शयन करता है, जीर्ण चीर बाँधता है, ब्रह्मचर्य का पालन करता है और भिक्षा माँगता है। यद्यपि इस प्रकार वह भुक्तियों का आचरण करता है परन्तु (भुक्तियों के समान) उसे धर्म नहीं प्राप्त होता है ॥ २ ॥

१५३ यदि मयोग से सेवक-जनो को किसी प्रकार सुख भी मिलना है, तो वह क्षणिक (जैन साधु) के स्वर्गारोहण के समान अनेक कष्ट झेलने पर ॥ ३ ॥

१५४ \*हे राजन् ! तुम धर्म में लगे हो, रहने दो मैं इस समय जाता हूँ। प्रभो ! चित्र-लिखित हाथों के समान तुम्हारा दान (अथवा मद जल) ही नहीं देखा गया है ॥ ४ ॥

१५५ हे नरनाथ ! सभी सेवकों के लिये तो तुम उस कटहल के समान हो, जिसका फल बढ़त ही निकट रहता है, परन्तु मैंने जब माचना की तो ताल के वृक्ष घन गये ॥ ५ ॥

\* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य ।

१५६. फणसेण सम महिमडलम्भि का तरुवराण समसीसी ।  
करिकुम्भसच्छह भग्गणाण जो देइ फलणिवह ॥ ६ ॥  
पनसेन सम महीमण्डले का तरुवराणा समशीषिका ।  
करिकुम्भसदृक्ष मार्गणाना यो ददाति फलनिवहम् ॥
- १५७ वरिसिहिसि तुम जलहर भरिहिसि भुवणतराइ नीसेस ।  
तण्हासुसियसरीरे मुयम्भि वप्पोहयकुडुबे ॥ ७ ॥  
वरिप्पसि त्व जलघर भरिप्पसि भुवनान्तराणि नि शेपम् ।  
तृष्णाशोपितशरीरे मृते चातककुटुम्बे ॥
- १५८ देहि त्ति कह नु भण्णइ सुपुरिसववहारवाहिर वयण ।  
सेविज्जइ विणएण एस च्चिय पत्थणा लोए ॥ ८ ॥  
देहीति कय नु भण्यते सुपुरुषव्यवहारबहिर्भूत वचनम् ।  
सेव्यते विनयेनैव प्रार्थना लोके ॥
१५९. \*भुजति कसण्डसणा अब्भतरसठिया गइदस्स ।  
जे उण विहुरसहाया ते धवला बाहिर च्चेव ॥ ९ ॥  
भुज्जते कृष्णदशना अभ्यन्तरसंस्थिता गजेन्द्रस्थ ।  
ये पुनर्विधुरसहायास्ते धवला बहिरेव ॥
- १६० तवाउ तिन्नि सुपओहराउ चत्तारि पक्कलबइल्ला ।  
निप्पन्ना रालयमजरीउ सेवा सुह कुणउ ॥ १० ॥  
गावस्तिस्स सुषयोधराश्चत्वार समर्थवृषभा ।  
निप्पन्ना रालवमङ्गयं सेवा सुखं धरोतु ॥
१६१. सव्वो छुहिओ सोहइ मढदेउलमदिर च चच्चरयं ।  
नरणाह मह कुडुव छुहछुहिय दुव्वलं होइ ॥ ११ ॥  
सर्वो धवलितः शोभते मल्लदेवकुलमन्दिरं च चत्वरम् ।  
नरनाथ मम कुटुम्बं सुधाधवलित (धुधाधुधित) दुर्वलं भवति ॥

१५६ भूमण्डल के वृक्षों में उस पनस (कटहल) के समान कौन है जो याचकों को करिकुम्भ के समान बड़े-बड़े फल प्रदान करता है ॥ ६ ॥

१५७. जलघर ! तुम वरगोत्र और सम्पूर्ण भुवनान्तर (ससार) को जल से परिपूर्ण भी कर दोगे परन्तु कब ? जब तृष्णा (तृषा) से शुष्क-शरीर वाले चानकों के परिवार मर जायेंगे ॥ ७ ॥

१५८. 'दे दो' यह बात किमी से क्यों कही जाय ! यह तो सत्पुरुषों के व्यवहार से बाहर है । मैं विनय-पूर्वक सेवा करता हूँ—ससार में यही मेरी प्रार्थना है (अर्थात् सेवा करना ही मेरी याचना है, मुँह से कुछ माँगना व्यर्थ है )

१५९. \*गजेन्द्र के कृष्ण दन्त जो खाने का कार्य करते हैं वे भीतर रहते हैं । जो विपत्तियों में सहायक बनते हैं वे शुभदन्त बाहर ही पड़े रहते हैं ॥ ९ ॥

१६०. यदि पौनस्तनो वाली तीन गायें, चार समय बेल और रालक धान्य की मजरियाँ निष्पन्न हैं तो सेवा (भूय-वृत्ति) सुखी हो (अर्थात् सेवा से प्रयोजन नहीं है, उसे दूर से ही आशीर्वाद है) ॥ १० ॥

१६१. ह नरनाथ ! मठ, देवमन्दिर और चत्वर—ये सभी सुधालित (छुहिय) होने पर शोभित होने हैं, परन्तु मेरा कुटुम्ब सुधा (सुधा = छुहा) से पीडित (छुहिय = शुभित) होने पर दुर्बल हो रहा है ॥ ११ ॥

\* विनय विवरण परिशिष्ट 'च' म द्रष्टव्य ।

## १७. सुहृद्वज्जा [सुभटपद्धतिः]

१६२. \*ज दिज्जइ पहरपरव्वसेहि मुच्छागएहि पयमेवक ।  
तह नेहस्स पयस्स व न याणिमो को समव्वभहिओ ॥ १ ॥  
यदीयते प्रहारपरवशैर्मूर्छागतैः पदमेकम् ।  
तथा स्नेहस्य पदस्य वा न जानीमः किमभ्यधिकम् ॥
१६३. भग्गे वि वले वलिए वि साहणे सामिए निरुच्छाहे ।  
नियभुयविवक्कमसारा थक्कति कुलुगया सुहडा ॥ २ ॥  
भग्नेऽपि वले वलितेऽपि साधने स्वामिनि निरत्माहे ।  
निजभुजविक्रमसारास्तिष्ठन्ति कुलोद्गताः सुभटाः ॥
१६४. वियलइ धण न माण शिज्जइ अग न शिज्जइ पयावो ।  
रुव चलइ न फुरण सिविणे वि मणसिसत्थाण ॥ ३ ॥  
विगलति धनं न मानः क्षीयतेऽङ्गं न क्षीयते प्रतापः ।  
रूपं चलति न स्फुरण स्वप्नेऽपि मनस्विनार्यानाम् ॥
१६५. अवमाणिओ व्व समाणिओ व्व नवसेवओ व्व कुविओ व्व ।  
पहरइ कयावराहो व्व निव्वभओ को वि सगामे ॥ ४ ॥  
अपमानित इव समानित इव नवसेवक इव कुपित इव ।  
प्रहरति कृतापराध इव निर्भयः कोऽपि संग्रामे ॥
१६६. उयरे असिकप्परिए अतोहे निवडियम्मि चलणेनु ।  
भमइ भडो जसलुद्धो समकलो मत्तहत्थि व्व ॥ ५ ॥  
उदरेऽसिदारितेऽश्रौधे निपतिते चरणयोः ।  
भ्रमति भटो यशोलुब्धः सशृङ्खलो मत्तहस्तीव ॥
१६७. दाहिणकरेण खग्ग वामेण सिरं घरेइ निवडत्त ।  
अतावेडियचलणो जाइ भडो एक्कमेक्कम्म ॥ ६ ॥  
दक्षिणकरेण खङ्गं वामेन शिरो धारयति निपतन् ।  
अन्त्रावेष्टिनचरणो याति भट एनेकस्य ॥

### १७—सुहृद-वज्जा (सुभट-पद्धति)

१६२ \*जब रणभूमि में विपक्ष-प्रहारों से परवश और मूर्च्छित-प्राय हो जाने पर भी सुभटगण एक ङग आगे हो रहते हैं, तब हम यह नहीं समझ पाते कि प्रेम और दूष में कौन बड़ा है ॥ १ ॥

१६३. जब बल टूट जाता है, सेना पराङ्मुख हो जाती है और स्वामी भी उत्साह खो बैठता है उस समय भी अपनी भुजाओं का शौर्य और बल ही जिनका धन है, वे कुलीन सुभट (युद्ध में) स्थिर होकर खड़े रहने हैं ॥ २ ॥

१६४. मनस्वियों के समूहों का धन नष्ट होता है, मान नहीं, अग क्षीण होते हैं, प्रनाप नहीं, रूप चला जाता है, परन्तु उत्साह (या स्फूर्ति) स्वप्न में भी नहीं जाता ॥ ३ ॥

१६५ कोई निर्भय वीर सग्राम में इस प्रकार प्रहार कर रहा है मानो अपमानित हो गया है, मानो सम्मानित हुआ है, मानो नया सेवक है, मानो कुपित हो गया है और मानो उस से कोई अपराध हो गया है ॥ ४ ॥

( उपर्युक्त सभी अवस्थाओं में उत्साहातिरेक सम्भव है )

१६६ किसी वीर का उदर कृपाण के प्रहार से विदीर्ण हो गया और आर्तें निखल कर पैरों पर गिर पड़ी तथापि वह यश-कामी (युद्ध में) ऐसे विचर रहा है जैसे शृङ्खला-सहित मत्तगजराज ॥ ५ ॥

१६७ जिसके धरण आँतों से आवेष्टित हो चुके हैं, वह वीर दाहिने हाथ में कृपाण और बायें हाथ में कट कर गिरते हुए मस्तक को लेकर एक-एक पर आक्रमण करता जा रहा है ॥ ६ ॥

\* विधेय विवरण परिशिष्ट 'ख' में दृश्य ।

- १६८ अज्ज वि विहुरो सुपहू अज्ज वि पहरति सुहडसघाया ।  
अज्ज वि मज्झत्या जयसिरी वि ता जीव मा वच्च ॥ ७ ॥  
अद्यापि विघुर सुप्रभुरद्यापि प्रहरन्ति सुभटसघाता ।  
अद्यापि मध्यस्या जयश्रीरपि तस्माज्जीव मा व्रज ॥
- १६९ नेच्छइ सग्गग्गमण कुवइ भडो सुरवहूहि निज्जन्तो ।  
गस्यपडिवक्खपेल्लियसामियकज्जे अणिम्माए ॥ ८ ॥  
नेच्छति स्वर्गगमनं कुप्यति भट सुरवधूभिर्नीयमान ।  
गुरुकप्रतिपक्षक्षिप्तस्वामिकार्यैर्जनिमिते ॥
- १७० एक्को वि को वि नियगोत्तभूषणो धरउ जणणिउयरम्मि ।  
जो रिउघडाण समुहो परमुहो परकलत्ताण ॥ ९ ॥  
एकोऽपि कोऽपि निजगोत्रभूषणो ध्रियता जनन्युदरे ।  
यो रिपुघटानां समुख पराङ्मुख परकलत्रेभ्यः ॥
- १७१ वियड सो परिसक्कउ सामिपसाय च सो समुव्वहउ ।  
दुव्वारवेरिवारणिवारणा जस्स भुयदडा ॥ १० ॥  
विकटं स परिक्रामतु स्वामिप्रमादं च स समुद्रहतु ।  
दुर्वारवेरिवारणनिवारणौ यस्य भुजदण्डौ ॥
- १७२ एक्क दतम्मि पय वीय कुभम्मि तइयमलहतो ।  
वल्लिवधवल्लिसिय मट्टमहस्स आलवए सुहडो ॥ ११ ॥  
एवं दन्ते पद द्वितीयं कुम्भे तृतीयमलभमान ।  
वल्लिवन्धवल्लिसितं मधुमयनस्यालम्बते सुभट ॥
- १७३ चलचमरक्खणचालिरविज्जिज्जतो भडो गइदेण ।  
ओ सुवइ सामिक्खयक्खणिभरो दंतपल्लवे ॥ १२ ॥  
चलचामरक्खणचञ्चलवोज्यमानो भटो गजेन्द्रेण ।  
अहो स्वपिति स्मामिहृन्कार्यनिभरो दन्तपत्न्यद्वे ॥

१६८. (रणागण में मृतप्राय पड़ा वीर कहता है) अब भी प्रभु (राजा) संकट-ग्रस्त हैं, अब भी सुभट-समूह प्रहार कर रहे हैं, अब भी विजयलक्ष्मी मध्यस्थ है, तो हे मेरे जीव ! तुम भी अभी प्रस्थान मत करो ॥ ७ ॥

१६९. प्रबल प्रतिपक्षियों के प्रतिरोध के कारण स्वामी का कार्य अपूर्ण रह जाने पर वीर स्वर्ग नहीं जाना चाहता है । जब सुर-बालाएँ उसे ले जाने लगती हैं, तो क्रुद्ध हो जाता है ॥ ८ ॥

१७०. जननि ! अपने उदर में वश को विभूषित करने वाले किसी ऐसे वीर को धारण करना—जो शत्रुओं की गजघटाओं के सम्मुख हो और परकलत्रों (पर स्त्रियों) के विमुख ॥ ९ ॥

१७१. जिसके भुजदण्ड वैरियों के दुर्निवार्य बारणों (हाथियों) का निवारण करने वाले हैं, उसे ही विकट गति से चलना चाहिये और उसे ही स्वामी की कृपा प्राप्त होनी चाहिये ॥ १० ॥

१७२. वीर ने एक पद तो गजराज के दाँत पर रख दिया और दूसरा कुंभस्थल पर । तीसरे पद के लिए स्थान न पाने पर उसकी बही शोभा हुई जो बलिको बाँधते समय विष्णु की हुई थी ॥ ११ ॥

१७३. अहा ! वह वीर स्वामी का कार्य समाप्त कर गजदन्त के पर्यंक पर निश्चिन्त सो गया है । गजराज अपने चंचल-कर्णों से उसके ऊपर चँवर ढुल्ला रहा है ॥ १२ ॥



१७४. गाढासणस्स कस्स वि उयरे निहयस्स मंडलग्गेण ।  
अद्ध महीइ पडियं तुरगपिड्ढिय अद्ध ॥ १३ ॥  
गाढासनस्य कस्याप्युदरे निहतस्य मण्डलाग्रेण ।  
अर्धं मह्या पतितं तुरगपृष्ठस्थितमर्धम् ॥
१७५. सवभावे पहुहियए जीए सग्गे जसे जए सयले ।  
ठविए रणम्मि सीसे कयकज्जो नच्चिओ सुहुडो ॥ १४ ॥  
सद्भावे प्रभुहृदये जीवे स्वर्गे यशसि जगति सकले ।  
स्थापिते रणे शिरसि कृतकार्यो नतितं सुभटं ॥
१७६. छिन्ने रणम्मि बहुपहुपसायमालापडिच्छिरे सीसे ।  
उत्तिण्णगख्यभार व नच्चिय नरवरकवध ॥ १५ ॥  
छिन्ने रणे बहुप्रभुप्रसादमालाग्राहिणि शीर्षे ।  
उत्तीर्णगुरुकभारमिव नतितं नरवरकबन्धम् ॥
१७७. पक्खाणिलेण पहुणो विरमतु मुच्छ त्ति पासपडिएण ।  
गिद्ध तकड्डण दूसह पि साहिज्जइ भडेण ॥ १६ ॥  
पक्षानिलेन प्रभोविरमतु मूर्छेति पार्श्वपतितेन ।  
गृध्रान्त्रकर्पणं दुःसहमपि सह्यने भटेन ॥
१७८. वच्छत्यल च सुहुडस्स रुहिरकुकुमविलित्तयगस्स ।  
वरकामिणि व्व चुवइ उरे निसन्ना सिवा वयण ॥ १७ ॥  
वक्षस्यल च सुभटस्य रुधिरकुकुमविलिताङ्गस्य ।  
वरकामिनोव चुम्बत्युरसि निपण्णा शिवा वदनम् ॥

१८. धवलवज्रा [धवलपद्धति]

१७९. सचुण्णियथोरजुयप्पहारसजणिग्रगख्यकिणसोहो ।  
धवलस्म महामरकड्डणाइ कथो च्चिय कहेइ ॥ १ ॥  
सचूर्णितपुष्पयुगप्रहारमजनिनगुरवकिणसोमः ।  
धवलस्य महामरकर्पणानि स्वन्ध एव क्षययति ॥

१७४. कोई वीर (अश्व पर) इतनी दृढ़ता से बैठा था कि पेट पर कृपाण का प्रहार होने से आघात शरीर कट कर पृथ्वी पर गिर गया और आघात अश्व की पीठ पर ही रह गया ॥ १३ ॥

१७५. वीर ने सद्भावना (सन्तोष) को प्रभु (स्वामी) के हृदय में, जीव को स्वर्ग में, यश को सम्पूर्ण जगत् में और भस्तक को रणभूमि में रख दिया और वृत्तार्थ होकर नाचने लगा ॥ १४ ॥

१७६. जब प्रभु (स्वामी या राजा) की बहुत सी कृपाओं के फल-स्वरूप प्राप्त पुष्पमालाओं को धारण करने वाला भस्तक रण में कट गया, तो श्रेष्ठ वीर का कवन्ध नाचने लगा, जैसे भारी बोझ उतर गया हो ॥ १५ ॥

१७७. रणक्षेत्र में घायल पड़े हुए वीर की आँतें गृध्र खींच रहे हैं, परन्तु वह उस पीड़ा को असह्य होने पर भी इसलिए सह रहा है कि पास में ही पड़े हुये स्वामी की मूर्च्छा (गृध्रों के) पक्षों की हवा से दूट जाय ॥ १६ ॥

१७८. जिसके अंग रुधिर-कुटुम से लित हो चुके हैं, उस (घायल) वीर की छाती पर बैठी शिवा (शृगाली) श्रेष्ठ कामिनी के समान मुख और छाती का चुम्बन कर रही है ॥ १७ ॥

### १८—धवल-वज्र (धवल-पद्धति)

१७९. पृथुल जूए के प्रहार से चूर-चूर हो कर, जिसमें घट्टे पड़ गये हैं, वह वैल (धवल) का बन्धा ही कह देता है कि वह भारी बोझ ढोता है ॥ १ ॥

- १८० अह मरइ धुरालम्भो सचुण्णियसधिवधणो धवलो ।  
 न हु पामरस्स विहुरे आरापरिघट्टण सहइ ॥ २ ॥  
 अथ म्रियते धुरालम्भ सचूर्णितसन्धिवन्धनो धवल ।  
 न खलु पामरस्य विधुर आरापरिघट्टन सहते ॥
- १८१ अह तोडइ नियकध अह कड्ढइ गुरुभरम्मि दुव्वोज्झ ।  
 धवलो धुरम्मि जुत्तो न सहइ उच्चारिय हक्क ॥ ३ ॥  
 अथ त्रोटयति निजस्कन्धमथ कर्पति गुरुभरे दुर्वाह्यम् ।  
 धवलो धुरि युक्तो न सहत उच्चारित प्रेरणम् ॥
- १८२ चिक्कणचिक्खल्लचहुट्टचक्कथक्के भरम्मि जाणिहिसि ।  
 अविसेसन्नय गहवइ परमुहो ज सि धवलाण ॥ ४ ॥  
 चिक्कणकर्दममग्नचक्रस्थिते भरे शास्यसि ।  
 अविशेषज्ञ गृहपते पराङ्मुखो यदसि धवलेभ्य ॥
- \*१८३ अमुणियगुणो न जुप्पइ न मुणिज्जइ स य गुणो अजुत्तस्स ।  
 धक्के भरे विसूरइ अउव्ववग्ग गओ धवलो ॥ ५ ॥  
 अज्ञातगुणो न युज्यते न ज्ञायते स च गुणोऽयुक्तस्य ।  
 स्थिते भरे खिद्यतऽपूर्ववत्त्वा गतो धवल ॥
- १८४ सा च्चिय सयडे सो च्चिय हलम्मि सो च्चिय वहेइ पिट्ठीए ।  
 वहुगोधणो वि हलिआ नदइ एक्केण धवलेण ॥ ६ ॥  
 स एव शकटे ॥ एव हले स एव वहति पृष्ठे ।  
 बहुगोधनोऽपि हालिका नन्दत्येकेन धवलेन ॥
- १८५ कत्तो लब्धमति धुरघराइ धवलाइ भरममत्याइ ।  
 अइविहुरे गुरुभार कड्ढति य लोलमतताए ॥ ७ ॥  
 कुतो लभ्यन्ते धुरघरा धवला भरममर्या ।  
 अतिविधुरे गुरुभरं कर्पन्ति च शीलमात्रेण ॥

१८०. जिसके सन्धि-बन्धन चूर-चूर हो गये हैं, वह जुता हुआ उत्तम वैल मर भले हो जाय; परन्तु विषम परिस्थिति में यह नहीं सह सकता कि गँवार गाड़ीवान उसे पिराने (पैने) से खोदे ॥ २ ॥<sup>१</sup>

१८१. उत्तम वैल, भारी बोझ लदा होने पर या तो अपना कन्या तौड़ छालता है या उस दुर्वाह्य शकट को खींच ले जाता है; परन्तु प्रेरणा के लिये उच्चारित उत्तेजनात्मक शब्द नहीं सह पाता (टिक्-टिक् शब्द) ॥ ३ ॥

१८२. अरे अविशेषज्ञ गृहपति ! तुम उत्तम वैलों से विमुख हो गये हो; किन्तु जब चिकने कीचड़ में पहिया फँस जाने के कारण बोझ से लदी गाड़ी रुक जायगी, तब (उत्तम वैल का गुण) जानोगे ॥ ४ ॥

\*१८३. जिसका गुण अज्ञात है, वह (गाड़ी आदि में) जोता नहीं जाता और बिना जोते गुण भी नहीं जाना जाता है। जिसको पहली बार गत्पवरोध रज्जु से रोक दिया गया है, वह उत्तम वैल (किसी विषम परिस्थिति में) बोझ से लदी गाड़ी रुक जाने पर खिन्न होता है ॥ ५ ॥<sup>२</sup>

१८४. यद्यपि हालिक (किसान या हलवाह) के पास बहुत-सा गोधन है; तथापि वह एक ही उत्तम श्वेत बैल से आनन्दित रहना है, क्योंकि वही शकट में, वही हल में और वही पीठ पर भी भार बोता है ॥ ६ ॥

१८५. जो भार वहन करने में समर्थ हैं और विषम परिस्थिति में भारी बोझ को भी लोला-पूर्वक (आनन्द-पूर्वक) खींच ले जाते हैं, वे धुरी को धारण करने वाले उत्तम श्वेत वैल कहाँ मिलते हैं ? ॥ ७ ॥

१. संस्कृत शब्द-प्राशन, वैलों को चुमाने वाञ्छा दण्डा विशेष

२. अर्थ के लिए टिप्पणी देखिए ।

\* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य ।

## १९ विज्ञवज्रा [विन्ध्यपद्धति]

- १८६ दत्तच्छोह तडवियडमोडण सरसपल्लवुल्लिहण ।  
जइ विज्ञो च्चिय न सहइ ता करिणो कत्थ वच्चति ॥ १ ॥  
दन्तक्षोभं तटविकटमोटन सरसपल्लवोल्लेखनम् ।  
यदि विन्ध्य एव न सहते तत् करिणं कुत्र व्रजन्ति ॥
- १८७ सा रेवा ताइ पाणियाइ ते च्चेव करिणिसघाया ।  
सा सल्लइ सल्लइ गयवरस्स विज्ञ मुयतस्स ॥ २ ॥  
सा रेवा तानि पानोयानि ते चैव करिणोसघाता ।  
सा सल्लको शल्यायते गजवरस्य विन्ध्यं मुञ्चत ॥
- १८८ विज्ञेण विणा वि गया नरवइभवणेसु गौरविज्जति ।  
विज्ञो न होइ अगओ गएहि बहुएहि वि गएहि ॥ ३ ॥  
विन्ध्येन विनापि गजा नरपतिभवनेषु गौरविता भवन्ति ।  
विन्ध्यो न भवत्यगजो गजेवंहुभिरपि गतै ॥
- १८९ गोमहिसतुरगाण पसूण सव्वाण जुज्जए ळाण ।  
दड्ढगइलाण पुणो अह विज्ञो अह महाराओ ॥ ४ ॥  
गोमहिपतुरगाणा पसूना सर्वेषा युज्यते स्यान्म ।  
दग्धगजेन्द्राणा पुनरथ विन्ध्योऽथ महाराज ॥

## २०. गयवज्रा [गजपद्धति]

- १९० वियलियमएण गयजोव्वणेण हल्लतदत्तमुसलेण ।  
अज्ज वि वण सणाह जूहाहिव पइ जियत्तेण ॥ १ ॥  
विगलितमदेन गतयोवनेन चल्हन्तमुसलेन ।  
अद्यापि वन सनाथ यूयाधिप त्वया जीवता ॥
- १९१ अज्ज वि सभरइ गओ मज्जतो सरवरस्मि लीलाए ।  
ज करिणिकरग्गुम्मूलिएण पट्ठओ मुणालेण ॥ २ ॥  
अद्यापि सस्मरति गजो मज्जनं सरोवरे स्त्रीत्या ।  
यत् करिणोऽनराग्रोन्मूलिनेन प्रहनो मुणालेन ॥

### १९—विन्ध्य-वज्जा (विन्ध्य-पद्धति)

१८६. यदि विन्ध्याचल दाँतों की चोट, विषट तट प्रान्त का आमोटन (मर्दन) एवं सरस पल्लवों का भक्षण न सहे तो हाथी कहाँ जायें ? ॥ १ ॥

१८७. गजेन्द्र जब विन्ध्य को छोड़ने लगता है तो उसे वह रेवा नदी, उसका वह पानी, वे ही हाथियों के झुंड और वे ही सल्लकी के वृक्ष शल्य के समान सालते हैं (पीड़ा देते हैं) ॥ २ ॥

१८८. विन्ध्य के अभाव में भी गजों को नरपतियों के भवनों में गौरव प्राप्त हो जाता है और विन्ध्य बहुत से गजों के चले जाने पर भी अगज (गजरहित) नहीं हो जाता है ॥ ३ ॥

१८९. गो, महिष, तुरग और सभी पशुओं के रहने के लिये उचित स्थान है, परन्तु इन दग्ध-गजों को या तो विन्ध्याचल है या तो फिर कोई महाराज ॥ ४ ॥

### २०—गयवज्जा (गज-पद्धति)

१९०. हे यूथपति ! तुम्हारा मद गलित हो चुका है, युवावस्था बीत गई है और मुसल के समान (मोटे) दाँत हिलने लगे हैं, परन्तु तुम्हारे जीवित रहने से आज भी यह धन सनाथ है ॥ १ ॥

१९१. (स्वतन्त्र जीवन में कभी) सरोवर में नहाते समय करिणी (हयिनी) ने सूँढ़ से मृणाल उखाड़ कर जो मार दिया था, उसे आज भी (पराधीन दशा में) वह गजराज भूल नहीं सका है ॥ २ ॥

- १९२ मा सुमरसु चदणपल्लवाण करिणाह गेण्ह तिणकवल ।  
जा जह परिणमइ दसा त तह घीरा पडिच्छति ॥ ३ ॥  
मा स्मर चन्दनपल्लवाना करिनाथ गृहाण तृणकवलम् ।  
या यथा परिणमति दशा ता तथा घीरा प्रपद्यन्ते ॥
- १९३ मा झिज्जसु अणुदिपह करिणिविओएण मूढ करिणाह ।  
सोक्ख न होइ कस्स वि निरत्तर एत्थ ससारे ॥ ४ ॥  
मा क्षीयस्वानुदिवस करिणीवियोगेन मूढ करिनाथ ।  
सौख्य न भवति कस्यापि निरन्तरमत्र ससारे ॥
- १९४ जायासुयविरहविसठुलस्स जूहाहिवस्स विझम्मि ।  
ते सरसपल्लवा सल्लईइ विसकवलसारिच्छा ॥ ५ ॥  
जायासुतविरहविसठुलस्य यूयाधिपतेविन्ध्ये ।  
ते सरसपल्लवा सल्लक्या विपकवलसदृशा ॥
- १९५ गल्यद्धुहाउलियस्स य वल्लहकरिणीसुह भरतस्स ।  
सरसो मुणालकवलो गयस्स हत्थे च्चिय विलीणो ॥ ६ ॥  
गुल्फुधाकुलितस्य च वल्लभकरिणीसुख स्मरत ।  
सरसो मुणालकवलो गजस्य हस्त एव विलीन ॥
- १९६ तह नोससिय जूहाहिवेण चिरविलसिय भरतेण ।  
करगहिय तिणकवल हरियं जह झत्ति पज्जलिय ॥ ७ ॥  
तथा निश्चसित यूयाधिपेन चिरविलसित स्मरता ।  
वरगृहीत तृणकवल हरितं यथा झटिति प्रज्वलितम् ॥
- १९७ विरहपलितो रे वरमइद मा भज सयलवणराई ।  
उम्मूलिए वि विझे विरहावत्या तह च्चेय ॥ ८ ॥  
विरहप्रदीप्त रे वरगजेन्द्र मा भङ्गि सवलवनराजी ।  
उन्मलितेऽपि विन्ध्ये विरहावस्या तथैव ॥

१९२. हे करिनाथ ! तृगो का कौर उठा लो और चन्दन-पल्लवों की याद भूल जाओ । जो दशा जिस रूप में परिणत होती है, धीरे पुरुष उस दशा को उसी रूप में स्वीकार करते हैं ॥ ३ ॥

१९३. मूढ गजेन्द्र ! करिणी (हयिनी) के विषोग में अनुदिन क्षीण मन होने जाओ । इस समार में किसी का भी सौख्य निरन्तर नहीं रहता ॥ ४ ॥

१९४. विन्ध्य पर्वत पर पत्नी और पुत्र के विरह से संनस होने वाले गजराज को सल्लकी के वे सरस पल्लव विष के कौर के समान लगने हैं ॥ ५ ॥

१९५. तीव्र-क्षुधा से माकुल गजेन्द्र को प्यारी करिणी से प्राप्त सुखों की स्मृति आने ही मृगाल का सरस कौर सूँड पर ही नष्ट हो गया ॥ ६ ॥

१९६. बहुत दिनों की सुखमय लीलाओं को स्मरण कर गजेन्द्र ने ऐसी लम्बी साँस ली कि सूँड पर लिया हुआ हरे तृगो का कौर तुरन्त जल कर भस्म हो गया ॥ ७ ॥

१९७. हे गजेन्द्र ! विरह-दग्ध हो कर सम्पूण वनराजि को मन तोड़ डालो । विन्ध्य पर्वत को भा उखाड़ डालने पर विरह-दशा वैसी ही रहेगी ॥ ८ ॥



१९८. जूहाओ वणगहण गहणाउ सर सराउ गिरिसिहर ।  
 सिहराहितो पुहवि निणइ हत्थी पियाविरहे ॥ ९ ॥  
 यूथाद्वनगहनं गहनात्सरः सरसो गिरिशिखरम् ।  
 शिखरात्पृथिवी पश्यति हस्ती प्रियाविरहे ॥
१९९. करिणिकरप्पियणवसरससल्लईकवलभोयण दत्ती ।  
 जइ न मरइ सुमरतो ता किं किसिओ वि मा होउ ॥१०॥  
 करिणीकरापितनवसरससल्लकीकवलभोजनं दन्ती ।  
 यदि न म्रियते स्मरस्तदा किं कश्चितोऽपि मा भवतु ॥

### २१. सोहवज्जा [सिंहपद्धति]

२००. किं करइ कुरगी बहुसुएहि ववसायमाणरहिएहि ।  
 एक्केण वि गयधडदारणेण सिहो सुह सुवइ ॥ १ ॥  
 किं करोति कुरङ्गो बहुसुतेर्व्यवसायमानरहितैः ।  
 एवेनापि गजघटादारकेण सिद्धी सुख स्वपिति ॥
- २०१ जाइविसुद्धाण नमो ताण मइदाण अहह जियलोए ।  
 जे जे कुलम्मि जाया ते ते गयकु भणिइलणा ॥ २ ॥  
 जातिविशुद्धेभ्यो नमस्तेभ्यो मृगेन्द्रेभ्योऽहह जीवलोके ।  
 ये ये कुले जातास्ते ते गजकुम्भनिर्दलना ॥
२०२. मा जाणह जह तु गत्तणेण पुरिमाण होइ सोंडीर ।  
 मइहो वि मइदो करिवराण कुम्भत्यल दलइ ॥ ३ ॥  
 मा जानीत यथा तुङ्गत्वेन पुर्याणा भवति क्षोण्डोर्यम् ।  
 लघुरपि मृगेन्द्र करिवराणा कुम्भस्यल दलयति ॥
- २०३ वेण्णि वि रण्णुप्पन्ना वज्झति गया न चेव वेमरिणो ।  
 मभाविज्जइ मरण न गजण धीरपुरिमाण ॥ ४ ॥  
 द्वावप्यरप्पोत्पन्नो बध्यन्ते गजा न चेव वेमरिणः ।  
 मभाविज्जइ मरणं न गजहो धीरगजप्राणण ॥

१९८. गजराज प्रिया के वियोग में यूय से निकल कर वन को, वन से सरोवर को, सरोवर से गिरिशिखर का और गिरिशिखर में पुन पृथ्वी को देखता है ॥ ९ ॥

१९९. यदि गजराज करिणी की सूंड से अर्पित सरस सल्लकी के भोजन को स्मरण कर मर नहीं जाता, तो क्या दुर्वल भी न हो ? ॥ १० ॥

### २१—सीह-वज्रा (सिंह-पद्धति)

२००. मृगी व्यवसाय (पुरुषार्थ) और मान से रहित बहून से पुत्रों से क्या कर लेती है ? सिंहनो एक ही गजवटा-विदारक पुत्र से सूखपूर्वक सीती है ॥ १ ॥

२०१. अहा ! इस जीवलोक में जो जन्मना विशुद्ध हैं, उन मृगेन्द्रों को नमस्कार है, उन के कुल में जो-जो उत्पन्न हुए, वे सभी गजरजों के कुम्भों को विदोर्ण करने वाले थे ॥ २ ॥

२०२. बड़े होने से (ही) पुरुषों में शौर्य आता है—यह मन समझो । सिंह-शावक छोटा होने पर भी श्रेष्ठ गजों का कुम्भस्थल विदोर्ण कर डालता है ॥ ३ ॥

२०३. गज और सिंह—दोनों ही वन में उत्पन्न होते हैं । (पशु), गजों को लोग बांध लेते हैं, सिंह को नहीं । घोर-पुरुषों का गरण हो सकता है, अपमान नहीं ॥ ४ ॥

## २२. वाहवज्रा [व्याघपद्धति.]

२०४. एकसरपहरदारियमाइदगइदजुज्जमाभिडिए ।  
 वाहि न लज्जसि नच्चसि दोहमो पायडिज्जते ॥ १ ॥  
 एकसारप्रहारदारितमृगेन्द्रगजेन्द्रयुद्धे प्रवृत्ते ।  
 व्याधि न लज्जसे नृत्यसि दीर्घाय्ये प्रकट्यमाने ॥
२०५. कत्तो त रायघरेसु विलसिय ज घरम्मि वाहस्म ।  
 गयकु भवियारियमोत्तिएहि ज जगल किणइ ॥ २ ॥  
 कृतस्तद्राजगृहेषु विलसित यद्गृहे व्याघस्य ।  
 गजकुम्भविदारितमौक्तिकैर्यजागल क्रोयते ॥
- २०६ अज्ज कयत्थो दियहो वाहवहू रुवजोव्वणुम्मइया ।  
 सोहग्ग घणुरुपच्छलेण रच्छासु विक्खिरइ ॥ ३ ॥  
 अद्य कृतार्थो दिवसो व्याघवधू रूपयौवनोन्मत्ता ।  
 सौभाग्य धनुरल्लिखनच्छलेन रथ्यासु विष्किरति ॥
- २०७ ओ खिप्पइ मडलमारुएण गेहगणाउ वाहीए ।  
 सोहग्गधयवडाइ व्व घणुरओरु परिछोली ॥ ४ ॥  
 अहो क्षिप्यते मण्डलमारुतेन गेहाङ्गणाद्व्याघवध्वा ।  
 सौभाग्यध्वजपटानीव धनूरजस्त्वक्पडिक्कः ॥
२०८. जह जह वड्ढति थणा तह तह शिज्जति पच वत्थूणि ।  
 मज्झ पइ कोयड पल्लिज्जुवाणा सवत्तीओ ॥ ५ ॥  
 यथा यथा वर्धते स्तनौ तथा तथा क्षीयन्ते पञ्च वस्तूनि ।  
 मर्ष्य पति कोदण्ड. पल्लियुवानः सपत्न्य ॥

## २२—बाह-वज्जा (व्याध-पद्धति)

[विषय भोग से किस प्रकार क्षतिग्रस्त हो जाती है—इसका चित्रण इस 'वज्जा' में किया गया है]

२०४ व्याध (शिकारी) ने युद्ध-रत सिंह और हाथी—दोनों को एक ही बाण से विदीर्ण कर दिया। अरी व्याध-वधू! अपना दौर्भाग्य प्रकट होने पर नाच रही हो, लजाती नहीं हो? ॥ १ ॥

(यदि पति का तुम्हारे प्रति प्रगाढ़ प्रेम रहता तो अब तक निरन्तर समोग करने के कारण वह इतना क्षीण हो गया होता कि एक ही बाण से हाथी और सिंह का आखेट करने की शक्ति न रह जाती। उसका शौर्य तुम्हारे दौर्भाग्य का सूचक है।)

२०५ जहाँ गजकुम्भ के विदारण से प्राप्त मौक्तिक से मांस मोल लिया जाता है, उस व्याध-गृह में जो आनन्द है, वह राजप्राप्तादौ में कहाँ? ॥ २ ॥

२०६ आज का दिन कृतार्थ (सफल) हो गया। अहा! रूपयौवनोन्मत्ता व्याध-वधू धनुष के तनूकरण (खुरच कर पतला करने) से निकले चूर्ण को सौभाग्य के समान गलियों में बिखेर रही है ॥ ३ ॥

(व्याध अनवरत समोग से इतना क्षीण हो गया था कि अब पुराने भारी धनुष को उठाने में उसे कष्ट होता था। अन्त में उसने विवश होकर मोटे धनुषको खुरच-खुरच कर पतला कर दिया। उसकी पत्नी धनुष के खुरचने से निकले हुए महीन चूर्णों को गलियों में फेंक रही है। लगता है, जैसे वे चूर्ण उसके अखण्ड सौभाग्य की सूचना दे रहे हैं।)

२०७ अरे, मण्डल-मारुत (चक्रवात) धनुष के तनूकरण से उद्भूत बल्कल-चूर्ण को व्याध-वधू की सौभाग्य-मत्ताका के समान प्रागग के बाहर उड़ा रहा है ॥ ४ ॥

२०८ जैसे-जैसे व्याध-वधू के पयोधर बढ़ते हैं, तैसे-तैसे पाँच वस्तुयें क्षीण होती जा रही हैं—पति, धनुष, गाँव के तरुण और सपत्नियाँ ॥ ५ ॥

(पति विषय सेवन से, धनुष तनूकरण से, गाँव के युवक विरहताप से और सपत्नियाँ डाह से दुर्बल होती जा रही हैं)

- १ मेसरी और मतगज के रण ने, वन में उत्पात मचाया।  
दोनों को रोप-भरे पति ने झट एक ही बाण से मार गिराया।  
देखने ही यह व्याध-वधू! अरी तूने गडावन कौन सा पाया?  
नाचती क्यों है? अभागिनी! सोच ले, तेरे लो रोने का वासर आया ॥

२०९ जह जह बड्ढति थणा वियसइ मयणो सवम्महा दिट्ठी ।

तह तह वाहजुवाणो दियहे घणुल्लिहइ ॥ ६ ॥

यथा यथा वर्धते स्तनौ विकसति मदन समन्मथा दृष्टि ।

तथा तथा व्याघयुवा दिवसे दिवसे घनुरल्लिखति ॥

\*२१० जह जह न चडइ चावो उम्मिल्लइ करह पल्लिणाहस्स ।

तह तह सुण्हा विप्फुल्लगडविवरुम्मुही हमइ ॥ ७ ॥

यथा यथा नारोहति चापो भ्रस्यते (स्रसते) करात् पल्लिनायस्य ।

तथा तथा स्तुपा विफुल्लगण्डविवरोन्मुखी भवति ॥

२११ दिन्न थणाण अग्घ करिणीजूहेण वाहवहुयाए ।

रडत्तण न पत्त हे सु दरि तुह पसाएण ॥ ८ ॥

दत्त स्तनयोरर्धं करिणीयूथेन व्याघवध्वा ।

रण्डात्वं न प्राप्त हे सुन्दरि तव प्रमादेन ॥

२१२ सिहिपेहुणावयसा बहुया वाहस्स गव्विरे भमइ ।

गयमुत्तागहिमपसाहणाण मज्झे सवत्तीण ॥ ९ ॥

शिखिपिच्छावतसा वधूव्याघस्य गर्ववतो भ्राम्यति ।

गजमुत्तागूहोत्पसाधनाना मध्ये सपत्नीनाम् ॥

२१३ वाणिजय हत्थिदता कत्तो अम्हाण वग्घवित्तीओ ।

उत्तु गयोरथणवट्टमालमा ज व्हू सुवइ ॥ १० ॥

वाणिजव हस्तिदन्ता वृत्तोऽम्भान व्याघ्रवृत्तय ।

उत्तगण्युत्तनपट्टमाग्या यद्वधू स्वपिनि ॥

२०९ जैसे-जैसे प्रिया के स्तन बढ रहे थे, काम भी वृद्धि हो रही थी और दृष्टि सकाम होती जा रही थी, तैमे-तैसे व्याध-युवक प्रतिदिन अपना धनुर्दण्ड (छील कर) पनला करता जा रहा था ॥ ६ ॥

\*२१० जैसे-जैसे पत्नीनाथ अपना धनुष नहीं चढ़ा पाता था और वह उस के हाथ से गिर गिर पड़ता था, वैसे-वैसे उसकी बहू, जिसके विकसित कपोला पर गड़्डे पड़ गये थे, दूसरी ओर मुँह करके हँस पड़ती थी ॥ ७ ॥

(मुझ में आसक्त होने के कारण इन की यह दशा हो गई है—यह सोच कर व्याध-वधू को हँसी आ जाती थी)

२११ हथिनियों के झुण्ड ने व्याध-वधू के स्तनो को अर्घ्य दिया—सुन्दरि तुम्हारे प्रसाद से हमें वैधव्य नहीं प्राप्त हुआ ॥ ८ ॥

(वधू के स्तनो से आकृष्ट व्याध ने विपयासक्त होकर आखेट करना बन्द कर दिया था जिससे हथिनियों का सौभाग्य अक्षुण्ण रह गया)

२१२ जिन्होंने गज-मुक्ताओं से शृंगार किया था, उन सौतो के बीच मयूर-पुच्छ का आभूषण धारण करने वाली व्याध-वधू गर्व के साथ भ्रमण करती थी ॥ ९ ॥

(वह सोचती थी कि व्याध इन सौतो में बिल्कुल नहीं आसक्त था। अतः उस की शक्ति क्षीण नहीं हुई थी। उन दिनों उसने शक्तिशाली गजराजों को मार कर मुक्ताहलो से पलियों का शृंगार किया था। आज मेरे प्रणय-पाश से आवद्ध होकर इतना दुर्बल हो गया है कि हाथिया का बध करने की शक्ति ही नहीं रह गई है। मयूरा के आखेट से ही सन्तोष कर लेता है। मैं तुच्छ मयूर-पुच्छ का आभूषण धारण कर के भी इन बहुमूल्य मुक्ताहलो से लदी हुई सौतो से श्रेष्ठ हूँ, क्योंकि पति का दुलभ-श्रेम मैंने ही पाया है, इन (सौतो) ने नहीं)

२१३ वणिक् ! जब तक घर में उत्तुंग-स्तन भार से अलसाने वाली वधू सोती है, हमारे पास हाथोदांत और व्याघ्रचर्म कहाँ ? ॥ १० ॥

१ बिहारो ने भी हँसत समय कपोलो पर गाढ पटन का वर्णन किया है—  
गोरो गदकारी परे, हँसत कपोलन शब्द ।

कैसी लसति गमारि यह, सुनकिरवा की बाढ ॥

\* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य ।

२१४ वग्घाण नहा सीहाण केसरा मोत्तिया गइदाण ।  
 कत्तो वाणिय अम्ह मयचम्मपरिग्रहो नत्थि ॥ ११ ॥  
 व्याघ्राणा नखा सिंहाणा केसरा मोत्तिकानि गजेन्द्राणाम् ।  
 कुतो वाणिजास्माक मृगचर्मपरिग्रहो नास्ति ॥

२३ हरिणवज्जा [हरिणपद्धति]

२१५ हरिणा जाणत्ति गुणा रण्णे वसिऊण गेयमाहप्प ।  
 ताण चिय नत्थि घण जीय वाहस्स अप्पत्ति ॥ १ ॥  
 हरिणा जानन्ति गुणानरण्य उषित्वा गेयमाहात्म्यम् ।  
 तेषामेव नास्ति घन जीव व्याधस्याप्यंघ्रन्ति ॥

२१६ अम्हाण तिणकुरभोयणाण न हु किञ्चि सचिय दविण ।  
 मह मसपिडतुट्ठो जइ वच्चइ ता अह धन्नो ॥ २ ॥  
 अस्माक तूणाङ्कुरभोजनाना न खलु किमपि सचित्त द्रविणम् ।  
 मम मासपिण्डतुष्टो यदि व्रजति तदाह धन्य ॥

२१७ एक्केण वि सरउ सरेण वाह कि वीयएण गहिण ।  
 एक्क पि वसइ जीय हयास दोण्ह पि य सरीरे ॥ ३ ॥  
 एकैनापि पूर्वता शरेण व्याध कि द्वितीयेन गृहीतेन ।  
 एकोऽपि वसति जीवो हताश द्वयोरपि च क्षरीरे ॥

२१८ सरसल्लिएण भणिय कघ धुणिऊण जुण्हरिणेण ।  
 गिज्जउ पुणो वि गिज्जउ जाव य कठट्ठिओ जीवो ॥ ४ ॥  
 शरशाल्यतेन भणित स्कन्धं धूत्वा जीर्णहरिणेन ।  
 गीयता पुनर्गीयता यावच्च कण्ठस्थितो जीव ॥

२१९ घाएण मओ सहेण मई चोज्जेण वाहवहुया वि ।  
 अवठमिऊण घणुह वाहेण वि मुक्किया पाणा ॥ ५ ॥  
 घातेन मृग शब्देन मृगो आश्रयेण व्याधवधूरपि ।  
 अवष्टभ्य धनुर्व्याधिनापि मुक्ता प्राणा ॥

२१४. वणिक् ! व्याघ्रों के नख, सिंहों के केसर और गजेन्द्रों के मौक्तिक कहाँ ? हमारे पास तो मृगचर्म भी नहीं है ॥ ११ ॥

(पुत्र की विषय-प्रसक्ति से खिन्न व्याध-माता की उक्ति है। वह कहती है कि मेरा विषयी-पुत्र अब हाथियों और व्याघ्रों को कौन कहे, तुच्छ मृगों को भी नहीं मार पाता है )

### २३—हरिण-वज्रा (हरिण-पद्धति)

२१५. हरिण वन में रह कर भी गीत का महत्त्व जानते हैं। उन के पास धन नहीं है, व्याध (शिकारी) को जीवन ही अर्पित कर देते हैं ॥ १ ॥

२१६. हम तुणानुरों का भोजन करते हैं, हमारे पास (देने के लिए) कुछ भी संचित द्रव्य नहीं है। यदि वह गाने वाला व्याध हमारे मांस-पिण्ड से तुष्ट हो कर चला जाय, तो धन्य हो जायेंगे ॥ २ ॥

२१७. व्याध ! एक ही बाण छोड़ो, दूसरा क्यों लेते हो। इन दोनों (हरिण और हरिणी) के शरीरों में एक ही जीव बसता है (अर्थात् एक के मारने पर दोनों ही मर जायेंगे) ॥ ३ ॥

२१८. शर-विद्ध बूढ़े हरिण ने कम्था हिला कर कहा—(व्याध ! ) जब तक कण्ठ में जीव है, तब तक गाओ और फिर गाओ ॥ ४ ॥

२१९. मृग तो आघात से मर गया, मृगी मृग के कर्ण शब्द को सुन कर मर गई, व्याध-वधू आश्चर्य से मर गई और व्याध ने भी धनुष रोक कर अपने प्राण छोड़ दिए ॥ ५ ॥

१. पहरंण मभो विहरेण तह मई वरिणिणयणसमरिओ

बाहो विमलियवाहो तिणि वि समय त्रिय मयाडं ॥

—लीलावर्द्ध



## २४. करहवज्रा [करभपद्धतिः]

२२०. ककेल्लिपल्लवोव्वेल्लमणहरे जइ वि नंदणे चरइ ।  
 करहस्स तह वि मरुविलसियाइ हियए खुडुक्कति ॥ १ ॥  
 कङ्कल्लिपल्लवोव्वेल्लमनोहरे यद्यपि नन्दने चरति ।  
 करभस्य तथापि मरुविलसितानि हृदय आविर्भवन्ति ॥
२२१. ते गिरिसिहरा ते पीलुपल्लवा ते करीरकसरक्का ।  
 लब्धमति करह मरुविलसियाइ कत्तो वणेत्यम्मि ॥ २ ॥  
 तानि गिरिशिखराणि ते पीलुपल्लवास्ते करीरकुङ्कुमलाः ।  
 लभ्यन्ते करभ मरुविलसितानि कुतो वनेऽत्र ॥
२२२. पुणरुत्तपसारियदीहकधरो करह किं पलोएसि ।  
 कत्तो लब्धमति मरुत्थलीउ दिव्वे पराहुत्ते ॥ ३ ॥  
 पुनरुत्तपसारितदीर्घकन्धरः करभ किं प्रलोकयसि ।  
 कुतो लभ्यन्ते मरुत्थल्यो दैवे पराङ्मुखे ॥
२२३. दीहुण्हपउरणीसाससोसियासेसपीलुसयसिहरो ।  
 कवल पि न गेण्हसि करह मुद्ध किं चक्खियमपुव्वं ॥ ४ ॥  
 दीर्घोष्णप्रचुरनिःश्वासशोपिताशेषपीलुशतशिखरः ।  
 कवलमपि न गृह्णासि करभ मुग्ध किमास्वादितमपूर्वम् ॥
२२४. उन्नयकधर मा जूर करह ता धरसु किं चि चरिऊण ।  
 तुह जोग्गा अक्कमरुत्थलीइ तुगा तरु कत्तो ॥ ५ ॥  
 उन्नतकन्धर मा खिद्यस्व करभ तावद् ध्रियस्व किञ्चिन्वरित्वा ।  
 तव योग्या अर्कभरस्थत्या तुङ्गास्तरवः कुतः ॥
- \*२२५. ज जोहाइ विलग्ग किञ्चि वर मामि तस्स तं दिट्ठं ।  
 थुक्केइ चक्खिउ वणसयाइ करहो धुयमोवो ॥ ६ ॥  
 यज्जिह्वाया विलग्नं किञ्चिद्धरं सखि तस्य तददृष्टम् ।  
 प्लवरोत्यास्वाद्य वनशतानि करभो धृतप्रोवः ॥

### २४—करह-वज्जा (करभ-पद्धति)

२२०. यद्यपि जेंट अशोक-पल्लवों से भरे नन्दन वन में चरता है, फिर भी मरुस्थल के सुखों की स्मृतियाँ हृदय में आ जाती हैं ॥ १ ॥

२२१ वे शैल-शिखर, वे पीलु-पल्लव, वे करील-कुड्मल और मरुस्थल की वे विलास-फोडाएँ इस वन में कहाँ ? ॥ २ ॥

२२२. करभ (जेंट) ! बार-बार लम्बी गर्दन फैलाकर क्या देख रहे हो ? भाग्य विपरीत हो जाने पर मरुस्थल भी कहाँ मिलते हैं ? ॥ ३ ॥

२२३. मुग्ध-करभ ! तुम बार-बार दीर्घ, उष्ण एवं घनी उर्ताँमों से पीलु-वृक्षों के सम्पूर्ण पल्लवों को सुखा दे रहे हो ! कौर भी नहीं उठा रहे हो । कौन-सा (ऐसा) अपूर्व पदार्थ चख लिया है ? ॥ ४ ॥

२२४. हे उन्नत-स्वग्ध करभ ! दुःख मत करो । कुछ घर कर धीरज धर लो । इस मदारों के मरुस्थल में तुम्हारे योग्य उन्नत वृक्ष कहाँ ? ॥ ५ ॥

\*२२५. (वह) जेंट सैकड़ों बनो (वृक्ष समूहों) को चख कर और गर्दन हिला कर, थूक देता है । सखि ! यह देखा गया है कि जिमकी जिह्वा में जो लग जाता है (रच जाता है), उसके लिए वही श्रेष्ठ है ॥ ६ ॥

\*विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य ।

२२६. अन्नेहि पि न पत्ता पत्तलकरहेहि करह सा वेल्ली ।  
को एसो तुज्झ गहो ज चितमि विझसिहराइ ॥ ७ ॥  
बन्यैरपि न प्राप्ता वृक्षकरमै करम सा वल्ली ।  
क एष तव ग्रहो यच्चिन्तयसि विन्ध्यशिखराणि ॥

### २५ मालदेवजा [मालतीपद्धति]

- २२७ तह तुह विरहे मालइ महिमडलवदणिजमयरदे ।  
परिझीण भमरउल जह जाय मसयवद व ॥ १ ॥  
तथा तव विरहे मालति महोमण्डलवन्दनीयमकरन्दे ।  
परिझीण भ्रमरकुल यथा जात मशकवृन्दमिव ॥
- २२८ वड्डसु मालइकलिए निम्भरमयरदपरिमलुगारे ।  
मु चतु छप्पया सेसकुसुमसेवाकिलेसस्स ॥ २ ॥  
वधंस्व मालतीकलिके निभंरमकन्दरन्दपरिमलोद्गारे ।  
मुञ्चन्तु पट्पदा शेषकुसुमसेवाह्लेशम् ॥
२२९. वियसनु नाम गयुद्धुराउ सेसाउ कुसुमजाईओ ।  
इदिदिरस्स रणरणयकारण मालइ च्चेव ॥ ३ ॥  
विकमन्तु नाम गन्धोद्धुरा शेषा कुसुमजातय ।  
इन्दिन्दिरस्स रणरणककारण मालत्येव ॥
- २३० मडह मालइकलिय महुर दट्ठूण किं पराहुत्तो ।  
एत्तो पसरइ भुवणतराइ गवो वियंभतो ॥ ४ ॥  
लघ्वी मान्तोबलिका मधुकर दृष्ट्वा किं पराङ्मुख ।  
इत प्रमरति भुवनान्तराणि गन्धो विजृम्भमाण ॥
२३१. मडट्टुल्लियाइ किं तुह इमोइ किं वा दलेहि तलिगेहि ।  
आमोए महुर मालइ जाणिहिमि माहप्प ॥ ५ ॥  
लघुनया किं तवेनम्या किं पत्रैर्मलिनैः ।  
आमोए मालइ जाणिहिमि माहप्प ॥

२२६ अरे करम ! अन्य कृशकाय वरमो को यह वेलि भी नहीं मिल सकी । तुम्हारा यह आग्रह वैसा कि (आज उमे पाकर भी) विन्य की ऊँची चोटियों की चिन्ता (ध्यान) कर रहे हो ॥ ७ ॥

### २५—मालई-वज्रा (मालती-वृद्धति)

२२७. हे मालती ! तुम्हारा मकरन्द महोमण्डल में बन्दनीय है । तुम्हारे विरह में क्षीण भ्रमर-कुल विलकुल मच्छरों का समूह बन गया है ॥ १ ॥

२२८. हे मालती-कलिके ! तुम भरे हुए मकरन्द को महक फैला रही हो, वृद्धि को प्राप्त होओ, (तार्कि) भँवरे अन्य पुष्पों की सेवा के कष्ट से मुक्त हो जायें ॥ २ ॥

२२९. (चाहे) महकने वाले पुष्पा की शेष जातियाँ खिला करें । (किन्तु) भ्रमर की उत्कण्ठा का कारण तो एकमात्र मालती ही है ॥ ३ ॥

२३०. अरे मधुकर ! नन्ही सी मालती कलिका को देख कर फिरे क्यों जा रहे हो ? यहाँ से वह सुगन्ध फैलती है, जो सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त हो जाती है ॥ ४ ॥

२३१. अरे मधुकर ! यदि मालती की आकृति नन्ही-सी है और उसकी पंखडियाँ भी पतली हैं तो उस से क्या ? इस का महत्त्व सुगन्ध से समझोगे ॥ ५ ॥

- २३२ तह वासिय वण मालईइ कुसुमेहि निव्वर सरए ।  
जह इत्थ तत्थ कत्थ वि भमरा दुक्खेहि लक्खते ॥ ६ ॥  
तथा वासितं वन मालत्या कुसुमेनिमरं शरदि ।  
ययात्र तत्र कुत्रापि भमरा दुःखैल्लभ्यन्ते ॥
- २३३ का समसीसी सह मालईइ सेसाण कुसुमजाईण ।  
जस्स वि गधविलित्ता भसला भसलेहि पिज्जति ॥ ७ ॥  
का समशीपिका सह मालत्या शेपाणा कुसुमजातीनाम् ।  
यस्यापि गन्धविलित्ता भमरा भमरे पीयन्ते ॥
- २३४ कलियामिसेण उव्वेवि अगुलि मालईइ महमहिय ।  
घरत्त जु घरणसत्थो मह एता मह्ययरजुवाणो ॥ ८ ॥  
कलिकामिपेणोर्ध्वीकृत्ययाङ्गुलि मालत्या कथितम् ।  
धरतु यो धरणसमयो भाम् बापन् मधुकरयुवा ॥
- २३५ पक्खुक्खेव नहसूइखडण भमरभरसमुव्वहणं ।  
उव सहइ थरहरती वि दुव्वला मालइ च्चेव ॥ ९ ॥  
पक्षोल्लेपं मुखसूचिखण्डनं भमरभरसमुद्बहनम् ।  
पश्य सहते कम्पमानापि दुर्वला मालरयेव ॥

२६ इदिदिरवज्जा [इन्दिन्दिरपद्धति]

- २३६ इदिदिर छप्पय भमल भमर भमिओ सि काणण सयल ।  
मालइमरिम कुमुम जइ दिट्ठं किं न ता भणसि ॥ १ ॥  
इन्दिन्दिर पट्पदं भमलं भमरं भ्रान्तोऽसि वाननं मवलम् ।  
मालतीमदृशं कुमुमं यदि दृष्टं किं न तदा भणमि ॥
- २३७ कथं वि दलं न गन्धं कथं वि गधो न एत्तरमयरदो ।  
एत्तं कुमुममि मह्ययरं वे तिन्नि गुणा न लब्धन्ति ॥ २ ॥  
कुत्रापि दलं न गन्धं कुत्रापि गन्धा न प्रचुरमकरन्दः ।  
एतन्मुमे मधुकरं द्वौ त्रया गुणा न लभ्यन्ते ॥

२३२. मालती ने शरद् में अपने फूलों से वन को कुट्ट ऐसा महुका दिया कि कहीं भी इधर-उधर वही कठिनाई से भँवरे दिखाई देने हैं (अर्थात् मयी भ्रमर मालती रत्ताओं पर ही आ गये) ॥ ६ ॥

२३३. शेष पुष्प-जातियों की मालती से क्या स्पर्शा, जिसकी गन्ध से म्लिष्ट भँवरो को भँवरे ही पी डालते हैं ॥ ७ ॥

२३४. मालती ने कलिका के व्याज (माध्यम) से अगुली उठा कर सुगन्ध की भाषा में यों कहा—इधर आना हुआ जा भ्रमर-कुमार समर्थ हो, वह मेरे ऊपर अधिकार करे ॥ ८ ॥

२३५. देखो, पक्षियों के पक्षों का आघात, (चुनने वाला के) नावूनो और (मालाकार की) सूईयों के घाव तथा भ्रमरो का भार थग्यराती हुई टुबली-पतली मालती ही सह पाती है ॥ ९ ॥

२६—इन्दिर-वज्र (इन्दिर-वज्र)

२३६. इन्दिर ! पटपट ! भ्रमर ! तुम सम्पूर्ण कानन में भ्रमण कर चुके हो । यदि मालती के समान कोई पुष्प देखा हा, तो क्यों नहीं बताते ? (कहते) ॥ १ ॥

२३७. भ्रमर ! कहीं पक्षियों हैं, तो गन्ध नहीं और कहीं गन्ध है, तो प्रचुर मकरन्द नहीं । एक पुष्प में दासीन गुण नहीं पाए जाने ।

२३८. एकं महुयरहियं तं चिय पुण मालईइ पडिख्दं ।  
 सेसा फुल्लंतु फलंतु पायवा को निवारेइ ॥ ३ ॥  
 एकं मधुकरहृदयं तदेव पुनर्मालत्या प्रतिख्दम् ।  
 शेपाः पुष्पन्तु फलन्तु पादपाः को निवारयति ॥
२३९. मालइ पुणो वि मालइ हा मालइ मालइ ति जंपंतो ।  
 उज्जिणो भमइ अली हिडंतो सयलवणराई ॥ ४ ॥  
 मालति पुनरपि मालति हा मालति मालतीति जल्पन् ।  
 उद्विग्नो भ्रमत्यलिहिण्डमानः सकलवनराजोः ॥
२४०. \*रुणरुणइ वलइ वेल्लइ पक्खजडं धुणइ खिवइ अंगाई ।  
 मालइकलियाविरहे पचावत्थं गओ भमरो ॥ ५ ॥  
 रुणरुणायते वलति वेल्लति वक्षपुट धुनोति क्षिपत्यङ्गानि ।  
 मालतीकलिकाविरहे पञ्चावस्था गतो भ्रमरः ॥
२४१. \*मालइविरहे रे तरुणभसल मा ख्वसु निव्वभक्कंठं ।  
 वल्लहविओयदुक्ख मरणेण विणा न वीसरइ ॥ ६ ॥  
 मालतीविरहे रे तरुणभ्रमर मा रोदीनिर्भरोत्कण्ठम् ।  
 वल्लभवियोगदुःख मरणेन विना न विस्मयंते ॥
२४२. जाव न वियसइ सरसा वरइ न ईस पि मालईकलिया ।  
 अविणीयमहुयरेहि ताव ज्चिय पाउमारद्धा ॥ ७ ॥  
 यावन्न विजमति सरसा वृणोति नेशमपि मालतीकलिका ।  
 अविनोतमधुकरेस्तावदेव पातुमारब्धा ॥
२४३. वियमतमरमतामरसभमल वियसेइ मालई जाव ।  
 ता जत्य व तन्थ व जह व तह व दियहा गमिज्जंति ॥ ८ ॥  
 विषमत्तरमनामरमभ्रमर विवमति मालतो यावत् ।  
 तावद्यत्र वा तत्र वा यथा वा तथा वा दिवसा गम्यन्ते ॥

२३८. भ्रमर के एक ही मन है, उसे मालती ने बांध लिया है। शेष वृक्ष भी फूलें और फलें, रोकता कौन है ? ॥ ३ ॥

२३९. बार-बार मालती ! मालती ! हाय मालती ! हाय मालती !—  
कहता हुआ भँवरा दुःखी हो कर सम्पूर्ण वनराजि में भटक रहा है ॥ ४ ॥

२४०. \*भ्रमर मालती के वियोग में मरणावस्था को प्राप्त हो गया है। वह गुनगुनाता है, चक्कर काटता है, काँपता है, पंखों को हिलाता है और अंगों को पटकता है ॥ ५ ॥

२४१. \*अरे तरुण मधुकर ! मालती के वियोग में मुक्तकण्ठ से विलाप मत करो। बल्लभा का वियोग बिना मरे नहीं भूलता ॥ ६ ॥

२४२. अभी मालती कलिका विकसित नहीं हुई थी, (पुष्प तो नहीं हुई थी) उस में रस (मकरन्द या शृंगार भाव) नहीं आया था और उसने अपने प्रणयी को चुना भी नहीं था कि अविनीत मधुकरों ने तभी उसे पीना आरम्भ कर दिया ॥ ७ ॥

२४३. अरे विकसित-सरस-कमलो में रहने वाले भ्रमर ! जब तक मालती नहीं खिलती है, तब तक इधर-उधर जैसे-तैसे दिन काट लो ॥ ८ ॥

\* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य ।



२४४. \*छप्पय गमेसु कालं वासवकुसुमाइ ताव मा मुयसु ।  
मन्न जियंतो पेच्छसि पउरा रिद्धी वसंतस्स ॥ ९ ॥  
पट्पद गमयस्व काल वासवकुसुमानि तावन्मा मुञ्च ।  
मन्ये जीवन् पश्यति प्रचुरा ऋद्धीर्वसन्तस्स ॥
२४५. मा इ दिंदिर तुगसु पंकयदलणिलय मालईविरहे ।  
तुविणिकुनुमाइ न सपडति दिव्ये पराहुत्ते ॥ १० ॥  
मेन्दिन्दिर ताम्य पङ्कजदलनिलय मालतीविरहे ।  
तुम्बिनिकुसुमानि न संपतन्ति दैवे पराग्नूते ॥
२४६. इयरकुसुमेसु महुयर दे वंघ रइं विमुच्च रणरणयं ।  
झायंतो च्चिय मरिहिसि कत्तो ते मालई सरए ॥ ११ ॥  
इतरकुसुमेसु मधुकर हे वधान रति विमुञ्च रणरणम् ।  
ध्यायन्नेव मरिष्यसि कुतस्ते मालती शरदि ॥
२४७. भमरो भमरो त्ति गुणोज्झिणहि कुनुमेहि लाइओ दोसो ।  
लहिज्जण मालइ पुण सो निज्जो भमउ जइ भमइ ॥ १२ ॥  
भमरो भमर इति गुणोज्झितै कुनुमेयारोपितो दोषः  
लब्ध्वा मालती पुनः स निपुणो भ्रमतु यदि भ्रमति ॥
२४८. कुन्दलयामउलपरिदिठएण भरिज्जण मालइविलास ।  
तह नोनमिय इ दिदिरेण जह सा वि पज्जलिया ॥ १३ ॥  
कुन्दलमनानुकुलपरिनिमित्तं स्मृत्वा मालतीविलानम् ।  
तथा निश्चिन्तितमिन्दिरं यथा नापि प्रज्वलिता ॥
२४९. \*वोसिट्टवहलपरिमल्लेयइमयरदवानियंगल्ल ।  
हियइच्छियपियलंभा चिरा नया वन्म जायंति ॥ १४ ॥  
विकसितवहलपरिमल्लेयकोनवरन्दरागिनाङ्गम् ।  
हृदयेन्तितप्रियाङ्गनाश्रितात् तदा वन्म जायन्ते ॥

२४४. \*भ्रमर ! अपना दिन काटो, अस्थे के फूलों को तब तक मत छोड़ो । मैं समझता हूँ कि जीविन रहोगे तो वयन्त का प्रचुर वैभव फिर देखोगे ॥ ९ ॥

२४५. पकज-मुंज में घर करने वाले भ्रमर ! मालती के वियोग में मटक मटक । भोग्य विपरीत होने पर लौकी के फूल भी नहीं मिलने हैं ॥ १० ॥

२४६. अरे भ्रमर ! अन्य फूलों से प्रेम जोड़ लो । अरे यह उत्कंठा छोड़ दो । मोचने-सोचने ही मर जाओगे । इस शरद में मालती कहाँ ? ॥ ११ ॥

२४७. भँवर भ्रमणशोल होता है—इस प्रकार का दोष गुणहीन पुष्प लगाने हैं । (किन्तु) मालती को पाकर वह निरुण भँवर यदि अन्यत्र चला जाय, तब समझें ॥ १२ ॥

२४८. कुन्दलना के मुकुट पर स्थित भ्रमर ने मालती को 'स्मरण करके कुठ ऐसी लम्बी साँस ली कि उससे वह जलकर भस्म हो गई ॥ १३ ॥

२४९. \*एक बार बहुपरिमला प्रफुल्ल केतकी के मकरन्द से जिसके अंग सुवामित हो चुके हैं, ऐसे किम भ्रमर (या युवक) को चिरकाल में मनोवाञ्छित प्रियाओं (कलिकाओं या लताओं या तरुणियों) को उपलब्धियाँ सदा होती हैं ? अर्थात् सदा नहीं होती हैं ॥ १४ ॥

\* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य ।

२५० वियलियदल पि गधोज्झिय पि विरस पि मालईविडव ।  
 भसलेहि नेय मुक्क पढमरस सभरतेहि ॥ १५ ॥  
 विगलितदलोऽपि गन्धोज्झितोऽपि विरसोऽपि मालतीविटप ।  
 भ्रमरेनैव मुक्क प्रथमरस सस्मरद्भि ॥

२५१ ढखरसेसो वि हु महुरेहि मुक्को न मालईविडवो ।  
 दरवियसियकलियामोयबहलिम सभरतेहि ॥ १६ ॥  
 पनपुष्परहितशाखाशेषोऽपि खलु मधुकरैमुक्को न मालतीविटप ।  
 दरविकसितकलिकामोदबाहुल्य सस्मरद्भि ॥

२५२ निविडदलसठिय पि हु कलिय वियसाविऊण सविसेस ।  
 जे पढम तीइ रस पियति ते छप्पया छेया ॥ १७ ॥  
 निविडदलसस्थितामपि खलु कलिका विकास्य सविशेषम् ।  
 ये प्रथम तस्या रस पिवन्ति ते पट्पदाश्चेका ॥

२७ सुरतरुविसेसवज्जा [सुरतरुविशेषपद्धति]

२५३ वसिऊण सगलोए गध गहिऊण पारिजायस्स ।  
 रे भसल किं न लज्जसि चुवतो इयरकुसुमाइ ॥ १ ॥  
 उपित्वा स्वर्गलोके गन्ध गृहीत्वा परिजातस्य ।  
 रे भ्रमर किं न लज्जसे चुम्बनितरकुसुमानि ॥

२५४ कत्तो लवगकलिया इच्छ पूरेइ छेयभसलस्स ।  
 अमरतरुमजरिरसेण जस्स आणदिय हियय ॥ २ ॥  
 कुतो लवङ्गकलिवेच्छा पूरयति च्छेव भ्रमरस्य ।  
 अमरतरुमञ्जरीरसेन यस्यानन्दित हृदयम् ॥

२५५ \*भ्रमर भ्रमतेण तए अण्येयवणगहणकाणणुद्देस ।  
 दिट्ठो मुओ य कत्थ वि सरिस्ततरु पारिजायम्म ॥ ३ ॥  
 भ्रमर भ्राम्यता त्वयानेकवनगहनवनाननोद्देशम् ।  
 दृष्ट श्रुनन्नु कुत्रापि सदृशतरु पारिजातस्य ॥

२५०. मालती की शाखा की पत्तियाँ झड़ जाने पर भी, गन्ध न रह जाने पर भी, रसहीन हो जाने पर भी, पहली बार की रसानुभूति का स्मरण करने वाले भ्रमरो ने उसे नहीं छोड़ा ॥ १५ ॥

२५१. मालती की शाखा में पत्र और पुष्प न रह जाने पर भी किंचित् विकसित कलिका की सुगन्ध को याद रखने वाले भ्रमरो ने उसे नहीं छोड़ा ॥ १६ ॥

२५२ जो कसी हुई पखड़ियो वाली कली को विशेष-रूप से खिला कर प्रथम उस का रस-पान करते हैं, वे भ्रमर विदग्ध (चतुर) हैं ॥ १७ ॥

### २७—सुरतव्रिसेसवज्जा (सुर-त्तर-विशेष-वृद्धति)

२५३. अरे भ्रमर ! स्वर्गलोक में रह कर और पारिजात का सौरभ प्राप्त करके भी मदार के फूलों को चूमते तुझे लज्जा नहीं आती ॥ १ ॥

२५४ पारिजात की मंजरियो से जिसका हृदय आनन्दित हो चुका है, उस विदग्ध भ्रमर की इच्छा लौंग की कली कहाँ से पूर्ण कर सकती है ? ॥ २ ॥

२५५ \*भ्रमर ! क्या तुमने अनेक यमों, गहरों और गृहों से भ्रमण करके पारिजात के समान किसी वृक्ष को वही भी देखा-सुना है ? ॥ ३ ॥

\* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य ।

२५६. अमरतरुकुसुममजरि वाञ्छया महुयरेण ज रसिया ।  
तल्लद्धरसेण काओ सकप्पो सेसकुसुमाण ॥ ४ ॥  
अमरतरुकुसुममञ्जरी वाय्हता मधुकरेण यद्रसिता ।  
तल्लद्धरसेन कृत सकल्प शेषकुसुमानाम् ॥

### २८ हसवज्जा [हसपद्धति]

- २५७ हसो सि महासरमडणो सि धवलो सि धवल किं तुज्झ ।  
खलवायसाण मज्झे ता हसय कत्थ पडिओ सि ॥ १ ॥  
हसोऽसि महासरोमण्डनमसि धवलोऽसि धवल किं तव ।  
खलवायसाना मध्ये तस्मादस कुत्र पतितोऽसि ॥
२५८. हसो मसाणमज्झे काओ जइ वसइ पकयवणम्मि ।  
तह वि हु हसो हसो काओ काओ च्चिय वराओ ॥ २ ॥  
हस इमशानमध्ये काको यदि वसति पङ्कजवने ।  
तथापि खलु हसो हसः काकः काक एव वराक ॥
२५९. अहिणवघणउच्छलिया सवित्थरा जइ वि पाउसवसेण ।  
तह वि हु किं सेविज्जइ वाहलिया रायहसेहि ॥ ३ ॥  
अभिनवघनोच्छलिता सविस्तरा यद्यपि प्रावृड्बशेन ।  
तथापि खलु किं सेव्यते क्षुद्रनदी राजहसे ॥
- २६० वे वि सपक्खा तह वे वि धवलया वे वि सरवरणिवासा ।  
तह वि हु हसवयाण जाणिज्जइ अतर गरुय ॥ ४ ॥  
द्वावपि सपक्षौ तथा द्वावपि धवलो द्वावपि सरोवरनिवासी ।  
तथापि खलु हंसवयोर्जायतेऽन्तरं गुरकम् ॥
- २६१ नवणलिणमुणालुल्लोलमालिय हस माणस मोत्तु ।  
लज्जाइ कह न मूओ सेवतो गामवाहलिय ॥ ५ ॥  
नवणलिनमुणालोल्लोलमालिनं हस मानसं मुक्त्वा ।  
लज्जया कथं न मृतं सेवमानो ग्रामक्षुद्रनदीम् ॥

२५६. भ्रमर ने वायु में आहत पारिजात मंजरी का जो उपभोग कर लिया, तो उससे प्राप्त रस (आनन्द और जल) से शेष कृमुओं का संकल्प कर दिया (अर्थात् दान कर दिया)। दान में दी हुई वस्तु को कोई पुनः ग्रहण नहीं करता है। दान संकल्प जल के साथ किया जाता है, यहाँ रस ही जल है) ॥ ४ ॥

### २८—हंस-वज्रा (हंस-वदति)

२५७. तुम मानसरोवर के विभूषण हो और उज्ज्वल हो। अरे श्वेत वर्णवाले, तुम्हें क्या हो गया? दुष्ट कौओं के बीच कहाँ पड़ गये? ॥ १ ॥

२५८. यदि हंस श्मशान में रहे और कौआ कमलों के वन में, तब भी हंस-हंस ही है और कौआ-कौआ ही ॥ २ ॥

२५९. यदि क्षुद्र नदी वर्षा में नवीन मेघों के कारण उमड़ कर बहने लगे और विस्तृत हो जाय तो भी क्या राजहंस उसका सेवन करते हैं? ॥ ३ ॥

२६०. दोनों ही पक्षों वाले हैं, दोनों ही शुभ्र हैं और दोनों ही सरोवर में निवास करते हैं, फिर भी हंसों और कौओं में बड़ा अन्तर जाना जा सकता है ॥ ४ ॥

२६१. हंस! नवीन कमलों के मृणालों और (मृणाल भक्षी पक्षियों के) कोलाहलों से विभूषित<sup>१</sup> (अथवा नवीन कमल-मृणालों की चंचल मालाओं से युक्त) मानस की छोड़कर नीरव क्षुद्र नदी का सेवन करते हुये तुम लज्जा से मर क्यों न गये? ॥ ५ ॥

१. मूल में मालिअ शब्द है। मैंने पाइयसदमहृणव के आचार पर उस का विभूषित अर्थ दिया है।

- २६२ एकेण य पासपरिद्विण हसेण होइ जा सोहा ।  
त सरवरो न पावइ बहुएहि वि ढिकसत्येहि ॥ ६ ॥  
एकेन च पाश्वर्परिस्थितेन हसेन भवति या शोभा ।  
ता सरोवरो न प्राप्नोति बहुभिरपि ध्वाक्षसार्थे ॥
- २६३ माणससररहियाण जह न सुह होइ रायहसाण ।  
तह तस्स वि तेहि विणा तीरुच्छगा न सोहति ॥ ७ ॥  
मानमसरोरहिताना यथा न सुख भवति राजहसानाम् ।  
तथा तस्यापि तैर्विना तीरोत्सङ्गा न शोभन्ते ॥

### २९ चदवज्जा [चन्द्रपट्टति]

- २६४ सव्वायरेण रक्खह त पुरिस जत्य जयसिरी वसइ ।  
अत्यमिय च्चदविवे ताराहि न कीरए जोण्हा ॥ १ ॥  
सर्वादरेण रक्षत त पुरुष यत्र जयश्रीर्वसति ।  
अस्तमिते चन्द्रविम्बे ताराभिर्न क्रियते ज्योत्स्ना ॥
- २६५ जह जह वड्डेइ मसी तह तह ओ पेच्छ घेप्पइ मएण ।  
वयणिज्जवज्जियाओ कम्म वि जइ हुति रिद्धीओ ॥ २ ॥  
यथा यथा वर्धते शशी तथा तथाहो पश्य गृह्यते मृगेण (मदेन) ।  
वचनीयवर्जिता वस्यापि यदि भवन्त्युदय ॥
- २६६ जइ चदो किं बहुतारएहि बहुएहि किं च तेण विणा ।  
जम्म पयामो लोए घवलेइ महामहीवट्ठ ॥ ३ ॥  
यदि चन्द्र किं बहुतारकाभिर्गुह्यं किं च तेन विना ।  
यस्य प्रकाशो लोके धवल्यति महामहोपप्लवम् ॥
- २६७ चदम्म खओ न हु तारयाण रिद्धी वि तम्म न हु ताण ।  
गरयाण चडणपडण इयग उण निच्चपडिया य ॥ ४ ॥  
चन्द्रस्य क्षया न गन्तु तारकाणामुदिरपि तस्य न गन्तु तामाम् ।  
गुह्यतागामारोहणपतनमिनर पुनर्नित्यपतितश्च ॥

२६२ तट पर स्थित एक ही मराल से सरोवर जो शोभा पाता है, वह बहुत से सारसों के समूहों<sup>१</sup> से भी नहीं ॥ ६ ॥

२६३. जैसे मानस के अभाव में राजहंसों को सुख नहीं मिलता है, वैसे ही हंसों के बिना मानस के भी तट सुशोभित नहीं होते ॥ ७ ॥

### २९—चन्द्र-वज्जा (चन्द्र-पट्टति)

२६४. जिसमें जयन्ती निवास करती है, उसकी रक्षा बड़े आदर से करो। चन्द्र के अस्त हो जाने पर तारों से चाँदनी नहीं होती है ॥ १ ॥

२६५. चन्द्रमा जैसे-जैसे बड़ता है, ओह देखो, तैसे-तैसे मृग (कलक) द्वारा गृहीत होता जाता है (पक्ष में मद द्वारा)। यदि किसी की ऋद्धियाँ धोप-हीन होनी (तो कितना अच्छा होता) ॥ २ ॥

२६६. जिसका प्रकाश विस्तृत भू-पृष्ठ को घवल बना देता है, उस अकेले चन्द्रमा के रहते बहुत से तारों से क्या प्रयोजन? और उसके न रहने पर बहुत से तारों से भी क्या लाभ? ॥ ३ ॥

२६७ चन्द्रमा का क्षय होता है, तारों का नहीं, ऋद्धि भी उसी की होती है, उनकी नहीं। चढ़ाव-उतार श्रेष्ठ जनों का ही होता है, अन्य क्षुद्र लोग तो सदैव पतनावस्था में ही रहते हैं ॥ ४ ॥

१. मूल में टिक शब्द है। इसका अर्थ रत्नदेव की टीका में नहीं है। डा० जगदीश चन्द्र जैन ने (प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ० ५८५) टिक का अर्थ मेढक लिखा है (जिस की प्रामाणिकता सन्दिग्ध है)। पाइयसद्-महर्षव के अनुसार वह पक्षि विशेष का वाचक है। प्रो० पटवर्धन ने उसे वीए या सारस के अर्थ में ग्रहण किया है। इन दोनों अर्थों में प्रथम (बीया) उपयुक्त नहीं है क्योंकि प्रसंगानुसार किसी जलचर विह्व का हो वर्णन होना चाहिये। द्वितीय अर्थ (सारस) ग्राह्य हो सकता है। हिन्दी काव्यों में उक्त शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'देशी नाममाला' में बायस (बीया) के अर्थ में उक्त शब्द संकलित है (दको व बायसे—४।१३) और साथ ही बणाका के अर्थ में डेंकी शब्द भी है (बलाद्या डेंकी—४।१५)।



- २६८ रयणायरम्मि जम्मो हरसिरतिलओ सहोयरा लच्छो ।  
 विहडियकलाकलावो दमिया वि समीहए चदो ॥ ५ ॥  
 रत्नाकरे जन्म हरसिरस्तिलव नहोदरा लक्ष्मी ।  
 विघटितकलाकलापो दशामपि समीहते चन्द्र ॥
- २६९ हरसिरमरणम्मि गओ लुक्कनो तह जडाण भज्जम्मि ।  
 तह वि गिलिज्जइ चदो विहिविहिय को निवारेइ ॥ ६ ॥  
 हरसिरशरणे गतो निलयस्तया जटाना मध्ये ।  
 तथापि गित्यने चन्द्रो विधिविहिन को निवारयति ॥

### ३०. छइल्लवज्जा [विदग्धपद्धति]

- २७० नयर न होइ अट्टालएहि पायारतुगसिहरेहि ।  
 गामो वि होइ नयर जत्य छइल्लो जणो वसइ ॥ १ ॥  
 नगर न भवत्यट्टालकैः प्राकारस्तुङ्गशिखरैः ।  
 ग्रामोऽपि भवति नगर यत्र विदग्धो जनो वसति ॥
२७१. निवसति जत्य छेया ललियक्खरकव्वववणे कुसला ।  
 जाणति वक्कमणिय सुन्दरि नयर, न सो गामो ॥ २ ॥  
 निवसन्ति यत्र छेया ललिनाक्षरकाव्यबन्धने कुशला ।  
 जानन्ति वक्कमणिन सुन्दरि नगर, न स ग्राम ॥
- २७२ जो अपिऊण जाणइ जपियमत्त च जाणए अत्य ।  
 देमो तेण पवितो अच्छउ नयर वसतेण ॥ ३ ॥  
 यो जन्पिनु जानानि जत्थिममात्र च जानात्ययम् ।  
 देशस्तेन पवित्र आस्ता नगरं वसता ॥
- २७३ गुरविह्वलंधिया अवि आवइ पत्ता वि आउरमणा वि ।  
 मिविणतरे वि छेया नियकज्ज नेय मिडिल्लनि ॥ ४ ॥  
 गुरविमल्लङ्घना अप्यापद प्राप्ता अप्यातुरमनमोऽपि ।  
 स्वप्नान्तरेऽपि छेया निजवाचं नेत्रं निविडयन्ति ॥

२६८ जिम का जन्म रत्नाकर में हुआ है, जो शिव के मस्तक का तिलक है, और जिसकी बहन लक्ष्मी है, उस चन्द्रमा की भी कलाएँ क्षीण हो जाती हैं और वह भी दुर्दशा को प्राप्त हो जाता है।

२६९. विधि का विधान कौन रोक सकता है? चन्द्रमा ने शिव के शिर पर शरण ली और उनकी जटाओं में भी जाकर छिपा, तब भी राहु उसे निगल ही गया ॥ ६ ॥

### ३०—छद्मल-वज्जा (विदग्ध-पद्धति)

२७०. अट्टालिकाओं और ऊँचे प्राचीर-शिखरी से नगर नहीं होता। जहाँ विदग्ध-जन निवास करता है, वह गाँव भी नगर बन जाता है ॥ १ ॥

२७१. सुन्दरि! जो ललिताक्षर काव्यों की रचना में पटु और वक्रोक्ति के अभिज्ञ है, वे विदग्ध जहाँ निवास करते हैं, वह नगर है, ग्राम नहीं ॥ २ ॥

२७२. जो संभाषण करना जानता है और कही हुई बात का मर्म तुरन्त समझ जाता है, उसके रहने से नगर को कौन कहे, देश पवित्र हो जाता है ॥ ३ ॥

२७३. चतुरजन विपुल-वैभव-द्वारा ऊपर उठने पर भी, आपत्ति में पड़ने पर भी, आतुर-चित्त होने पर भी और स्वप्न में अवस्थित रहने पर भी अपना कार्य शिथिल नहीं करते ॥ ४ ॥

श्री पटवर्धन ने ढक को ढिक का मूल समझ कर उसका अर्थ कौआ लिखा होगा। वस्तुतः ढक में ढिक का बनना जتنا स्वाभाविक नहीं है, जितना ढेकी से। स्त्रीलिंग ढेका का आद्यस्वर ह्रस्व होने पर उसका रूप ढिकी हो जायगा जिसका पुल्लिङ्ग रूप होगा ढिक। इसका अर्थ बगुला या बक है। बक जलचर विहग है। काव्यों में हंसों के प्रतिपक्षी के रूप में सर्वत्र उसी का वर्णन आता है। अतः यही अर्थ उपयुक्त है।

- २७४ अन्नं घरति हियए अन्नं वायाइ कीरए अन्न ।  
 छेयाण पत्थिवाण थ खलाण मग्गो च्चिय अउव्वो ॥५॥  
 अन्यद्वरन्ति हृदयेऽन्यद्वाचि क्रियतेऽन्यत् ।  
 छेकाना पार्थिवाना च खलाना मार्गं एवापूर्वं ॥
- २७५ छेयाण जेहि कज्ज न हु होसइ जेहि जम्मलक्खे वि ।  
 दोहिं पि तेहि सरिससरिस च्चिय हुति उल्लावा ॥६॥  
 छेकाना ये कार्यं न खलु भविष्यति येज्जन्मलक्षेऽपि ।  
 द्वाभ्यामपि ताभ्या सदृशसदृशा एव भवन्त्युल्लापा ॥
- २७६ सम्भावबाहिरेहि तह कह वि पियक्खरेहि जपति ।  
 जह बधव त्ति कलिउ लोए सीसेहि वुब्भति ॥ ७ ॥  
 सद्भावबहिर्भूतेस्तथा कथमपि प्रियाक्षरेजल्पन्ति ।  
 यथा बान्धवा इति कलयित्वा लोके शीर्षैरुह्यन्ते ॥
- २७७ दिट्ठीतुलाइ भुवण तुलति जे चित्तचेलएनिहिय ।  
 को ताण छेयवाणिज्याण भण खडण कुणइ ॥ ८ ॥  
 दृष्टितुल्या भुवन तुल्यन्ति ये चित्ततुलापात्रे निहितम् ।  
 कस्तेषा छकवाणिजा भण खण्डन करोति ॥
- २७८ त नत्थि त न हूय न हु होसइ त च तिहुयणे सयले ।  
 त विहिणा वि न विहिय ज न हु नाय छइल्लेहि ॥९॥  
 तन्नास्ति तन्नभूत न खलु भविष्यति तन्न त्रिभुवनेमक्खे ।  
 तद्विधिनापि न विहित यत्त खलु जात विदग्धे ॥
- २७९ जह पढमदिणे तह पच्छिमम्मि फरुसाइ नेय जपति ।  
 अव्वो महानुभावा विरज्जमाणा वि दुल्लक्खा ॥ १० ॥  
 यथा प्रथमदिने तथा पश्चिमेऽपि पर्याणि नैव जल्पन्ति ।  
 अहो महानुभावा विरज्यमाना अपि दुर्लक्ष्या ॥

२७४. चतुरजन (विदग्ध), राजा और खलो का मार्ग ही अपूर्व है। वे मन में अन्य सोचते हैं, बाणी से अन्य कहते हैं और करते कुछ अन्य हैं ॥ ५ ॥

२७५. जिनसे अपना काम निकलना है और जिनसे लाखों जन्मों में भी कोई काम नहीं निकलेगा—दोनों से चतुरों की एक-जैसी बातें होती हैं ॥ ६ ॥

२७६. चतुर लोग कुछ ऐसे ढंग से प्रिय शब्द बोलते हैं कि सच्चे प्रेम का अभाव होने पर भी सच्चार में सब उन्हें अपना भाई समझ कर शिरोधार्य कर लेते हैं ॥ ७ ॥

२७७. बताइये, जो चित्त के पलड़े पर रखे हुये सम्पूर्ण जगत् को दृष्टि की सुला पर तौल लेते हैं, उन विदग्ध-जन-रूपी वणिका को कौन ठग सकता है ? ॥ ८ ॥

२७८. जिसे विदग्ध नहीं जानते, वह न है, न हुआ, न होगा और उसे विधाता ने भी नहीं समझा है ॥ ९ ॥

२७९. अहो, महानुभाव (विदग्ध-जन) विरक्त होने पर भी कठिनाई से लक्षित होते हैं (अर्थात् पहचाने जाते हैं)। वे मैत्री के आरन में जिस प्रकार मधुर सभाषण करते हैं, उसी प्रकार मैत्री के अन्तिम दिन भी वे कठवी बात नहीं कहते ॥ १० ॥

- २८० बहुकूडकवडभरियाण पुत्ति छेयाण जो पिडे पडइ ।  
 सो सुन्नो सुन्नमणो सिविणे वि न पावए सुख ॥ ११ ॥  
 बहुकूटकपटमृताना पुत्ति च्छेकाना जो पिटे पतति ।  
 स दान्य शून्यमना स्वप्नेऽपि न प्राप्नोति सौख्यम् ॥
- २८१ \*जह कह वि ताण छप्पन्नयाण तणुयगि गोयरे पडसि ।  
 ता थोरवसणदाहेक्कमडिया दुक्कर जियसि ॥ १२ ॥  
 यदि कथमपि तेषा पटप्रज्ञाना तन्वद्भि गोचरे पतसि ।  
 तद् महदव्यसनदाहैकमण्डिता दुष्कर जीवसि ॥
- २८२ मा पुत्ति वक्कवक्क जपसु पुरओ छइल्ललोयाण ।  
 हियए ज च निहित त पि हयासा मुणति बुद्धीए ॥ १३ ॥  
 मा पुत्ति वक्कवक्क जल्प पुरतश्छेकलोकानाम् ।  
 हृदये यच्च निहित तदपि हताशा जानन्ति बुद्ध्या ॥
- २८३ लीलावल्लोयणेण वि मुणति जे पुत्ति हियपरमत्थ ।  
 ते कारिमउवयारेहि कह नु छेया छलिज्जति ॥ १४ ॥  
 लीलावल्लोकनेनापि जानन्ति ये पुत्ति हृदयपरमार्थम् ।  
 ते कृत्स्नमोपचारै कथ नु च्छेकाश्छत्यन्ते ॥
- २८४ सहस त्तिज न दिट्ठो सरलसहावेण ज न आलतो ।  
 उवयारो ज न कओ त विय कलिय छइल्लेहि ॥ १५ ॥  
 सहसेति यत्र दृष्ट सरलस्वभावेन यन्नालपित ।  
 उपचारो यन्न वृत्तस्तदेव कलिस्त छेकै ॥

३१ पचमवज्जा [पञ्चमपद्धति]

- २८५ कठम्भतरणिग्गयदरधोलिरघुरदुरत्तहुकार ।  
 खलिरत्तर पि भारइ पयिय मा पचम सुणनु ॥ १ ॥  
 कण्ठाभ्यन्तरनिगतदरपूर्णशीलधुरधुरायमाणदुङ्कारम् ।  
 स्सत्तनशीलाधरमपि मास्यति पयिक मा पञ्चम श्रुणु ॥

२८० पुत्रि ! जो नाना छल-वपट से भरे विदग्धो (चतुर-व्यक्तियों) के पाले पड़ता है, उस मूल्य मनुष्य का मन सर्वत्र रिक्त रहता है स्वप्न में भी सुख नहीं पाना ॥ ११ ॥

२८१. \*हे कृशाणि ! यदि किसी प्रकार तुम उन चतुर जनों के समक्ष पड़ गई तो स्थूल साँड के समान एक मात्र दाह (तप्तशलाकाक और पीड़ा या जलन) से युक्त होकर कठिनाई से जीवित रहोगे (पाठभेद में—एक मात्र भारी दुःख की जलन से युक्त होकर कठिनाई से जीवित रहोगे) ॥ १२ ॥

२८२. अरी बेटी ! चतुरों के आगे टेटी (वक्र-भणिति) वानें मन करो । ये दुष्ट हृदय में जो रहता है, उसे भी बुद्धि से जान लेंते हैं ॥ १३ ॥

२८३ पुत्रि ! जो लीलापूर्वक देवकर भी हृदय का रहस्य जान लेते हैं, वे विदग्ध कृत्रिम उपचारों से धोखे में नहीं आ सकने ॥ १४ ॥

२८४ सहसा जिसे देखा नहीं, जिसके साथ मरल स्वभाव से बातें भी नहीं की और जिसके प्रति कोई उपचार भी नहीं किया, उस प्रियतम को विदग्धों ने जान लिया ॥ १५ ॥

### ३१—पञ्चमवज्जा (पञ्चम-पद्धति)

२८५ हे पथिक ! जिसमें किञ्चित् घुरघुराना हुई ठूकार मिश्रित है, वह कठ के भीतर में निराला हुआ पञ्चमरास्य स्वलिप्ताक्षर (दूधे बक्षरो वाला) होने पर भी मार डालना है, मन सुनो ॥ १ ॥

\* विशेष विवरण परिशिष्ट 'स' में द्रष्टव्य ।

२८६. घोलंततारवणुज्जलेण वरतरुणिकणलग्गेण ।  
 लोयणजुयलेण व पचमेण भण को न सतविओ ॥ २ ॥  
 घूर्णमानतारवणोज्ज्वलेन वरतरुणीकर्णलग्गेन ।  
 लोचनयुगलेनेव पञ्चमेन भण को न संतापितः ॥
२८७. अन्ने वि गामराया गिज्जता देति सयलसोक्खाइं ।  
 एयस्स पुणो ह्यपचमस्स अन्नो चमक्कारो ॥ ३ ॥  
 अन्नेऽपि ग्रामराया गीयमाना ददति सकलसौख्यानि ।  
 एतस्य पुनर्हृतपञ्चमस्यान्यश्चमत्कारः ॥
२८८. \*अप्पणकज्जेण वि दीहरच्छि थोरयरदीहरणरण्या ।  
 पचमसरपसरुगारगट्ठिभणा एति नीसासा ॥ ४ ॥  
 आत्मकार्येणापि दीर्घाक्षि महत्तरदीर्घरणरणाः ।  
 पञ्चमस्वरप्रसारोद्गारगर्भिता आयन्ति निश्वासाः ॥
२८९. त वचिओ सि पिययम तीए थाहोहसवलज्जता ।  
 न सुया नीसासखलतमथरा पचमतरगा ॥ ५ ॥  
 त्ववच्छितोऽसि प्रियतम तस्या वाष्पीषसवल्यमानाः ।  
 न श्रुता निश्वासस्तलन्मन्थरा पञ्चमतरङ्गा ॥
२९०. सुम्मइ पचमगेय पुज्जिज्जइ वसहवाहणो देवो ।  
 हियइच्छिओ रमिज्जइ ससारे इत्तिथ सार ॥ ६ ॥  
 श्रूयते पञ्चमगेय पूज्यते वृषभवाहनो देव ।  
 हृदयेऽसितो रम्यते ससार एतावत्सारम् ॥

३२. नयणवज्जा [नयनपद्धति.]

२९१. \*नयणाइ समाणियपत्तलाइ परपुरिमजीवहरणाइ ।  
 असियसियाइ थ मुद्धे खणाइ व क न मारति ॥ १ ॥  
 नयने समानीततीक्ष्णे (तीक्ष्णो) परपुरिपञ्चहरणे (हरणो) ।  
 असितसिते (असितनिनी) च मुग्धे खङ्गाविव कं न मारयतः ॥

२८६. धूमती हुई पुतलियों के वर्ण से मनोहर, वर-तरुणियों के कानों को छू लेने वाले दो नेत्रों के समान जो गूँजने वाले अक्षरों से प्रिय हैं तथा जो श्रेष्ठ तरुणियों के कानों को भला लग रहा है, उस पंचमराग से कौन संतप्त नहीं होता ॥ २ ॥

२८७ अन्य भी ग्राम (अर्थात् स्वर-समूह) और राग गाये जाने पर सम्पूर्ण सुख देते हैं। इस दुष्ट पंचम का चमत्कार ही अन्य है ॥ ३ ॥

२८८. \*हे विशाल-लोचने ! जिनके भीतर पंचम-स्वर का प्रसार रहता है, उन मार्मिक वचनों से युक्त, दीर्घ, स्थूल (स्पष्ट या गंभीर) और उद्वेगोत्पादक निश्वास (केवल प्रणय प्रसूत नहीं होते अपितु) अपने कार्य (कठिन श्रम) से भी आते हैं ॥ ४ ॥

२८९. प्रियतम ! तुम वचित रह गये क्योंकि अश्रुओं के प्रवाह से सबलित, लम्बी साँसों से स्खलित और धीमा हो जाने वाले उसके<sup>१</sup> पंचम राग की तान नहीं सुनी ॥ ५ ॥

२९० पंचम-गीत सुना जाय, भगवान् शिव की पूजा की जाय और मनचाहे के साथ रमण किया जाय—इतना ही ससार में सार (तत्त्व) है ॥ ६ ॥

### ३२—नयन-वज्रा (नयन-पद्धति)

\*२९१. अरी भुग्धे ! शत्रु के सैनिकों का (पुरुषों का) वध करने वाले, कृष्ण कान्तियुक्त एव साथ में लाये गये (या संचालित) तीक्ष्ण खड्गों के समान, पराये पुरुषों का जोव लेने वाले (वियोग में) समादृत एव पश्युक्त तथा कृष्णधवलकान्ति वाले तेरे नेत्र किस-किस को नहीं मार डालते हैं ॥ १ ॥

१. मूल में तोए (तस्या) शब्द है।

\*विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य।



- २९२ जत्तो नेहस्स भरो तत्तो निवडति कसणधवलाइ ।  
चलचलयकोडिमोडणकराइ नयणाइ तरुणीण ॥ २ ॥  
यत स्नेहस्य भरस्ततो निपतन्ति कृष्णधवलानि ।  
चञ्चलकोटिमोटनकराणि नयनानि तरुणीनाम् ॥
- २९३ सवियारसविभ्रमरहसवसविसट्टतमणहरुदामा ।  
मयणाउलाण दिट्ठी लक्खिज्जइ लक्खमज्झम्मि ॥ ३ ॥  
सविकारसविभ्रमरभसवशविवसन्मनोहरोदामा ।  
मदनाकुलाना दृष्टिर्लक्ष्यते लक्षमध्ये ॥
- २९४ जत्तो विलोलपम्हलधवलाइ चलति नवर नयणाइ ।  
आयण्णपूरियसरो तत्तो च्चिय धावइ अणगो ॥ ४ ॥  
यतो विलोलपक्ष्मलधवलानि चलन्ति केवल नयनानि ।  
आकर्णपूर्वतशरस्तत एव धावत्यनङ्ग ॥
- २९५ कस्स न भिदइ हियय अणगसरधोरणि व्व निवडती ।  
वालाइ वलियलोयणफुरतमयणालसा दिट्ठी ॥ ५ ॥  
कस्य न भिनत्ति हृदयमनङ्गशरधोरणीव निपतन्ती ।  
वालाया वलितलोचनस्फुरन्मदनाल्सा दृष्टि ॥
- २९६ नयणाइ तुज्झ सुदरि विसेण भरियाइ निरवसेसाइ ।  
एमइ मारति जण अलज्जि किं कज्जलं देसि ॥ ६ ॥  
नयने तव मुन्दरि विपेण भूते निरवशेपे ।  
एवमेव मारयतो जनमलज्जे वि कज्जलं ददाति ॥
- २९७ ईसिसिदिध्नकज्जलणीलुप्पलसच्छहेहि नयणेहि ।  
वम्महमत्ता वाला मइया इव भमइ उत्तट्ठा ॥ ७ ॥  
ईषदीपदत्तवज्जग्ग्नोलात्स्नच्छायाभ्या नयनाभ्याम् ।  
मन्मथमत्ता वाला मृगोव भ्रमत्युत्तम्या ॥

२९२. जो चंचल कोरों को वक्र बना देते हैं, वे तरुणियों के कृष्ण-  
श्वेत नेत्र जहाँ प्रेम को प्रगाढ़ता होती है, वही पड़ते हैं ॥ २ ॥

२९३. मदनाकुलो की दृष्टि—जो विकार और विभ्रम (कटाक्ष) से  
युक्त रहती है, जो उत्सुकता से खिली रहती है, जो सुन्दर लगती है और  
जिसे रोका नहीं जा सकता—लाखों में पहचानी जा सकती है ॥ ३ ॥

२९४. केवल चंचल-पक्षों वाले शुभ्र नेत्र जहाँ जाते हैं, वही कामों  
तक बाण खींचे हुये कामदेव जाता है ॥ ४ ॥

२९५. बाला की वह दृष्टि, जो वक्र-लोचनों से सूचित होने वाले  
कामविकार से अलसायी है, कामदेव के बाणों को पक्षि के समान किनका  
हृदय नहीं वेध देती ॥ ५ ॥

२९६. हे मुन्दरि ! पूर्णतया विष से भरी हुई (विष का वर्ण श्याम  
है) तुम्हारी आँखें ऐसी ही लोगों को भार डालती हैं, (फिर) काजल क्यों  
देती हो ? ॥ ६ ॥

२९७. थोड़ा-सा काजल देने में जिनको कान्ति नीलोत्पल-जैसी हो  
गई है उन नेत्रों वाली वह बाला मदनोन्मत्त होकर वस्तु मृगों के समान  
विचर रही है ॥ ७ ॥

- २९८ वकेहि पिओ सरलेहि सज्जणो उज्जुएहि मज्झत्यो ।  
 आयबिरेहि रिउणो नयणाइ चउव्विहा हुति ॥ ८ ॥  
 वक्के. प्रिय सरले सज्जन ऋजुभिर्मध्यस्थ ।  
 अगताग्रे रिषवो नयनानि चतुर्विधानि भवन्ति ॥
- २९९ नयणाण पडउवज्ज अहवा वज्जाउ वड्डिल किं पि ।  
 अमुणियजणे वि दिट्ठे अणुराय जाइ पावति ॥ ९ ॥  
 नयनयो पततु वज्जमथवा वज्जादधिक किमपि ।  
 अज्ञातजनेऽपि दृष्टेऽनुराग ये प्राप्नुत ॥
- ३०० धावति तम्मूह धारिया वि वलियाइ तम्मि वलमाणे ।  
 जणसकुले वि नच्चावियाइ तेणम्ह नयणाइ ॥ १० ॥  
 धावतस्तन्मुख धारिते अपि, वलिते तस्मिन्बलति ।  
 जनसङ्कुलेऽपि नतिते तेन मम नयने ॥  
 ३३ थणवज्जा [स्तनपदति]
- ३०१ ठड्ढा खलो व्व सुयणो व्व सगया नरवइ व्व मडलिया ।  
 थणया तह दुगग्यचितिय व हियए न मायति ॥ १ ॥  
 स्तब्धो खल इव मुज्जम इव सगती नरपतिरिव मण्डलितो ।  
 स्तनी तथा दुर्गन्तचिन्तेव हृदये न मात ॥
- ३०२ अमुहा खलो व्व कुडिला मज्झ से किविणदाणसारिच्छा ।  
 थणया सप्पुरिसमणोरह व्व हियए न मायति ॥ २ ॥  
 अमुखो खल इव कुटिलो मध्येऽस्या वृषणदानसदृशो ।  
 स्तनी सत्पुरुषमनोरथा इव हृदये न मात ॥
- ३०३ तुलओ व्व समा मित्तो व्व सगया उन्नओ व्व अक्कलिया ।  
 सुयणो व्व सत्थहावा सुहडो व्व ममुट्ठिया थणया ॥ ३ ॥  
 तुलेव समो मित्रमिव सङ्गतो उन्ना इवाम्गलितो ।  
 मुज्जम इव स्वस्यभायो (शस्तभावी) मुमट इव समुत्थितो स्तनी ॥

२९८. नेत्र चार प्रकार के होते हैं—प्रियो के लिये वक्र, सज्जनो के लिये सरल, मध्यस्थ के लिये ऋजु और शत्रुओं के लिये रक्त ॥ ८ ॥

२९९. उन नयनों पर वज्र पड़े अथवा वज्र से भी अधिक कुछ पड़े, जो अपरिचित जनो को भी देखकर अनुरक्त हो जाते हैं ॥ ९ ॥

३००. उसने लोगो की भीड़ में भी मेरी आँखों को नचा दिया । वे रोकने पर भी उसके सम्मुख दौड़ पड़ी और उसके मुड़ने पर मुड़ गई ॥ १० ॥

### ३३—थण-वज्जा (स्तन-पद्धति)

३०१. (ये) स्तन खलो के हृदय के समान कठोर है, मित्रों से सेवित (संगत) सज्जन के समान एक दूसरे से सटे (सगत = मिले) हैं, राजन्य मंडल के मध्य-स्थित (मंडलित) राजा के समान गोल (मंडलित) हैं और दरिद्र की चिन्ता के समान हृदय (मन और छाती) में नहीं समाते हैं ॥ १ ॥

३०२. \*जिन में दुग्ध-रन्ध्र नहीं हैं, वे कुटिलाकृति स्तन, अमद्र मुख एवं कुटिल व्यवहार वाले खल के समान हैं । उनका मध्याश कृपणों के दान के समान है और वे वक्ष-स्थल में यों नहीं समा रहे हैं, जैसे सत्पुरुषों के मनोरथ उनके मन में नहीं समाते ॥ २ ॥

३०३. ये स्तन, जैसे तुलादण्ड सम (सीधा) रहता है वैसे ही सम (बराबर आकार वाले) है, जैसे सज्जन सगत (मित्रों के साथ) रहते हैं वैसे ही सगत (परस्पर सटे हुये) हैं, जैसे उन्नत पुरुष अस्खलित (अपराध रहित) रहता है वैसे ही अस्खलित (पतनरहित) है, जैसे सज्जन शस्त-भाव (अच्छे विचार या स्वभाव वाला) होता है वैसे ही शस्त-भाव (प्रशसनीय रूप या स्वस्थ अवस्था वाले = स्वस्थ-भाव) हैं और जैसे सुभट समुत्थित (मुद्गार्थ उद्यत) रहते हैं वैसे ही समुत्थित (उठे हुये) रहते हैं ॥ ३ ॥

- ३०४ समउत्तुगविसाला उम्मथियकणयकलससकासा ।  
 कामणिहाणो व्व थणा पुण्णविहूणाण दुप्पेच्छा ॥ ४ ॥  
 समोत्तुङ्गविशालो दग्धकनककलससङ्काशो ।  
 कामनिधानमिव स्तनो पुण्यविहीनाना दुप्प्रथ्यो ॥
- ३०५ उत्तुगघणणिरतरपक्काइयमाउल्लिगसारिच्छा ।  
 मारति वासभूसियण्हो व्व विज्जुज्जला थणया ॥ ५ ॥  
 उत्तुगघननिरन्तरो पक्वोभूतमातुल्लिगसदृक्षो ।  
 मारयतो वर्षाभूषितनभ इव विद्युदुज्ज्वलौ स्तनौ ॥
- ३०६ उल्लिवे थण्हारे रेहइ वालाइ घोलिरो हारो ।  
 हिमगिरिवरसिहराओ खलिओ गगापवाहो व्व ॥ ६ ॥  
 उद्भटे स्तनभारे राजते बालाया धूपनशीलो हार ।  
 हिमगिरिवरसिखरात् स्खलितो गङ्गाप्रवाह इव ॥
- ३०७ मग्ग चिय अलहतो हारो पीणुन्नयाण थणयाण ।  
 उल्लिवो भमइ उरे जउणाणइफेणपुजो व्व ॥ ७ ॥  
 मार्गमेवालभमानो हार पीनोन्नतयो स्तनया ।  
 उद्विग्नो भ्रमत्युरसि यमुनानदीफेनपुञ्ज इव ॥
- ३०८ अज्झाइ नीलकचुयभरिउव्वरिय विहाइ थणवट्ट ।  
 जलभरियजलहरतरदरुग्गओ चदविवो व्व ॥ ८ ॥  
 प्रांटयुक्ता नीलकञ्चुभृतावशिष्ट विभाति स्तनपट्टम् ।  
 जम्बूनजलधरान्तरदरोद्गता चन्द्रबिम्बमिव ॥
- ३०९ \*अमया मज्जो व्व ममया समि व्व हरिकरिसिरो व्व चक्कलया ।  
 विविण्णभयणविमुहा पमयन्धि पओहरा तुज्झ ॥ ९ ॥  
 अमृतमयविव, ममदो(ममृगो)शशिव, हरिकरिसिर इव वनुलो ।  
 वृषागान्धर्वनविमुगो प्रसृत्यसि पयोधरो तव ॥

३०४. जो दग्ध-कचन-कलश के समान हैं (चूचुको को श्यामता के कारण) वे सम, उन्नत और विशाल स्तन कामदेव की निधि के समान पुण्यहीनो को कठिनाई से दिखाई देते हैं ॥ ४ ॥

३०५. जो सुपक्व मातुलिग (विजीरा नीबू) के समान वर्तुल हैं, जो विद्युत् के समान उज्ज्वल हैं, वे उन्नत, कठिन और सटे हुये दोनों स्तन, ऊँचे मेघों से परिपूर्ण, मातुलिग के समान रंग वाले, विजली से समुज्ज्वल और वर्षा ऋतु से विभूषित आकाश के समान मार डालते हैं ॥ ५ ॥

३०६. बाला के उन्नत उरोजो पर लहराता हार ऐसा लगता है, जैसे हिमाद्रि के शिखर से स्खलित गंगा-प्रवाह ॥ ६ ॥

३०७. पीनोन्नत उरोजो में मार्ग न पाने वाला हार ऐसे क्षोभित हो रहा है, जैसे यमुना नदी में फेनपुञ्ज ॥ ७ ॥

३०८. नीली ऋचुकी में न समाने के कारण बाहर निकला हुआ युवती का स्तन-पट्ट यों लगता है, जैसे सजल मेघों के अन्तराल से थोड़ा सा झलकता चन्द्रबिम्ब ॥ ८ ॥

\*३०९. जैसे मद (मदिरा) अमत् (अनिष्ट या असम्मत) है वैसे ही ये भी अमय (दोषरहित) है, जैसे चन्द्रमा समृग (मृगसहित) है वैसे ही ये भी समद (कस्तूरी लिप्त) हैं, जैसे ऐरावत का कुम्भ विस्तृत है वैसे ही ये भी विस्तृत हैं । हृ हरिणलोचने (या पसर-भर की आँखों वाली) । जैसे वृषण अभ्यर्थना (याचना) करने पर मुँह फेर लेते हैं वैसे ही तेरे पयोधर भी अभ्यर्थना विमुख हैं (किसी की अभ्यर्थना करने पर चुप रह जाते हैं) ॥ ९ ॥

- ३१० अद्यो न ह्युति थणया मज्झ सरीरे सवत्तिणा जाया ।  
 आलिङ्गणे वि पत्ते दूरे वि पिय निवारंति ॥ १० ॥  
 अहो न भवत स्तनौ मम सरीरे सपदनौ जातौ ।  
 आलिङ्गनेऽपि प्राप्ते दूरेऽपि प्रिय निवारयतः ॥
- ३११ थणजुयल तीइ निरत्तर पि दट्ठूण तारिसं पडियं ।  
 मा करउ को वि गव्व एत्थ असारम्मि ससारे ॥ ११ ॥  
 स्तनयुगल तस्या निरन्तरमपि दृष्ट्वा तादृशं पतितम् ।  
 मा करोतु कोऽपि गर्वमन्त्रासारे ससारे ॥
३१२. कह नाम तीइ त तह सहावगरुओ वि थणहरो पडिओ ।  
 अहवा महिलाण चिर हियए को नाम सठाइ ॥ १२ ॥  
 कथ नाम तस्यास्तत् तथा स्वभावगुणरपि स्तनभरं पतितः ।  
 अथवा महिलानां चिर हृदये को नाम सतिष्ठति ॥
- ३४ लावणवज्जा [लावण्यपदंति]
- ३१३ पल्लविय करयलपल्लवेहि पप्फुल्लिय व नयणेहि ।  
 फलिय मिव पीणपओहरेहि अज्झाइ लावण्ण ॥ १ ॥  
 पल्लवित करतलपल्लवे प्रपुष्पितमिव नयनाभ्याम् ।  
 फलितमिव पीनपयोधराभ्यां प्रौढयुवत्या लावण्यम् ॥
- ३१४ तह चपिऊण भरिया विहिणा लावण्णएण तणुयगो ।  
 जह से चिहुरत्तरगा अगुलिमग व्व दीसति ॥ २ ॥  
 तथा निपीड्य मृता विधिना लावण्येन तन्वङ्गो ।  
 यथास्याश्चिबुरत्तरङ्गा अङ्गुलिमार्गा इव दृश्यन्ते ॥
- ३१५ अन्न लडहत्तणय अन्न च्चिय वा वि वाहुलयछाया ।  
 सामा मामन्नपयावड्ढो रेह च्चिय न होइ ॥ ३ ॥  
 अन्यत्पट्टभत्वमन्यैः वापि बाहुलताछाया ।  
 श्यामा सामान्यप्रजापते रेखैव न भवति ॥

३१०. वरे जो आलिंगन प्राप्त होने पर भी प्रिय को रोक लेते हैं (सटने नहीं देते), वे वंरो बन जाने वाले स्तन काश कही मेरे शरीर में न होते ॥ १० ॥

३११. उसके घने स्तनो को भी इस प्रकार गिरा हुआ देखकर असार ससार में किसी को भी गर्व नहीं करना चाहिये ॥ ११ ॥

३१२. उमका वह स्वभाव से गुरु स्तन भी किम प्रकार गिर गया। अथवा महिलाओं के हृदय में कौन चिरकाल तक ठहरता है ? ॥ १२ ॥

### ३४—लावणवज्रा (लावण्य-पद्धति)

३१३. आर्या (मान्य महिला) का लावण्य, मानों करतल-पल्लवों से पल्लवित, नयनों से पुष्पित और पीनपयोधरों से फलित हो गया है ॥ १ ॥

३१४. विधाता ने उस तन्वगी के शरीर को इस प्रकार दवा-दवा कर सौन्दर्य से भर दिया है कि उसकी केशों की लटें विधाता की अंगुलि-रेखा-सी लगनी हैं अर्थात् सौन्दर्य करते समय विधाना ने शिर पर जहाँ हाथ रखे थे वहाँ काली रेखाएँ पड़ गई हैं। वे ही बालों की काली लटें हैं ॥ २ ॥

३१५. यह श्यामा (पोडश-वर्षीया सुन्दरी) मानो सामान्य प्रजापति की रचना ही नहीं है। इस की सुन्दरता अन्य ही है और इसकी भुजाओं की कान्ति कुछ और ही है ॥ ३ ॥



- ३१६ करचरणगडलोयणवाहुलयाजहणमडलुद्धरिय ।  
अगेसु अमायत रस्त्रोलइ तीइ लावण्ण ॥ ४ ॥  
करचरणगण्डलोचनवाहुलताजघनमण्डलोद्धृतम् ।  
अङ्गेष्वमादितस्ततश्चलति तस्या लावण्यम् ॥
- ३१७ सामा नियबगरुद्धा थणजहणुव्वहणमदसचारा ।  
लक्खिज्जइ मयणणराहिवस्स सचारिणि कुडि व्व ॥ ५ ॥  
स्यामा नितम्बगुरुका स्तनजघनोद्धहनमन्दसचारा ।  
लक्ष्यते मदननराधिपस्य सचारिणी कुटीव ॥
- ३१८ सेयच्छलेण पेच्छह तणुए अगम्मि से अमायत ।  
लावण्ण ओसरइ व्व तिवलिसोवाणपतीहि ॥ ६ ॥  
स्वेदच्छलेन प्रेक्षध्व तनुकेज्जे तस्या अमात् ।  
लावण्यमपसरतीव त्रिवलिसोपानपङ्क्तिभिः ॥

### ३५ सुरयवज्जा [सुरतपद्धति]

- ३१९ दट्ठूण तरुणसुरय विविहपलोद्धृतकरणसोहिल्ल ।  
दीवो वि तग्गयमणो गय पि तेल्ल न लक्खेइ ॥ १ ॥  
दृष्ट्वा तरुणसुरत विविधप्रवर्तमानकरणशोभायुक्तम् ।  
दीपोज्जिपि तद्गतमना गन्मपि तैल न लक्ष्यति ॥
- ३२० मरुमरुमार ति भणतियाइ सुरयम्मि केलिसगामे ।  
पासट्ठिओ वि दीवो सहसा हल्लप्फलो जाओ ॥ २ ॥  
मरुमरुमार इति भणन्त्या सुरत केलिमगामे ।  
पादवन्धिताऽपि दीप सहसा कम्पनशोभो जातः ॥
- ३२१ सुम्पइ वल्लयाण रवो जेउरस्सहो वि निम्मरो जाओ ।  
वस्स वि धनस्स घरे महिला पुरिमत्तण कुणइ ॥ ३ ॥  
ध्रुवते वल्ल्याना रवो नूतुरस्तान्दाऽपि निभंरो जान ।  
वन्त्यापि धन्यस्य गृहे महिला पुरयकर्म कराति ॥

३१६ उसका लावण्य अगो म न समा कर कपोल, लोचन, बाहु-लता  
और जघन-मण्डल से उमड़ता चलता है ॥ ४ ॥

३१७ जिसके नितम्ब भारी हैं, जो स्तन और जघन का भार  
बहन करने के कारण मन्द-मन्द संचरण करती है, वह श्यामा मदन-  
महीपति की जगम कुटो के समान लगती है ॥ ५ ॥

३१८ देखो, उसका सौन्दर्य मानो कुश अगो म न समाकर स्वेद  
के व्याज से त्रिवली के सोपानों से नीचे उतर रहा है ॥ ६ ॥

### ३५—सुरय-यज्जा (सुरत-पद्धति)

३१९ प्रवर्तमान विविध करणा (रतिवन्धो या आमनो) से  
सुशोभित होने वाली, तरुण दम्पतियों की रतिलीला को देखकर दीपक भी  
इतना तल्लीन हो गया कि उसे समाप्त हुये तेल का पता ही न चला ॥ १ ॥

३२०. 'मारो मारो' इस प्रकार कहने वाली मुन्दरी के रति-वेदि  
रुग्राम में पार्श्व स्थित दीपक भी सहसा वपित हो उठा ॥ २ ॥

३२२. दट्ठूण रयणिमज्जे बहुविहकरणेहि निम्भर सुरय ।  
ओ धुणइ दीवओ विभिओ व्व पवणाहओ सीस ॥ ४ ॥  
दृष्ट्वा रजनीमये बहुविचकरणैर्निर्नर सुरतम् ।  
अहो धुनोति दीपो विस्मिन इव पवनाहत शीपम् ॥
- ३२३ दतणहक्खयमहिय निग्घायपडतवलयणिग्घोम ।  
वणमीहाण व जुज्झ वुत्त त तारिस मुरय ॥ ५ ॥  
दन्तनखसतमहित निर्यानपनद्वल्यनिर्घोषम् ।  
वर्णसिंहोखिव युद्ध वृत्त तत् तादृश सुरतम् ॥
- ३२४ ओ मुम्मइ वानहरे विवरोयस्याइ पोटमहिलाए ।  
चलवल्लयकरप्फालणकणतमणिमेह्लासदो ॥ ६ ॥  
अहो श्रूयते वासगृहे विपरोनग्नाया प्रोटमहिलाया ।  
चलवल्लयकरप्फालनकणन्मणिमेखलाशब्द ॥
३२५. न वि तह पटमनमागममुरयमुहे पाविए वि परिओसी ।  
जह वीयदियह नविक्कवल्लन्निवए वयणकमलम्भि ॥ ७ ॥  
नापि तथा प्रथमसमागममुत्तमुत्ते प्राप्तजपि परितोष ।  
यया द्वितीयदिवसे नविक्कल्लक्षिने वदनकमरे ॥
- ३२६ मरहसरमणमपणकअयठिरकणनणिहुयमिक्कार ।  
लम्भइ कुल्लवधुमुरए थवक्कओ मयअमोक्काण ॥ ८ ॥  
सरमसरमणमपणकक्कल्लोल्लवधुनिभूतसौन्दर्यम् ।  
लम्भते कुल्लवधुमुखे म्त्वक्क सकलसौख्यानाम् ॥
- ३२७ झणझणइ कणयडोरो तुट्ठइ हागे गलति रयणाइ ।  
पटवभडनगामो आटतो पोटमहिलाए ॥ ९ ॥  
झणझणायते वनकवाञ्ची वृक्षानि हारो गलन्ति रत्नानि ।  
पाण्डवनटनग्राम आरब्ध प्रोटमहिलाया ॥

३२२. अरे ! मध्यरात्रि में नाना करणों से होने वाली प्रगाढ़ रति को देखकर पवनाहत दीपक मानो विस्मय से शिर हिला रहा है ॥ ४ ॥

३२३. जिसमें आघात से पतनशील कवणों की ध्वनि हो रही थी और जो नखों और दन्तों के क्षत्ती से सनाथ थी, वह रति-लीला कुछ ऐसी लगी जैसे जंगली सिंहों का युद्ध हुआ हो क्योंकि उसमें भी परस्पर आक्रमण करने पर प्रचण्ड गर्जन-शब्द होता है और दाँतों एवं पंजों से घाव हो जाते हैं ॥ ५ ॥

३२४. अहा ! विपरीत-रति करती हुई प्रौढ महिला के हाथों के आघात से चंचल हो जाने वाले ककण और (कटि की चंचलता के कारण) कणित होने वाली किंकिणी के शब्द सुनाइ दे रहे हैं ॥ ६ ॥

३२५. प्रथम समागम में सुरत-मुख प्राप्त कर भी उतना सन्तोष न हुआ, जितना दूसरे दिन सलज्ज दिखाई देने वाले (प्रिया के) मुख-यराग को देख कर ॥ ७ ॥

३२६. जहाँ प्रेमी को शीघ्रता पूर्वक जघन समर्पित कर देने के कारण (या पति को अपना धरीर समर्पित कर देने के कारण) वक्षस्रग्म स्रष्टे हैं और किंकिणी कणित हो जाती है तथा धोमी गोपहार (मी-मी शब्द) होने लगती है, उन कुलवधुओं की रति में मृगी मृगों का ममुदाय मिलता है ॥ ८ ॥

३२८ \*रेहइ सुरयवसाणे अद्भुक्खित्तो सणेउरी चलणो ।  
जिणिऊण कामदेव समुब्भिया धयवडाय व्व ॥ १० ॥  
राजते सुरतावसानेऽर्धोत्क्षिप्त सनूपुरश्चरण ।  
जित्वा कामदेव समुर्ध्वीकृता ध्वजपताकेव ॥

३६ पेम्मवज्जा [प्रेमपद्धति]

३२९ पेम्म अणाइपरमत्थपयडण महुमहो व्व बहुभेय ।  
मोहाणुरायजणय अव्वो किं वदिमो निच्च ॥ १ ॥  
प्रेमानादिपरमार्थप्रकटन मधुमयन इव बहुभेदम् ।  
मोहानुरागजनकमहो किं वन्दामहे नित्यम् ॥

३३० आलावणेण उल्लावणेण सगेण कोउहल्लेण ।  
सोवाणपएहि व पियगुणेहि पेम्म समारुहइ ॥ २ ॥  
आलापनेनोल्लापनेन सङ्गेन कीतूहलेन ।  
सोपानपदैरिव प्रियगुणे प्रेम समारोहति ॥

३३१ आरभो जम्स इमो आसन्नाससिसोसियसरीरो ।  
परिणामो कह होसइ न याणिमो तस्स पेम्मस्स ॥ ३ ॥  
आरम्भो यस्यायमासन्नाश्वासशोषितशरीर ।  
परिणाम कथं भविष्यति न जानीमस्तस्य प्रेम्ण ॥

३३२ दाण न देइ न करेइ चाडुय कहइ नेय सवभाव ।  
दसणमेत्तेण वि किं पि माणुस अमयसारिच्छ ॥ ४ ॥  
दानं न ददाति न करोति चाटुकं वक्ष्यति नैव सद्भावम् ।  
दर्शनमात्रेणापि किमपि मानुषममृतसदृशम् ॥

३३३ जत्थ न उज्जगरओ जत्थ न ईमा विसूरण माण ।  
सवभावचाडुय जत्थ नत्थि नेहो तर्हि नत्थि ॥ ५ ॥  
यत्र नात्रागखा यत्र नेर्प्या खेदो मान ।  
सद्भावचाटुव यत्र नास्ति म्नेहस्तत्र नास्ति ॥

\*३२८. मुरत के अन्त में वधू का नूपुर-युक्त अधोन्मिल चरण ऐसा लगता है, मानो उसने पति-रूपी कामदेव को जीतकर ध्वजा फहरा दी है ॥ १० ॥

### ३६—प्रेम-वर्जा (प्रेम-पद्धति)

३२९. प्रेम विष्णु भगवान् के समान है। वह अनादि है और परमार्थ (कामोपभोग) का प्रकाशक है (विष्णु भी अनादि है और परमार्थ = मोक्ष या ज्ञान के प्रकाशक हैं)। उसके बहुत से (संयोग-वियोगदि) भेद हैं—(विष्णु के भी राम, कृष्णादि बहुत से भेद हैं)। और वह मोह एव अनुराग उत्पन्न करता है (विष्णु भी मोह (माया) में अनुराग उत्पन्न करते हैं अर्थात् मायावी हैं) अहो! क्या हम उसे प्रणाम कर लें? ॥ १ ॥

३३०. आलाप, वक्रोक्ति, ससर्ग और औत्सुक्य—इन सोपानों के समान प्रिय के गुणों से प्रेम ऊपर चढ़ता है ॥ २ ॥

३३१. जिसका आरम्भ ही ऐसा है कि दीर्घ श्वास लेने पर निवटवर्ती लोगों के शरीर झुंक हो जाते हैं, उस प्रेम का अन्त वैसा होगा—नही जानने ॥ ३ ॥

३३२. जो मनुष्य न कुछ देता है, न चाटुकारिता करता है और न मन की बातें ही कहता है, वह दर्शनमात्र से ही अमृत के समान मधुर लगता है ॥ ४ ॥

३३३. जहाँ जागरण नहीं है, जहाँ ईर्ष्या, खेद एव मान नहीं है और जहाँ मच्ची चाटुकारिता नहीं है, वहाँ प्रेम नहीं है ॥ ५ ॥

\* विनये विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य ।

- ३३४ \*दाडिमफल व पेम्म एक्के पक्खे य होइ सकसाय ।  
जाव न बीओ रज्जइ ता किं महुरत्तण कुणइ ॥ ६ ॥  
दाडिमफलमिव प्रेमेकस्मिन्पक्षे भवति सकषायम् ।  
यावन्न द्वितीयो रज्यते (बीज न रज्यते) तार्वात्किं मधुरत्वं करोति ॥
- ३३५ न तहा मारेइ विस खज्जत पलसय पि कवलेहि ।  
जह चक्खुरायरत्त मारेइ सविब्भम पेम्म ॥ ७ ॥  
न तथा मारयति विष खाद्यमान पलशतमपि कवलै ।  
यथा चक्षूरागरत्त मारयति सविभ्रम प्रेम ॥
- ३३६ अब्बो जाणामि अह अत्तणहियएण अन्नहिययाइ ।  
मा को वि कह वि रज्जउ, दुक्खुव्वहणाइ पेम्माइ ॥ ८ ॥  
अहो जानाम्यहमात्महृदयेनान्यहृदयानि ।  
मा कोऽपि कथमपि रज्यतु दुःखोद्वहानि प्रेमाणि ॥
- ३३७ अट्ठिट्ठे रणरणओ दिट्ठे ईसा विडवणा नाह ।  
होइ न उज्जु व वक्क पेम्म जह च्चु कीरस्म ॥ ९ ॥  
अदृष्टे रणरणको दृष्ट ईर्ष्या विडम्बना नाथ ।  
भवति न ऋज्जिव वक्क प्रेम यथा चक्षू कीरस्य ॥
- ३३८ अट्ठिट्ठे रणरणओ दिट्ठे ईसा सुहट्ठिए माण ।  
दूरट्ठिए वि दुक्ख पिण जणे भण सुह कत्तो ॥ १० ॥  
अदृष्टे रणरणको दृष्ट ईर्ष्या सुखस्थिते मान ।  
दूरस्थितेऽपि दुरा प्रिये जने भण सुख कुत ॥
- ३३९ ताव च्चिय होइ मुह जाव न कीरइ पिओ जणो को वि ।  
पियसगो जेहि वओ दुक्खाण समप्पिओ अप्पा ॥ ११ ॥  
तावदेव भवति सुखं यावन्नक्रियत प्रिया जन कोऽपि ।  
प्रियमङ्गा ये शृणा दुःखमपि समपि न आत्मा ॥

\*३३४. जैसे दाडिम-फल (अनार) जब पन्द्रह दिनों का होता है, तब उसका स्वाद कसैला रहता है। जब तक बीज नहीं लाल हो जाता, तब तक क्या उसमें माधुर्य आता है? उसी प्रकार जब प्रेम एक पक्षीय होता है तब कड़ु होता है। जब तक दूसरा प्रेमी अनुरक्त नहीं हो जाता, तब तक क्या उसमें आनन्द आता है? ॥ ६ ॥

३३५ भोजन के कौरो में सौ पल (पल = चार तोले) विष खा जाने पर भी वह उस प्रकार नहीं मारता, जिस प्रकार आँखों के अनुराग में रैंगी शृंगारिक चेष्टाओं से युक्त प्रेम ॥ ७ ॥

३३६. अहो! मैं तो अपने हृदय से दूसरों के हृदय को समझती हूँ। ईश्वर करे, कोई कही भी अनुराग न करे। प्रेम का निर्वाह बड़े क्लेश से होता है ॥ ८ ॥

३३७ नाथ! न देखने पर उत्कठा, देखने पर ईर्ष्या और विडवना उत्पन्न होती है। प्रेम सीधा नहीं, शुरुचबु के समान वक्र है ॥ ९ ॥

३३८ न देखने पर उत्सुकता, देखने पर ईर्ष्या, सुख में स्थित होने पर मान और दूर चले जाने पर दुःख होता है। प्रिय जानों से सुख कहाँ? ॥ १० ॥

३३९ तभी तक सुख रहता है, जब तक किसी से प्रेम नहीं किया जाता। जिसने प्रेमी का साथ किया, उसने सैकड़ों दुःखों में अपने को डाल दिया ॥ ११ ॥

\* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य।

१. देखने से बड़ जाती है डाह न देखने से फिर प्यास घनी।  
दूर दुःखों से कही बसते तब दूरी मुझे छगती अबनी।  
रीझते वे जो प्रसन्न कभी तब मान में बीतते हैं रबनी।  
कोन भला मुख है प्रिय से यह तू ही बता दे अरी सजनी ॥



३४०. दूर गए वि कयविप्पिए वि अन्नत्थ वद्धराए वि ।  
जत्थ मण न नियत्तइ त पेम्म परिचओ सेसो ॥ १२ ॥  
दूर गतेऽपि कृतविप्रियेऽप्यन्यत्र वद्धरागेऽपि ।  
यत्र मनो न निवर्तति तत्प्रेम परिचय शेष ॥
३४१. सो सुवइ सुह सो दुक्खवज्जिओ सो सुहाण सयखाणी ।  
वाए मणेण काएण जस्स न हुवल्लहो को वि ॥ १३ ॥  
स स्वपिति सुख स दु खवर्जित स सुखाना शतखनि ।  
वाचि मनसा कायेन यस्य न खलु वल्लभ कोऽपि ॥
३४२. उल्लवउ को वि महिमडलम्मि जो तेण नत्थि सणडिओ ।  
खरपवणचाडुचालिरदवग्गिसरिसेण नेम्मेण ॥ १४ ॥  
उल्लपतु कोऽपि महीमण्डले यस्तेन नास्ति सनटित ।  
खरपवनचाटुचलनशोलदवाग्निसदृशेन प्रेम्णा ॥
३४३. सो को वि न दीसइ सामलगि एयम्मि दड्ढहयलोए ।  
जस्स समप्पिवि हियय सुहेण दियहा गमिज्जति ॥ १५ ॥  
स कोऽपि न दृश्यते श्यामलाङ्गयेतस्मिन् दग्धहतलोके ।  
यस्य समर्प्य हृदयं मुखेन दिवसा गम्यन्ते ॥
३४४. अब्बो तहिं तहिं चिय गयण भमिऊण वीसमतेण ।  
वोहित्यवायसेण व हसाविया दड्ढपेम्मेण ॥ १६ ॥  
अहो तत्र तत्रैव गगन भ्रान्त्वा विश्राम्यता ।  
यानपात्रवायसेनेव हासिता दग्धप्रेम्णा ॥
३४५. जाए माणप्पसरे फिट्ठे नेहे गयम्मि सन्भावे ।  
अन्नत्थणाइ पेम्म वीरत्त केरिस होइ ॥ १७ ॥  
याते मानप्रसरे भ्रष्टे म्नेहे गते सद्भावे ।  
अभ्यर्थनया प्रेम क्रियमाण वीरुता भवति ॥

३४०. दूर चले जाने पर भी, अप्रिय करने पर भी, अन्य से प्रेम जोड़ लेने पर भी, जहाँ मन नहीं फिरता, वही प्रेम है, शेष तो परिचय मान है ॥ १२ ॥

३४१. मनमा, वाचा और कर्मणा जिसका कोई भी प्रेमी नहीं है, वही मुख से सोता है, वही दुःख-रहित है और उसी के पाम मँकड़ों सुखों की निधि है ॥ १३ ॥

३४२. भू-मण्डल में कोई बताये तो भला कि चाटुकारिता-रूपो खर-पवन से प्रेरित दावाग्नि के समान उस प्रणय ने किसे नहीं भरमाया ? ॥ १४ ॥

३४३. हे श्यामलागि ! इस दग्ध लोक में कोई भी ऐमा नहीं दिखाई देता, जिसके दिन किमी को हृदय अर्पित कर देने पर सुख से बीतने हो ॥ १५ ॥

३४४. जैसे जहाज का पक्षी इधर-उधर सर्वत्र आकाश में भ्रमण कर कही स्थान न पाकर वही लौट आता है, वैसे ही सर्वत्र दून्य में भ्रमण कर फिर उसी स्थान पर आकर टिक जाने वाले प्रेम ने मुझे उपहास्य बना दिया ॥ १६ ॥

३४५. जब मान चला जाना है, स्नेह नष्ट हो जाता है, सद्भाव नहीं रह जाता, तब केवल अभ्यर्थना से होने वाला प्रेम कैसा होना होगा ? ॥ १७ ॥

- ३४६ अद्दसणेण अद्दसणेण दिट्ठे अणालवतेण ।  
माणेण पवसणेण य पच्चविह सिज्जए पेम्म ॥ १८ ॥  
अदशनेनातिदशनेन दुष्टे ज्वालपता ।  
मानेन प्रवसनेन च पञ्चविध क्षीयते प्रेम ॥
- ३४७ अद्दसणेण बालय सुट्ठु वि नेहाणुवद्धमणसाण ।  
हत्थउडपाणियाइ व कालेण गलति पेम्माणि ॥ १९ ॥  
अदशनेन बालक सुष्ठ्वपि स्नेहानुबद्धमनसो ।  
हस्तपुटपानोयानीव कालेन गलन्ति प्रेमाणि ॥
- ३४८ पेम्मस्स विरोहियसधियस्स पच्चक्खदिट्ठुविलियस्स ।  
उययस्स व तावियसीयलस्स विरसो रसो होइ ॥ २० ॥  
प्रेम्णो विरोधित्सधितस्य प्रत्यक्षदृष्ट्यलीकस्य ।  
उदकस्यैव तापितशीतलस्य विरसो रसो भवति ॥
- ३४९ ताव य पुत्ति छइल्लो जाव न पेम्मस्स गोयरे पडइ ।  
नेहेण नवरि छेयत्तणस्स मूला खणिज्जति ॥ २१ ॥  
तावच्च पुत्रि विदग्धो यावन्न प्रेम्णो गाचरे पतति ।  
स्नेहेन केवलं छेवत्वस्य मूलानि खन्यन्ते ॥

### ३७ माणवज्जा [मानपद्धति]

- ३५० अलियपयपिरि अणिमित्तकोवणे असुणि सुणसु मह वयण ।  
एक्कग्गाहिणि सोक्खेक्कवाधव गलइ तारुण ॥ १ ॥  
अलीकप्रजल्पियनिमित्तकोपनेज्जाध्रव आश्रय मम वचनम् ।  
एवग्गाहिणि सौख्यैववान्धवो गलति तारुण्यम् ॥
- ३५१ अग्गाहि मट्ठ दे गेण्ह चदण असुणि सुणसु मह वयण ।  
माणेण मा नडिज्जमु माणसिणि गलइ छणराई ॥ २ ॥  
आजिघ्न मयु हे गूहाण चन्दनमनाश्रय शृणु मम वचनम् ।  
मानेन मा नष्टम्य मनस्विनि गच्छति क्षणरात्रि ॥

३४८. न देखने, अधिक देखने, देखने पर भी न बोलने, मान और प्रवाम—इन पाँच कारणों से प्रेम क्षीण हो जाता है ॥ १८ ॥

३४९. जिनके हृदय पूर्णतया प्रेम में वद्ध हो चुके हैं, उनका भी प्रेम न देखने से कालान्तर में वैसा गलित हो जाता है, जैसे हाथ की अंजलि में रक्ता हुआ पानी ॥ १९ ॥

३४८. दो प्रेमियों में जब विरोध के पश्चात् पुनः सन्निहोनी है और जब किसी का दोष प्रत्यक्ष देख लिया जाता है, तब उष्ण करके पुनः शीतल किये हुये जल के समान प्रेम का स्वाद विकृत हो जाता है ॥ २० ॥

३४९. पुत्रि ! तभी तक कोई चतुर है, जब तक प्रेम के पाले नहीं पड़ता । प्रेम ही के द्वारा चानुर्य की जड़ खोदी जाती हैं ॥ २१ ॥

### ३७—माण-वज्रा (मान-पद्धति)

३५०. मिय्यावादिनि । अनिमित्त-कोपने, न सुनने वाली, एक ही वान पर आग्रह करने वाली, सुन्दरी । मेरी बात सुन लो, सुख ही जिसका एक मान बन्धु है, वह तारथ्य बीत रहा है ॥ १ ॥

३५१. अरी न सुनने वाली । यत्पुपान करो, चन्दन गहन कर लो । मेरी वान सुनो, मान से मन नाचो, यह उत्तम को रात्रि चीन रही है ॥ २ ॥

- ३५२ एदइइ भह पसिज्जसु माण भोत्तूण कुणसु पसिओस ।  
 कयसेहराण सुम्मइ आलावो ज्झत्तिगोसम्मि ॥ ३ ॥  
 हे दयिते, मम प्रमीद मान मुक्त्वा कुरु परितोषम् ।  
 कुक्कुटाना श्रूयत आलापो ज्झटिति प्रभाते ॥
- ३५३ निदाभगो आवडुरत्तण दीहरा य नीसासा ।  
 जायति जस्स विरहे तेण सम केरिसो माणो ॥ ४ ॥  
 निद्राभङ्ग आपाण्डुरत्व दीर्घाश्च निश्वासा ।  
 जायन्ते यस्य विरहे तेन सम कीदृशो मान ॥
- ३५४ नइपूरसच्छहे जोव्वणम्मि दियहेसु निच्चपहिएसु ।  
 अणियत्तासु वि राईसु पुत्ति किं दड्ढमाणेण ॥ ५ ॥  
 नदीपूरसदृशो यौवने दिवसेषु नित्यपथिकेषु ।  
 अनिवृत्तास्वपि रात्रिषु पुत्रि किं दग्धमानेन ॥
- ३५५ जइ माणो कीस पिओ अहव पिओ कीस कीरए माणो ।  
 माणिणि दो वि गइदा एक्कक्खभे न वज्झति ॥ ६ ॥  
 यदि मान कस्मात् प्रियोऽथवा प्रियः, कस्मात् क्रियते मान ।  
 मानिनि द्वावपि गजेन्द्रावेकस्तम्भे न बध्येते ॥
- ३५६ माणिणि मुएसु माण जइ वि पिओ सुट्ठु वल्लहो तुज्झ ।  
 कारणवसेण कूवो न नमइ मुद्धे तुला नमइ ॥ ७ ॥  
 मानिनि, मुञ्च मानं यद्यपि प्रिय सुष्ठु वल्लभस्तव ।  
 कारणवसेन कूपो न नमति मुग्धे तुला नमति ॥
- ३५७ माण अवलत्रती मरिहिसि मुद्धे वसतमासम्मि ।  
 माणो पुणो वि विज्जइ छणादियहा दुल्लहा हुत्ति ॥ ८ ॥  
 मानमरलम्बमाना मरिष्यसि मुग्धे वनन्तमासे ।  
 मान पुनरपि क्रियते क्षणदिवसा दुर्लभा भवन्ति ॥

३५२ हे दयिते (प्रिये) ! प्रसन्न हो जाओ (या पसीज जाओ), मान त्याग कर परितोष कर लो, अब प्रभात-कालिक कुक्कुट का स्वर सुनाई दे रहा है ॥ ३ ॥

३५३ जिसके वियोग में नीद चली जाती है, शरीर पीला पड़ जाता है और लम्बी साँसें लेनी पड़ती हैं, उसके साथ मान कैसा ? ॥ ४ ॥

३५४ हे पुत्रि ! जब यौवन नदी के प्रवाह के समान है, दिन नित्य गतिशील हैं और रातें फिर नहीं लौटती, तब फिर यह दग्ध मान किस लिये करती हो ? ॥ ५ ॥

३५५ जिससे मान किया जाता है, वह प्रिय कहाँ से हो सकता है अथवा जिससे प्रेम है, उससे मान ही कैसा ? मानिनि ! एक ही खम्भे में दो हाथों नहीं बाँधे जाते ॥ ६ ॥

३५६ मानिनि ! मान छोड़ दो । यद्यपि तुम्हारा स्वामी भली प्रकार तुम से प्रेम करता है, फिर भी आवश्यकता वश डेकुली ही झुकती है, कुर्बान नहीं झुकता है ॥ ७ ॥

३५७ भुग्धे ! वसन्त-मास में मान का अवलम्बन कर मर जाओगी । मान फिर कर लेना, उत्सव के दिन दुर्लभ है ॥ ८ ॥

- ३५८ मा पुत्ति कुणसु माण दइओ हिययम्मि निट्ठुरसहावो ।  
 कदलिसरिस पेम्म ढसत्ति तुट्ठ न सघडइ ॥ ९ ॥  
 मा पुत्ति, कुरु मान दयितो हृदये निष्ठुरस्वभाव ।  
 कन्दलीसदृश प्रेम झटिति त्रुटित न सघटते ॥
- ३५९ दढणेहणालपरिसठियस्स सव्भावदलसुयघस्स ।  
 पेम्मुप्पलस्स माए माणतुसारो च्चिय विणासो ॥ १० ॥  
 दृढस्नेहनालपरिसत्थितस्य सद्भावदलसुगन्धस्य ।  
 प्रेमोत्पलस्य मातर्मानतुषार एव विनाश ॥
- ३६० मुय माण माण पिय पियसरय जाव वच्चए सरय ।  
 सरए सरय सुरय च पुत्तिको पावइ अउण्णो ॥ ११ ॥  
 मुञ्च मान मानय प्रिय प्रियसरका यावद्व्रजति शरद् ।  
 शरीरं सरकं सुरतं च पुनः क प्राप्नोत्यपुण्य ॥
- ३६१ तुगो थिरो विसालो जो रइओ मणपव्वओ तीए ।  
 सो दइयदिट्ठिवज्जासणिस्स घाय चिय न पत्तो ॥ १२ ॥  
 तुङ्ग स्थिरो विशालो यो रचितो मानपर्वतस्तथा ।  
 स दयितदृष्टिवज्जाशनेर्घानमेव न प्राप्त ॥
- ३६२ पायवडिओ न गणिओ पिय भणत्तो वि विप्पिय भणिओ ।  
 वच्चतो न निरुद्धो भणकस्स कए कओ माणो ॥ १३ ॥  
 पादपतितो न गणित प्रिय भणनापि विप्रिय भणित ।  
 यजन्त निरुद्धो भण कस्य कृते कृतो मान ॥
- ३६३ माण हु तम्मि किज्जइ जो जाणइ विरह्वेयणादुक्त्त ।  
 अणरमियणिविव्वसेमे कि कीरइ पत्यरे माणो ॥ १४ ॥  
 मान खलु तस्मिन् क्रियने यो जानाति विरह्वेदनादुःखम् ।  
 अरसिकनिविशे वि क्रियन् प्रत्यरे मान ॥

३५८ पुत्रि ! मान मत करो । प्रेमी हृदय से निष्ठुर स्वभाव का है । कदली (अकुर) के समान शीघ्र टूट जाने पर प्रेम फिर जुड़ता नहीं ॥ ९ ॥

३५९ जो स्नेह के सुदृढ नाल पर स्थित है, सद्भाव की पलड़ियों से जो महकता है, उस प्रेमीत्पल का मान रूपी तुपार ही विनाशक है ॥ १० ॥

३६०. जिसमें मदिरा प्रिय लगती है, वह शरद् ऋतु जब तक बीत नहीं जाती, तब तक मान छोड़ दो और प्रिय का सत्कार करो । शरद् ऋतु में बिना पुष्प के बिसे मदिरा और सुरत सुलभ होते हैं ? ॥ ११ ॥

३६१ उसने जो ऊँचा, स्थिर और विशाल मान का पर्वत बनाया था, उस पर प्रेमी के दृष्टि-वज्र के प्रहार का अवसर ही नहीं आया ॥ १२ ॥

३६२ जब प्रिय चरणों पर गिर पड़ा, तब भी उसकी गणना नहीं की, जब प्रिय बोलने लगा, तब भी कटु बातें कही और जब जाने लगा, तब भी नहीं रोका, बताओ । मान ही किस लिये किया था ? ॥ १३ ॥

३६३ जो विरह-वेदना का कष्ट समझता है, मान उसके प्रति किया जाता है । जिसमें कोई विशेषता (सुख या दुःख की) ही नहीं है, उस नीरस पाषाण के प्रति मान क्यों कर रही हो ? ॥ १४ ॥



३६४. उज्जगिरस्स तणुयत्तणस्स सुसियस्स दीहरुणस्स ।  
 एयाण उरं दाऊण पुत्ति माण कुणिज्जासु ॥ १५ ॥  
 उज्जागरस्य तनुत्वस्य शोषितस्य दीर्घरुदितस्य ।  
 एतेषामुरो दत्त्वा पुत्रि मानं कुर्याः ॥

३८. पवसियवज्जा [प्रोषितपद्धति]

३६५ कल्ल किर खरहियओ पवसिहिइ पिओ त्ति सुव्वइ जणम्मि ।  
 तह वड्ढ भयवइ निसे जह से कल्ल चिय न होइ ॥ ११ ॥

कल्य किल खरहृदय प्रवत्स्यति प्रिय इति श्रूयते जने ।  
 तथा वर्धस्व भगवति निशे यथा तस्य कल्पमेव न भवति ॥

३६६. जइ वच्चसि वच्च तुम को वारइ तुज्झ सुहव जतस्स ।  
 तुह गमण मह मरण लिहिय पसत्थी कयतेण ॥ २ ॥

यदि व्रजसि व्रज त्व को वारयति तव सुभग यातः ।  
 तव गमन मम मरण लिखिता प्रशस्तिः कृतान्तेन ॥

३६७. जइ वच्चसि वच्च तुम एण्ह अवऊहणेण न हु कज्ज ।  
 पावासियाण मडय छिविऊण अमगल होइ ॥ ३ ॥

यदि व्रजसि व्रज त्वम् इदानीमवगूहनेन न खलु कार्यम् ।  
 प्रवासिना मृनक स्पृष्ट्वामङ्गल भवति ॥

३६८. वसिऊण मज्झ हियए जीय गहिऊण अज्ज चलिओ सि ।  
 सहवासहरविडवण गगम्मि गओ न मुज्झिहिसि ॥ ४ ॥

उपित्वा मम हृदये जीवं गृहीत्वाद्य चलितोसि ।  
 सहवामगृहविडम्बन गङ्गाया गतो न शोत्स्यसि ॥

३६९. \*जइ वच्चसि वच्च तुम अंचल गहिओ य कुप्पसे कोस ।  
 पढमं चिय सो मुच्चइ जो जीवइ तुह विओएण ॥ ५ ॥

यदि व्रजसि व्रज त्वमञ्जले गृहीतश्चकुप्यसि कस्मात् ।  
 प्रथममेव स मुच्यते यो जीवति त्वद्वियोगेन ॥

३६४. पुत्रि ! रात्रि-जागरण, दुर्बलता, क्षरीर-क्षोषण, चिरकाल तक रोदन, इन सभी (सकटों) को मन में सोच कर ही मान करना चाहिये ॥ १५ ॥

### ३८—पवसिय-वज्जा (प्रोषित-पदति)

३६५ सुनतो हूँ, कल निष्ठुर-हृदय प्रिय परदेश चला जायगा । भगवति यामिनि ! (रात्रि) ऐसी बढ जाओ की सवेरा ही न हो ॥ १ ॥

३६६ सुभग ! यदि जाते हो तो जाओ, तुम्ह जाने से रोकना कौन है ? तुम्हारा प्रस्थान और मेरा मरण, यह प्रशस्ति (लेख) काल ने लिख दी है ॥ २ ॥

३६७ यदि जाते हो तो जाओ, अब आलिंगन की आवश्यकता नहीं है । मृतको को छूने से प्रवास-यानियों का अमंगल होना है ॥ ३ ॥

३६८. मेरे हृदय में रहकर आज जीव लेकर जा रहे हो । अरे सहवास-गृह की विडम्बना करने वाले ! गंगा में जाकर भी शुद्ध नहीं होगे ॥ ४ ॥

\*३६९ यदि जाते हो तो जाओ, जो तुम्हारे वियोग में जीता है, उस देह को (या जीव को) मैं पहले ही त्याग दे रही हूँ ॥ ५ ॥

३७०. न मए रुण्ण न कय अमगल होतु सयलसिद्धीओ ।  
 विरहग्निधूमकट्टयाइयाइ पयलति नयणाइ ॥ ६ ॥  
 न मया रुदित न कृतममङ्गल भवन्तु सकलसिद्धय ।  
 विरहाग्निधूमकट्टकीकृते प्रगलतो नयने ॥
- ३७१ रे ससिवाहणवाहण मा पवससु एरिसम्मि कालम्मि ।  
 सेलसुयासुयवाहणघणसद्धो जत्थ उच्छलइ ॥ ७ ॥  
 रे शशिवाहनवाहन मा प्रवसेदृशे काले ।  
 शैलसुतासुतवाहनघनशब्दो यत्रोच्छलति ॥
- ३७२ रे समिवाहणवाहण वारिज्जतो न ठासि जइ सुहय ।  
 ता लच्छिवासवास अम्हाण वच्च दाळण ॥ ८ ॥  
 रे शशिवाहनवाहन वायंमाणो न तिष्ठसि यदि सुभग ।  
 तदा लक्ष्मीवासवासमस्मम्य व्रज दत्त्वा ॥
- ३७३ इह पथे मा वच्चसु गयवइ भणिय भुय पसारेवि ।  
 पथिय पियपयमुद्दा मइलिज्जइ तुज्ज गमणेण ॥ ९ ॥  
 अस्मिन्पथि मा प्रज गतपतिकया भणित भुज प्रसार्य ।  
 पथिव प्रियपदमुद्रा मलिनोक्रियते तव गमनेन ॥

### ३९ विरहवज्रा [विरहपद्धति]

३७४. \*अज्ज चेय पउयो उज्जागरओ जगस्म अज्जेय ।  
 अज्जेय हलद्दोपिजराइ गोलाइ तूहाइ ॥ १ ॥  
 अयं च प्रोपि न उज्जागरो जनस्याद्येव ।  
 अयं च हृदिदापिजराणि गोदावर्यान्मृगानि ॥
- ३७५ अज्ज चेय पउन्यो अज्ज चिय नुत्तयाइ जायाइ ।  
 रच्छामुह्देउलचच्चराइ अम्ह च हिययाइ ॥ २ ॥  
 अयं च प्रोपिनोऽयं नून्यानि जातानि ।  
 रप्पामुखदेवकुलवत्तराप्यम्माव च हृदयानि ॥

३७०. न मैं रोयी हूँ, न मैंने अमयल ही किया है। तुम्हें सभी सिद्धियाँ (सफलताय) मिलें। ये आँखें तो विरहाग्नि के धुएँ की कटु आहट से चूर रही हैं ॥ ६ ॥

३७१. हे मूर्ख! (शशि के वाहन शिव और उनका वाहन बैल अर्थात् मूर्ख) ऐसे समय प्रवास मत करो जब कि मयूरो (शैलमुता के पुत्र कार्तिकेय और उनका वाहन मयूर) का शब्द मुखरित हो रहा है ॥ ७ ॥

३७२. अरे मूर्ख! अरे सुमग! यदि रोकने पर भी नहीं रकते, तो मुझे पानी<sup>१</sup> (लक्ष्मी का आवास कमल और कमल का आवाम जल) देकर ही जाओ (अर्थात् मैं मर रहो हूँ, तपण करके फिर जाना) ॥ ८ ॥

३७३. गतपतिका ने मुजार्थ पैला कर कहा—‘पथिक’ इस मार्ग से मत जाओ, तुम्हारे जाने से प्रियतम के चरण-चिह्न धुधले हो जायेंगे<sup>२</sup> ॥ ९ ॥

### ३९—विरह-वज्रा (विरह-पद्धति)

३७४. \*आज ही वे चले गये आज ही लोग रात को जाग रहे हैं (चोरो के भय से या विरह से) और आज ही गोदावरी के कूल हरिद्रा से पीले हो गये [उस युवक पर आसक्त महिलाओं अपने शरीरों को हरिद्रा के उद्वर्तन (उग्रटन) में मडित करती थी। आज जब वह चला गया तब उस उद्वर्तन को प्रयोजनहीन समझकर गोदावरी में धो रही हैं, अन उसके कूल पीले हो गये हैं] ॥ १ ॥

३७५. आज ही वे गये और आज ही गली का मुख, देवमन्दिर, घत्वर और हमारे हृदय सूने हो गये हैं ॥ २ ॥

१. यह शैली सूरदास का कूट शैली का प्राचीन रूप है—  
तोया को सुत तासुत को मुत तासुत—यस-चदनी ।

२. बिनती गुन लो हूत भागनि को अब आगे नहीं डग और बढ़ाना ।  
उस जन्म के बन्धु बटोही सुनो घर को किमी दूसरी राह से जाना ।  
परदेश-बसे प्रिय का पद चिह्न पड़ा इसी धूल में है पहचाना ।  
मिट जाय बहो न तुम्हारे प्रयाण से पाँव पड़ें, इस ओर न आना ॥  
विरोप विवरण परिशिष्ट ‘ख’ में द्रष्टव्य ।

- ३७६ अज्ज चिय तेण विणा इमीइ आयवववलकसणाइ ।  
जच्चवमोत्तियाइ व दिसासु घोळति नयणाइ ॥ ३ ॥  
अथैव तेन विनेतस्या आताम्रधवलकृष्णे ।  
जान्यन्धमौक्तिके इव दिक्षु घूर्णतो नयने ॥
- ३७७ अज्ज गओ त्ति अज्ज गओ त्ति अज्ज गओत्ति लिहिरीए ।  
पटम न्चिय दियहद्धे कुड्डो रेहाहि चित्तलिओ ॥ ४ ॥  
अद्य गत इत्यद्य गत इत्यद्य गत इति लिखनशीलस्या ।  
प्रथम एव दिवसार्धे कुड्य रेखाभिश्चिन्तितम् ॥
३७८. अवहिदियहागमासकिरोहि सहियाहि तीइ लिहिरीए ।  
दो तिन्नि तह च्चिय चोरियाइ रेहा फुसिज्जति ॥ ५ ॥  
अवधिदिवसागमासङ्कनशीलानि सखीभिस्तस्या लिखनशीलायाम् ।  
द्वे तिस्रस्तथैव चौरिकया रेखा. प्रोञ्च्यन्ते ॥
- ३७९ 'कइया गओ पिओ', 'पुत्ति अज्ज', 'अज्जेव' कइ दिणा होत्ति' ।  
'एक्को', 'एद्दमेत्तो' भणित मोह गया वाला ॥ ६ ॥  
'कदा गत प्रिय', 'पुत्ति अद्य', 'अथैव वनि दिनानि भवन्ति' ।  
'एवम्', 'एतावन्मात्रम्' भणित्वा मोह गता वाला ॥
- ३८० तह कह वि कुम्मुहुत्ते नियट्टई बल्लहो जियताण ।  
जह फुटियनिप्पिमपुडदल व बीय न सघडइ ॥ ७ ॥  
तथा वयमपि कुम्भूतैः निवर्तते वल्लभो जीवनाम् ।  
यथा मृत्पिण्डानि सपुटदलमिव द्वितीये न सघटते ॥
- ३८१ विरट्ठेण मन्दरेण व द्विय्य दुद्धोदरहि व षट्ठिज्ज ।  
उम्भूटियाइ अज्जो अम्ह रयणाइ व मुत्ताइ ॥ ८ ॥  
विरट्ठ मन्दरेणैव हृदयं दुग्धादधिमिव मधित्वा ।  
उम्भूतिनाम्बणे अम्माक रत्नानां व गुप्तानि ॥

३७६ उनके बिना आज ही ये रक्त, ध्वेत और कृष्ण आखें जात्यन्ध मौक्तिक के समान दिशाओं में लुटक रही हैं (जात्यन्ध मौक्तिकों को कोई नहीं पूछता है) ॥ ३ ॥

३७७ आज चले गये, आज चले गये, वे आज चले गये—इस प्रकार लिखने वाली नायिका ने (वियोग के) पहले आधे दिन में ही सम्पूर्ण भित्ति रेखाओं से चित्रित कर डाली ॥ ४ ॥

३७८. जब नायिका प्रियतम के आगमन के दिन की गणना कर के दोवार पर रेखाय खींचती थी, तब उसकी सखिया 'अवधि का दिन कहीं जा न जाय'—इस आशका से दा-तीन रेखाय छिप कर पाछ देती थी (यदि वही अवधि का दिन आ जायगा तो यह ह्वातिरेक स ही मर जायगी अथवा सखिया समझती थी कि नायक निश्चिन समय पर नहीं लौट पायेगा। अवधि का दिन कहीं आ न जाय और यह मर न जाय, इसलिये चुपके से दो-तीन रेखायें पाछ दिया करती थी) ॥ ५ ॥

३७९ प्रियतम कब गये ? पुत्रि ! आज । कितने दिना का आज होता है ? एक । अरे इतना बड़ा एक दिन हाता है—यह कह कर वह बाला मूर्च्छित हो गई ॥ ६ ॥

३८० जैसे फूटी सीपी का एक भाग दूसरे भाग से फिर नहीं जुड़ सकता वैसे ही कभी-कभी विरहणिया जब जीविन रह जातो है, तब उन का प्रेमी कुछ ऐसे कुमुद्वर्त में लौटता है, जब मेल नहीं होता ॥ ७ ॥

३८१ अरे ! मन्दर के समान विरह ने क्षीर सागर के समान हमारे हृदय को मथ कर रत्नों के समान सुखा को निकाल लिया ॥ ८ ॥

१ मह हियय रयणनिहि, महिय गुहमदरेण त भिच्च ।

उम्मूत्रिय अनस, सुद्धरयण कडिडय च तुह पिम्मे ॥

—सन्देश रासक, ११९

प्रेम भगिज मन्दर विरह भरत पयोधि गम्भीर ।

मयि काड्डु सुरगन्ध हित, इपामिपु रघुनोर ॥

—रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, श्लो० २३८

- ३८२ अज्ज पुण्णा अवही करेसु मुहमडण पयत्तेण ।  
अज्ज समप्पइ विरहो इते वि पिए अइते वि ॥ ९ ॥  
अद्य पूर्णोज्ज्वलि कुरुष्व मुखमण्डन प्रयत्नेन ।  
अद्य समाप्यते विरह आयत्यपि प्रियेऽजायत्यपि ॥
- ३८३ खणमेत्त सतावो सेओ सीय तहेव रोमचो ।  
अव्वो दूसहणिज्जो पियविरहो संणिवाओ व्व ॥ १० ॥  
क्षणमात्र सताप स्वेद शीत तथैव रोमाञ्च ।  
अहो दुःसहनीय प्रियविरह सन्निपात इव ॥
- ३८४ उण्हुण्हा रणरणया दुप्पेच्छा दूसहा दुरालोया ।  
सवच्छरसयसरिसा पियविरहे दुग्गमा दियहा ॥ ११ ॥  
उष्णाष्णा रणरणककारिणो दुष्प्रेक्ष्या दुःमहा दुरालोका ।  
सर्वत्सरगतसद्वा प्रियविरहे दुर्गमा दिवसा ॥
- ३८५ मयणाणिलसधुक्खियणेहिधणदुसहदूरपज्वलिओ ।  
डहई सहि पियविरहो जलणो जलणो च्चिय वराओ ॥ १२ ॥  
मदनानिलरुधुक्षितस्नेहन्धनदुःसहदूरप्रज्वलित ।  
दहति मन्त्रि प्रियविरहो ज्वलनो ज्वलन एव वराक ॥
- ३८६ थोरसुमलिलसित्तो हियए पज्वलइ पियविओयम्मि ।  
विरहो हले हयासो अउव्वजलणो कओ विहिणा ॥ १३ ॥  
त्यूलाश्रुसलिलनिचो हृदये प्रज्वलति प्रियवियोगे ।  
विरहा हले हताशोऽभूवञ्ज्वलन कृतो विधिना ॥
- ३८७ विमहरम्मिगिससग्गदूमिओ डहइ चदणो डहउ ।  
पियविरहे महचोज्ज अमयमओ ज ससी डहइ ॥ १४ ॥  
विषधरविपाग्निमसगंदूषितो दहति चन्दनो दहतु ।  
प्रियविरह महाश्रयंममृतमयो यच्छन्ती दहति ॥

३८२. आज अवधि पूर्ण हो गई, प्रयत्न पूर्वक मुख का शृंगार करो । आज प्रिय के आने और न आने पर भी विरह समाप्त हो रहा है' ॥ ९ ॥

३८३. क्षण भर में ज्वर, स्वेद, शीत और रोमांच हो जाता है । अरे प्रिय का विरह सन्निपात के समान असह्य है ॥ १० ॥

३८४. जो उत्कण्ठा उत्पन्न करने वाले हैं, जो दुष्प्रेक्ष्य, निरालोक (प्रकाश-शून्य या निराशा-पूर्ण) हैं, वे उष्ण, असह्य और दुर्गम दिन प्रिय के विरह में सौ वर्ष से लगने हैं ॥ ११ ॥

३८५ सखि ! काम-रूपी वायु से प्रेरित, स्नेह-रूपी ईंधन से उद्दीपित और अमह्य हो जाने वाला विरह ही वास्तविक अग्नि है, बेचारी अग्नि तो नाम से ही अग्नि है ॥ १२ ॥

३८६ सखि ! विधाता ने इस हताश विरह को अपूर्व अग्नि बना दिया है, यह तो प्रिय के अभाव में स्थूल अथु-जल से (बड़े-बड़े अथु त्रिन्दुओं से) सिक होने पर भी हृदय में प्रज्ज्वलित हो उठता है ॥ १३ ॥

३८७ विषघर सर्पों की विपाग्नि के ससर्ग से दूषित शरीर वाला चन्दन यदि जलाना है, तो जलाये । प्रिय के वियोग में अमृतमय चन्द्र भी जलाता है—यह आश्चर्य है ॥ १४ ॥

---

१ बीत चुके दिन पूरे प्रवान के होगा अवश्य हा सीउउ छाउं ।  
आयेमे वे यदि गेह नही तब भी सखि ! क्यों इतना पछवाउी ?  
वेणी नही क्यों मजा रहा फूल से क्यों न सुहाग का बिन्दु बनाउी ?  
अन्त है आज हो सारे वियोग का प्रीति अह्य ! मन में न समावो ॥



- ३८८ ओसरसु मयण घेतूण जीविय हरहुयासणुच्चरिय ।  
 पियविरहुजलणजालावलीहि सहस त्ति डज्झिहिसि ॥ १५ ॥  
 अपसर मदन गृहीत्वा जीविन हरहुनाशनोच्चरितम् ।  
 प्रियविरहुज्वलनज्वालावलीभि सहसा घक्ष्यसे ॥
- ३८९ जेहि सोहग्गणिही दिट्ठो नयणेहि ते च्चिय खवतु ।  
 अगाइ अपावियसगमाइ ता कीस झिज्जति ॥ १६ ॥  
 याम्या सौभाग्यनिधिर्दृष्टो नयनाभ्या ते एव रदताम् ।  
 अङ्गान्यप्राप्तसगमानि तत् कस्मात् क्षीयन्ते ॥

### ४० अणगवज्जा [अनङ्गपद्धति]

- ३९० अतो को वि सहावो वम्महमिहिणो हला हयासस्म ।  
 विज्झाइ नीरसाण हियए सरमाण पज्जलइ ॥ १ ॥  
 अन्य कोऽपि स्वभावा मन्मथशिखिन सखि हताशस्य ।  
 बोध्यत नीरसाना हृदये सरमाना प्रज्वलति ॥
- ३९१ दिट्ठी दिट्ठिप्पमरो पमरेण रई रईइ मग्भावो ।  
 सभावेण य नेहो पच वि वाणा अणगस्स ॥ २ ॥  
 दृष्टिर्दृष्टिप्रमर प्रसरेण रती रत्या सद्भाव ।  
 सद्भावन च स्नेह पद्मापि वाणा अनङ्गस्य ॥
- ३९२ उवरि मह चिय वम्मह पच वि वाणा निमस रे मुक्ता ।  
 अन्न उण तरणिजण किं हणिहिमि चावलट्ठीए ॥ ३ ॥  
 उपरि ममेव मन्मथ पद्मापि वाणा नृशम रे मुक्ता ।  
 अन्य पुनर्मनोजन किं हनिष्यमि चापयट्ठ्या ॥
- ३९३ इच्छाणियत्तपमरो वामो कुग्गादियाण किं कुणइ ।  
 गीहो व्य पजरगओ अंग च्चिय झिज्जइ वराओ ॥ ४ ॥  
 इच्छानिभूतप्रमर वाम कुग्गालियाना किं करोति ।  
 मिह एव पजरगनाङ्ग एव क्षीयने वरार ॥

३८८ अरे शम्भु को लाचनाग्नि से वचे मदन ! अपना जीव लेकर भाग जा । अन्यथा प्रिय के विरहानल को लपटों में सहसा भस्म हो जायगा ॥ १५ ॥

३८९ जिन्होंने मौभाग्य निधि (प्रियतम) को देखा है, वे आँखें भले रोव, परन्तु जिन्हे कभी उनका सगम नहीं प्राप्त हो सका है, वे अग क्यो क्षीण होते जा रहे हैं ? ॥ १६ ॥

#### ४०—अणग-वज्रज्ञा (अनग-पद्धति)

३९० मखि ! इस निगोडो मदनाग्नि का कुछ अन्य ही स्वभाव है, नीरसों के हृदय में वृजतो है और सरसा के हृदय में प्रज्ज्वलित हो जाती है ॥ १ ॥

३९१ दृष्टि, दृष्टि का प्रसार, दृष्टि प्रसार से रति, रति से सद्भाव और सद्भाव से प्रेम—ये पाँचों काम के बाण हैं ॥ २ ॥

३९२ अरे नृशस काम ! तुमने मेरे ही ऊपर पाँचों बाण छोड़ दिये । क्या अन्य तरुणियों को धनुर्दण्ड से मारोगे ? ॥ ३ ॥

३९३ जिनके हृदय में कामवासना उत्पन्न होने ही जान-बूझ कर दवा दी जाती है, उन कुलवालिक्वाओं का कामदेव क्या कर सकता ? बेचारा पजर-गत मिह के समान अपने शरीर में क्षीण हो जाता है ॥ ४ ॥

- 
- १ वह पीकर रूप छटा प्रिय की जो अघात नहीं था कभी पहले ।  
अब रोत हुए उन लोचना को यह दाख्य पीर भले ही खले ।  
जिन्हें अवसर सगम का न मिला जो अभाग्य कभी हैं लगे न गले ।  
सखि ! व विरवचित कोमल व ग वियोग में हो रहे क्यो दुवले ॥

३९४ \*ए कुसुमसरा तुह डज्जिहिंति मा भणत्तु मयण न हू भणिय ।

पियविरहतावतविए मह हियए पक्खिवतस्स ॥ ५ ॥

हे कुसुमसरास्तव धक्ष्यन्ते मा भण मदन न खलु भणितम् ।

प्रियविरहतापतप्ते मम हृदये प्रक्षिपत ॥

३९५ मइरा मयककिरणा महुमासो कामिणीण उल्लावो ।

पचमसरस्स गेभो तलवग्गो कामदेवस्स ॥ ६ ॥

मदिरा मृगाङ्ककिरणा मधुमास कामिनीनामुल्लाप ।

पञ्चमस्वरस्य गेय सेवकवर्गं कामदेवस्य ॥

३९६ वम्मह पससणिज्जो सि वदणिज्जो सि गुणमहग्घो सि ।

गोरी हरस्स देहद्ववासिणी जेण निम्मविया ॥ ७ ॥

मन्मथ प्रदासनीयोऽसि वन्दनीयोऽसि गुणमहार्घोऽसि ।

गौरी हरस्य देहार्घवासिनी येन निर्मिता ॥

३९७ \*सच्च अणग कोयडवावडो सरपहुत्तलक्खो सि ।

तरुणोचलतलोयणपुरओ जइ कुणसि सघाण ॥ ८ ॥

सत्पमनङ्ग कोदण्डव्यापृत शरप्रभूतलक्ष्योऽसि ।

तरुणोचलल्लोचनपुरता यदि करोपि सघानम् ॥

४१ पुरिसुल्लाववजा [पुरुषोल्लापपद्धति]

३९८ कह सा न सभलिज्जइ जत्थ वि निवसति पच वत्थूणि ।

वीणावसालावणिपारावयकोइलालविय ॥ १ ॥

वय सा न सस्मर्येते यत्रापि निवसन्ति पञ्च वस्तूनी ।

वीणावशालापिनीपारावतकोविलालपिनम् ॥

३९९ कह सा न मभलिज्जइ जा सा अत्तत्तकणयतणुसोहा ।

तिवलीतरनमज्जा हरइ मण वरमइदाण ॥ २ ॥

वय सा न नस्मर्येते या सानसवनवननुशाभा ।

निवलीतरङ्गमया हरति मनो वरमनोन्दाणाम् ॥

\*३९४. हे मदन ! तुम मुझ से मत बोलो (वैर मत करो), क्या मैंने तुम को बताया नहीं कि मेरे प्रिय-वियोग-संतप्त हृदय पर यदि पुष्प-बाण छोड़ोगे, तो वे भस्म हो जायेंगे ॥ ५ ॥

३९५. मदिरा, चन्द्र-किरण, मधुमाम, कामनियो का सभापण और पञ्चमस्वर का गीत—ये काम के परिकर हैं ॥ ६ ॥

३९६ मन्मथ ! तुम प्रशंसनीय हो, वन्दनीय हो और तुम्हारे गुण बहुमूल्य हैं क्योंकि तुमने गौरी को शिव की अर्धांगिनी बना दिया ॥ ७ ॥

३९७ \*अरे अनग ! यदि तरुणियो के चपल नयनों के समक्ष बाण सन्धान करो, तो जाने कि तुम सच्चे धनुर्धर हो और तुम्हारा लक्ष्य कभी खूफता नहीं है ॥ ८ ॥

### ४१—गुरिसालावज्जा (गुर्यालाप-वदति)

३९८ जिममे वीणा, बस (बांसुरी), आलापिनी (वीणा विशेष), पारावत और कोकिल के शब्द—ये पाँच वस्तुयें बसती हैं, उसका स्मरण क्यों न हो ? ॥ १ ॥

३९९ जिसके शरीर की शोभा तप्त काचन के समान है, जिसका मध्य भाग त्रिवली तरंगों से विभूषित है और जो श्रेष्ठ ज्ञानियों के मन को भी मोह लेती है, उसका स्मरण क्यों न किया जाय ? ॥ २ ॥

\* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य ।

- \*४०० कह सा न सभलिज्जइ जा सा नवणलिणिकोमला बाला ।  
करहू तणु छिप्पती अकाल घणभट्टव कुणइ ॥ ३ ॥  
कथ सा न सस्मयंते या सा नवनलिनीकोमला बाला ।  
करहू तनु स्पृशन्ती अकाले धनभाद्रपद करोति ॥
- ४०१ कह सा न सभलिज्जइ जा सा घरबारतोरणिसण्णा ।  
हरिणि व्व जूहमट्ठा अच्छइ मग्ग पलोयती ॥ ४ ॥  
कथ सा न सस्मयते या सा गृहद्वारतोरणनिपण्णा ।  
हरिणोव यूयभ्रष्टा आस्ते मार्गं प्रलोकयन्ती ॥
- \*४०२ कह सा न सभलिज्जइ जा सा नीसाससोसियसरीरा ।  
आसासिज्जइ सासा जाव न सासा सम्पति ॥ ५ ॥  
कथ सा न सस्मयंते या सा निश्वासशोपितशरीरा ।  
आश्वास्यते आसा यावन्न आसा समाप्यन्ते ॥

### ४२. पियाणुरायवज्जा [प्रियानुरागपद्धति]

- ४०३ मुहराओ न्चिय पयडइ जो जस्स पिओ किमेत्थ भणिण ।  
साहेइ अगण चिय धरस्स अब्भतरे लच्छि ॥ १ ॥  
मुखराग एव प्रकटयति यो यस्य प्रिय किमत्र भणितेन ।  
कथयत्यङ्गणमेव गृहस्थाभ्यन्तरे लक्ष्मीम् ॥
- ४०४ डज्झति कढति समूससति ओ माइ सिमिसिमायति ।  
जीवति जीवसेसा जे रमिया पौढमहिलाहि ॥ २ ॥  
दहन्ते कथ्यन्ते समुच्छवमन्त्यहो मिमिसिमायन्ते ।  
जीवन्ति जीवशेषा ये रमिता प्रौढमहिलाभि ॥
- ४०५ यप्ति वल्लति सम्पूज्यति ओ माइ सिमिसिमायति ।  
अगाइ तम्म पुग्गो न याणिमो कह धरिज्जति ॥ ३ ॥  
कम्पन्त वल्लन्ते समुच्छवमन्त्यहो मान सिमिसिमायन्ते ।  
अद्भानि तस्य पुरतो न जानीम कथ धार्यन्ते ॥

\*४००. उस नव नलिन कोमलांगी प्रिया का स्मरण क्यों न किया जाय जो नखों से तनिक भर छूट जाने पर अकारु में ही घना भादो उपगम्य कर देती है (या कृष्ण मेघों के बिना हों रो-रो कर भादो कर डालती है) ॥ ३ ॥

४०१ जो गृह-द्वार के तोरण (द्वार का अंग विशेष) पर बैठी यूय-भ्रष्ट हरिणी के समान मार्ग निहारती रहती है, वह कैसे याद न रहे ? ॥ ४ ॥

\*४०२ निःश्वामो से शरीर मुक्ता देने पर भी जो आशावती है, उसका स्मरण क्यों न किया जाय । जब तक साँमें समाप्त नहीं हो जाती तब तक आश्वासन दिया जाता है ॥ ५ ॥

### ४२—पियाणुरायवज्जा (प्रियानुराग-पद्धति)

४०३. मुख का रंग ही प्रकट कर देना है कि कौन किस का प्रिय है—इसमें कहने की आवश्यकता नहीं है । घर का आँगन ही भीतर की समृद्धि बता देता है ॥ १ ॥

४०४. अरी माँ, जिन्होंने प्रौढ महिलाओं (विदग्ध स्त्रियों) के भाग्य रमण किया है, उनके शरीर में केवल जीव शेष रह जाते हैं । वे जलते हैं, उबलते रहते हैं, आँहें भरते रहते हैं और सिमसिमाते रहते हैं ॥ २ ॥

४०५ उस (प्रेमी) के अंगों को कैसे धारण किया जाता है—यह हमें शात नहीं है । अरी माँ ! वे तो काँपते हैं, एँटने हैं उच्छ्वामित होने हैं और सिमसिमाने लगते हैं ॥ ३ ॥

\* विशेष विवरण परिशिष्ट 'स' में द्रष्टव्य ।

- ४०६ नीससिउक्कपियपुलइएहि जाणंति नच्चिउं धन्ना ।  
अम्हारिसीण दिट्ठे पियम्मि अप्पा वि वीसरइ ॥ ४ ॥  
नि.श्चसितोत्कम्पितपुलकितैर्जानन्ति नतितु धन्याः ।  
अस्मादृशोना दृष्टे प्रिय आत्मापि विस्मयते ॥
- ४०७ अच्छउ ता फससुह् अमयरसाओ वि दूररमणिज्जं ।  
दसणमेत्तेण वि पिययमस्स भण किं न पज्जत्त ॥ ५ ॥  
आस्ता तावत्स्पर्शसुखममृतरसादपि दूररमणीयम् ।  
दर्शनमात्रेणापि प्रियतमस्य भण किं न पर्याप्तम् ॥
- ४०८ अच्छउ ता लोयणगोयरम्मि पडिण्ण तेण ज सोक्ख ।  
आयण्णिण्ण वि पियसहि पिए जणे होइ निव्वाण ॥ ६ ॥  
आस्ता तावल्लोचनगोचरे पतितेन तेन यत्सुखम् ।  
आकर्णितेऽपि प्रियसखि प्रिये जने भवति निर्वाणम् ॥
- ४०९ हत्थप्फसेण वि पिययमस्स जा होइ सोक्खसंपत्ती ।  
सा सरभसगाढालिणिए वि इयरे जणे कत्तो ॥ ७ ॥  
हस्तस्पर्शेणापि प्रियतमस्य या भवति सौख्यसंपत्तिः ।  
सा सरभमगाढालिङ्गितेऽपीतरस्मिञ्जने कुतः ॥
४१०. ता किं करेमि माए लोयणजुयलस्स हयसहावस्स ।  
एक्क मोत्तूण पिय लक्खेवि न लक्खए लक्ख ॥ ८ ॥  
तत् किं करोमि मानल्लोचनयुगलस्य हतस्वभावस्य ।  
एकं मुक्त्वा प्रियं लक्षयित्वा न लक्षयति लक्षम् ॥
- ४११ ता किं करेमि पियनहि पियस्स सोहम्माभारभमिरस्स ।  
रायगण व सुद्धभइ जस्स घरं दूइमघेहि ॥ ९ ॥  
तत् किं करोमि प्रियमपि प्रियस्य मोक्षार्थमारभ्रमणशीलस्य ।  
राजाङ्गणमिव धुम्बानि यस्य गृहं दूतोमघैः ॥

४०६. जो लम्बी साँसें लेकर, कांप कर और रोमांचित हो कर नाचना जानती हैं, वे धन्य हैं। हम-जैसी प्रेमिकायें तो प्रियतम के देखने पर अपने आप को भी भूल जाती हैं ॥ ४ ॥

४०७. अमृत-रस से भी अधिक रमणीय प्रियतम का स्पर्श तो दूर रहे, क्या उसको देख लेना भी पर्याप्त नहीं है ? ॥ ५ ॥

४०८. प्रिय सखि ! आँखों के आये पड़ने पर जो सुख होता है, उसे बौन कहे, प्रेमी का तो नाम सुनने पर भी निर्वाण-सुख मिल जाता है ॥ ६ ॥

४०९. प्रियतम के हाथों के स्पर्श से भी जो सुख संप्राप्ति (या सुख-व्यपत्ति) होती है, वह अन्य लोगों के वेगपूर्वक आलिंगन से भी कहाँ मिलती है ? ॥ ७ ॥

४१०. माँ ! इन दोनों दुष्ट स्वभाव वाली आँखों को क्या कहें ? एक प्रियतम को छोड़कर लाखों लोगों को देखकर भी ये नहीं देखती हैं ॥ ८ ॥

४११. जिस वा गृह राजागण के समान सदैव दूतियों से परिपूर्ण रहता है, उस सौभाग्य-भार से भ्रमणशील (अनेक नायिकाओं के यहाँ जाने वाले) प्रियतम का मैं क्या करूँ (क्या कर लूँगी) ॥ ९ ॥



४१२ तह तेण वि सा दिट्ठा तीए तह तस्स पेसिया दिट्ठी ।  
जह दोण्ह वि समय चिय निव्वत्तरयाइ जायाइ ॥ १० ॥  
तथा तेनापि सा दृष्टा तथा तस्य प्रेषिता दृष्टि ।  
यथा द्वयोरपि सममेव निवृत्तरस्तानि जातानि ॥

४३ दूईवज्जा [दूतीपद्धति]

४१३ दूइ तुम चिय कुसला वक्खडमउयाइ जाणसे वोत्तु ।  
कडुइयपडुर जह न होइ तह त कुणिज्जासु ॥ १ ॥  
दूति त्वमेव कुसला कठिनमूदूनि जानासि वक्तुम् ।  
कण्डूयितपाण्डुर यथा न भवति तथा त्वं कुर्या ॥

४१४ कित्तियमेत्त एय एसावत्था उ सहि सरीरस्स ।  
महिला महिलाण गई ज जाणसि त कुणिज्जासु ॥ २ ॥  
कियन्मात्रमेतदेपावस्था तु सखि शरीरस्य ।  
महिला महिलाना गतियज्जानासि तत्कुर्या ॥

४१५ ज तुह कज्ज भण त मह ति ज जाणिउ भणेज्जासु ।  
ओ दूइ सच्चवयणेण त सि पार गया अज्ज ॥ ३ ॥  
यत्तव कार्यं भण तन्ममेति यज्ज्ञातु भणे ।  
हे दूति सत्यवचनेन त्वमसि पार गताद्य ॥

४१६ \*तिलय विलय विवरीय कचुय सेयभिन्न सव्वग ।  
पडिवयण अल्हती दूई कलिऊण सा हसिया ॥ ४ ॥  
तिल्व विलय विपरीत वञ्चुक् स्वदमिन्न सर्वाङ्गम् ।  
प्रतिवचनमलभमाना दूति बलवित्वा सा हसिता ॥

४१७ जइ नो न एइ गेहं ता दूइ अहोमुही तुम कीस ।  
सो होही यज्ज पिआ जा तुज्ज न खडए वयण ॥ ५ ॥  
यनि न नैनि गेहं तद् दूति अधोमुही त्वं वस्माद् ।  
स भविष्यति मम प्रिया यस्तव न सण्डयति वचनं (वदनम्) ॥

४१२ नायक ने नायिका को कुछ ऐसे टग से देखा और नायिका ने भी उस पर कुछ ऐसी दृष्टि डाली कि दोनों एक समय में ही रति का सुख अनुभव करने लगे ॥ १० ॥

### ४३—दूईवज्जा (दूती-पदनि)

४१३ दूती ! तुम्हीं कुचल हो, कठोर और कोमल-दोनों प्रकार की बातें कहना जाननी हो । उसको कुछ ऐसा करना, जिस से खुजली भी मिट जाय और चमड़ा भी विरूप न हो ॥ १ ॥

४१४ यह अपराध ही कितना बड़ा है और मेरे शरीर को यह अवस्था है । स्त्रियों की गति स्त्रियाँ हैं । तुम जो उचित समझना, करना ॥ २ ॥

४१५. (दूती नायिका से प्रायः कहा करती थी कि तुम्हारा जो कार्य हो, उसे बनाओ, वह मेरा कार्य है । एक दिन जब वह नायक से स्वयं रमण करके लौटी तब नायिका ने कहा) 'तुम्हारा जो कार्य हो उसे वताओ, वह मेरा कार्य है—यह ऐसे कहो जो समझ में आ सके । अरे दूती ! आज तो तुम सत्य-वचन में पारगत हो गई हो (अर्थात् तुम्हारी बातें पहले मेरी समझ में नहीं आती थी । आज तुमने अपनी वे बात सच कर दी क्योंकि नायक से रमण करना मेरा कार्य था, उसे अपना कार्य बना लिया है') ॥ ३ ॥

\*४१६. जिस का तिलक मिट गया था, कंचुकी उलट गई थी और सारे अंग पसीने से भर गये थे, उस दूती को देख कर (नायक का कोई) सन्देश (या उत्तर) न पाती हुई हँस पड़ी ॥ ४ ॥

(नायिका ने समझ लिया कि यह नायक से रमण करके लौटी है, इसी लिए तिलक मिट गया है, कंचुकी विपरीत हो गई है, पसीने से तर हो गई है और मुझे नायक ने क्या उत्तर दिया है, इसे भी नहीं कह पा रही है, अतः उसकी दशा पर हँसी आ गई)

४१७ हे दूती ! यदि वह घर पर नहीं आता है तो तुमने क्यों अपना मुँह लटका लिया है ? मेरा प्रिय वही होगा जो तुम्हारा वचन (दूसरे पक्ष में वचन = मुँह) न खलित करे (नायक से रमण करके लौटी हुई

१ अंग्रेजी अनुवादक ने इस वा अस्पष्ट बताया है ।

\* विशेष विवरण परिशिष्ट 'स' में द्रष्टव्य ।

- \*४१८ दूइ समागमसेउल्लयगि दरल्हसियसिचयघम्मिल्ले ।  
थणजहणकवोलणहक्खएहि नाया सि जह पडिया ॥ ६ ॥  
दूति समागमस्वेदाद्राङ्गि ईषत्सस्तसिचयकेशपाशे ।  
स्तनजघनकपोलनखसत्तैर्जातासि यथा पतिता ॥
- \*४१९ इय रक्खसाण वि फुड दूइ न खज्जति दूइया लोए ।  
अह एरिसी अवत्था गयाण अम्ह वसे जाया ॥ ७ ॥  
एव राक्षसानामपि स्फुट दूति न खाद्यन्ते दूतिका लोके ।  
अयेदृश्यवस्था गतानामस्माक वशे जाता ॥
- ४२० अच्छउ ताव सविग्गमकडक्खविकखेवजपिरी दूई ।  
तग्गामकुडिलमुणहिल्लया वि दिट्ठा सुहावेइ ॥ ८ ॥  
आस्ता तावत्ताविभ्रमकट्टाक्षविशेषजल्पनशीला दूती ।  
तदग्रामकुटिलशुनक्यपि दृष्ट्वा सुखयति ॥
- ४२१ वेत्तलहलालाववियक्खणाउ अडयणपउत्तिहरणाओ ।  
सो रण्णो नो गामो जत्थ न दो तिन्नि दूईओ ॥ ९ ॥  
कोमलालापविचक्षणा असतोप्रवृत्तिहारिण्य ।  
तदरण्य न ग्रामो यत्र न द्वे तिस्रो दूत्य ॥
- ४४ ओलुग्गाविया-वज्जा [अवरुणा-पद्धति]
- ४२२ तुह गोत्तायण्णणवियडरमणपज्जरियरसजलेण व ।  
रइमदिरम्मि वाला अब्भुक्खनी परिग्गमइ ॥ १ ॥  
तत्र गोत्राकर्णनविकटरमणप्रसुतरसजलेनेव ।  
रतिमन्दिरे वालाभ्युक्षन्तो परिभ्रमति ॥
- \*४२३ तुह सगमदोहलिणोइ तीइ सोहग्गविभियासाए ।  
नवसियसयाइ देतोइ सुह्य देवा वि न हु पत्ता ॥ २ ॥  
तव मङ्गमदोहदवत्या तथा सोभाग्यविजृम्भिताशया ।  
उपपाचितवशतानि ददत्या मुमग्ग देवा अपि न प्राप्ता ॥

दूती अधरो और कपोलो पर लगे दन्त-क्षत को छिपाने के लिए मुँह नीचे करके खड़ी थी। नायिका ताड़ गई। गाथा में दूती के प्रति उसकी श्लेष-गर्भित व्यंग्योक्ति है<sup>१)</sup> ॥ ५ ॥

\*४१८. हे दूती ! मेरे निकट तक आने में जो स्वेद उत्पन्न हुआ है, उससे तुम्हारे अंग भीग गये हैं, तुम्हारा कचपाश (जूड़ा) किंचित् खिसक गया है, तुम्हारे स्तनो, जघनो, कपोलो और नखो पर लगे धावो से ज्ञात हो गया है कि तुम कहीं (मार्ग में) गिर पड़ी हो ॥ ६ ॥

शृंगार-पक्ष—तुम्हारे अंग समागमजनित स्वेद से आर्द्र हो गये हैं, तुम्हारा कचपाश किंचित् खिसक गया है, स्तन, जघन और कपोलो पर लगे नखो के क्षतो से ज्ञात हो गया है कि तुम पतित (आचरण से) हो चुकी हो<sup>२)</sup>।

४१९. \*हे दूती ! राक्षसों के लोक में भी दूतियाँ इस प्रकार स्पष्ट रूप में (स्वामी के हित को) नहीं खा जाती हैं। हमारे वश में रहने वालों (सेवकों) की अब यह अवस्था हो गई है ? ॥ ७ ॥

४२०. विलास एव वटाक्ष विक्षेप के साथ बातें करने वाली दूती को छोड़िये, उस गाँव की कुटिल कुतिया भी देखने पर सुख देती है ॥ ८ ॥

४२१. जो कोमल आलाप में पट्ट है और व्यभिचारिणी स्त्रियों का सन्देश (या समाचार) ले जाया करती है, वे दो-तीन दूतियाँ जहाँ न हो, वहाँ गाव नहीं, वन है ॥ ९ ॥

४४—ओलुगाविया-वज्जा (अवरुणा-पद्धति)

४२२. तुम्हारा नाम सुनने पर विस्तृत नितम्बो (या योनि) से सरने वाले प्रेम-रस से मानो भोगी हुई वह रति मन्दिर में भ्रमण करती है ॥ १॥ (आर्द्रता का कारण सात्त्विकभावोद्रेक या चित्त-द्रुति है)

\*४२३. हे सुभग ! प्रचुरधन के कारण जिस की आशा बढ गई थी, जिसे तुम्हारे सगम की इच्छा थी और जो सैकड़ों मनोतिया कर रही थी, उसे देवता भी न मिले ॥ २ ॥

१ जह न स आवइ दूइ घर, काई अहो मुँहु तुज्जु ।

वयणु जु खण्डइ तउ सहिए, सो पित होइन मज्जु ॥

—हैमचन्द्र-कृत प्राकृत व्याकरण

२ मूल में अम्मिल की छाया कचपाश की गई है। वस्तुतः वह जूड़े के अर्थ में आने वाला संस्कृत शब्द है।

\* विस्तृत विवेचन परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य।

- ४२४ तुह अन्नेसणकज्जम्मि सुहय सा हरिसवियसियकवोला ।  
ज जत्थ नत्थि त तत्थ मग्गमाणो चिर भमिया ॥ ३ ॥  
तवान्वपणकार्ये सुभग सा हपविकसितकपोला ।  
यद्यय नास्ति तत्तन मार्गयन्तो चिर भ्रान्ता ॥
- ४२५ अगणियसेसजुवाणा वालय बोलीणलोयमज्जाया ।  
अह सा भमइ दिमामुहपसारियच्छी तुह कएण ॥ ४ ॥  
अगणितशपयुज्जना वालकातिक्रान्तलोकमर्यादा ।  
अथ सा भमनि दिइमुत्तप्रसारिताली तव कृते ॥
- ४२६ नयणाइ तुह विओए घोलीरवाहाइ सुहय तणुईए ।  
हिययट्ठियसोयहुयामधूमभरियाइ व गलति ॥ ५ ॥  
नयने तव वियोगे धूर्णनशीलवाण्ये सुभग तन्व्या ।  
हृदयस्थितशाकहुताशधूमभूते इव गलत ॥
- ४२७ वइमग्गपेमियाइ तीए नयणाइ तम्मि बोलीणे ।  
अज्ज वि गलति पडिलग्गकटयाइ व्व ओ सुहय ॥ ६ ॥  
वृत्तिमार्गप्रपित तस्या नयन तस्मिन्नतिक्रान्ते ।  
अद्यापि गलत प्रतिलग्नकण्टके इव ह सुभग ॥
- ४२८ सभरिऊण य रुण्ण तोइ तुम तह विमुक्कपुक्कारं ।  
निदय जह सुहियस्म वि जणस्म ओ निवडिओ वाहो ॥ ७ ॥  
सम्भृत्य च रूढिन तया त्वा तथा विमुक्तपूत्वारम् ।  
निदय यथा सुसितस्यापि जनस्याहो निपतितो वाप्य ॥
- ४२९ एक्के मयमवइवेद्वियविवरतरतरलदिघ्नणयणाए ।  
तइ बोळते वालय पजरमउणाइय तीए ॥ ८ ॥  
एकैकवृत्तिवेष्टितविप्रसन्नतरनरुदत्तनयनया ।  
त्वय्यतिश्रामति वालय पत्ररशकुनवदाचरित तया ॥

४२४. हे सुभग ! तुम्हें ढटते समय जिस के कपोल हों से खिले हुए थे वह बाला, जो जहा नहीं है उसे वहा खोजतो हुई वडी देर तक भटकती रही ॥ ३ ॥

४२५. हे बालक ! वह लोक-मर्यादा का उल्लंघन कर, शेष युवकों की गणना न करके, दिशाओं में आखे फैलाये, तुम्हारे लिये भटक रही है ॥ ४ ॥

४२६. हे सुभग ! उस तन्वगी को आख, जिनमें तुम्हारे वियोग के आसू छलछलाते रहते हैं मानो हृदय में स्थित शोकाग्नि के धुँए से भर कर चू रही हैं ॥ ५ ॥

४२७. हे सुभग ! उस (युवक) के ओझल हो जाने पर उस(नायिका) की वे आँखें जो बाढ़ के छिद्रों से झाक रही थी, यों बह रही हैं जैसे उनमें काटे लग गये हो ॥ ६ ॥

४२८. हे सुभग ! वह तुम्हें स्मरण कर यों चिल्ला कर रोई कि सुखी मनुष्यों के भी आसू गिर पड़े ॥ ७ ॥

४२९. वृत्ति (बाह) से वेष्टित एक-एक छिद्र में आख डाल कर झाकने वाली सुन्दरी, तुम्हारे अदृश्य हो जाने पर ऐसे छटपटाने लगी जैसे पिंजड़े में वन्द पड़ी ॥ ८ ॥

४३०. नयणभ्रमतरघोलतवाहभरमथराइ दिद्रीए ।

पुणरुत्तपेच्छिरीए वालय ता किं न भणिओ सि ॥९॥

नयनाभ्यन्तरधूर्णद्वाप्यभरमन्यरया दृष्ट्या ।

पुनरुत्तप्रेक्षणशीलया वालक तन किं न भणितोऽसि ॥

४३१ सुहय गय तुह विरहे तिस्सा हियय पवेविर अज्ज ।

करिचलणचपणुच्छलियतुच्छतोय मिव दिसासु ॥१०॥

सुभग गत तव विरहे तस्या हृदय प्रवेपनशीलमद्य ।

करिचरणाक्रमणोच्छलिततुच्छतोयमिव दिक्षु ॥

४३२ सा तइ सहत्यदिन्न अज्ज वि ओ सुहय गधरहिय पि ।

उव्वसियणयरघरदेवय व्व ओमालय बहइ ॥ ११ ॥

सा त्वया स्वहस्तदत्तामघाप्यहो सुभग गधरहितामपि ।

उद्वासितनगरगृहदेवतेवावमालिका बहति ॥

४३३. तह क्षीणा तुह विरहे अणुदियह मुदरंग तणुयगो ।

जह सिद्धिलवलयणिवडणभएण उब्भियकरा भमइ ॥१२॥

तथा क्षीणा तव विरहेऽनुदिवम मुन्दराङ्ग तन्वङ्गी ।

यथा सिधिलवलयनिपतनभयेनोर्ध्ववृत्तकरा भ्राम्यति ॥

४३४ तुह विरहतावियाए तिस्सा बालाइ यणहरुच्छगे ।

दिज्जती अणुदियह मुणालमाला छमच्छमइ ॥ १३ ॥

तव विरहतापितायास्तस्या बालायाः स्तनभरोत्तमे ।

दीपमानानुदिवम मुणालमाला छमच्छमायते ॥

४३५. मा तुज्झ वए गयमयविलेवणा तह वणेक्कमाहारा ।

जाया निदंय जाया मासाहारा पुल्लिदि व्व ॥ १४ ॥

मा तव वृत्ते गतमदविशेषना (गजमदविलेपना) तथा

पानायेकम्बाहारा (वनेकम्बाधारा)

जाया निदंय जाना मामाहारा (मात्राहारा) पुल्लिन्दोव ॥

४३०. बार-बार तुम्हें देखने वाली सुन्दरी की दृष्टि ने, जो नयनों के भीतर छलकने आसुओं के भार से मन्थर हो गई थी, क्या नहीं कह दिया ? ॥ ९ ॥

४३१. मुमग ! हाथों के चरण रखने पर उछलिन होने वाले चंचल मृन्मज्ज के समान उस का कपनशील हृदय तुम्हारे विरह में चारों दिशाओं में छिटक गया ॥ १० ॥

४३२. अरे मुमग ! तुम ने जिसे अपने हाथों से दिया था उस पुष्प-माला को गन्ध होन होने पर भा, वह ऐसे धारण कर रही है, जैसे नगर से बाहर निकाली गई गृह-देवी ॥ ११ ॥

४३३. हे सुन्दर अगो वात्रे ! वह तन्वगा तुम्हारे वियोग में इतनी क्षोभ हो गई है कि प्रतिदिन ढोन्ने-ढोन्ने करुणा के गिर पड़ने के भय से हाथ उठाये चलती है ॥ १२ ॥

४३४ तुम्हारे विरह-नाप में मनन उस बाका के स्तनों पर प्रतिदिन (शोतोपचार में) दो जानी हुई मृणालमाला छनछनाने लगती है ॥ १३ ॥

४३५ हे तिदंय ! (विरह में) जिमने मद (मदिरा) और विलेसन का परित्याग कर दिया है, केवल जल ही जिमका आहार है और जो मास में एक बार ही भोजन करती है, वह तुम्हारी प्रिया उस भोजनों के समान हो गई है, जो गजों के मद का विचेषन लगाती है, वन में ही रहती है और मास का भोजन करती है ॥ १४ ॥

१ वलपावलि निवडण मएण, धण उद्धब्भुय जाइ ।

वल्लह विरह-महादहो, थाह गवेसइ नाइ ॥

—हेमचन्द्रकृत प्राकृत व्याकरण



४३६. हत्यद्विय कवाल न मुयइ नूण खण पि खट्ठग ।  
 सा तुह विरहे वालय वाला कावालिणी जाया ॥ १५ ॥  
 हस्तस्थितकपाल न मुञ्चति नून क्षणमपि खट्वाङ्गम् ।  
 ना तव विरहे बालक वाला कापालिनी जाता ॥
४३७. तह क्षीणा जह मज्जलियलोयणउडविहडणे वि असमत्था ।  
 सक्किहिइ दुक्कर घरगय पि दट्ठु तुम वाला ॥ १६ ॥  
 तथा क्षीणा यथा मुकुलितलोचनपुटविघटनेऽप्यममर्था ।  
 शङ्कति दुष्कर गृहगतमपि द्रष्टु त्वा वाला ॥
४३८. नाह दूई न तुम पिओ त्ति को एत्थ मज्झ बावारी ।  
 मा मरइ तुज्झ अजसो त्ति तेण घम्मक्खर भणिमो ॥ १७ ॥  
 नाह दूनी न त्व प्रिय इति कोऽय मम व्यापार ।  
 मा म्रियते तवायश इति तेन धर्माक्षर भगान ॥
४३९. वट्टमो वि कहिज्जत तुह वयण मज्झ हत्यसदिट्ठ ।  
 न सुय ति जपमाणी पुणरुत्तसय कुणइ अज्झा ॥ १८ ॥  
 बहुशोऽपि कथ्यमान तव वचन मम हन्तसदिष्टम् ।  
 न श्रुतमिति जल्पन्ती पुनरुत्तान करोति प्रौढयुवति ॥

### ४५ पथियवज्जा [पथिकपद्धति]

४४०. मज्झण्हपत्थियम्स वि गिम्हे पहियस्स हरइ सताव ।  
 हिययद्वियजायामुहमयक्क जोण्हाजलुप्पीलो ॥ १ ॥  
 भव्याह्नप्रस्थितस्यापि शौन्धे पथिकस्य हरति नतापम् ।  
 हृदयान्धिनजायामुखमुनाङ्गज्योन्नाजलात्सोढ ॥
८८१. मा उट्ठ पियमु जल विरहिणिविरहानलेण सतत्त ।  
 एत्थ मरे ए पथिय गमवइवट्टयाउ मज्जविद्या ॥ २ ॥  
 मोष्ण पिव जलं विरहिणीविरहानलेन सततम् ।  
 अत्र मग्नि रे पथिक गतपथिवच्चो मज्जिना ॥

४३६ हे बालक ! जो हथेली पर अपना कपाल (मस्तक) रखे रहती है, जो निश्चित-रूप से क्षण भर भी चारपाई की पाटी नहीं छोड़ती है, वह वाला तुम्हारे विरह में, क्षण भर भी खट्वाग (शस्त्र विशेष) का त्याग न करने वाली एव हाथ में कपाल धारण करने वाली कापालिनी बन गई है ॥ १५ ॥

४३७ वह वाला ऐसी क्षीण हो गई है कि बन्द आँखों की पलकों खोलने में भी असमर्थ है। जब तुम घर जाओगे, तो तुम्हें भी कठिनाई से देख सकेंगे ॥ १६ ॥

४३८. मैं दूती नहीं हूँ, न तुम उसे प्रिय हो। इस में मेरा क्या स्वार्थ है ? वह मर रही है। तुम्हें अपयज्ञ होगा—इसलिये धर्म की बातें कह रही हूँ ॥ १७ ॥

४३९ मेरे हाथों से (द्वारा) सदृष्ट तुम्हारे बचनों को बहुत बार कहने पर भी—‘मैंने नहीं सुना’—इस प्रकार कहती हुई प्रौढ नायिका ने सैकड़ों बार कहलाया ॥ १८ ॥

### ४५—पथिय-वज्रा (पथिक-पद्धति)

४४०. हृदय में प्रतिविम्बित प्रियतमा के मुख-चन्द्र की चाँदनी का जल-प्रवाह ग्रीष्म के मध्याह्न में यात्रा करने वाले पथिक का ताप हर लेता है ॥ १ ॥

४४१. अरे पथिक ! विरहिणियों के विरहानल से तप्त जल मत पीना, इस सरोवर में प्रोपित पतिकाओं (त्यक्तपति स्त्रियों) ने स्नान किया है ॥ २ ॥

१ तुय समरत समाहि मोहु विसमद्विषड,  
तहि क्षणि क्षुब्ध कवालु न वाम-करद्विषड,  
सिज्जासणउण मिल्हड क्षण खट्टमलय,  
कावालिउ कावालिणि तुय विरहेण किय ॥

—सन्देश रासक, ८६

४४२. को देसो उव्वसिओ को वसिओ सुहअ जत्थ चलिओ सि ।  
ओ पहिय पथदीवय पुणो तुम कत्थ दोसिहिसि ॥ ३ ॥  
को देश उव्वसित को वासित सुभगयत्त चलितोऽसि ।  
हे पथिक पान्थदीपक पुनस्त्व कुन द्रक्ष्यसे ॥
- ४४३ दिट्ठो सि जेहि पथिय जेहि न दिट्ठो सि वे वि ते मुत्तिया ।  
एवकाण हिययहरण अन्नाण वि निप्पल जम्म ॥ ४ ॥  
दृष्टोऽसि वै पथिक यैन दृष्टोऽसि उभयोऽपि ते मुपिता ।  
एकेषा हृदयहरणमन्येषामपि निष्फल जन्म ॥
- ४४४ खरपवणचाडुचालिरक् ठट्ठियदिरुक्कप्पडो पहिओ ।  
दइयादसणतुरिओ अट्ठुड्डीणो एव पडिहाइ ॥ ५ ॥  
खरपवनचाडुचलनशूलकप्लस्थितदत्तकपट पथिक ।  
दयितादर्शनत्वरिस्तोऽघोऽङ्गीन इव प्रतिभाति ॥
- ४४५ दइयादसणतिण्हालुयस्म पहियस्स चिरणियत्तस्स ।  
नयरासन्ने धुम्कोडिया वि हियए न मायति ॥ ६ ॥  
दयितादर्शनतृष्णालो पथिकस्य चिरनिवृत्तस्य ।  
नगरसन्ने मशया अपि हृदये न मान्ति ॥

### ४६ घनवज्रा [धन्यपद्धति]

- ४४६ ते घग्ना गह्मणियवाविवभारालसाहि तरणीहि ।  
फुरियाहरदरगम्परगिराहि जे सभरिज्जति ॥ १ ॥  
ते घग्ना गह्मणित्थविश्वभारालसाभिरतरणीभ ।  
स्फुरिताधम्मदग्गदग्गोभिरे सम्मयन्ते ॥
- ४४७ ते घग्ना कटिणुत्तुगयोग्गयणवीटभारियगीहि ।  
मट्ठावणेहट्ठनठिरीहि जे नभरिज्जति ॥ २ ॥  
ते घग्ना कटिणोत्तुगविम्भीणस्तनवीटभारिणाग्गोभि ।  
मट्ठावन्नेहट्ठनठिरीणाभिरे सम्मयन्ते ॥

४४२ अरे पथिक ! (तुम्हारे चले आने से) कौन सा देश आज उजड़ गया ? जहाँ इस समय जा रह हो ऐसा कौन-सा देश आज बस गया है ? हे पन्थ के दीपक ! इसके पश्चात् फिर कहां दर्शन दोगे ? ॥ ३ ॥

४४३. पथिक ! जिन्होंने तुम्ह देखा है और जिन्होंने नहीं देखा है—वे दोनों ही लुट चुके हैं । (क्याकि) एक का हृदय हर लिया गया है, तो दूसरे का जन्म लेना ही ध्येय है ॥ ४ ॥

४४४ जिसके कंठ में लिपटे वस्त्र तीव्र पवन में झंझर उधर उड़ रहे हैं, वह पथिक प्रिया के दर्शन की शीघ्रता में आधा<sup>१</sup> उड़ता हुआ सा जा रहा है ॥ ५ ॥

४४५ जो चिरबाल बोलने पर घर लौटा है, वह प्रिया के दर्शन का प्यासा पथिक आज जन गाँव के निकट पहुँचा, तो उसके हृदय की घड़कन (टीकाकार के अनुसार सन्देह) ही नहीं समाप्त हो रही है ॥ ६ ॥

### ४६—धन-यज्जा (धन्य-पद्धति)

४४६ गुरुनितम्बों के भार से अलमारी तरणियाँ जिसे काँपते अधरों और गद्गद् वचनों से स्मरण करती हैं, वे धन्य हैं ॥ १ ॥

४४७ कठिन, उत्तुंग एवं विस्तीर्ण उरोजों से जिनके अंग भरे रहते हैं, वे सद्भाव, स्नेह और उत्कृष्टा से युक्त रमणियाँ जिन्हें स्मरण रखती हैं, वे धन्य हैं ॥ २ ॥

१ अद्भुद्दीर्घतृतिणि पठित पठि ज्योत्त पवहतु ।

४४८ ते धन्ना ताण नमो ते च्चिय जीवति वम्महपसाया ।  
 ईसिल्हसतणीवीउलाहि जे सभरिज्जति ॥ ३ ॥  
 ते धन्यारतेभ्यो नमस्त एव जीवन्ति मन्मथप्रसादात् ।  
 ईपत्त्रसमाननीवीव्याकुलाभिर्ये सस्मर्यन्ते ॥

४४९ ते धन्ना समयगइदलीललीलायरीहि अणवरय ।  
 छणवासरससहरवयणियाहि जे सभरिज्जति ॥ ४ ॥  
 ते धन्या समदगजेन्द्रलीलालीलाचरोमिरनवरतम् ।  
 क्षणवासरसशधरवदनाभिर्ये सस्मर्यन्ते ॥

४७ हिययसवरणवज्रा [हृदयसवरणपद्धति]

४५० झिज्जउ हियय फुट्टतु लोयणा होउ अज्ज मरण पि ।  
 मयणाणलो वियभउ मा माण मुच रे हियय ॥ १ ॥  
 क्षीयता हृदय स्फुटता लोचने भवत्वद्य मरणमपि ।  
 मदनानलो विजृम्भता मा मान मुञ्च रे हृदय ॥

४५१ हा हियय क्षीणसाहस वियलियमाहप्पचित्त भज्जेसि ।  
 जत्थ गओ न गणिज्जसि तत्थ तुम वधसे नेह ॥ २ ॥  
 हा हृदय क्षीणसाहस विगलितमाहात्म्यचिन्त भज्यसे ।  
 यत्र गत न गम्यसे तत्र त्व वध्नासि स्नेहम् ॥

४५२ हा हियय किं किलम्मसि दुल्लहजणगरुमगमासाए ।  
 अघटतजुत्तिक्कजाणुवयकरणे मुह कत्तो ॥ ३ ॥  
 हा हृदय किं क्लाम्यमि दुर्लभजनगुरुमगमाशया ।  
 अघटमानयुक्तिचार्यानुबन्धकरणे मय कृत ॥

४५३ अप्पच्छदपहाविर दुग्गह्लाह जण विमग्गतो ।  
 आयाम व भमतो मुह व्य वेणावि ग्वज्जिहिमि ॥ ४ ॥  
 आ मच्छन्दप्रधावनशीठ दुर्गभलाभ जन विमगंयत् ।  
 आनाशमिन् भ्रमन्मुधैव वेनापि याद्विष्यसे ॥

४४८. नीवी के स्थलित हो जाने से किंचित् विह्वल तरुणियाँ जिसे स्मरण रखती है, वे धन्य है, उन्हें नमस्कार है और कामदेव की कृपा से वे ही वास्तव में जीवित हैं ॥ ३ ॥

४४९. जो मत्त गजराजों के समान चलती हैं, वे पूर्णचन्द्रवदना रमणियाँ जिन्हें अनवरत स्मरण रखती हैं, वे धन्य हैं ॥ ४ ॥

### ४७—हृदयसंवरण वज्जा (हृदयसंवरण-पद्धति)

४५०. हृदय भले ही क्षीण हो जाय, आँखें भले ही फूट जायें और भले ही आज मृत्यु हो जाय, अरे मन ! कायाग्नि कितनी भी धधके, मान मत छोड़ना ॥ १ ॥

४५१. अरे मन ! तुम्हारा साहस क्षीण हो चुका है, तुम्हें अपने गौरव की भी चिन्ता नहीं है । जहाँ जाने पर कोई गणना नहीं होती, वहाँ नेह जोड़ते हो, टूट जाओगे ॥ २ ॥

४५२. अरे हृदय ! दुर्लभजन के संगम की बड़ी आशा से क्यों कष्ट भोगते हो ? जिसके पूर्ण होने का कोई उपाय नहीं है, उस कार्य के लिये क्यों हठ करते हो ? ॥ ३ ॥

४५३. रे हृदय ! तुम अपनी इच्छा से दौड़ रहे हो, दुर्लभजन को ढूँढ़ रहे हो । ऐसा लगता है जैसे आकाश में उड़ते हो, व्यर्थ ही तुम्हें कोई खा जायेगा ॥ ४ ॥

४५४ डज्जसि डज्जसु कड्ढसि कड्ढसु अह फुडसि हिययताफुडसु ।

जेण पुणो न कयाइ य अन्नासत्ते मइ कुणसि ॥ ५ ॥

दह्मसे दह्मस्व, कथ्यसे कथ्यस्व, अथ स्फुटसि हृदय तत्स्फुट ।

येन पुनर्न कदापि चान्यासक्ते मर्ति करोषि ॥

४८ सुघरिणीवज्जा [सुगृहिणीपद्धति]

४५५ भुजइ भुजियसेस सुप्पइ सुत्तम्मि परियणे सयले ।

पढम चेय विबुज्जइ घरस्स लच्छी न सा घरिणी ॥ १ ॥

भुङ्क्ते भुक्शेप स्वपिति सुप्ते परिजने सकले ।

प्रथममेव विबुध्यते गृहस्य लक्ष्मीर्न सा गृहिणी ॥

४५६ तुच्छ तवणिं पि घरे घरिणी तह कह वि नेइ वित्थार ।

जह ते वि बधवा जलणिहि व्व थाह न याणति ॥ २ ॥

तुच्छभक्ष्यकणमपि गृहे गृहिणी तथा कथमपि नयति विस्तारम् ।

यथा तैर्ऽपि बान्धवा जलनिधेरिव तल न जानन्ति ॥

४५७ दुग्गयघरम्मि घरिणी रक्खती आउलत्तण पइणो ।

पुच्छियदोहलसद्धा उयय चिय दोहल कहइ ॥ ३ ॥

दुर्गतगृहे गृहिणी रक्षन्त्याकुलत्वं पत्युः ।

पृष्टदोहधदोदकमेव दोहद कथयति ॥

४५८ पत्ते पियपाहुणए मगलवल्याइ विक्किणतीए ।

दुग्गयघरिणीकुलवालियाइ रोवाविओ गामो ॥ ४ ॥

प्राप्ते प्रियप्रापूर्णके मङ्गलवल्यानि विक्रीणत्या ।

दुर्गतगृहिणीकुलवालिकया रोदितो ग्रामः ॥

४५९ वधवमरणे वि हहा दुग्गयघरिणोइ वि न तदा रुण्ण ।

अप्पत्तवलिविलक्खे वल्लहकाए समुड्ढीणे ॥ ५ ॥

बान्धवमरणर्ऽपि हहा दुर्गतगृहिण्यापि न तथा रुदितम् ।

अप्राप्तवलिविलक्षे वल्लभवाके समुड्ढीने ॥

४५४ जलते हो, जलो, खोलते हो, खोलो, अरे हृदय ! टूटते हो तो टूट जाओ । जिससे फिर कभी अन्य से प्रेम करने वाले की कामना न करो ॥ ५ ॥

### ४८—सुघरिणी-वज्जा (सुगृहिणी-पद्धति)

४५५. जो सबके खा चुकने पर बचे हुए अन्न का भोजन करती है, जो सम्पूर्ण परिवार के सो जाने पर सोती है और पहलें ही जग जाती है, वह गृहिणी नहीं, घर की लक्ष्मी है ॥ १ ॥

४५६. गृहिणी घर में थोड़े से भक्ष्य-वर्णों को भी कुछ इस प्रकार बटा देती थी कि वे बाधव भी समुद्र के समान याह नहीं पाते थे ॥ २ ॥

४५७. गर्भावस्था में 'तुम्हारी क्या इच्छा है' यह पति के पूछने पर पति को आकुलता (कष्ट) से बचाती हुई दरिद्र-गृहिणी ने केवल जल की इच्छा प्रकट की ॥ ३ ॥

४५८. प्यारे पाहुन के आने पर जिसने अपने सुहाग के ककण बेंच दिये, उस दरिद्र घर की बहू और कुटुम्ब का पालन करने वाली (या उच्च कुल की बालिका) सुन्दरी ने उस गाँव को हला दिया<sup>१</sup> ॥ ४ ॥

४५९. जब प्रिय के आगमन का सगुन बताने वाला कौआ बलि न पाने के कारण लज्जित होकर उड़ गया, तब दरिद्र गृहिणी इतना रोई कि जितना माईयो के मरने पर भी न रोती ॥ ५ ॥

१. नहर की कुछ बालिका एक, अभाग्य है यह दरिद्र के आई ।  
साँझ को पाहुन आ गया द्वार, करे किससे उसकी पहनाई ।  
होकर लाजवती निरुपाय, सुहाग का वगन बेंचने लई ।  
आ गई दीनता से दुखी गाँव में, देख उसे किसको न रुवाई ॥



\*४६० अमुणियपियमरणाए वायसमुट्ठाविरोइ धरिणीए ।  
 रोवाविज्जइ गामो अणुदियह बद्धवेणीए ॥ ६ ॥  
 अज्ञातप्रियमरण्या वायसमुट्ठायिन्या गृहिण्या ।  
 रोचते ग्रामोज्जुदिवस बद्धवेण्या ॥

४६१ डिभाण भुत्तसेस छुहाकिलत्ता वि देइ दुहियाण ।  
 कुलगोरवेण वरईउ रोरघरिणोउ झिज्जति ॥ ७ ॥  
 डिम्भाना भुक्काप क्षुधाक्लान्तापि ददाति दृ खितेभ्य ।  
 कुलगोरवेण वरावयो दरिद्रगृहिण्य क्षीयन्ते ॥

४६२ अहियाइमाणिणो दुग्गयस्स छाहिं पइ-स रक्खती ।  
 नियवधवाण जूरइ धरिणी विहवेण पत्ताण ॥ ८ ॥  
 अभिजातिमानिनो दुर्गंतस्य च्छाया पत्न्य रक्षन्ती ।  
 निजवान्धवेभ्य ऋध्यति गृहिणी विभवेन प्राप्तभ्य ॥

४९ सईवज्जा [सतीपद्धति]

४६३ उग्गेउ अगुलिं सा विलया जा मह पइ न कामेइ ।  
 सो को वि जपउ जुवा जस्स मए पेसिया दिट्ठी ॥ १ ॥  
 ऊर्ध्वोक्त्वोत्पङ्गुलिं सा वनिता या मम पति न कामयते ।  
 स कोऽपि कथयतु युवा यस्य मया प्रेषिता दृष्टि ॥

४६४ चच्चरघरिणी पियदसणा वि तरुणो पउत्थवइया वि ।  
 अमईमइज्झया दुग्गया वि न हू खडिय सील ॥ २ ॥  
 चत्वरगृहिणी प्रियदग्गनापि तरुणी प्रापितपतिक्कापि ।  
 असनीप्रातिवेदिमवा दुर्गतापि न खलु खण्डन शीलम् ॥

४६५ अमरिमचित्ते दियरे मुद्धमणा पियवमे विममसीले ।  
 न यहइ कुट्टुअविहटणभएण तणुयायए मुद्धा ॥ ३ ॥  
 अमदग्गचित्ते देवरे मुद्धमणा प्रियवमे विममसीले ।  
 न कथयति कुट्टुअविघटनभयेन तनूभवति मुग्धा ॥

\*४६०. जो परदेशी प्रिय की मृत्यु का समाचार नहीं जानती थी वह गृहिणी जब प्रतिदिन वेणी बांधकर बीजा उठाने लगती, तब सारे गांव को रला देती थी ॥ ६ ॥

४६१. (वह) बालकों के खाने से जो बचता, उसे स्वयं भूख से पीड़ित होने पर भी दृष्टियों को दे देती थी । बेचारी दरिद्र गृहिणियाँ कुल गौरव से क्षीण होनी रहती हैं ॥ ७ ॥

४६२. अपने आभिजात्य पर गर्व करने वाले पति की मर्यादा की रक्षा करती हुई गृहिणी ठाट-चाट से आने वाले नैहर के लोगो पर क्रुद्ध हो जाती थी ॥ ८ ॥

### ४९—सई-बम्बा (सती-पद्धति)

४६३. जो मेरे पति की वामना न करती हो वह स्त्री ऊंगली ऊपर उठाये और वह मुक्क बोले, जिस की ओर मैंने दृष्टि भी डाली हो ॥ १ ॥

४६४. गृहिणी चोराहे पर रहती है, देखने में सुन्दर है, तरुणी है, पति-प्रवाम में है, पड़ोसिन व्यभिचारिणी है, दरिद्र भी है, फिर भी शील अक्षिप्त है ॥ २ ॥

४६५. देवर का मन दूषित हो जाने पर भी वह मुग्धा कुटुम्ब-विघटन के भय से अपने क्रीधी पति की नहीं बचाती थी, दुर्बल होती जा रही थी ॥ ३ ॥

१. जिस का पति दूर प्रवास में था, युग बीत गये फिर भी नहीं आया । विधवा अब हो चुकी थी जो परन्तु, जो कुटुम्बियों ने उससे या छिपाया । जिसने वर वणी सजा कर भाल में, आज सुहाग का बिन्दु बनाया । गृह भाग से काग उड़ाती हुई, उस कामिनी ने जिस को न रलाया ॥
- \* विशेष विवरण परिशिष्ट 'क्ष' में द्रष्टव्य ।

४६६. घरवावारे घरिणो वेसा सुरयम्मि कुलवहू सुयणे ।  
परिणइमज्झम्मि सही विहुरे मति व्व भिच्चो व्व ॥ ४ ॥  
गृहव्यापारे गृहिणो वेश्या सुरते कुलवधू सुजने ।  
परिणतिमध्ये सखो विधुरे मन्त्रीव भूत्य इव ॥
- ४६७ कुलवालियाइ पेच्छह जोव्वणलावणविभ्रमविलासा ।  
सव्वे वि अगगचलिआ पिअम्मि कयणिच्छए गतु ॥ ५ ॥  
कुलवालिकाया प्रेक्षध्व यौवनलावण्यविभ्रमविलासाः ।  
सर्वेऽप्यगचलिताः प्रिये कृन्निश्चये गन्तुम् ॥
- ४६८ पुरिसविसेसेण सइत्तणाइ न कुलक्कमेण महिलाणं ।  
सगग ए वि हाले न मुयऽ गोला पइट्ठाण ॥ ६ ॥  
पुरुषविशेषेण सतीत्यादि न कुलक्रमेण महिलानाम् ।  
स्वर्गं गतेऽपि हाले न मुञ्चति गोदा प्रतिष्ठानम् ॥
४६९. इहपरलोयविरुद्धेण कण्णकडुएण गरहणिज्जेण ।  
उभयकुलदूसणिज्जेण दूइ किं तेण भणिएण ॥ ७ ॥  
इहपरलोकविरुद्धेन कण्ठकुलेन गर्हणीयेन ।  
उभयकुलदूषणीयेन दूति किं तेन भणितेन ॥
४७०. जइ सो गुणानुराई गुणन्नुओ मह गुणे पससेइ ।  
पढम चिय जइ असई गुणगणणा का तह च्वेय ॥ ८ ॥  
यदि स गुणानुरागी गुणज्ञो मम गुणान् प्रशंसति ।  
प्रथममेव यद्यनती गुणगणना का तथा चैव ॥
- ४७१ जइ उत्तमो वि भण्णइ मह पुरओ सो वि सुयणु अणुदियह ।  
मामि न उत्तम पुरिमा परस्स दाराइ पेच्छति ॥ ९ ॥  
यद्युत्तमोऽपि भण्यते मम पुरतः सोऽपि सुतन्वन्नुदिवसम् ।  
मामि नोत्तमपुरुषाः परस्य दारान् प्रेक्षन्ते ॥

४६६. वह गृह-कार्य में गृहिणी, सुरत में वेश्या, मुजनों में कुलवधू, वृद्धावस्था में सखी, सुकट में मन्त्री और सेवक के नमान है ॥ ४ ॥

४६७. देवो, प्रियनम के प्रवास का निश्चय करते ही उस कुलवानिका (या कुल-यालिका) का यौवन, मौन्द्य, शृंगार-क्रियायें ( विभ्रम ) और आकर्षक चेष्टायें (विलास)—ये सभी पहल ही चले गये ॥ ५ ॥

४६८. महिलाओं का सनीत्व कुल-परम्परा से नहीं, पुण्य की विशेषता के कारण होना है । हाल ( प्रनिष्ठान के राजा सातवाहन ) के स्वर्ग चले जाने पर भी गोदावरी प्रतिष्ठान नामक नगर को नहीं छोड़ रही है, जैसे कोई सती विधवा होने पर पनि के स्थान का नहीं छोड़ती ॥ ६ ॥

४६९. जो इहलोक और परलोक में विरुद्ध है, कर्णकट्ट है, निन्दनीय है, दोनों कुलो को दूषित करने वाला है, अरी दूतो ! उसके कहने से क्या लाभ ? ॥ ७ ॥

४७०. यदि वह गुणवान् एव गुणानुरागी मेरे गुणों की प्रशंसा करता है, तो जब मैं पहले ही व्यभिचारिणी बन जाऊँगी, तब गुणों की क्या गिनती रह जायगी ॥ ८ ॥

४७१. अयि सुन्दरि ! यदि तुम प्रतिदिन मेरे आगे उत्तम पुण्य कहती हो तो सखि ! उत्तम पुण्य पर-स्त्रियों को नहीं देखते हैं ॥ ९ ॥

## ५० असईवज्जा [असतीपद्धतिः]

- ४७२ नियडकुडम पच्छन्नदेउल बहुजुवाणसंकिण्ण ।  
थेरो पइ त्ति मा ख्वसु पुत्ति दिन्ना सि सुग्गामे ॥ १ ॥  
निकटनिकुल्ल प्रच्छन्नदेवकुल बहुयुवसकीर्णम् ।  
स्थविर पतिरिति मा रुदिहि पुत्रि दत्तासि सुग्गामे ॥
- ४७३ मा ख्वसु ओणयमुही धवलायतेसु सालिछेत्तेसु ।  
हरियालमडियमुहा नड व्व सणवाडया जाया ॥ २ ॥  
मा रुदिह्यवनतमुखो धवलोभवत्सु शालिकेत्तेषु ।  
हरितालमण्डितमुखा नटा इव शणवाटका जाता ॥
- ४७४ पुव्वेण सण पच्छेण वज्जुला दाहिणेण वडविडवो ।  
पुत्तिइ पुण्णेहि विणा न लब्भए एरिसां गामो ॥ ३ ॥  
पूर्वेण शण पश्चाद् वज्जुला दक्षिणेन वटविटपः ।  
पुत्रिके पुण्यैर्विना न लभ्यत ईदृशो ग्रामः ॥
- ४७५ पेक्खह महाणुचोज्ज काणाघरिणीइ ज कय कज्ज ।  
चुवेवि न लहु नयण झडत्ति नीसारिओ जारो ॥ ४ ॥  
प्रेक्षध्वं महाश्वर्यं काणगृहिण्या यत् कृतं कार्यम् ।  
धुम्बित्वा न लघु नमन शटिति निःसारितो जारः ॥
- ४७६ पउरजुवाणो गामो महुमासो जोव्वण पई थेरो ।  
जुण्णसुरा साहीणा असई मा होउ किं मरउ ॥ ५ ॥  
प्रचुरयुवको ग्रामो मधुमासो यौवन पतिः स्थविरः ।  
जोर्णमुरा स्वाधोनामती मा भवतु किं म्रियताम् ॥
- ४७७ देवाण वभणाण य पुत्ति पमाएण एत्तिय कालं ।  
न हु जाओ अम्ह घरे कइया त्रि सइत्तणवल्लवो ॥ ६ ॥  
देवानां ब्राह्मणानां च पुत्रि प्रमादेनैतावन्त बालम् ।  
न खट्टु जानोऽम्मावं गृहं बदाचिदपि सतीन्वबलद्ध ॥

५०—असई-वज्जा (असती-पद्धति)

४३२. निकट ही कुंज है, सूना देव मन्दिर है, बहुत से युवको से पूर्ण है, वेटी ! पनि वृद्ध है—इस लिए रोओ मत, अच्छे गाँव में दी गई हो (आहो गई हो) ॥ १ ॥

४३३. शालि-श्रेष्ठों के श्वेत हो जाने (सूख जाने) पर मिर झुकाये मत रोओ, हरिनाथ से विभूषित मुख वाले नट के समान शणवाटक (सन के खैन) तैयार हो गये हैं<sup>१</sup> ॥ २ ॥

४३४. पूर्व में सन, पश्चिम में वेत और दक्षिण में वरगाद का पेड़ है, वेटी ! बिना पुष्प के ऐसा गाँव नहीं मिलता ॥ ३ ॥

४३५. काने की धरनी ने जो कार्य किया, उस महान् आश्चर्य को देखो । उसने पनि की आँख को देर तक चूम कर जार (प्रेमी) को घर से बाहर निकाल दिया ॥ ४ ॥

४३६. गाँव में प्रचुर युवक हैं, वसन्त का महीना है, युवावस्था है, पनि वृद्ध है, अपने पाम (अधिकार में) पुरानी मदिरा है—वह कुलटा न हो तो क्या मर जाय ? ॥ ५ ॥

४३७. वेटी ! देवों और ग्राहणों के प्रसाद से इतने दिनों तक हमारे घर में कभी सतीत्व का कलंक नहीं लगा है ॥ ६ ॥

१. मन स्वर्णो नील्यो कन्यो, ईसो लई उछारि ।

हरी हरों अरहर अत्रों, षड षरहरि हिय नारि ॥

—बिहारी

- ४७८ सट्ठोइ होइ सुहवा सएण रभत्तण च पावेइ ।  
 पुण्णे जारसहस्से इदो अद्धासण देइ ॥ ७ ॥  
 पष्टथा भवति सुभगा शतेन रम्भात्व च प्राप्नोति ।  
 पूर्णे जारसहस्र इन्द्रोर्ध्वासन ददाति ॥
- ४७९ जइ फुडु एत्थ मुयाण जम्मफल होइ किं पि अम्हाण ।  
 ता तेसु कुडगेसु ह तेण सम तह नु कीलेज्जा ॥ ८ ॥  
 यदि स्फुटमन मृताना जन्मफल भवति किमप्यस्माकम् ।  
 तत्तेषु निकुञ्जेषु हा तेन सम तथा खलु क्रीडेयम् ॥
- ४८० जो ज करेइ पावेइ सो त सोऊण निग्गया असई ।  
 रमियव्व तेण सम तत्थ जइच्छाइ ता एण्हि ॥ ९ ॥  
 यो यत्करोति प्राप्नोति स तच्छ्रुत्वा निर्गतासती ।  
 रन्तव्य तेन सम तत्र यदृच्छया तद् इदानीम् ॥
- ४८१ असईहि सई भणिया निहुय होऊण कण्णमूलम्मि ।  
 नरय वच्चसि पावे परपुरिसरस अयाणती ॥ १० ॥  
 असतीमि सती भणिता निभृत भूत्वा कणमूले ।  
 मरक वजसि पावे परपुरसरसमजानाना ॥
४८२. जत्थ न खुज्जयविडवो न नई न वण न उज्जडो गेहो ।  
 तत्थ भण कह वसिज्जइ सुविसत्थविवज्जिए गामे ॥ ११ ॥  
 यत्र न कुब्जकविटपो न नदी न वनं न निर्जनं गेहं ।  
 तत्र भण कथमुप्यते सुविश्वस्तविर्वजिते ग्रामे ॥
- ४८३ रे रे विडण्य मा मुयसु दुज्जण गिलमु पुणिमायद ।  
 अमयमय भुजतो हयास दीहाउओ होसि ॥ १२ ॥  
 रे रे राहो मा मुञ्च दुर्जन गिल पूर्णिमाचन्द्रम् ।  
 अमृतमय भुञ्जानो हाना दीर्घायुर्भविष्यति ॥

४७८ साठ से सुभगा होती है, सौ से रंभा पद पाती है और हजार जारो ( उपपत्तियो ) के पूर्ण होने पर इन्द्र अपना आधा आसन दे देता है ॥ ७ ॥

४७९ यदि यहाँ मरने पर हमारे जीवन के पुण्यो का सचमुच कुछ फल है तो वह उन्ही निकुञ्जो मे उसके साथ उसो प्रकार क्रीडा करता रहे ॥ ८ ॥

४८० मनुष्य जो करता है, उसे पाता है—यह सुनकर व्यभिचारिणी महिला, को इस समय उसके साथ इच्छा भर रमण करना चाहिये—इस विचार से निकल पडी ॥ ९ ॥

४८१. व्यभिचारिणियो ने सती के कानो के पास लग कर धीरे से कहा—अरी पापिन ! पर-पुरुष का रम न जानतो हुई नरक जा रही हो ॥ १० ॥

४८२. जहाँ न कुबडे पेड हैं, न नदी है, न वन है, न उजडा घर है, उस निश्चिन्त स्थान से रहित गाँव मे बताओ, कैसे रहा जाय ? ॥११॥

४८३ अरे राहु ! पूर्णिमा के चन्द्र को निगल जाओ । उस दुष्ट को छोडना मत । अरे दुष्ट ! जो अमृतमय है, उसे खाकर दीर्घायु हो जाओगे ॥ १२ ॥



- ४८४ छिन्न पुणो वि छिज्जत महमहचक्रेण राहुणो सीस ।  
गिलिओ जेण विमुक्को असईण दूसओ चदो ॥ १३ ॥  
छिन्न पुनरपि च्छिद्यता मवुमथनचक्रेण राहो शिर ।  
गिलितो येन विमुत्तोऽज्जनीना दूपकश्चन्द्र ॥
- ४८५ त किं पि कह वि होहिइ लब्धइ पुट्ठवि वि हिडमाणेहि ।  
जेणोसहेण चदो जीरिज्जइ पुण्णिमासहिओ ॥ १४ ॥  
तत्किमपि कथमपि भविष्यति लभ्यते पृथ्वीमपि हिण्डमानै ।  
येनोपयेन चन्द्रो ज्ञायते पूर्णिमानहित ॥
- ४८६ किं विहिणा सुरलोए एक्का वि न पुमलि त्ति निम्मविया ।  
साहीणो जेण मसी न बोलिओ नीलरगम्मि ॥ १५ ॥  
किं विधिना सुरलाक् एकापि न पुञ्चलीति निर्मापिता ।  
म्वाधीनो येन शशी न निमज्जिनो नीलरङ्गे ॥
- ४८७ पमरइ जेण तमोहो फिट्ठइ चदस्स चदिमा जेण ।  
त सिद्ध सुमरि सिरिपव्वयाउ आणोमह किं पि ॥ १६ ॥  
प्रसरति येन तमआघो भ्रम्यति चन्द्रस्य चन्द्रिका येन ।  
तत्सिद्ध स्मृत्वा शीपर्वतादानयोपथ किमपि ॥
- ४८८ मा पत्तिय पि दिज्जमु पुमलि मिबिणे वि कामडहणम्म ।  
जो अम्हाण अमित्त चद सीने ममुव्वहइ ॥ १७ ॥  
मा पत्रिवामपि ददा पुञ्चलि स्वप्नेऽपि कामदहनस्य ।  
योज्ज्माक्कममित्र चन्द्र शीपे ममुद्वहति ॥
- ४८९ अमईण विप्पिय रे गज्ज मा वहनु पुण्णिमायद ।  
दोसिहिमि तुम कइया जह भग्गो वल्लयव्वहो व्व ॥ १८ ॥  
अमतोना विप्रिय रे गर्व मा वह पुण्णिमाचन्द्र ।  
द्रश्यमे एव कदापि यथा नग्नो वन्यस्तण्ड इव ॥

४८४. जिसने असतियो को कञ्चिन करने वाले चन्द्रमा को निगल कर छोड़ दिया, उस राहु का सिर विष्णु के चक्र से एक बार कट जाने पर भी फिर से काटा जाय ॥ १२ ॥

४८५. क्या भूमण्डल में भी भ्रमण कर के वह औषधि किसी प्रकार मिलेगी, जिससे पूर्णिमा-महित चन्द्रमा को पचाया जा सके ॥ १४ ॥

४८६. क्या विधाता ने स्वर्ग में एक भी व्यभिचारिणी नहीं बनायी, जिसने अपने निकटवर्ती चन्द्रमा को नीले रंग में नहीं डुबो दिया ? ॥ १५ ॥

४८७. हे सिद्ध ! स्मरण करके श्री-पर्वत से वह औषधि ले आओ, जिससे अन्धकार का समूह फैलता है और चन्द्रमा को चाँदनी नष्ट हो जाती है ? ॥ १६ ॥

४८८. हे पुश्चलि (कुलटे) ! जो हमारे बेरो चन्द्रमा को मस्तक पर धारण करता है, उस शिव को स्वप्न में भी एक पत्ती मत चढ़ाना ॥ १७ ॥

४८९. अरे व्यभिचारिणिया के अप्रिय पूर्णचन्द्र ! गवं मत करो ! तुम कभी टूटे ककण के टुकड़े के समान दिखाई दोगे ॥ १८ ॥

४९०. अज्जो घावसु तुरिय कज्जल भरिऊण वे वि हत्थाइ ।  
 दिट्ठो कूवावडिओ असईण दूसओ चदो ॥ १९ ॥  
 अहो घाव त्वरित कज्जलेन भूत्वा द्वावपि हस्तौ ।  
 दृष्ट कूपापतितोऽसतीना दूषकश्चन्द्र ॥
४९१. मह एसि कीस पथिय जइ हरसि नियसण नियवाओ ।  
 साहेमि कस्स पुरओ ग्रामो दूरे अह एक्का ॥ २० ॥  
 मामेपि कस्मात्पथिक यदि हरसि निवसन नितम्बात् ।  
 वययामि कस्य पुरतो ग्रामो दूरेऽहमेका ॥
४९२. अत्ता बहिरधलिया बहुविहवीवाहसकुलो ग्रामो ।  
 मज्झ पई य विएसो को तुज्झ वसेरय देइ ॥ २१ ॥  
 श्वश्रूवंधिरान्धा बहुविधविवाहसकुलो ग्राम ।  
 मम पतिश्च विदेशे वस्तव वास ददाति ॥
४९३. जणसकुल न सुन्न रुसइ अत्ता न देइ ओआस ।  
 ता वच्च पहिय मा मग वासय एत्थ मज्झ घरे ॥ २२ ॥  
 जनसकुल न शून्य रुप्यति श्वश्रून् ददात्यवकाशम् ।  
 तद्व्रज पथिक मा मार्ग्य वासकमत्र मम गृहे ॥
४९४. कह लब्धइ सत्थरय अम्हाण पहिय पामरघरम्मि ।  
 उन्नयपओहरे पेच्छिऊण जइ वससि ता वससु ॥ २३ ॥  
 वयं लभ्यते सस्तरव' (स्वस्थरत) अस्माकं पथिक पामरगृहे ।  
 उन्नतपयोधरान् (उन्नतपयोधरी) प्रेक्ष्य यदि वससि तद्वस ॥
४९५. वस पहिय अगण च्चिय फिट्ठ ता तुज्झ वसणदोहलओ ।  
 इह ग्रामे हेमंतो नवरं गिम्हस्स सारिच्छो ॥ २४ ॥  
 वस पथिवाङ्गण एव भ्रश्यतु तावत्तव वमनदोहद ।  
 इह ग्रामे हेमन्त केवल ग्रीष्मस्य सदृश ॥

४९०. अरे दोनों हाथों में बालिस भरकर धोछ दीहो। धूम्रिचारिणियों का दूधक चन्द्रमा कूर्प में गिरा हुआ दिखाई पड़ा है ॥ १९ ॥

४९१. अरे पथिक ! मेरे निकट क्यों आते हो ? यदि मेरे नितम्बों से वस्त्र उतार लोगे, तो मैं किससे कूँगी ? क्यों कि गाँव दूर है और मैं अकेली हूँ ॥ २० ॥

४९२. सास अन्धो-बहुरी है, गाँव नाना प्रकार से विवाह में व्यस्त है, मेरा पति परदेश में है। तुम्हें रैन-बमेरा कौन दे ? ॥ २० ॥

४९३. पथिक ! यह स्थान जन-मकुल है, मुनमान नहीं है। साम दष्ट होनी है, सोने का स्थान नहीं देना। अतः चले जाओ, यहाँ मेरे घर में रैन-बमेरा मत माँगो ॥ २२ ॥

२९४. पथिक ! हम ग्रामीणों के घर में बिछौना कैसे मिल पायेगा ? (पक्ष में स्वस्थ-रत कैसे मिल पायेगा)। उठे हुए पयोधरों (मियों) को देखकर यदि रहते हो तो रहो<sup>१</sup> (पक्ष में—उठे हुए उरोजों के देख कर यदि खाना चाहते हो तो रुक जाओ) ॥ २३ ॥

४९५. अरे बटोही ! आँगन (बाह्य प्रागण) में ही टिक जाओ<sup>२</sup>। तुम्हें ओढ़ने की चिन्ता नहीं करनी है। केवल इसी एक गाँव में हेमन्त ग्रीष्म के समान है ॥ २४ ॥

१. इस गायिका का पाठ गाह्य-अतसई में कुछ भिन्न है जिसका भावानुवाद मैंने इस प्रकार किया है—

धके होंगे बटोही मैं जानती हूँ, बड़ के किमी ठौर पकान मिटाओ।  
इन पत्थरों से अरे बीहड़ गाँव में, बास की आम न लेकर आओ।  
यहाँ हूँ न बिछोने का कोई प्रबन्ध, रसोई का भी न प्रयोग चलाओ।  
उल्टे हुये देख पयोधरों को यदि, चाहो तो रात भले टिक जाओ ॥

२. आँगन में ही मिला यदि ठौर, तो क्या परवाह बही टिक जाओ।  
छोड़ दो कबल की घरचा, न बटोही बलाव का नाम सुनओ।  
दूसरे गाँव की बात हो और हूँ, सोच उसे न खड़े पड़ाओ।  
जैठ-समान है पूम यहाँ, न डरो सुमर्चन मे रैन बिताओ ॥

४९६. इतो निवसइ अत्ता एत्थ अहं एत्थ परियणो सयलो ।  
 ए पहिय रत्तिअंधय मा मह सयणे निमज्जिहिसि ॥ २५ ॥  
 इतो निवसति श्वश्रूराहमत्र परिजनः सकल ।  
 हे पथिक रात्र्यन्ध मा मम शयने निमक्ष्यसि ॥

### ५१ जोइसियवज्जा [ज्योतिपिकपद्धति]

- ४९७ दीहरखडियाहत्थो जोइसिओ भमइ नयरमज्झम्मि ।  
 जाणइ सुक्कस्स गइ गणइ जइ गणावए को वि ॥ १ ॥  
 दीर्घंखटिकाहस्तो ज्योतिपिको भ्राम्यति नगरमध्ये ।  
 जानाति शुक्कस्य गतिं गणयति कोऽपि ॥
४९८. जोइसिय मा विलवसु खडिय धेत्तूण गणसु मह तुरिय ।  
 अगारए पणट्ठे सुक्कस्स गई तह च्चेय ॥ २ ॥  
 ज्योतिपिक मा विलम्बस्व खटिका गृहीत्वा गणय मम त्वरितम् ।  
 अङ्गारके (अङ्गरते) प्रनष्टे शुक्कस्य गतिस्तथैव ॥
- ४९९ अत्थि घर च्चिय गणओ विचित्तकरणेहि निट्ठुर गणइ ।  
 न ह जाणइ मुक्कगइ तेणाह तुह धरे पत्ता ॥ ३ ॥  
 अस्मि गृह एव गणको विचित्रवर्णोनिष्ठुर गणयति ।  
 न खटु जानयति शुक्कानि तेनाहं तत्र गृहे प्राप्ता ॥

४९६. यहाँ सास सोती है, यहाँ मैं और यहाँ सब परिजन सोते हैं।  
अरे पथिक ! तुम्हें रतींची होती है, कहीं मेरी शय्या पर न सो  
जाओ' ॥ २५ ॥

५१—जोइसियवज्जा (ज्योतिषिक-पद्धति)

इस प्रकरण में प्रयुक्त प्रतीकों के शृङ्गारिक अर्थ इस प्रकार हैं—

ज्योतिषिक = मैथुन कर्ता

खटिका = लिंग

गणना = मैथुन

करण = रति का आसन

फलक = भग

गणक = मैथुन कर्ता

छालका = लिंग

(पाठकों को यथा-स्थान इस अर्थ का उपयोग कर लेना चाहिये।)

४९७. हाथ में लम्बी खटिका (खड़िया मिट्टी का लम्बा टुकड़ा) लेकर  
नगर के बीच ज्योतिषी भ्रमण कर रहा है। यदि कोई गणना कराये तो  
बहु शुक्र (पक्ष में-वीर्य) की गति को जानता है ॥ १ ॥

४९८. ज्योतिषी ! विलम्ब मत करो। खड़िया लेकर शीघ्र मेरी  
गणना कर डालो। मंगल के न रहने पर शुक्र की गति (दशा) वैसी ही है  
(शारीरिक मैथुन समाप्त हो जाने पर भी वीर्य की गति वैसी ही है) ॥ २ ॥

४९९. मेरे घर में ही ज्योतिषी है। वह विचित्र करणों (गणना के  
साधनों या दिन के ज्योतिष प्रसिद्ध भाग विशेषों) से निष्ठुरतापूर्वक  
गणना करता है, परन्तु शुक्र (ग्रह विशेष) की गति को नहीं जानता है  
(पक्ष में—वीर्य का प्रवेश कराना नहीं जानता) इसी से तुम्हारे घर पहुँची  
हूँ ॥ ३ ॥

१. रहती है पत्नी यहाँ साँझ से साग, अचेत हो पेट में जाते हो दाना।  
उस ओर अकेली ही सोती हूँ मैं, चुपचाप बिजा कर टाट पुराना।  
दिन में सब देख लो दूसरी बार, जिम से तू पड़े मुझे समझाना।  
अरे रात के अन्धे बटोही ! कहो, तुम मेरी ही सेब पे लेट न जाना।

\*५०० जोइसिय कीस चुक्कसि विचित्तकरणाइ जाणमाणो वि ।  
तह कह वि कुणमु सिग्घ जह सुक्क निच्चल होइ ॥ ४ ॥

ज्योतिषिक कि प्रमाद्यसि विचित्रकरणानि जानानोऽपि ।  
तथा कुरु कथमपि शीघ्र यथा शुक्रो (शुक्र) निश्चलो (निश्चल) भवति ॥

५०१ \*विदरीए रईविवे नक्खत्ताण २, ठाणगहियाण ।  
न पडइ जलस्स विट्ठ सुदरि चित्तट्टिए सुक्के ॥ ५ ॥

विपरीते रविबिम्बे (रतिबिम्बे) नक्षत्राणां (नक्षत्राणाम्) च स्थानगृहीतानाम् ।  
न पतति जलस्य (वीजस्य) विट्ठु सुन्दरि चित्रास्ये (चित्तस्ये) शुक्ले ॥

५०२ विउल फल्लय थोरा सलायया तु पि गणय कुसलो सि ।  
तह वि न आओ मुक्कको सच्च चिय सुन्नहियओ सि ॥ ६ ॥

विपुल फलक दोर्घा शलाका त्वमपि गणक कुशलोऽसि ।  
तथापि नागत शुक्र सत्यमेव शून्यहृदयोऽसि ॥

५०३ \*डज्जउ सो जोइमिओ विचित्तकरणाइ जाणमाणो वि ।  
गणिउ सयवार मे उट्ठइ धूमो गणतस्स ॥ ७ ॥

दक्षता म ज्योतिषिको विचित्रकरणानि जानानोऽपि ।  
गणयित्वा सप्तवारं ममोत्तिष्ठति धूमो गणयत ॥

\*५०४ जइ गणमि पुणो वि तुम विचित्तकरणेहि गणय मविमेस ।  
मुक्कस्समेण रहिय न हु लग्ग मोहण होइ ॥ ८ ॥

यदि गणयमि पुनरपि त्वं विचित्रकरणे गणय मविरोपम् ।  
शुक्लमेव रहितं न मय लग्नं मोहन भवति ॥

\*५००. ज्योतिषी ! विशेष रूप से चित्रा नक्षत्र का प्रभाव जानते हुए (या दिन के करण सप्तक भागों को जानते हुए) भी क्यों चूकते हो ? शीघ्र ही कुछ ऐसा करो जिससे शुक्र की स्थिति का निर्णय हो जाय ॥ ४ ॥

शृङ्गारपक्ष—रति के विविध आसनो को जानते हुए भी क्यों चूकते हो ! ऐसा करो कि वीर्य स्थिर हो जाय (गर्भ रह जाय) ।

\*५०१. हे सुन्दरि ! जब रविमण्डल अपने स्थान पर स्थित नक्षत्रों के प्रतिकूल रहता है तब शुक्र के चित्रा नक्षत्र में स्थित होने पर भी जल की बूँद नहीं पड़ती ॥ ५ ॥

शृङ्गार पक्ष—सुन्दरि ! पुरुषेन्द्रिय के निकट पहुँची हुई एव सम्मान पूर्वक ग्रहण करने योग्य युवतियों की विवृत यानि में प्रणय (या काम विकार) के शुष्क हो जाने की दशा में वीर्य की एक बूँद भी नहीं पड़ती है ।

५०२ फलक (गणना करने के लिये निर्मित काष्ठ या धातु की तख्ती) विस्तृत है, शलाका (खडिया) मोटी है, गणक ! तुम भी कुशल हो, तब भी शुक्र ग्रह की गणना नहीं आई ! सचमुच तुम्हारा मन नहीं लग रहा है (पक्ष में—वीर्यपान नहीं हुआ, तुम हृदय-हीन हो) ॥ ५ ॥

\*५०३ विचित्र करणः (दिन-विभागों) को जानता हुआ भी वह ज्योतिषी भस्म हो जाय, अनेक बार गणना करके पुनः गणना करते हुये उसके द्वारा केतु ही निकलता है (या उसे केतु ही आता है) ॥ ६ ॥

शृङ्गार पक्ष—उसके बार-बार मैथुन से मुझे क्रोध आ जाता है ।

\*५०४ यदि गिनते हो तो विचित्र करणों से तुम विशेष गणना करो । शुक्र की गति के बिना (विवाहादि का) लग्न शुभ नहीं होता है (वीर्य प्रवेश अर्थात् मैथुन के बिना प्रेम शुभ नहीं होता है) ॥ ७ ॥

\* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य ।



५०५ मोत्तूण करणगणिय अगुलिमेत्तेण जइ वि सो गणइ ।  
अइणिउणो जोइसिओ कड्ढइ नाडीगय मुक्क ॥ ९ ॥

मुक्त्वा करणगणितमङ्गुलिमात्रेण यद्यपि स गणयति ।  
अतिनिपुणो ज्यौतिषिक कर्णति नाडीगत शुक्रम् ॥

५०६ भणिओ वि जइ न कुप्पमि जइ न तुम होमि कूडजोइसिओ ।  
ता कीस तुज्ज जाया अन्नेहि गणावए दियह ॥ १० ॥

भणितोऽपि यदि न कुप्यमि यदि न त्व भवसि कूटज्यौतिषिक ।  
तत् किं तव जायान्यैर्गणयति दिवसम् ॥

\*५०७. अंगारं न याणइ न हु वुज्जइ हत्थचित्तमचार ।  
इय माड कूटगणओ कट्ठ जाणइ मुक्कमचारं ॥ ११ ॥  
अङ्गारं न जानानि न गट्ठ बुद्धिं हत्थचित्तमचारम् (हत्थचित्तमचारम्) ।  
। मान कूटगणं कथं जानानि शुक्लमचारम् ॥

५०५. यद्यपि करणो (गणना के साधनो) की गणना को छोड़कर वह अगुलिमान से गणना करता है, फिर भी अति निपुण ज्योतिषी है, नाडी में स्थित शुक्र (ग्रह) को निकाल देता<sup>१</sup> है (गणना करके बता देता है ॥ ८ ॥

शृङ्गार पक्ष—लिंग से मैथुन करना छोड़ कर अङ्गुलियों का योनि में प्रवेश कराता है, फिर भी नाडियों (नसों) में स्थित वीर्य को खींच लाता है।

५०६. कुछ कहने पर यदि क्रोध नहीं करते हो और यदि पाखंडी ज्योतिषी नहीं हो, तो तुम्हारी पत्नी क्यों दिन भर दूसरों से गिनवाती रहती है ?

\*५०७. अरी माँ ! यह कूट गणक न तो भगल ग्रह को जानता है और न उस का हस्त और चित्रा नक्षत्रों में प्रवेश (सक्रमण) ही समझता है। शुक्रग्रह का (हस्त और चित्रा में) संचार कैसे जानेगा ? ॥ ११ ॥

शृङ्गार पक्ष—यह कूट मैथुनकारी रति-क्रिया नहीं जानता और न हाथों का विचित्र संचार ही समझता है। अरी माँ ! यह कैसे योनि में वीर्य का प्रवेश कराना जानेगा।

### ५२—लेहयवज्जा (लेखक-पद्धति)

प्रतीक परिचय—लेखक = मैथुन कर्ता

स्खलन = वीर्य पात

लेखनी = लिंग

मसि-मर्दन = वीर्य प्रवेश

लेखन = मैथुन

मसि = वीर्य

मुललित-पात्र = भग (श्लेष् से मसिपात्र)

ललित-पात्र = भग

ताल-पत्र = भग

मसि-भाजन = वृषण

१ अयोध्या के मान्य ज्योतिषी ५० गोपीकान्त झा के अनुसार शुक्र, शनि, मीम आदि नाडियाँ ज्योतिषशास्त्र में नहीं गई हैं, जिनसे वर्षा के म्यूनाधिक्य का ज्ञान होता है।

## ५२ लेह्यवज्जा [लेखकपद्धति]

- ५०८ मसि मलिऊण न याणसि लेहणि गहिऊण मूढ खलिओ सि ।  
 ओसरसु कूडलेह्य सुललियपत्त विणासिहिसि ॥ १ ॥  
 मयी मदिनु न जानासि लेखनी गृहीत्वा मूढ स्खलितोऽसि ।  
 अपसर कूटलेखक सुललितपत्र विनाशयिष्यसि ॥
- ५०९ ढलिया य मसी भग्गा य लेहणी खरडिय च तलवट्ट ।  
 धिद्धित्ति कूडलेह्य अज्ज वि लेहत्तणे तण्हा ॥ २ ॥  
 स्खलिता च मयी भग्गा च लेखनी भग्ग च तालपत्रम् (तलपट्टम्) ।  
 धिग्धिगिति कूटलेखकाद्यापि लेखकत्वे तूष्णा ॥
- ५१० पिहुल मसिभायणय अत्थि मसी वित्थर च तलवट्ट ।  
 अम्हारिसाण कज्जे ह्यलेह्य लेहणी भग्गा ॥ ३ ॥  
 पृथुल मयीभाजनमस्ति मयो विस्तृत च तालपत्रम् (वराङ्गम्) ।  
 अस्मादृशीना कार्ये हतलेखक लेखनी भग्गा ॥

## ५३ विज्जवज्जा [वेद्यपद्धति]

- ५११ विज्ज न एसो जरओ न य वाही एस को वि सभूओ ।  
 उवसमइ सलोणेण विडगजोयामयरसेण ॥ १ ॥  
 वेद्य नैष ज्वरो न च व्याधिरेष कोऽपि सभूत ।  
 उपशाम्यति सलवणन विडङ्ग (विटाङ्ग) योगामुतरसेन ॥
- \*५१२ सच्च जरए कुसलो सरसुप्पन्न य लक्खसे वार्हि ।  
 एय पुणो वि अग विज्ज विडगेहि पन्नत्त ॥ २ ॥  
 सत्य ज्वरे कुशल स्वरसोत्पन्न च लक्षसे व्याधिम् ।  
 इद पुनरप्यङ्ग वेद्य विडङ्गे प्रज्ञप्तम् ॥
- ५१३ पुक्कारय पउज्जसु वालाइ रसुवभवाइ वाहीए ।  
 अज्ज अणज्ज निल्लज्ज विज्ज पेज्जाइ न हु कज्ज ॥ ३ ॥  
 पुक्कारय (पुस्कारक) प्रयुङ्क्ष्व वालाया रसोद्भवस्य व्याधे ।  
 अद्यानार्यं निलज्ज वेद्य पेयया न खलु कार्यम् ॥

५०८. मसि मिलाना नहीं जानते, लेखनी लेकर स्वलिनि हो गये (भूल कर बैठे), अरे कूट-लेखक ! तुमने तो मेरा बढ़िया ताल-पत्र नष्ट कर दिया ॥ १ ॥

५०९. मसि गिर पड़ी, लेखनी टूट गई, ताल-पत्र भी फट गया। अरे अनादी लेखक ! तुम्हें धिक्कार है। अब भी लिखना चाहते हो ॥ २ ॥

५१०. बड़ा सा ममिपान है, मसि है और विस्तृत ताल-पत्र है, अरे दुष्ट लेखक ! हम-जैनों का काम पढ़ने पर तुम्हारी लेखनी ही टूट गई ॥ ३ ॥

### ५३—विश्ववज्जा (वैद्य-पद्धति)

५११. वैद्य ! यह न कोई ज्वर है, न कोई व्याधि है। यह तो ऐसा कोई रोग उत्पन्न हो गया है, जो लवण और विडग (बाय मिडग नामक दवा) के योग से (मिश्रण से) बनने वाले अमृत तुल्य रसायन से उपशान्त होता है (शृङ्गार पक्ष—जो लावण्य युक्त विट के अंगों के अमृतोपम संयोग से शान्त होता है या जो विट (उपपत्ति या जार-पुस्त) के लिंग का संयोग होने पर सुन्दर एवं निर्दोष वीर्य-निष्पन्न से शान्त होता है) ॥ १ ॥

\*५१२. वैद्य ! तुम ज्वर का निदान करने में सचमुच कुशल हो और स्वभावतः उत्पन्न हो जाने वाले रोग को देख रहे हो (लक्षित कर रहे हो) क्योंकि इस (रोग) को पुनः बायमिडग से खण्डनीय (विनाश्य) बताया है ॥ २ ॥

शृङ्गार पक्ष—तुम ज्वर का निदान करने में कुशल हो और अपने स्वभाव से उत्पन्न रोग को देख रहे हो, क्योंकि इसको पुनः विट (उपपत्ति या जार) के अंग (लिंग) से खण्डनीय बताया है ॥

५१३. अमुद्ध पारे या विष के कारण उत्पन्न हो जाने वाली इस चालाकी व्याधि में पुष्कारण नामक जड़ी का प्रयोग करो। अरे अनाय, 'निलंज वैद्य ! आज मांड (या लपसी) का काम नहीं है ॥ ३ ॥

शृङ्गार पक्ष—प्रेम से उत्पन्न इस रोग में पुरुषलिंग का प्रयोग करो। शुष्क प्रेम (पिञ्जा = प्रेम का स्त्रीरूप) का काम नहीं है।

१. विस्तृत विवेचन परिशिष्ट 'स' में दृश्य।

- ५१४ सामा खामा न सहेइ मद्दण विज्ज किं वियप्पेण ।  
अग्गगुलीइ दिज्जउ अवलेहो माउलिंगस्स ॥ ४ ॥  
श्यामा क्षामा न सहते मर्दनं वैद्य किं विकल्पेन ।  
अग्राङ्गुल्या दीयतामवलेहो मातुलिंगस्य (मातृलिंगस्य) ॥
- ५१५ पुक्कारेण विज्जय निव्विण्णा तुह य दीहसासेण ।  
मा वारिज्जउ वाला भुजउ अन्न जहिच्छाए ॥ ५ ॥  
पुक्कारयेण वंद्य निव्विण्णा तव च दीर्घन्नासेन ।  
मा वार्यता वाला भुङ्तामन्न (अन्य) यथेच्छम् ॥
- \*५१६ गहवइमुएण भणिय अउव्वविज्जत्तण हयासेण ।  
जेण पउजइ पुक्कारय पि पन्नत्तियाण पि ॥ ६ ॥  
गृहपतिमुतेन भणितमपूर्ववैद्यकं हताशेन ।  
येन प्रमुह्यते पुक्कारय (पूताररतम्) अपि प्रज्ञप्तिकानामपि ॥
५१७. विज्ज तुहागमण च्चिय मुक्का जरएण किं न परिमुणसि ।  
ता नियसु मज्झ अगे सपइ सेओ समुप्पन्नो ॥ ७ ॥  
वैद्य तवागमन एव मुक्ता ज्वरेण किं न जानासि ।  
तत् पश्य ममाङ्गे सप्रति स्वेदः समुत्पन्नः ॥
- \*५१८ विज्जय अन्न वारं मह जरओ सयरएण पन्नतो ।  
जइ त नेच्छसि दाउ ता किं छासी वि मा होउ ॥ ८ ॥  
वैद्यान्य वारं मम ज्वरः शनरयेण (शनस्तेन) प्रज्ञप्तः ।  
यदि तत् नेच्छामि दानु तत् किं तत्रमपि (पट्टशोतिरपि) मा भवतु ॥

५१४. वैद्य ! यह वृद्धागो श्यामा स्वयं निचोड नहीं सकती है, अतः क्यों सोच विचार में पड़े हो ? इसे अंगुली के अग्र-भाग से विजोरे नीत्रू का अवलेह (चटनी) दो । (यह इतनी दुबल हो गई है कि रतिक्रिया में अंगों का मर्दन नहीं सह सकती । अतः मध्यमांगुलि से इसके भग का अवलेखन करो)

५१५. अरे वैद्य ! यह पुष्कारय नामक जड़ी और तुम्हारी (दुग्ध के कारण उत्पन्न) लम्बी साँमों से ऊँच चुकी है (या जिसके कारण साँमें लम्बी हो गई हैं, उस पुष्कारय से ऊँच चुकी है) । इसे रोकिये मन, इच्छा भर अतः खाने दीजिये ।

शृङ्गार पक्ष—तुम्हारे लिंग और तुम्हारी लम्बी साँमों (हाँफने से) से ऊँच चुकी है । इसे अन्य पुरुष का उपभोग करने दीजिये ।

\*५१६. दुष्ट गृहपति कुमार ने अपूर्व वैद्यक शास्त्र बताया है, जिससे वह शाङ्ग-फूँक का भी प्रयोग करता है और उपदेश-दान का भी ॥ ६ ॥  
शृङ्गार पक्ष—दुष्ट गृहपति कुमार ने अपूर्व विद्या बताई है, जिससे वह पचास (या पाँच) स्त्रियों के लिए भी पुरुषेन्द्रिय का प्रयोग करता है ।

५१७. वैद्य ! तुम्हारे आने ही में ज्वर-भुक्त हो गई हूँ । क्या जानते नहीं ? तो देखो, इस समय मेरे अंग में पमौना उत्पन्न हो गया है ॥ ७ ॥  
(प्रमेद का कारण द्रवी भाव या सात्त्विक भावोद्रेक)

\*५१८. वैद्य ! अन्य वार मेरा ज्वर तुम्हारे हाथों की भभूत से मारा गया था (नष्ट हो गया था) । यदि उसे नहीं देना चाहते, तो क्या मट्टा भी न होगा ? ॥ ८ ॥

शृङ्गार पक्ष—अन्य वार मेरा विरह-स्ताप सौ समोगों से दूर हो गया था । यदि उतना नहीं देना चाहते तो क्या टियामी समोग भी नहीं दोगे ?

५१९. जिसके अंग ज्वर से मलिन हो चुके थे, उस कल और मधुर भाषण करने वाले बाला को देखते हुए वैद्य की अच्छी तरह अभ्यन्त मुश्रुनमहिता भी भूल गई ॥ ९ ॥

\* विशेष विवेचन परिसिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य ।

- \*५२० मोत्तूण वालतत तह य वसीकरणमतततेहि ।  
सिद्धत्थेहि महम्मइ तरुणी तरुणेण विज्जेण ॥ १० ॥  
मुक्त्वा वालतन्त्र तथा च वशीकरणमन्त्रतन्त्रे ।  
सिद्धार्थे प्रहृष्यते तरुणी तरुणन वैद्येन ॥
- \*५२१ अन्न न रुच्चइ च्चिय मज्झ पियासाइ पूरिय हियय ।  
नेहसुरयल्लयगे तुह सुरय विज्ज पडिहाइ ॥ ११ ॥  
अन्न (अन्यत्) न रोचत एव मम पिपासया (प्रियाशया) पूरितं हृदयम् ।  
स्नेहसुरताद्राङ्गे तव सुरत वैद्य प्रतिभाति ॥
- ५२२ जो धम्मिओ न पावइ कुरय मदारय च मुग्गरय ।  
सो गहियकरडो च्चिय कत्तो धुत्तीरय' लहइ ॥ १ ॥  
यो धार्मिको न प्राप्नोति कुरवक (कुरतं) मन्दारक (मन्दारत)  
च मुद्गरकम् (मुग्धारतम्) ।  
स गृहीतकरण्ड एव (गृहीतकराण्डक एव) कुतो धत्तूरक  
(धूर्तारत) लभते ॥
- ५२३ धुत्तीरण धम्मिय जइ इच्छसि लिङ्गपूरण काड ।  
ता एज्जसु मज्झ परोहडम्मि सूरम्मि अत्थमिए ॥ २ ॥  
धत्तूरेकण (धूर्तारतेन) धार्मिक यदीच्छसि लिङ्गपूरण कर्तुम् ।  
तत आगच्छ मम गृहपश्चाद्भागो सूर्योऽस्तमिते ॥
- \*५२४ धुत्तीरयस्स कज्जे गहिराणि परोहडाइ वच्चतो ।  
धम्मिय सुरगकाओ कुरयाण वि नवरि चुक्किहिसि ॥ ३ ॥  
धत्तूरकस्य (धूर्तारतस्य) कार्ये गभीरान् गृहपश्चाद्भागान् व्रजन् ।  
धार्मिक सुरङ्गवात् कुरवकेभ्योऽपि (कुस्तेभ्योऽपि) केवल भ्रक्षिष्यसि ॥
- ५२५ धुत्तीरयाण कज्जेण धम्मिओ परपरोहडे भमइ ।  
अन्नेहि विलुप्पत निययाराम न लक्खेइ ॥ ४ ॥  
धत्तूरकाणा (धूर्तारताना) कार्येण धार्मिको परगृहपश्चाद्भागान् भ्रमति ।  
अन्यैर्विलुप्यमान निजाराम न लक्षयति ॥

\*५२०. बालातन्त्र को छोड़कर, तरुण वैद्य के द्वारा यह तरुणी अभिमनित सर्पंपो (सरसो) से नहीं मारी जा रही है (अर्थात् जिम उपाय से यह स्वस्थ हो सकती है, वह नहीं किया जा रहा है) ॥ १० ॥

\*५२१. हे वैद्य ! मुझे अन्न नहीं रुचता, मेरा हृदय व्यास से भरा है । इस मलिन (घूलि भरे) और प्रस्वेद से आर्द्र शरीर में तुम्हारी भभूत (या आयुर्वेदिक भस्म) का पता नहीं लगता ॥ ११ ॥

शृङ्गार पक्ष—अन्य कोई वस्तु रुचती ही नहीं, मेरा हृदय प्रिय की चाह से भरा है । प्रणय के प्रवेग से आर्द्र अंग (योनि) में तुम्हारा मैथुन रुचता है ।

#### ५४—धम्मिय-वज्जा (धार्मिक-पद्धति)

५२२ जो पुजारी कुरवक, मन्दार और मुद्गर (मोगरा) नहीं पाता, वह चगेरी लेकर कहाँ घतूरा ही पायेगा ॥ १ ॥

शृङ्गार पक्ष—जो कुरत्त (पृथ्वी पर की जाने वाली रति-क्रीडा), मन्दारत्त (स्वैरिणी या दुर्वल स्त्री से रमण) और मुग्धारत्त (मुग्धा स्त्री से रमण) नहीं पाता, वह भला भारी अंडकोप<sup>१</sup> धारण करने वाला पुजारी धूर्तारत्त (धूर्ता या विदग्धा स्त्री के साथ रमण) कैसे प्राप्त करेगा ?

५२३. हे पुजारी ! यदि घतूरे से लिंग (शिवलिंग) को परिपूर्ण (आच्छादित) करना चाहते हो, तो सूर्य अस्त हो जाने पर मेरे पिछवाड़े आना ॥ २ ॥

(यदि धूर्तारत्त के द्वारा अपने लिंग को आच्छादित करना चाहते हो तो सूर्य डूब जाने पर मेरे पिछवाड़े आना)

\*५२४. अरे पुजारी ! घतूरे के लिये घर के पीछे के गभीर भागों में भटकते हुये तुम केवल कुरवको (पुष्प विशेष) के सुन्दर वर्ण से भी वंचित रह जाओगे ॥ ३ ॥

शृङ्गार पक्ष—धूर्तारत्त के लिए कुरव (विना शय्या के नगी पृथ्वी पर की जाने वाली कुत्सित रति) के आनन्द से भी वंचित रह जाओगे ।

५२५. वह पुजारी घतूरे के लिये दूसरे के पिछवाड़े चक्कर काटता है । अन्य लोगों द्वारा बरवाद किये जाते हुए अपने उद्यान को नहीं देखता ॥ ४ ॥

शृङ्गार पक्ष—धूर्तारत्त के चक्कर में दूसरी जगह भटकता है, दूसरी द्वारा उपभुक्त अपनी पत्नी को नहीं देखता ।

१. हाथ में अण्डकोप पकड़े हुए—संस्कृत टीका

\* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य ।



- ५२६ घेतूण करड भमइ वावडो परपरोहडे नूण ।  
 धुत्तीरएसु रत्तो एक पि न मेल्लए धम्मी ॥ ५ ॥  
 गृहीत्वा करण्ड आम्यति व्यापृत परगृहणश्चाद्भागान् नूनम् ।  
 धत्तूरकेषु (धूर्तारतेषु) रक्त एकमपि (एकामपि) न मुञ्चति धर्मी ॥
- ५२७ सुलहाइ परोहडसठियाइ धुत्तीरयाणि मोत्तूण ।  
 कुरयाण कए रण पेच्छह कह धम्मिओ भमइ ॥ ६ ॥  
 सुलभान् गृहपश्चाद्भागसंस्थितान् धत्तूरकान् (धूर्तारतानि) मुक्त्वा ।  
 कुरवकाणा (कुरताना) कृतेऽरण्य प्रेक्षध्वं कथ धार्मिको भ्रमति ॥
- ५२८ कचीरएहि कणवीरएहि धुत्तीरएहि बहुएहि ।  
 जइ इच्छसि देहरय धम्मिय ता मह घरे एज्ज ॥ ७ ॥  
 कचीरकै (काञ्चीरतै) करवीरकै (कन्यारतै) धत्तूरकै (धूर्तारतै) बहुभि ।  
 यदीच्छसि देवगृहं (देहरत) धार्मिक तन्मम गृह आगच्छे ॥
- ५२९ मदारय विवज्जइ कुरय परिहरइ चयइ भगरय ।  
 धुत्तीरयमलहतो गहियकरडो गणो भमइ ॥ ८ ॥  
 मन्दारव (मन्दारत) विवर्जयति, कुरवक (कुरत) परिहरति,  
 त्यजति भृङ्गारव (भगरतम्) ।  
 धत्तूरक (धूर्तारतम्) अलभमानो गृहीतकरण्डो (गृहीतकराण्डो)  
 गणो भ्रमति ॥
- ५३० वियसियमुहाइ वण्णुज्जलाइ मयरदपायडित्ताइ ।  
 धुत्तीरयाइ धम्मिय पुण्णेहि विणा न लब्धमति ॥ ९ ॥  
 विवसितमुत्तानि वर्णोज्जलानि मकरन्दप्रवटानि ।  
 धत्तूरवाणि (धूर्तारतानि) धार्मिक पुण्येविना न लभ्यन्ते ॥
- ५३१ एक्केण मि जह धुत्तीरएण लिगस्स उवरि लग्गेण ।  
 मदारयाण धम्मिय कोडीइ न त सुह होइ ॥ १० ॥  
 एकेनापि यथा धत्तूरकेण (धूर्तारतेन) लिङ्गस्योपरि लग्नेन ।  
 मन्दारवाणा (मन्दारताना) धार्मिक षोडशा न तत्पुण्य भवति ॥

५२६ वह पुजारी चगेरी लेकर, व्यस्त होकर दूसरे के पिछवाड़े भटक रहा है। धतूरे से उस का प्रेम है। निश्चित है, एव भी नहीं छोड़ेगा ॥ ५ ॥

शृङ्गार पक्ष—हाथ में अण्डकोप पकड़े वह कार्यरत पुजारी दूसरे के पिछवाड़े चक्कर काट रहा है। उसे धूर्तारत प्रेम है। निःसन्देह एक को नहीं छोड़ेगा।

५२७ देखो पिछवाड़े स्थित सुलभ धतूरा को छोड़ कर वह पुजारी कुरबको के लिये किस प्रकार वन में भटक रहा है ॥ ६ ॥

शृङ्गार पक्ष—सुलभ धूर्तारत को छोड़ कर कुरत के लिये भटक रहा है।

५२८ पुजारी! यदि बहुत से कचनार, कखीर (कनेर) और धतूरो के साथ देव मन्दिर (देहग एव देहरत) की इच्छा करते हो, तो मेरे घर आ जाओ ॥ ७ ॥

५२९ वह धूत साधु धतूरा न पाकर मन्दार, कुरबक और भृगारक (भंगरेया) को छोड़ रहा है और हाथ में चगेरी लिये भटक रहा है ॥ ८ ॥

शृङ्गार पक्ष—धूर्तारत को न पाकर मन्दारत कुरत और भंगरत (अधूरी रति क्रिया या पटसन के खेत में हाने वाली रति) को छोड़ रहा है और अण्डकोप को धारण करता हुआ भटक रहा है।

५३० जिनके अग्र भाग विकसित हैं, जिनके वण उज्ज्वल हैं और जिनमें मकरन्द प्रकट हो चुका है वे धतूरे बिना पुष्प के नहीं मिलते ॥ ९ ॥  
शृङ्गार पक्ष—जिन के मुग्न खिले रहते हैं जिनकी कान्ति निमल है और जिनमें शृंगार रस (या आनन्द) प्रकट हो चुका है, उन धूर्ताओं का रत पुष्प के बिना नहीं प्राप्त होता है ॥

५३१ पुजारी! शिवालिंग के ऊपर लगे हुये (सलग्न या रखे हुये) एव ही धतूरे से जो सुख प्राप्त होता है वह करोड़ों मन्दारों से नहीं ॥ १० ॥

(लिंग से सलग्न एक ही धूर्ता के रत से जो सुख मिलता है वह कोटि मन्दार स्त्रियों के रत से नहीं)

५३२ सिसिरमयरदपञ्जरणपञ्जरपसरतपरिमलुल्लाई ।  
कणवीरयाइ गेण्हसु धम्मिय सब्भावरत्ताई ॥ ११ ॥

शिशिरमकरन्दप्रक्षरणप्रचुरप्रसरत्परिमलयुक्तानि ।  
करवीराणि (कन्यकारतानि) गृहाण धार्मिक स्वभावरक्तानि (सद्भावरक्तानि) ॥

### ५५ जतियवज्जा [यान्त्रिकपद्धति]

५३३ जतिय गुल विमग्गसि न य मे इच्छाइ वाहसे जंत ।  
अरसन्न किं न याणसि न रसेण विणा गुल होइ ॥ १ ॥  
यान्त्रिक गुड विमागंयसे न च ममेच्छया वहसि यन्नम् ।  
अरसज्ञ किं न जानासि न रसेन विना गुडो भवति ॥

५३४ वियडा वि जतवाया मउओ नालो रसाउलो उच्छू ।  
लट्ठी वि सुप्पमाणा किं जतिय ऊणय वहसि ॥ २ ॥  
त्रिकत्र अपि यन्नपादा मृद्वो नालो रमाकुल इधु ।  
यष्टिर्गपि मुत्रमाणा वि यान्त्रिको न च वहमि ॥

५३२ पुजारी ! शीतल मकरन्द-प्रवचन से जो प्रचुरपरिमित युक्त हो गये हैं, उन निमग्न लाल रंग वाले करबोर (कनेर) के फूलों को ग्रहण कर लो ॥ ११ ॥

शृङ्गार पक्ष—यात्त्रिक-भावोद्रेक में द्रविण होने के कारण जो आकर्षण बन गई है, उन वास्तविक प्रेम से युक्त कन्याओं का रस स्वीकार करो ।

५५—जनियवग्जा (यान्त्रिकपद्धति = कोल्हू प्रकरण)

प्रतीक परिचय—

यान्त्रिक = मैयुन कर्ता

यन्त्र = योनि

गुड = पुत्र

पत्तल = लोम युक्त (यह विशेषण है)

पीडक = मैयुन कर्ता

यन्त्रवाहन, यन्त्रवायव = मैयुन

रस = वीर्य, आनन्द

वाहसे—यह श्लिष्ट क्रिया-प्रतीक के रूप में नहीं है ।

इसका अर्थ व्यययसि या पीडयसि है । यन्त्र-पक्ष

में यह संस्कृत बहु का प्रेरणार्थक रूप है ।

इक्षु = लिङ्ग

नाल - लिङ्ग का अग्रिम बलयाकार भाग, ग्रन्थि या गाँठ

यन्त्र-पाद = जघन या निनम्ब

यष्टि (लट्टी) = शरीर (यन्त्र पक्ष में हरसा)

कुण्डी = छिद्र (यन्त्र-पक्ष में वह पात्र, जिसमें रस चूना है)

(शृङ्गार पक्ष में पाठकों को उपर्युक्त अर्थों का उपयोग स्वयं कर लेना चाहिये)

५३३ यान्त्रिक ! गुड चाहते हो और मेरी इच्छा से यन्त्र नहीं चलाते (या यन्त्र को प्रेरित नहीं करते या यन्त्र को नहीं दबाने) । अरे अरसज ! क्या तुम नहीं जानते कि बिना रस के गुड नहीं होता ॥ १ ॥

५३४ यान्त्रिक ! (कोल्हू चलाने वाले) यन्त्र (कोल्हू) के पैर भी (यन्त्र-पाद) सुदृढ़ हैं, ईख की गाँठें (नाल) भी कोमल हैं, ईख (इक्षु) भी रस से भरी है और हरमा (कोल्हू का एक अंग) भी उचित प्रमाण का है, फिर क्यों कम रस बहा रहे हो ? ॥ २ ॥

- ५३५ मद्दालय मरुच वित्तिण्ण वररस सुमदसह ।  
ज एरिमय जत तत्थ मुह जतिओ लहइ ॥ ३ ॥  
शब्दालय मरुच वित्तीर्ण वररस सुमर्दसहम् ।  
यइ ईदृशं यन्न तन्न सुख यान्त्रिको लभते ॥
- ५३६ तह जतिएण जत अक्कत नेहणिभररसेण ।  
जह पटम चिय कुडो भरिया एक्केण घाएण ॥ ४ ॥  
तथा यान्त्रिकेण यन्नमात्रान्त स्नेह निर्भररसेन ।  
यथा प्रथममेव कुण्डी भूनेनेन घातेन ॥
- ५३७ त जत मा कुडो मो उच्छू वहउपतलच्छाओ ।  
पीलायय तुज्झ गुणो अज्ज वि ऊणो रमो जाओ ॥ ५ ॥  
तद्यन्न सा कुण्डी स इक्षुरंहृष्यत्रलच्छाय ।  
पीडक तव गुणोज्जाप्यनो रसो जान ॥

### ५६ मुमलवज्जा [मुसलपद्धति]

- \*५३८ चदणवलिय दिट्ठवचिवधण दीहर मुपरिमाण ।  
होइ घरे माहीण मुमल धनाण महिआण ॥ १ ॥  
चन्दनवलित दृष्टवाञ्छीरन्धन दीध मुपरिमाणम् ।  
भवति गृहे स्वाधीनं मुमल धन्याना महिलानाम् ॥
- \*५३९ थोग्गय्याइ मुदग्गचीजुत्ताइ हुति नियगेहे ।  
धनाण महिआण उक्कउमरिमाट मुमलाइ ॥ २ ॥  
सूक्ष्मदीर्घाणि सुन्दरवाञ्छीयुक्तानि भवन्ति निजगेह ।  
धन्याना महिलानामुद्गमलमद्गानि मुसलानि ॥
- ५४० मुत्तमारियाइ मुट्ठु वि मुट्ठु वि वचीइ दिट्ठनिग्गदाइ ।  
अत्ताहि पि हु जुण्णुक्कउम्मि भज्जनि मुमलाइ ॥ ३ ॥  
मुग्गमाग्निकाणि मुद्गपि मुद्गपि वाञ्छ्या दृष्टनिबद्धानि ।  
जन्यानिगपि गट् जीर्णोद्गारे भज्यन्ते मुमलानि ॥

५३५. यदि शब्द वाला, (रति एव पीडन काल मे) उचित आकार वाला, विस्तोषं, रसयुक्त और भली-भाँति मर्दन (इक्षुपीडन और रतिकाल मे उपमर्दन) को सहने वाला—ऐसा यन्त्र (कोल्हू) है तो वह यान्त्रिक (कोल्हू का स्वामी) सुख पाता है ॥ ३ ॥

५३६ स्नेह से रस-पूर्ण (आनन्दपूर्ण) यान्त्रिक ने इस प्रकार यन्त्र को आक्रान्त कर लिया (अधिकार मे कर लिया) कि पहले ही एक आघात मे कुण्डो (वर्नन) भर गई ॥ ४ ॥

५३७ पीडक (ईख पेरने वाला) कोल्हू (यन्त्र) वही है, वही पान (कुण्डो) है और बहुत से पत्तों की छाया करने वाली वही ईख (इक्षु) है। यह तुम्हारा गुण (विपरीत लक्षणा से दोष) है कि अब भी रस कम हो गया ॥ ५ ॥

### ५६—मुसलवज्जा (मुसल पद्धति)

प्रतीक परिचय—

मुसल = लिंग

‘उदूखल (ओखली) = भग या योनि

वाञ्ची (सेम) = लिंग का वलयाकार अग्रभाग

\*५३८. वे महिलायें धन्य है, जिनके घर मे चन्दन की लकड़ी से बना हुआ (पदान्तर मे-चन्दनलिप्त), सुदृढ सेम से युक्त, दीर्घ एवं सुन्दर परिमाण (नाप) वाला मुसल स्वाधीन (वश मे) रहता है ॥ १ ॥

\*५३९. वे महिलायें धन्य है, जिनके अपने घर मे मोटे और लम्बे (या थोड़े वजन वाले) सुन्दर सेम (मुसल के अग्रभाग मे लगा लौह-बलय) से युक्त और ओखली के अनुरूप मुसल रहते हैं ॥ २ ॥

५४०. जिनके मुँह (अग्रभाग) खूब भारी भी हैं और जो अच्छे प्रकार मुदृढ सेमो से बँधे भी है, वे मुसल भी दूसरो के द्वारा पुरानी ओखली मे तोड़ डाले जाते हैं ॥ ३ ॥

‘विशेष विवरण परिशिष्ट ‘त’ में दृश्य ।

५४१. हे सखियो ! मे सौ बार पूरे गांव मे देर तक भटक चुकी,  
घर की ओखली के नाप का मुसल ही नही दिखायी दिया ॥ ४ ॥

५४२. जिनका अग्रभाग सुन्दर मण्डन से युक्त है, जो थोडे मोटे  
हे और सुन्दर काञ्ची (सेम) से सुशोभित होते हैं, वे दूसरो के मुसल भी  
मुझे पसन्द है । अतः (ढूँढने) जाते हैं ॥ ५ ॥

#### ५७—बाला-संवरण-वज्जा (बाला-संवरण-पद्धति)

५४३. पुत्रि ! जिस पर तुम अनुरक्त हो, वह तुमसे प्रेम नही  
करता । विशालाक्षि ! एक हाथ से ताली नही बजती है ॥ १ ॥

५४४. क्षामे ! सिंह चाहे जहाँ चला जाय, हल मे नहीं जोता  
जाता है । सत्पुरुष भी वैसे ही है, आँखे पोछ लो, मत रोओ ॥ २ ॥

५४५. तू उस समय रोकने पर भोगी आँखों से प्रियतम के सौन्दर्य  
को पी रही थी । इस समय विरहावस्था को बहून करती हुई क्लेश  
उठायेगी ॥ ३ ॥

५४६. पुत्रि ! छेको (विदग्धो या चतुरो) के आगे राओ मत,  
तुम्हारी आँखें दुखने लगेंगी, परन्तु उनका मन दुःखी न होगा, जैसे  
जल-प्लावन से पर्वत क्षीण नही होता ॥ ४ ॥

- ५४१ भमिओ चिर असेसो गामो मइ सहियओ सयं वार ।  
गेहुक्खलपरिमाणेण मामि मुसल चिय न दिट्ठ ॥ ४ ॥  
भ्रान्तश्चिरमशेषो ग्रामो मया सख्यं शतवारम् ।  
गेहोद्वलपरिमाणेन सख्यो मुसलमेव न दृष्टम् ॥
- ५४२ भद्दमुहमडण चिय दरपिहुल तह य कचिसोहिल्ल ।  
अन्नेसि पिय मुसल पडिछद तेण वच्चामो ॥ ५ ॥  
भद्रमुखमण्डनमेवेपत्पूयुल तथा च काञ्चोशोभितम् ।  
अन्येषामपि मुसलं प्रतिच्छन्द तेन व्रजाम् ॥
- ५७ बालासवरणवज्जा [बालासवरणपद्धति]
- ५४३ जस्स तुम अणुरत्ता सा तुज्झ य मदहणेहओ पुत्ति ।  
न हु दिज्झइ ताली दोहरच्छि एक्केण हत्येण ॥ १ ॥  
यस्य त्वमनुरक्ता सा तव च मन्दस्नेहं पुत्रि ।  
न खलु दीयते तालिका दीर्घाक्ष्येकेन हस्तेन ॥
- ५४४ जत्थ गओ नत्थ गओ सामलि सीहो न जुप्पइ हलम्मि ।  
सप्पुरिसो वि तह च्चिय पुममु नयणाइ मा रुण्ण ॥ २ ॥  
यत्र गतस्तत्र गतं श्यामले सिंहो न युज्यते हले ।  
सत्पुरुषोऽपि तथैव श्रोञ्छ नयने मा रुदितम् ॥
- ५४५ तइया वारिज्जती पियसि पइ उल्लिरोहि अच्छीहि ।  
एण्हि विरहावत्थ पुणो वहंती किलामिहिसि ॥ ३ ॥  
तदा वार्यमाणा पित्रसि पतिमार्द्राम्यामक्षिभ्याम् ।  
इदानीं विरहावस्थां पुनर्वहन्ती क्लमिष्यसि ॥
- ५४६ मा रूनु पुत्ति छेयाण अग्गए खिज्जिहिति नयणाइ ।  
न हु खिज्झइ ताण मण सेल्ल मिव सल्लिलपूरेण ॥ ४ ॥  
मा रुदिहि पुत्रि च्छेवानामग्रे धेत्येते नयने ।  
न मट्ठ मियते (क्षीयते) तेषा मन शेरु इव मल्लिपूरेण ॥



५४१. हे सखियो ! मैं तो बार पूरे गाँव में देर तक भटक चुकी, घर की ओखली के नाप का मुमल ही नहीं दिखायी दिया ॥ ४ ॥

५४२ जिनका अग्रभाग सुन्दर मण्डन से युक्त है, जो थोड़े मोटे हैं और सुन्दर काञ्ची (सेम) से सुशोभित होने हैं, वे दूसरों के मुसल भी मुझे पसन्द हैं। अतः (डूँढ़ने) जाते हैं ॥ ५ ॥

#### ५७—बाला-संवरण-वज्रा (बाला-संवरण-पद्धति)

५४३ पुत्रि ! जिस पर तुम अनुरक्त हो, वह तुमसे प्रेम नहीं करता। विधालाक्षि ! एक हाथ से ताली नहीं बजती है ॥ १ ॥

५४४ श्यामे ! सिंह चाहे जहाँ चला जाय, हल में नहीं जोता जाता है। सत्पुरुष भी वैसे ही है आँखें पोंछ लो, मत रोओ ॥ २ ॥

५४५ तू उस समय रोकने पर भोगी आँखों से प्रियतम के सौन्दर्य को भी रही थी। इस समय विरहावस्था को वहन करती हुई क्लेश उठायेगी ॥ ३ ॥

५४६ पुत्रि ! छोको (विदग्धों या चतुरों) के अपने रोओ मत, तुम्हारी आँखें दुखने लगेंगी परन्तु उनका मन दुःखी न होगा, जैसे जल प्रायः से पर्वत क्षीण नहीं होता ॥ ४ ॥

- ५४७ दाण न देति बहुल नेह दरिस्सति नेय रज्जति ।  
गेण्हति न देति मण पुत्ति च्छेया दुराराहा ॥ ५ ॥  
दान न ददति बहुल स्नेह दर्शयन्ति नेव रज्जन्ते ।  
गृह्णन्ति न ददति मन पुत्ति च्छेका दुराराधा ॥
- \*५४८ रज्जति नेय कस्स वि रत्ता पसयच्छि न हु विरज्जति ।  
दिणयरकर व्व छेया अदिट्ठदोसा वि रज्जति ॥ ६ ॥  
रज्जन्ते नेव कस्मिन्नपि रक्ता प्रसूताक्षि न खलु विरज्जन्ते ।  
दिनकरवरा इत्त च्छेका अदृष्टदोषा अपि रज्जन्ते ॥
- ५४९ रज्जावति न रज्जहि हरति हियय न देति नियहियय ।  
छेया भुयगसरिस्सा डसिऊण परमुहा होति ॥ ७ ॥  
रज्जयन्ति न रज्जन्ते हरन्ति हृदय न ददति निजहृदयम् ।  
छेका भुजङ्गसदृशा दष्टा पराङ्मुखा भवन्ति ॥
- \*५५० रज्जावति न रज्जहि देति असोक्ख न दुक्खिया हुति ।  
असुयविणय ति एण्हि दुक्खाराहा जए छेया ॥ ८ ॥  
रज्जयन्ति न रज्जन्ते ददत्तसौख्य न दु खिता भवन्ति ।  
अश्रुतविनया इतोदानी दु खाराध्या जगति च्छेका ॥
- ५५१ रत्ते रत्ता कसणम्मि कसणया धवलयम्मि तह धवला ।  
फलिहमणि व्व छइल्ला हुति जणे पुत्ति सपुण्णा ॥ ९ ॥  
रक्ते रक्ता कृष्णे कृष्णा धवले तथा धवला ।  
स्फटिकमणिरिव च्छेका भवन्ति जने पुत्ति सपूर्णा ॥

५८ कुट्टिणीसिक्खावज्जा [कुट्टिनीशिक्षापद्धति]

- ५५२ दरहसियकडक्खणिरिक्खणाइ सिंगारकम्ममसिणाड ।  
एयाइ पुणो सिनत्तमु निरुवमसोहग्गदइयाइ ॥ १ ॥  
ईपद्धतित्तकटाक्षनिरोधणानि धृङ्गारकर्ममसृणानि ।  
एतानि पुन शिक्षस्व निरपममीभाग्यदायकानि ॥

५४७. पुनि । छेन दुराराध्य है, वे देते नहीं, प्रेम बहुत दियते हैं, अनुरक्त नहीं होते, मन ले लेते हैं, पर देने नहीं ॥ ५ ॥

\*५४८. मृगलोचने । छेन जन (चनुर पुरुष) किमो पर अनुरक्त नहीं होते । जैसे रात्रि को न देखने वाली रवि-किरण भी (मूल में रविकर शब्द पुल्लिङ्ग है) रक्तप्रण हो जाती है, वैसे ही वे (छेन) कोई दोष देखे बिना विरक्त हो जाते हैं ॥ ६ ॥

५४९. प्रेम करवाते हैं, करते नहीं, हृदय हर लेते हैं, अपना हृदय देते नहीं । विदग्धजन भुजग के समान हैं, डँभ कर मुँह फेर लेते हैं ॥ ७ ॥

\*५५०. प्रेम करवाते हैं, करते नहीं, दुःख देते हैं, दुःखी होते नहीं । विदग्धजन उपदेश (या शिक्षा) नहीं सुनते, अतः इस समय जगत् में दुराराध्य हैं ॥ ८ ॥

५५१. पुनि । सभी विदग्ध स्फटिक मणि के समान होते हैं । वे लोगो के रक्त होने पर रक्त, कृष्ण होने पर कृष्ण और उज्ज्वल होने पर उज्ज्वल बन जाते हैं ॥ ९ ॥

#### ५८—कुट्टिणी-सिक्खा-वज्जा (कुट्टिनीशिक्षा-पद्धति)

५५२. इन अनुपम सौभाग्य प्रदान करने वाली, हावों और भावों से मसृण (स्निग्ध) किञ्चित् शुभ्र-कटाक्ष-पूर्ण दृष्टियों को पुनः सीखो ॥ १ ॥

\* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य ।

- ५५३ मग्गती मूलियमूलियाइ मा भममु घरहर पुत्ति ।  
छदानुवत्तण पिययमस्स एय वसीकरण ॥ २ ॥  
मागंयमाणा मूलिका मूलिका मा भ्रम गृहगृह पुत्ति ।  
छन्दानुवर्तनं प्रियतमस्यैतद्वशीकरणम् ॥
- ५५४ भूसणपसाहणाडवरेहि मा खिवसु पुत्ति अम्माण ।  
रजिज्जइ जेण जणो अन्न च्चिय ते अलकारा ॥ ३ ॥  
भूषणप्रसाधनाडम्बरैर्मा क्षिप पुत्र्यात्मानम् ।  
रञ्ज्यते येन जनोज्ञ्य एव तेऽलङ्कारा ॥
- \*५५५ अन्नासत्ते वि पिए अहिययर आयर कुणिज्जासु ।  
उद्धच्छि वेयणाइ वि नमत्ति चरियाइ वि गुणेहि ॥ ४ ॥  
अन्यासक्तेऽपि प्रियेऽधिकतरमादर कुर्वीथा ।  
ऊर्ध्वाक्षि वेदना अपि नमन्ति चरिता अपि गुणैः ॥
- ५५६ न विणा सम्भावेण घेप्पइ गरमत्थजाणओ लोओ ।  
को जुण्णमजर कजिएण वेयारिउ तरइ ॥ ५ ॥  
न विना सद्भावेन गृह्यते परमार्थज्ञो लोक ।  
को जौर्णमार्जार काजिकेन विकारयितु शक्नोति ॥
- ५५७ जेण विणा न वल्लिज्जइ अणुणिज्जइ सो कयावराहो वि ।  
पत्त वि नयरदाहे भण कस्स न वल्लहो अग्गी ॥ ६ ॥  
येन विना न स्थोयतेऽनुनीयते स कृतापराधोऽपि ।  
प्राप्तेऽपि नगरदाहं भण कस्य न वल्लभोऽग्निः ॥
- ५५८ अओ जाणामि अह तुम्ह पसाएण चाडुयसयाइ ।  
एक्क नवरि न जाणे निण्णेहे रमणपज्झरण ॥ ७ ॥  
अहो जानाम्यह तव प्रसादेन चाटुकशतानि ।  
एक केवलं न जाने निस्नेहे रमणप्रक्षरणम् ॥

५५३. बेटो ! 'जड़ी' 'जडी' खोजनी हुई घर-घर मन भटको । प्रिय की इच्छा के अनुकूल व्यवहार करना—यही वशीकरण है ॥ २ ॥

५५४. बेटो ! भूषण, प्रसाधन और आढम्बर में अपने को मत डालो । जिनमें लोग अनुरक्त होते हैं, वे अन्वकरण दूसरे ही हैं ॥ ३ ॥

\*५५५. विज्ञानलोचने ! अन्य रमणी में आमक्त होने पर भी प्रिय का अधिकतर आदर करना । (क्योंकि) लोग ज्ञान से भी झुक जाते हैं (विनम्र हो जाते हैं) और चार्मिक गुणों से भी ॥ ४ ॥

५५६. सत्यना (वधार्यना) के बिना परमार्थ को जानने वाला व्यक्ति पकड़ में नहीं आता । धूँटे बिलाव को बाजी से कौन घोड़े में डाल सकता है ? ॥ ५ ॥

५५७. जिसके बिना नहीं रहा जा सकता है, अपराध करने पर भी उसका अनुनय बिना ही जाता है । नगर जल बर भस्म हो जाने पर भी अग्नि से किसे प्रेम नहीं है ? ॥ ६ ॥

५५८. तुम्हारी कृपा से सैकड़ों चाटुकारितायें जाननी हैं, केवल प्रेम-हीन के प्रति योनि का प्रक्षरण करना नहीं जाननी हैं (प्रणयगूण्य अग्नि के प्रति द्रवीभूत होना मुझे नहीं आना है) ॥ ७ ॥

- 
१. जिसके बिना जीवन दुमर है, नहीं समझ है जग में रह पाना ।  
यदि लास करे अपराध कठोर, उसे पड़ता है परन्तु मनाना ।  
जला डालती गाँव को ओ छिन में, नहीं जानती जो कनो नेह दिमाना ।  
किसको उस आग से प्यार नहो, किसको पड़ता न उसे अपनाना ॥  
—यह मावामुवाद 'गाहासत्तसई' के पाठ पर अव्यम्बित है ।

\* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य ।

५५९ ताव च्चिय ढलहलया जाव च्चिय नेहपूरियसरीरा ।  
 सिद्धत्था उण छेया नेहविहूणा खलीहुति ॥ ८ ॥  
 तावदेव मूढुका यावदेव स्नेहपूरितसरीरा ।  
 सिद्धार्था पुनश्छेका स्नेहविहीना खलीभवन्ति ॥

५९ वेसावज्जा [वेश्यापद्धति]

५६० अहिणि व्व कुडिलगमणा रोरहरे दीवय व्व निण्णेहा ।  
 सुकइ व्व अत्थलुद्धा वेस दट्ठूण वदामि ॥ १ ॥

अहिरिव कुटिलगमना दरिद्रगृहे दीपक इव नि स्नेहा ।  
 सुकविरिवाथंलुब्धा वेश्या दृष्ट्वा वन्दे ॥

\*५६१ वण्णइद्धा मुहरसिया नेहविहूणा वि लगाए कठ ।  
 पच्छा करइ वियार बलहट्ठुयसारिसा वेसा ॥ २ ॥

वर्णाङ्ग्या मुखरसिका स्नेहविहीनापि लगति कण्ठम् ।  
 पश्चात् करोति विकार चणकरोटिकासदृक्षा वेश्या ॥

\*५६२ सहइ सलोहा घणघायताडण तह य बाणसबध ।  
 वुठि व्व पउरकुडिला वेसा मुट्ठीइ सवहइ ॥ ३ ॥

सहते सलोभा (मलोहा) घनघातताडन तथा च बाणसबन्धम् ।  
 सदृशिनेव प्रचुरकुटिला वेश्या मुष्ट्या सवहति ॥

\*५६३ जाओ पिय पिय पइ एकर विज्झाइ त चिय पलित्त ।  
 होइ अउरट्ठिओ च्चिय वेसासत्थो तिणग्गि व्व ॥ ४ ॥

यात प्रिय प्रिय प्रति एव निर्वापयति तमेव प्रदीप्तम् ।  
 भवत्यपरस्थित एव वेश्यामाथस्तृणाग्निरिव ॥

\*५६४ निम्मलपवित्तहारा बहुलोहा पुलइएण अगेण ।  
 खग्गलइय व्व वेसा कोसेण विणा न सवहइ ॥ ५ ॥

निर्मलपवित्रहारा (धारा) बहुलोभा (लोहा) पुलकितेनाङ्गेन ।  
 खङ्गलतिकेव वेश्या कोशेन विना न सवहति ॥

- ५ धनसचया सुगुज्झा निवद्धलोहा भुयगमहणिज्जा ।  
मज्जूसिय व्व वेसा ठाण चिय लोहवित्तम्स ॥ ६ ॥  
धनसचया सुगुह्या निवद्धलोभा (निवद्धलोहा) भुजगमहनीया ।  
मज्जूपिकेव वेस्या स्थानमेव लोभवित्तस्य (लोहवित्तस्य) ॥
६६. न गणेइ रुववत्त न कुलीण नेय रुवसपन्न ।  
वेसा वाणरिसरिसा जत्थ फल तत्थ सकमइ ॥ ७ ॥  
न गणयति रूपवन्त न कुलीन नैव रूपसपन्नम् ।  
वेस्या वानरोसदृशी यत्र फल तत्र सक्रमति ॥
- ६७ अन्नन्नरायरसिय आसन्नपओहर गुणविहूण ।  
ठड्ढ सहाववक वेसाहियय सुरघणु व्व ॥ ८ ॥  
अन्यान्तरागरसिकमासन्नपयोधर गुणविहीनम् ।  
स्तब्ध स्वभाववक्र वेस्याहृदय सुरघनुरिव ॥
- ६८ कवडेण रमति जण पिय पयपति अत्यलोहेण ।  
ताण नमो वेसाण अप्पा वि न वल्लहो जाण ॥ ९ ॥  
कपटेन रमयन्ति जनं प्रिय प्रजल्पन्त्यर्थलोभेन ।  
ताम्यो नमो वेस्याभ्य आत्मापि न वल्लभो यासाम् ॥
- ६९ कुललछण अकित्ती अत्यस्स खओ असीलसवासो ।  
गतु चिय वेसहर न जुज्जए पडियजणस्स ॥ १० ॥  
कुल्लाञ्छनमकीर्तिरर्थस्य क्षयोऽलोलमवाप्त ।  
गन्तुमेव वेस्यागृह न युज्यते पण्डितजनस्य ॥
- ५७० सपत्तियाइ काल गमेमु सुलहाइ अप्पमुल्लाए ।  
देउलवाडयपत्त तुट्टणसील अइमहग्घ ॥ ११ ॥  
वालया काल गमय सुलभयात्पमूल्यया ।  
देवकुलवाटवपत्र तुटनधीलमतिमहार्घम् ॥

५६५. जैसे मंजूषा में धन का संचय किया जाता है, उसे गुप्त रखा है, वह लोहे से निर्मित होती है, सर्पों से पूजित होती है और धातु-धनी धनो का स्थान होती है, उसी प्रकार वेद्या धन-संचय करने वाली है, उसका गुह्य अंग सुन्दर होता है, लोभ में बँधी रहती है, विटो से त रहती है और लोभ-रूपी धन का स्थान होती है (या लोभ से उत्पन्न का स्थान होती है या लोभाचरण का स्थान होती है) ॥ ६ ॥

\*५६६. वेद्या वानरी के समान जहाँ फल (लाभ) होता है, वहाँ जाती वह न रूपवान् को गिनती है, न कुलीन को और न कुरूप को ॥ ७ ॥

५६७. जैसे इन्द्रधनुष विभिन्न रंगों से युक्त, मेघों का निकटवर्ती, वारहित, स्तब्ध (नीरव) और स्वभाव से ही वक्र होता है, वैसे ही ओ का हृदय अन्य-अन्य लोगों का रसिक, स्तनों का निकटवर्ती, गुण-स्तब्ध (निश्चल या निष्ठुर) और स्वभाव से कुटिल होता है ॥ ८ ॥

५६८. जो कपटपूर्वक लोगों से रमण करती है, धन के लोभ से बोलती है और जिन्हें अपनी आत्मा भी प्रिय नहीं है, उन वेद्याओं को कार है (अर्थात् उन्हें त्याग ही देना चाहिए) ॥ ९ ॥

५६९. पंडितों को वेद्याओं के घर जाना ही नहीं चाहिए, क्योंकि कुल-कलंक, अकीर्ति और धन-क्षय निश्चित है तथा दुश्चरित्र मनुष्यों पर रहना पड़ता है ॥ १० ॥

\*५७०. सुलभ और अल्प मूल्य वाली थाली से (या पत्ती या पत्तल) समय बिता दो। राज-भवन में प्रयुक्त होने वाले पात्र (बर्तन) टूटने और बहुमूल्य होते हैं ॥ ११ ॥

\* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य।



- ५७१ वेसाण ववडमयपूरियाण म भावणेहृहियाण ।  
 अत्यरहिओ न रुच्चइ पच्चस्यो कामदेवो वि ॥ १२ ॥  
 वेस्याभ्य वपन्शनपूरिताभ्य सद्भावस्नेहरहिताभ्य ।  
 अयंरहितो न रोचते प्रत्यक्ष कामदेवोऽपि ॥
- ५७२ अत्यस्स कारणेण चुवति मुहाइ वकविरमाइ ।  
 अप्पा वि जाण वेसो को ताण यरो पिओ होइ ॥ १३ ॥  
 अर्थस्य कारणेन चुम्बन्ति मुखानि वक्त्रविरसानी ।  
 आत्मापि यासा ह्येव्य कस्तासा पर प्रियो भवति ॥
- ५७३ मुप्रमाणा य मुमुत्ता बहुन्वा तह य कोमला सिसिरे ।  
 वत्तो पुण्णेहि विणा वेमा पडिय व्य मपडइ ॥ १४ ॥  
 मुप्रमाणा च मुसूक्ता (मुसूत्रा) बहुन्वा तथा च कोमला शिशिरे ।  
 वृत्त पुष्पैर्विना वेद्या पटिवेव सपतति ॥
- ५७४ वुडिलत्तण च वयत्तण च वचत्तण असच्च च ।  
 अत्ताण हुति दोमा वेमाण पुणो अलंकारा ॥ १५ ॥  
 वुडिलत्वं च वक्रत्वं च वक्त्रत्वमसत्यं च ।  
 अन्येषा भवन्ति दोषा वेद्याना पुनरलङ्कारा ॥
- ५७५ सरमा निहमणमारा गवट्ठा बहुभुयगपरिमट्टिया ।  
 चदणलय व्य वेमा भण कम्म न वल्लहा होइ ॥ १६ ॥  
 सरमा निष्पणताग गन्धादृग् बहुभुजगपरिमृदिता ।  
 चन्दनलनेत्र यस्या भण कम्म न वल्लभा भवति ॥
- ५७६ मा जाणह मह मुट्टय वेमाट्टियय समम्मणुल्लाय ।  
 मेयागट्ठित्तपयरमरिम पडणेण जाणिहिमि ॥ १७ ॥  
 मा जातो मम मुग्ध वेद्यादृश्य ममन्मनोन्मार्ग ।  
 मेयागट्ठितप्रमरमर्गः ११०१ ज्ञाम्यसि ॥

५७१. जो सैकड़ों कपटों से पूर्ण और जिनका हृदय वास्तविक प्रेम से शून्य होता है, उन वेश्याओं को धन न रहने पर साक्षात् कामदेव भी नहीं रुचता है ॥ १२ ॥

५७२. जो अर्थ के लिये टेढ़े-मेढ़े और कुहचिपूर्ण (घृणित) मुखों को भी चूमती रहती है, तथा जिन्हें अपनी आत्मा भी प्रिय नहीं है, उन वेश्याओं को दूसरा कौन प्रिय होगा ? ॥ १३ ॥

५७३. जैसे सुन्दर नाप वाली, अच्छे सूतों से युक्त, (रक्त-नीलादि) बहु-रूपों वाली तथा कोमल साडों शिशिर में पुष्प के बिना नहीं मिलती, वैसे ही सुन्दर गठन वाली, मृदुभाषिणी, नाना रूपों (वेशों) को धारण करने वाली कोमलगी वेश्या भी शिशिर में पुष्प के बिना नहीं प्राप्त होती है ॥ १४ ॥

५७४. बुटिलता, वस्त्रता, वञ्चना और असत्य—ये अन्य लोगों के दोष हैं, परन्तु वेश्याओं के आभूषण हैं ॥ १५ ॥

५७५. जैसे चन्दनलता सरस (रसयुक्त) होती है और रगड़ने पर महँकती है, सुगन्ध से पूर्ण रहती है और बहुत से सर्पों (भुजगों) से बेष्टित रहती है, वैसे ही वेश्या भी प्रेम (रस) से युक्त होती है, सभोग के समय मर्दन करने पर सुख देती है, (गन्ध-द्रव्य लेप के कारण) सुगन्ध से पूर्ण रहती है और बहुत से विटों (वेश्या प्रेमियों = भुजगों) के द्वारा उपमर्दित होती है ॥ १६ ॥

\*५७६. स्वजनो (प्रेमियों) की कामवासना का उपशमन करने वाली, वेश्या की छाती मुझे सुख देगी—यह मन समझो । तुम अपने पतन से जानोगे कि वह शैवाल-लिप्त (काई-लगे हुये) पत्थर के समान है ॥ १७ ॥

\* विशेष विवरण परिशिष्ट 'स' में द्रष्टव्य ।

- ५७७ एव खायड मडय अन्न च कडम्बरविखय घरइ ।  
 अन्नस्म दइ दिट्ठि मसाणसिवसारिसा वेसा ॥ १८ ॥  
 एव खादति मृतकमय च कटाक्षरक्षित धारयति ।  
 अन्यस्य ददाति दृष्टि इमशानशिवासदुशो वेस्या ॥
- ५७८ गहिज्जण सयलगय मोक्ख ज्ञायति तग्गयमणाओ ।  
 वेसा मुणिमारिच्छा निच्च चिय कवलियाहत्था ॥ १९ ॥  
 गृहीत्वा सवलग्रन्य मोक्ष ध्यायन्ति तद्गतमनस ।  
 वस्या मुनिमदृक्षा नित्यमेव कवलित (कपालिका) हस्ता ॥

### ६० किविणज्जा [कृपणपद्धति]

- \*५७९ न हू कम्स नि देति धण अन्न देत पि तह निवारति ।  
 अत्था नि किविणत्था सत्थावत्था मुयति व्य ॥ १ ॥  
 न सल कम्पापि ददति धनमन्य ददनमपि तथा निवारयन्ति ।  
 अर्था कि कृपणस्था स्वस्थावस्था स्वपन्तीव ॥
- ५८० निहणति धण ऋणीयलम्मि इय जाणिऊण किविणजणा ।  
 पायाले गतं ता गच्छउ अग्गठाण पि ॥ २ ॥  
 निखनन्ति धन धरणीतल इति ज्ञात्वा कृपणजना ।  
 पाताणे गतव्य तद्गच्छत्वग्रस्यानमपि ॥
- ५८१ करिणो हरिणहरवियारियस्म दीसति मोत्तिया कुम्भे ।  
 किविणाण नवरि मरणे पयड च्चिय हुति भडारा ॥ ३ ॥  
 करिणो हरिनखरविदागित्तम्य दृश्यन्त मौत्तिकानि कुम्भे ।  
 कृपणाना वेत्तल मरण ग्रन्थान्यव भजन्ति भाण्डागाराणि ॥
- ५८२ परिमुमड वरयलेण वि पेच्छइ अच्छोहि त सया किविणो ।  
 आलिहियभित्तिपाउलय व न हू भुजिउ तरइ ॥ ४ ॥  
 परिमृशति वरतलेनापि पययक्षिम्या तत्पदा कृपण ।  
 आलिगितभित्तिपञ्चालिकामिव न सलु भोम्भु शक्नोति ॥

५७७. वेश्या उस श्मशान की शृगाली के समान है जो एक मृतक को खानी है, दूसरे को कटाक्ष से सुरक्षित रखती है और तीसरे पर दृष्टि रखती है ॥ १८ ॥

५७८. जैसे मुनिजन संपूर्ण ग्रन्थों का अध्ययन कर तल्लीन होकर मोक्ष का ध्यान (चिन्तन) करते हैं और हाथ में भिक्षापात्र (या कवलिया = ज्ञानोपकरण विशेष) धारण करते हैं, वैसे ही वेश्या सम्पूर्ण धन लेकर, निर्धन विट से कव छट्टी मिलेगी—यह सोचती रहती है और उसके हाथ में जो कुछ भी ग्रास आ जाय, उसे कवलित करने के लिए ही सदा उद्यत रहती है ॥ १९ ॥

### ६०—किविण-यज्जा (कृपण-पद्धति)

\*५७९. कृपण किसी को धन नहीं देते और अन्य देते हुए मनुष्य को रोक देते हैं। क्या उनके धन (अर्थ) दास्य में अवस्थित ज्ञानतत्त्व (अर्थ = प्रतिपाद्य, अभिधेय) के समान सुने जाते हैं ? ॥ १ ॥

५८०. कृपण-जन यह जान कर पृथ्वी में अपना धन गाड़ देते हैं कि हमें (एक दिन) रमातल में जाना ही है तो आधारभूत धन भी जाय (या पहले से ही प्रस्थान<sup>१</sup> रख दिया जाय) ॥ २ ॥

५८१. गजराजों के कुम्भस्थल को जब सिंह विदीर्ण कर देता है, तब उन में (भी) मुक्ताफल दिखाई पड़ता है, परन्तु कृपणों के मण्डार तो केवल मरने पर ही प्रकाट होते हैं ॥ ३ ॥

५८२. कृपण धन को सदा हाथों से छूता है, आँखों से देखता भी है परन्तु भित्ति पर अंकित विप्रसुतसिका के समान उसका उपभोग नहीं कर सकता है ॥ ४ ॥

१ आवश्यक-यात्रा के लिये शुभ मुहूर्त में घर के बाहर रखी हुई वस्तु ।

\* विशेष विवरण परिशिष्ट 'म' में द्रष्टव्य ।

- ५८३ पुच्छिञ्जता नियपरियणेण पयडति नेय त अत्थ ।  
सत पि घण नत्थि त्ति जे भणति ते महाधीरा ॥ ५ ॥  
पूच्छयमाना निजपरिजनेन प्रकटयन्ति नैव तमर्थम् ।  
सदापि धन नास्तीति ये भणन्ति ते महाधीरा ॥
- ५८४ अत्थ धरति वियला दति पूयति सयलभूयाइ ।  
पुण्णक्खएण झिज्जइ न सपया चायभोएण ॥ ६ ॥  
अथ धरन्ति विकला न ददति पूजयन्ति सकलभूतानि ।  
पुण्यक्षयेण क्षीयते न सपत् त्यागभोगाभ्याम् ॥
- \*५८५ देमि न कस्म वि जपइ उद्दारजणस्स विविहरयणाइ ।  
चाएण विणा वि नरो पुणो वि लच्छीइ पम्मन्को ॥ ७ ॥  
ददामि न कस्यापि वदति उदारजनस्य विविधरत्नानि ।  
त्यागेन विनापि नर पुनरपि लक्ष्म्या प्रमुक्त ॥

### ६१ उड्डवज्जा [कूपखनकपद्धति]

- ५८६ छुहइ दढ कुद्दाल अइगमणे आउल व पेल्लेइ ।  
विल्हिइ दो वि तडीओ आणइ हियपाणिय उड्डो ॥ १ ॥  
क्षिपति दृढ कुद्दालमतिगमन आकुलमिव प्ररपति ।  
विलिखति द्वे अपि तटधावानयति हृदयप्सितपानीय खनक ॥
- \*५८७ सिरजाणुए निउत्तो उड्डो हत्थेण खणणकुसलेण ।  
कुद्दालेण य रहिय वह उड्डो आणए उयय ॥ २ ॥  
शिरोजानुके नियुच्च खनको हस्तेन खननकुशलेन ।  
कुद्दालेन च रहित कथ खनक यानयत्युदकम् ॥
- ५८८ निदयमुद्दालयमज्झ बहुलुच्छलत्तजलसोत्त ।  
उड्डो लट्ठप्परिमो भरिय पि न मेल्लए वावि ॥ ३ ॥  
निदयमुद्दालयमज्झमुल्लो लट्ठजलसोनसम् ।  
खनका लट्ठम्पणा भूतामपि न त्यजति वापीम् ॥

५८३ जो अपने परिजनो के पूछने पर धन को प्रकट नहीं करने तथा रहने पर भी 'नहीं है'—कहते हैं, वे महान् धैर्यशाली हैं ? ॥ ५ ॥

५८४ कृपण विकल होकर धन जोड़ते रहते हैं, किसी को देते नहीं हैं। (उमकी रक्षा के लिये) सभी भूतों की पूजा करते रहते हैं। उन को संपत्ति पुण्यक्षीण होने से नष्ट होती है, त्याग और भोग से नहीं ॥ ६ ॥

\*५८५ वृषण कहता है—मैं किमी भी उदार (सत्पात्र) व्यक्ति को विविध रत्न नहीं देना हूँ। परन्तु दान के बिना भी मनुष्य को लक्ष्मी छोड़ देती है ॥ ७ ॥

६१—उडु-वज्जा (कूपखनक-पद्धति)

प्रतीक परिचय—

उडु (कूप खनक) = मयुक्तकर्ता

कुदाल (कुदाल) = लिंग

पानी = रम या वीथ

खनन = सभोग

वापी (वावली) = योनि

वसुधा (भूमि) = सरम महिला

वडवा (घांड़ी) = नीरस नारी

५८६. कूप-खनक (कुआँ खोदने वाला) दृढतापूर्वक कुदाल चलाता है, गहराई में जाने के लिए ध्यय मा हो कर उसे धँसाता है, दोनों किनारों को काटना है और हिनकारक (या गया हुआ) पानी ला देता है ॥ १ ॥

\*५८७ खनन कुदाल हाथो-द्वारा सिर और जानुओं में जुड़ा हुआ कूपखनक कुदाल से (भूमि में) अविद्यमान (रहित) जल वैसे लाये (कैसे निकाले) ? ॥ २ ॥

५८८ सुदृढ कुदाल के आघात से ज़िम के मध्य में प्रचुरजल-स्रोत छटक रहा है, उस भरी हुई वावली को भी, यह खनक (खोदने वाला) स्पर्श पाकर नहीं छोड़ रहा है ॥ ३ ॥

१ मूल में द्विषाणिय शब्द है। मस्त्वु टोकाकार रत्नदेव ने उसका अर्थ 'हृदयेष्मिन् पानीयम्' लिखा है। मैंने मूल प्राकृत की छाया 'हित-पानीयम्' की है। हित का अर्थ है—गया हुआ या हितकारक। हित पथ्ये गने घुने। —मेदिनी

\* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य।

५८९. कुदालघायघणताडणेण पज्जरइ वसुह न हु चोज्ज ।  
 सो उड्डो जस्स वि दसणेण वडवा जल देइ ॥ ४ ॥  
 कुदालघातघनताडनेन प्रक्षरति वसुधा न खत्वाश्चर्यम् ।  
 स खनको यस्य दर्शनेन वडवा जल ददाति ॥

६२ कण्हवज्जा [कृष्णपद्धति]

- ५९० 'कुसल राहे' 'सुहिओ सि कस' 'कसो कर्हि' 'कर्हि राहा' ।  
 इय वालियाइ भणिए विलम्बहसिर हरि नमह ॥ १ ॥  
 'कुशल राधे' 'सुखितोऽसि कस' 'कस क्व' 'क्व राधा' ।  
 इति वालिक्रया भणिते विलक्षहसनशील हरि नमत ॥
५९१. त नमह जस्स गोट्ठे मयणाणलतावियाउ गोवीओ ।  
 पायडकठग्गहमगिरीउ रिट्ठ पससति ॥ २ ॥  
 त नमन यस्य गोष्ठे मदनानलतापिता गोप्य ।  
 प्रकटकण्ठग्रहमार्गणशीला अरिष्ट प्रशसन्ति ॥
५९२. कण्हो जयइ जुवाणो राहा उम्मत्तजोव्वणा जयइ ।  
 जउणा बहुलतरगा ते दियहा तेत्तिय च्चेव ॥ ३ ॥  
 कृष्णो जयति युवा राधोन्मत्तयौवना जयति ।  
 यमुना बहुलतरङ्गा ते दिवमस्तावन्त एव ॥
५९३. तिहुयणमिओ वि हरी निवडइ गोवालियाइ चलणेसु ।  
 सच्च चिय नेहणिरघलेहि दोसा न दीसति ॥ ४ ॥  
 त्रिभुवननमितोऽपि हरिनिपतति गोपालिकायाश्चरणयोः ।  
 मत्पमेव स्नेहान्वेदोपा न दृश्यन्ते ॥
- ५९४ कण्हो कण्हो निमि चदयज्जिया निविडवेडिसा जउणा ।  
 भमरी होहिसि जइ, लहसि पुत्ति वयणस्स गघेण ॥ ६ ॥  
 कृष्ण कृष्णो निशा चन्द्रवर्जिना निविडवेतसा यमुना ।  
 भमरी भविष्यमि यदि, लभसे पुत्ति वदनन्य गन्धेन ॥

५८९ बुदाल का भारी आघात करने पर पृथ्वी जल-क्षरण करने लगती है—यह कोई आश्चर्य नहीं है। खनक वह है, जिसके दर्शन से घोड़ी पानी देने लगती है ॥ ४ ॥

### ६२—कण्हवज्रा (कृष्ण पद्धति)

५९० राधे ! क्या कुशल है ? क्या ! क्या तुम सुखी हो ? क्या कहाँ है ? राधा कहाँ है ? इस प्रकार गोप-बालिका से मवाद होने पर लजा कर हँसने वाले कृष्ण का नमस्कार करो ॥ १ ॥

(गोत्र-स्वलन से कृपित किन्नी गोपी और कृष्ण का मवाद है)

५९१ गाछ में सबकी आम्बा के सामने जिसका आलिंगन चाहने वाली मदनानलगत गापियाँ अरिष्टामुग की प्रशंसा करती हैं, उस कृष्ण को प्रणाम करो ॥ २ ॥

५९२ नवयुवक कृष्ण की जय हा (या वे विजयी हो)। उन्मत्त यौवना राधा की जय हो। तर्ग बहुला यमुना की जय हो। वे दिन कभी थे, अब नहीं हैं ॥ ३ ॥

५९३ कृष्ण त्रिभुवन वन्दित हो कर भी गोपी के चरणों पर गिर पड़ते हैं। सत्य है, प्रेमान्धों का दोष नहीं दिखाई देते ॥ ४ ॥

५९४ पुत्रि ! कृष्ण श्याम-वर्ण हैं। रात अँधेरी है (चन्द्र-वर्जित)। यमुना के तट पर घने वन हैं। यदि भ्रमरी वन जाओ, तो मुँह की मर्हक से उन्हें पा जाओगी ॥ ५ ॥



५९५. केसिवियारणरुहिल्लकुप्परुघसणलच्छणग्धवियं ।  
 न मुएइ कण्ह जुणं पि कंचुयं अज्ज वि विसाहा ॥ ६ ॥  
 केसिविदारणरुधिराद्रंकूर्परोद्धर्णलाञ्छनाधितम् ।  
 न मुञ्चति कृष्ण जीर्णमपि कञ्चुकमद्यापि विज्ञाखा ॥
५९६. राहाइ कवोलतलुच्छलतजोण्हाणिवायधवलंगो ।  
 रइरहसवावडाए धवलो आलिगिओ कण्हो ॥ ७ ॥  
 गधया कपोलतलोच्छलज्ज्योम्नानिपातधवलाङ्गः ।  
 रतिरभसव्यापृतया धवल आलिङ्गितः कृष्णः ॥
५९७. धवल धवलच्छीए मधुरं मधुराउरीइ मज्झम्मि ।  
 तक्कं विक्कंतीए कण्हो कण्हो ति वाहरिओ ॥ ८ ॥  
 धवलं धवलाक्ष्या मधुर मयुरापुर्या मध्ये ।  
 तक्कं विक्रीणत्या कृष्ण कृष्ण इति व्याहृतम् ॥
- \*५९८. सच्चं चेय भुयंगी विसाहिया कण्ह तण्हहा होइ ।  
 मते वि विणयतणए जीए धुम्माविओ त सि ॥ ९ ॥  
 मत्पमेव भुजङ्गी विगाव्या कृष्ण तृष्णरा भवति ।  
 मत्पपि विनानानये यया धूर्णिनस्त्वमसि ॥
५९९. केमव पुराणपुरिमो सच्च चिय त सि ज जणो भणइ ।  
 जेण विमाहियाए भममि मया हत्थलम्माए ॥ १० ॥  
 केमव पुराणपुरपः मत्पमेव त्वमसि यज्जनो मणति ।  
 येन विगाव्या भमसि मदा हम्मन्मया ॥
- \*६०० किनिओ मि कीम केमव कि न कओ धन्नमगहो मूढ ।  
 कत्तो मणपरिओमो विगाहियं भुजमाणस्स ॥ ११ ॥  
 किनोर्त्रि कम्मान्नेश्वर कि न वृनो धन्यामंग्रहो (धान्यमंग्रहो) मूढ ।  
 वृत्तो मनः पणिनोरो विगाविका (विपाधिक) भुज्जानम्य ॥

५९५ हे कृष्ण ! आज भी विशाखा (गोपी विशेष) उस वचन को जीर्ण हो जाने पर भी नहीं छोड़ रही है, जो नेशी का बंध करने समय छधिरात्र कूपर (बेहुँनी) को पोछने से उत्पन्न धव्यों के कारण बहुमूल्य बन गया है ॥ ६ ॥

५९६ जिन के अग (राधा के) कपोलों से छलकते ज्योत्स्ना-प्रवाह से श्वेत हो चुके थे, उन श्वेतांग कृष्ण का, रतिरम में लीन राधा ने आलिंगन कर लिया ॥ ७ ॥

५९७. मथुरापुरी के मध्य में मधुर और श्वेत मट्टा बेचती हुई कोई धवलाक्षी कृष्ण-कृष्ण<sup>१</sup> (काला-काला) कह पड़ी ॥ ८ ॥

\*५९८. केशव ! जिसने गर्भ के रहने पर भी तुम को (स्थान-स्थान पर) धुमा दिया<sup>२</sup> (पमान्तर में, जिस के कारण तुम्हें चक्कर आ गया), वह विशाखा (गोपी विशेष) सचमुच ही अधिक विष वाली तृष्णावती भुजगी (सर्पिणी और स्वरिणी) है ॥ ९ ॥

५९९ केशव ! जैसा लोग तुम्हें कहते हैं, सचमुच (तुम) पुराण-पुरष (ईश्वर और बृद्ध पुरष) हो, क्योंकि सदा हाथ में लगी हुई विशाखा (एक गोपी और लाठी या बैसाखी) के साथ चलते हो ॥ १० ॥

\*६००. कृष्ण तुम दुर्बल क्यों हो ? अरे मूढ़ ! तुमने धान्यसंग्रह क्यों नहीं किया ? जो अपरिपक्व (कच्चा) भोजन करना है, उसने मन को कैसे सन्तोष मिल सकता है ? ॥ ११ ॥

शृङ्गार पक्ष—कृष्ण ! तुम आकर्षित क्यों हो गये ? अरे मूढ़ ! तुमने सुन्दर रमणी को क्यों नहीं ग्रहण कर लिया ? जा विशाखा के साथ सभोग करता है, उसे सन्तोष कैसे हो सकता है ?

१. कृष्ण का अर्थ = कालारंग और श्रीकृष्ण यहाँ दोनों ग्राह्य हैं ।

२ मूल में घुम्मावित्र पाठ है । अभिप्राय यह है कि जिसने अपने प्रेम में तुम्हें श्वर-उधर घूमने के लिये विवश कर दिया है ।

\* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य ।

६०१. विहडउ मडलिवघो भज्जउ रासो न मुच्चए कण्ह ।  
 नवसियसएहि लद्धो तुह हत्थ भज्ज हत्थेण ॥ १२ ॥  
 विघटता मण्डलीवन्धो भज्यता रासो न मुच्यते कृष्ण ।  
 उपयाचितकदातैलन्धस्तव हस्तो मम हस्तेन ॥
- ६०२ कण्हो देवो देवा वि पत्थरा सुयणु निम्मविज्जति ।  
 असूहि न मउइज्जति पत्थरा किं व रुण्णेण ॥ १३ ॥  
 कृष्णो देवो देवा अपि प्रस्तरा मुननु निर्माप्यन्ते ।  
 अधुभिन्नं मूढूक्कियन्ते प्रस्तरा किं वा रुदितेन ॥
- ६०३ महुरारज्जे वि हरी न मुयइ गोपालियाण त पेम्म ।  
 खडति न सप्पुरिसा पणयपरुढाइ पेम्माइ ॥ १४ ॥  
 मथुराराज्येऽपि हरिर्न मुञ्चति गोपालिकाना तत्प्रेम ।  
 खण्डयन्ति न सत्पुरुषा प्रणयप्ररुढानि प्रेमाणि ॥
- \*६०४ सच्च चिय चवइ जणो अमुणियपरमत्थ नदगोवालो ।  
 थणजीवणो सि केसव आभीरो नत्थि सदेहो ॥ १५ ॥  
 सत्यमेव वदति जनोज्ञातपरमार्थो नन्दगोपाल ।  
 स्तन्यजीवनोऽसि केशवाभीरो नास्ति सदेह ॥
- ६०५ सभरसि कण्ह कालिदिमज्जणे मह कडिल्लपगुरण ।  
 एण्ह महुरारज्जे आलवणस्सावि सदेहो ॥ १६ ॥  
 मस्मरसि वृष्ण कालिन्दीमज्जने मम वटीवत्प्रवरणम् ।  
 इदानीं मथुराराज्य आलपनस्यापि संदेहः ॥

६३ रुद्रवज्रा [रुद्रपद्धति]

६०६. रइय उहुमुवियगोरीचलणाह्यणिवटिए जडाजूडे ।  
 निवडतचदरु भणविलोलहत्थ हर नमह ॥ १ ॥  
 रतिवल्हवुपिनगोरीचरणाहतनिपनिने जटाजूटे ।  
 निपतबन्धरोधनविलोन्हस्त हर नमन ॥

६०१ भले ही मण्डली विघटित हो जाय, भले ही राम-गोला भग हो जाय, परन्तु कृष्ण ! तुम्हारा हाथ मेरे हाथ में है, छोड़ेंगी नहीं, क्योंकि वह मुझे बहुत मनोतियो से प्राप्त हुआ है ॥ १२ ॥

६०२ सुन्दरि ! कृष्ण देवता हैं, और देवता भी पत्थर से निर्मित होते हैं। पत्थर आँसुओं से नहीं पसीजते (कोमल नहीं होते), तब तुम क्यों रो रही हो ? ॥ १३ ॥

६०३ मथुरा का राज्य पाकर भी कृष्ण गोपियों का वह प्रगाढ़ प्रेम नहीं छोड़ते हैं। सत्पुरुष विद्यास से उत्पन्न प्रेम नहीं तोड़ते हैं ॥ १४ ॥

\*६०४. केशव ! लोग सत्य ही कहते हैं, उत्कृष्ट धन को न जानने वाले तुम नन्द के चरवाहे (गोपाल) एवं द्दौरजीवी अहीर हो—इसमें सन्देह नहीं है ॥ १५ ॥

शृंगार पक्ष—केशव ! लोग सत्य ही कहते हैं, अन्तिम प्रयोजन (भोग) को न जाननेवाले तुम नन्द के चरवाहे एवं स्तन से जीवित रहनेवाले (स्तन मर्दन से ही सन्तुष्ट हो जानेवाले) अहीर (मूर्ख) हो—इसमें सन्देह नहीं है।

६०५ कृष्ण ! यमुना में स्नान के समय तुमने मेरा कटिवस्त्र पहन लिया था—क्या यह याद है ? इस समय मथुरा के राज्य में तो मिलने पर बात भी करने में सन्देह है ॥ १६ ॥

### ६३—छद्म-वज्जा (छद्म-पद्धति)

६०६. रति-कलह में कुपित गौरी के पदाघात से जटाजूट छूट जाने पर जिनका हाथ गिरते हुए चन्द्रमा को संभालने (रोकने) के लिये चबल हो उठा था, उन शिव को प्रणाम करो ॥ १ ॥

\*विशेष विवरण परिशिष्ट 'छ' में द्रष्टव्य।

- ६०७ परिहासवामछोडणकरकिसलयरुद्धणयणजुयलस्स ।  
 रुद्धस्स तइयणयण पट्टइपग्गिचुविय जयइ ॥ २ ॥  
 परिहासवासोमोचनकरकिसलयरुद्धनयनयुगलस्य ।  
 रुद्धस्य तूतीयनयन पावतीपरिचुम्बित जयति ॥
- ६०८ सञ्ज्ञासमए परिकुवियगोरियामुद्धविहडण विउल ।  
 अद्धुम्मिल्लपलोयत लोयण त हर नमह ॥ ३ ॥  
 सन्ध्यासमये परिकुपितगोरोमुद्धाविघटन विपुलम् ।  
 अधोन्मीलप्रलोकयल्लोचन त हर नमत ॥
- \*६०९ चदाहयपडिबिवाइ जाइ मुक्कट्टहासभीयाए ।  
 गोरीइ माणविहडणघडतदेह हर नमह ॥ ४ ॥  
 चन्द्राहतप्रतिबिम्बाया यस्या जातिमुत्ताट्टहासभीताया ।  
 गौर्या मानविघटनघटमानदेह हर नमत ॥
- \*६१० नमिऊण गोरिवयणस्स पल्लव ललियकमलसरभमर ।  
 कयरइमयरदकल ललियमुह त हर नमह ॥ ५ ॥  
 नत्वा गौरीवदनस्य पल्लव ललितकमलसरोन्नमरम् ।  
 शृतरतिमकरन्दकर ललितमुख त हर नमत ॥

६४ हियालीवज्जा [हृदयवतीपद्धति]

- ६११ विवरीयरया लच्छी वभ दट्ठूण नाहिकमलत्थ ।  
 हरिणो दाहिणणयण रमाउला कीम झपेइ ॥ १ ॥  
 विपरीतरता लदमोत्रहाण दृष्टा नाभिकमलत्थम् ।  
 हरेदक्षिणनयन रमाकुग वस्मात्पिदधाति ॥
- ६१२ टक्कमि इट्ठेण मुह ज जप्पमि अणिप्पिम प्रलोयतो ।  
 हमिर च वहमि वयण तुह नाह न निव्वुया दिट्ठी ॥ २ ॥  
 छादमसि हस्तेन मुख यत्तलास्यनिमिष प्रलाकयन् ।  
 हसनशीलं च वहसि वदनं तव नाय न निवृत्ता दृष्टि ॥

६०७ रति-समय परिहास मे वस्त्र उतार लिये जाने पर लज्जावती पार्वती ने अपने पाणि-पल्लवों से शिव के दोनों नेत्रों को ढँक कर तृतीय नेत्र को चूम लिया था, उसे नमस्कार कर लो ॥ २ ॥

६०८. आधी खुली और आधी बन्द आँखों से देखने वाले उन शिव को प्रणाम करो, जिन्होंने सन्ध्या (पूजा) करते समय क्रुपित गौरी की मुख-मुद्रा (मौन) तोड़ दी थी ॥ ३ ॥

(क्रोध का कारण सन्ध्या सपत्नी मे अनुरक्ति और मौन-भंग का कारण साभिलाष निरोक्षण है)

\*६०९ जो चमेली (जाति) के पुष्प के समान (शिव के) उन्मुक्त अट्टहास से भीत हो चुकी थी तथा जिनका प्रतिविम्ब (ललाटस्थ) चन्द्रमा में पड़ रहा था, उन गौरी के मानापनयन में जिनका शरीर व्यापृत (सलग्न) है, उन शिव को प्रणाम करो ॥ ४ ॥

\*६१० गौरी के अधरो का प्रणाम करके उन ललित मुख (सुन्दर मुखवाले) शिव को प्रणाम करो, जो लावण्य युक्त मुख रूपी कमल के निकट (चुम्बनाय) जाने वाल भ्रमर हैं और जिन्होंने रतिरस की कला का अभ्यास किया है ॥ ५ ॥

६४—हियालीवज्जा (हृदयवती-पद्धति)

६११ विपरीत रति के समय सानुरागा लक्ष्मी ने (विष्णुके) नाभिकमल में स्थित ब्रह्मा को देख कर विष्णु का दाहिना नेत्र क्या ढँक दिया ? ॥ १ ॥

(विष्णु का दाहिना नेत्र सूर्य है। उसके ढँक जाने पर रात हो जायगी और नाभिकमल सकुचित हो जायगा, फलतः ब्रह्मा उसी में भँबरे के समान बन्द हो जायेंगे। इस प्रकार अन्य पुरुष से लज्जाने की स्थिति समान हो जायगी और रति-क्रोडा निर्वाधि चलती रहेगी)

६१२ नाय । तुम्हारे दृष्टि स्वस्थ (या दान्त) नहीं है, क्योंकि हाथ से मुँह ढँक रहे हो, एकटक देखत हुए वातें कर रहे हो और हँसने वाला मुख धारण कर रहे हो, (अर्थात् तुम्हें कोई रोग हो गया है) ॥ २ ॥

(अपराधा नायक दन्त-क्षान का छिपाने के लिए मुँह ढँक रहा है, पलकों में लगी अजन रेखा या लाक्षारम को छिपाने के लिए एकटक देख रहा है, नायिका को सतुष्ट रखने के लिए हँस रहा है और रात्रि जागरण के कारण दृष्टि स्वस्थ नहीं है)

\* विनाय विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य ।

६१३. जइ सा सहीहि भणिया तुज्झ मुह पुण्णचदसारिच्छ ।

ता कीस मुद्धडमुही करेण गडत्थल पुसइ ॥ ३ ॥

यदि सा सखीभिर्भणिता तव मुख पूर्णचन्द्रसदृशम् ।

तत् कस्मान्मुग्धमुखी करेण गण्डस्थल प्रोञ्छति ॥

६१४ अच्छीहि पइ सिहिणेहि दियवर गुरुयण नियवेण ।

तिन्नि वि जूरेइ वहु न याणिमो केण कज्जेण ॥ ४ ॥

अक्षिभ्या पतिं स्तनाभ्या द्विजवर गुरुजनं नितम्बेन ।

त्रीप्यपि निन्दति वधूर्न जानीमः केन कार्येण ॥

६१५ जइ सा पइणा भणिया तिलयं विरएमि अत्तणो

(?अत्तणा) तुज्झ ।

ता कीस मुद्धडमुही हसिऊण परम्मुही ठाइ ॥ ५ ॥

यदि सा पत्या भणिता तिलक विरचयाम्यात्मनस्तव

(विरचयाम्यात्मना तव) ।

तत् कस्मान्मुग्धमुखी हसित्वा पराङ्मुखी तिष्ठति ॥

६१६ हियए रोसुगिण्ण पायपहार सिरम्मि पत्थतो ।

तह उ त्ति पिओ माणसिणीइ थोरसुअ रुण्ण ॥ ६ ॥

हृदये रोपोद्गीर्णं पादप्रहार शिरसि प्राययमानः ।

तथैवेति प्रियो मनस्विन्या स्यूलाश्रुक रुदितम् ॥

६१७ त दट्ठूण जुवाण परियणमज्झम्मि पोढमहिलाए ।

उप्पुल्लदल कमल करेण मउलाइय कीस ॥ ७ ॥

तं दृष्ट्वा युवान परिजनमध्ये प्रोटमहिलया ।

उत्पुल्लदलं कमल करेण मुकुलीकृतं वस्मात् ॥

६१३ यदि सखियो ने कह दिया कि तुम्हारा मुख पूर्णचन्द्र के समान है तो भोले मुख वाले सुन्दरी हाथ से कपोल क्यों पोछ रही है ॥ ३ ॥

नायिका ने समझा कि कहीं मेरे कपोलो में घब्बा तो नहीं पड़ा है, अन्यथा वह कलकी चन्द्रमा के समान कैसे हो सकता है ?)

६१४ वह तोनों की निन्दा कर रही है (या तोनों पर क्रोध कर रही है)—आँखों से पति की, स्तनों से पूज्य ब्राह्मण की और नितम्बों से गुरुजन की ! किसलिये ? हम नहीं जानते ॥ ४ ॥

(लज्जाशोल पति नवागता वधू के निकट देर तक नहीं ठहरता, अतः उसे देर तक जी भर देखने के लिए तरसती आँखों से उसकी निन्दा करती है। स्थूल स्तनों के द्वारा वक्ष स्थूल निरुद्ध हो जाने के कारण नमस्कार सूचित करने के लिये भी थोड़ा सा सिर नहीं झुका सकती, अतः ब्राह्मण की निन्दा करती है। नितम्बों के भारी होने के कारण गुरुजनों की सेवा में विलम्ब हो जाता था, अतः उनकी भी निन्दा करती है।)

६१५ यदि पति ने कहा कि लाओ, मैं तुम्हारे तिलक रच दूँ, तो वह मुग्धा क्यों हँस कर पराङ्मुख हो गई ? ॥ ५ ॥

(ऋतुमती नायिका ने समझा कि तिलक के व्याज से कहीं प्रिय मेरा मुख न चूम लें। अतः उसने पराङ्मुख होकर अपना रुधिराक्त वस्त्र बिखला दिया।)

६१६ जब हृदय पर प्रहार करने के लिये क्रोधपूर्वक चरण उठाया तब पति ने प्रार्थना की—मेरे सिर पर मारो। उस समय 'मैंने जैसा समझा था मेरा पति वैसा ही है'—यह कहती हुई वह मन्तस्विनी बड़े-बड़े आँसू गिराती हुई रो पड़ी ॥ ६ ॥

(नायिका ने समझ लिया कि अवश्य इसके हृदय में कोई अन्य प्रिया बसी है, जिसे वचाने के लिये मेरे चरण-प्रहार को सिर पर झेलना चाहता है।)

६१७ प्रोढ़ महिला ने उस युवक को परिजनो के बीच में देख कर खिली हुई पल्लवियों वाले कमल को हाथ से मुकुलित क्यों कर दिया ? ॥ ७ ॥

(वह सबक समझ अपने प्रेमी से कुछ नहीं कह सकती थी। अतः उसने कमल को मुकुलित करके यह संकेत किया कि सूर्यास्त होने पर तुम आ जाना।)



६१८. हतूण वरगइद वाहो एक्केण नवरि वाणेण ।  
घुवइ सर पियइ जल त जाणह केण कज्जेण ॥८॥

हत्वा वरगजेन्द्रं व्याध एकेन केवल वाणेन ।  
धावति सर पिवति जल तज्जानीत केन कार्येण ॥

६१९ कुकुमक्यगराय पडिहन्त्यपलोहरी कुरगच्छी ।  
सयणम्मि नावगूहइ रमण भण केण कज्जेण ॥९॥

कुङ्कुमकृताङ्गराग परिपूर्णपयोधरा कुरङ्गाक्षी ।  
शयन नावगूहति रमण भण केन कार्येण ॥

६२० सालत्तय पय ऊरएसु तह कज्जल च चलणसु ।  
पट्टीइ तिलयमाल बहत कह से रय पत्तो ॥१०॥

सालक्षक पदमूर्वोस्तया कञ्जल च चरणयो ।  
पृष्टे तिलकमाला बहन् कथ तस्या रत प्राप्त ॥

६२१. अहिणवपेम्मसमागमजोव्वणरिद्धीदसतमासम्मि ।  
पवस्तम्म वि पइणो भण कीम पलोइय मीस ॥११॥

अभिनवप्रेभममागमयौवनरिद्धिवन्तमासे ।  
प्रवन्नोऽपि पयुर्नन कस्मात् प्रलोकित शीर्षम् ॥

६२२ जइ देवरेण भणिया खग घेत्तूण राजले वन्च ।  
ता कीम मुद्धटमुही ह्मिज्जण पलोअए सेज्ज ॥१२॥

यदि देवरेण भणिता, यद्ग गृहीत्वा राजमुष्टे व्रज ।  
तत् कम्भान्मुग्धमुखी ह्मिन्वा प्रलोकयति शय्याम् ॥

६१८. व्याघ्र श्रेष्ठ गजेन्द्र को केवल एक बाण से मार डालता है और बाण को धोकर वही पानी पी जाता है। जानते हो, ऐसा वह क्यों करता है ? ॥ ८ ॥

(कहीं कोई यह न समझ ले कि मेरा बाण विष में डूँघा हुआ था। मैंने गजराज का वध अपने पराक्रम से किया है, विष को सहायता से नहीं। यदि उसमें विष होना तो मैं धोकर पाता क्यों ? और पीकर जोवित हो कैसे रहता ?)

६१९. शय्या पर परिपूर्ण पयोधरा कुरगाक्षी ने उम पति का—जिम्मे कुंकुम का अंगराग लगाया था—आलिंगन नहीं किया। बताओ, उसने ऐसा किसलिये किया ? ॥ ९ ॥

(कुंकुम का अंगराग भी हम दोनों के बीच रहने पर स्पर्श-सुख का बाधक<sup>१</sup> है, यह सोचकर नायिका ने आलिंगन नहीं किया)

६२०. अरे, तुमने उसके साथ कैसा रमण किया है कि जाँघों पर महावर लगे पैरों के चिह्न हैं, चरणों में कज्जल लगा है और पीठ पर तिलको की पत्तियाँ पड़ी हैं ? ॥ १० ॥

(इन चिह्नों से नायक का रति के सभी आसनों में नैपुण्य सूचित होता है)

६२१. बताओ, नायिकाने अभिनव प्रेम, समागम, पौवन, ममृद्धि और वसन्त मान के रहने पर भी प्रवासो होने वाले पति का शिर क्यों देखा ? ॥ ११ ॥

(इन दुर्लभ पदार्थों के रहने पर भी यह परदेश जाना चाहता है। अतएव सचमुच वैल है। कहीं सींग तो नहीं निकल आई है—यह सोच कर उसका शिर देखने लगी)

६२२. जब देवर ने कहा कि तलवार लेकर राज कुल में जाओ, तब भुग्धमुखी माभी ने हँसकर सेज की ओर क्यों देखा ? ॥ १२ ॥

(जब देवर ने माभी से कहा कि मेरे भाई के स्थान पर राज-सेवा के लिये तुम जाओ, तब उसने सोचा कि शायद देवर ने सेज पर अकित लाक्षारस-रजित चरणों के लालन देखकर गत रात्रि में होने वाली मेरी विपरीत रति को ताड लिया है। अतः उसका अभिप्राय है कि तुम रात में मेरे भाई का काम करती हो, तो दिन में भी करो। माभी के शय्या की ओर देखने का यही रहस्य है)

१. साथ करि हार गले ना परिनु आभि ।

हार अन्तराल पाछे रन रघुमनि ॥

—वगवति कृतिवास

६२३ जइ सानुयाइ भणिया प्रियवर्माहि पुत्ति दीवय देहि ।  
ता कीन मुद्धडमुही हनिज्जण पलोयए हियव ॥१३॥  
यदि श्रद्धा भणिता प्रियवत्ततो पुत्रि दीपक देहि ।  
तत् कम्मन्मुग्धमुत्तो हनित्वा प्रलोकयति हृदयम् ॥

६२४ जइ सा सहीहि भणिया तुज्ज पई मुद्देत्तलसमाणो ।  
ता कीस मुद्धडमुही अहिययर गव्वमुव्वहइ ॥१४॥  
यदि सा सखोभिर्भोणिता तत्र पनि शून्यदेवकुलसमान ।  
तत् कम्मन्मुग्धमुखो अधिकतर गर्वमुद्धहति ॥

६५ मनववज्जा [शशकपद्धति]

६२५ टुल्लुल्लतो रच्छामुहेसु वरमहिलियाण हत्थेसु ।  
खघारहारिससओ व्व पुत्ति दइओ न छुट्ठिहिइ ॥१॥

परिभ्रमन् रथ्यानुलेषु वरमहिलाना हन्त्रेषु ।  
स्वन्मावारहारिस्तशक इव पुत्रि दयिनो न मोक्षते ॥

६२६ तिलनुसमेत्तेण वि विप्पिएण तह होइ गख्यनतावो ।  
मुहय विवज्जइ ससओ चम्मन्ट्टेण वि वराओ ॥२॥  
तिलनुपमात्रेणापि विप्रियेन तथा भवति गुल्मत्राप ।  
सुभग विपद्यते शशकश्चमन्ट्टेदेनापि वराक ॥

६२७ इह इदवणू इह मेहगज्जिय इह मिहीण उल्लावो ।  
पहिओ हारो ससओ व्व पाउत्ते कह न भालेइ ॥३॥  
इहेन्द्रघनुरिह मेघगजिनमिह शिखिनामुल्लास ।  
पयिबो हारो शशक इव प्रावृषि कथ न पश्यति ॥

\*६२८ जा इच्छा वा वि मजोपियम्म तगय मजम्मि पुच्छामो ।  
ससय वहिल्लो नि तुम जीविज्जइ अन्नहा वनो ॥४॥  
येच्छा वापि मनप्रियम् तद्गत मननि पृच्छाम ।  
शशक नीत्रोन्नति त्व जीयतेऽन्यथा कुत ॥

६२३. जब माम ने कहा कि पुत्रि ! प्रिय के घर में दीपक जला दो, तब भोले मुँह वाली बहू हँस कर अपना हृदय क्यों देखने लगी ? ॥ १३ ॥

(उत्तर—उसके हृदय में ही पति का घर था, वहाँ दीपक कैसे जलाये यह सोचकर उसे हँसो आ गई और अपना हृदय देखने लगी)

६२४ जब सखियों ने कहा—‘तुम्हारा प्रिय द्रुप्य देवमन्दिर के समान है, तब भुग्धमुखी नायिका क्यों अधिक गर्ववती हो गई ? ॥ १४ ॥

(उत्तर—उमने समझ लिया कि इन सखियों ने उमसे प्रणय-याचना की होगी और उसने सुनी न होगी। अतः उसे अपने प्रिय पर गर्व हो आया)

#### ६५—ससय-वज्रा (शशक-पद्धति<sup>१</sup>)

६२५ बेटो ! तुम्हारा प्रिय गलियों के अगले छोर पर सुन्दर महिलाओं के हाथों में पड कर सेना की छावनी में प्रविष्ट शशक (खरगोश) के समान बच नहीं पायेगा (छूट नहीं पायेगा) ॥ १ ॥

६२६ तिल-तुप (तिल का छिलका या भूमी) के बराबर भी (अर्थात् थोड़ा सा भी) अप्रिय (अपराध) हो जाने पर सन्ताप होता है। सुमग ! बेचारा खरगोश चर्मछेदन से भी मर जाता है ॥ २ ॥

(खरगोश चर्मछेदन से (चमड़ा कट जाने से) मर जाता है, यह लोक विश्वास है)

६२७ यहाँ इन्द्र-धनुष है, यहाँ मेघ-गर्जना है और यहाँ मयूरो का कोलाहल है। पावस में पयिक, मनोहर शशक के समान (भीत होकर) क्यों नहीं देखता है ? ॥ ३ ॥

(पावस में इन्द्र-धनुष मेघ-गर्जन आदि से भीत खरगोश अपना स्थान नहीं छोड़ता है)

\*६२८. जब प्रिय मन में आते हैं (या जब मन प्रिय के निकट जाता है) तब उभी मन में, उनकी जो कुछ भी इच्छा रहनी है, मैं पूछ लेती हूँ। (अर्थात् पूर्ण कर देती हूँ) शशक ! (प्रियनम या मन) तुम द्रुतगामी हो, अन्य किम ढग से जोवित रहा जाय ? (या जोवित रहा जाता है) ॥ ४ ॥

१. इस प्रकरण में शशक का वर्णन प्रमुख नहीं है। प्रमुखता प्रणय की है। शशक शब्द प्रिय के प्रनोक के रूप में बार-बार गाथाओं में आया है।

\* विशेष विवरण परिशिष्ट ‘ख’ में द्रष्टव्य।

६२९. अलिण व सच्चेण व गेण्हसि नाम पि दड्ढगमणस्स ।  
 सुहय विवज्जइ ससओ चम्मच्छेण वि वराओ ॥५॥  
 अलीकेन वा सत्येन वा गृह्णासि नामापि दग्धगमनस्य ।  
 सुभग विपद्यते शशकश्चर्मच्छेदेनापि वराकः ॥

६६. वसतवज्जा [वसन्तपद्धतिः]

६३०. वणयतुरयाहिरूढो अलिउलझकारतूरणिग्घोसो ।  
 पत्तो वसन्तराओ परहुयवरघुट्टजयसहो ॥१॥  
 वनकतुरगाधिरूढोऽलिकुलझङ्कारतूर्यनिर्घोष ।  
 प्राप्नो वसन्तराज परभूतवरघुष्टजयशब्दः ॥
६३१. परिघूसरा वि सहयारमजरी वहउ मजरीणामं ।  
 नीसेसपसूणपरम्मुहं कयं जीइ भमरउल ॥२॥  
 परिघूसरापि सहकारमञ्जरी वहतु मञ्जरीनाम् ।  
 निःशेषप्रसूनपराङ्मुखं कृतं यया भ्रमरकुलम् ॥
६३२. उब्भिज्जइ सहयारो वियसइ कुंदो य वियसइ असोओ ।  
 सिसिरपरिणामसुहिय उम्मील पकय सहसा ॥३॥  
 उद्भिद्यते सहकारो विकसति कुन्दश्च विकसत्यशोकः ।  
 शिशिरपरिणाममुखितम् उन्मोलितं पङ्कजं सहसा ॥
६३३. रुदारविंदमदिरमयरटाणंदियालिरिछोली ।  
 रणझणइ कसणमणिमेहल व्व बहुमासलच्छीए ॥४॥  
 विशालारविन्दमन्दिरमकरन्दानन्दितालिपङ्क्तिः ।  
 रणझणति कृष्णमणिमेखलेव मधुमासलक्ष्म्याः ॥
- \*६३४. सधुक्किज्जइ हियए परिमलआणंदियालिमालाहि ।  
 उल्लाहि वि दिसिमणिमजरीहि लोयस्स मयणग्गी ॥५॥  
 सधुक्ष्यते हृदये परिमलानन्दितालिमालाभिः ।  
 आर्द्राभिरपि दिङ्मणिमञ्जरीभिलोकस्य मदनाग्निः ॥

६३५ गहिऊण चूयमजरि कीरो परिभमइ पत्तलाहत्यो ।  
ओसरसु सिसिरणरवर लद्धा पुहवी वसतेण ॥६॥

गृहीत्वा चूतमञ्जरो कीर परिभ्रमति प्रतीहार ।  
अपसर शिशिरनरवर लब्धा पृथिवी वसन्तेन ॥

\*६३६ किं करइ तुरियतुरिय अलिउलघणवम्मलो य सहयारो ।  
पहियाण विणासासकिय व्व लच्छी वसतस्स ॥७॥

किं करोति त्वरितत्वरितमलिकुलघनशब्दश्च सहकार ।  
पयिकाना विनाशाशङ्कितेव लक्ष्मीर्वसन्तस्य ॥

६३७ लकालयाण पुत्तस्य वसतमासम्मि लद्धपसराण ।  
आवीयलोहियाण वीहेइ जणो पलासाण ॥८॥  
लङ्कालयेभ्य पुत्रक वसन्तमासे (वसान्त्रमासे) लब्धप्रसरेभ्य ।  
आपीतलोहितेभ्यो विभेति जन पलाशेभ्य ॥

६३८ एक्को न्विय दुव्विसहो विरहो मारेइ गयवई भीमो ।  
किं पुण गहियसिलीमुहसमाहवो फग्गुणो पत्तो ॥९॥

एक एव दुर्विपहो विरहो (विरघो) मारयति गतपतिका (गजपतीन्)भीम ।  
किं पुनगृहीतशिलीमुखसमाधव फाल्गुन प्राप्त ॥

६३९ होसइ किल साहारो साहारे अगणम्मि वड्ढते ।  
पत्ते वसतमासे वसतमासाइ सोसेइ ॥१०॥

भविष्यति किल साधार सहवारेऽङ्गणे वर्धमाने ।  
प्राप्ते वसन्तमासे वसान्त्रमासानि शोषयति ॥

\*६४० विंकरि वरि म अजुत्त जणेण जं बालओ त्ति भणिओ सि ।  
घवलत्तं देंतो वट्याण साहाण मलिणत्त ॥११॥

विंवरि वृद्ध मायुक्त जनेन यदालव इति भणितोऽभि ।  
धवत्वं ददान वष्टवाना दाग्याना मलिनत्वम् ॥

६३५ आम्रमजरी को लेकर भ्रमर-रूपी प्रतिहार (द्वारपाल या दरवान) भ्रमण कर रहा है। अरे नरपति शिशिर ! हट जाओ, पृथ्वी को वसन्त ने प्राप्त कर लिया है<sup>१</sup> ॥ ६ ॥

\*६३६ भ्रमरो के प्रचुर कोलाहल से युक्त (वासन्ती सुपमा का) सहायक (या सहचर) आम्र त्वरित-त्वरित क्या कर रहा है ? (अर्थात् निन्दनीय कार्य करने जा रहा है) ऐसा लगता है, मानो पथिको (विरहियो) के विनाश के लिये वासन्ती मुपमा सभावित है (अर्थात् वसन्त के आने की संभावना है) ॥ ७ ॥

६३७. पुत्र ! जिनका गृह शाखाओ पर है, वसन्त मास में जिनका प्रसार होता है और जिनका वर्ण पीत और लोहित (लाल) है, उन पलाश-पुष्पो से मनुष्य (विरही) डर जाता है ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ—पुत्र ! जिनका गृह लकापुरी में है, जो बसा, आंत और मास से पुष्ट होते हैं और जो रक्त-पान कर चुके हैं, उन राक्षसों से मनुष्य डर जाता है ।

६३८ असह्य एव भयानक विरह अकेला ही प्रोपितपतिकाओं को मार डालता है । तो फिर क्या भ्रमरो को लेकर चैत के साथ आया हुआ फागुन नहीं मारेगा ? ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ—दुर्निवार्य भीमसेन रथहीन होने पर भी गजपतियों (गजारोहियों या श्रेष्ठ गजों) को अकेले मार डालता है । तो फिर क्या कृष्ण के साथ आया हुआ अर्जुन नहीं मारेगा ?

६३९. (सोचा था) आंगन में बढ़ता हुआ आम सहारा होगा, परन्तु वसन्त मास आने पर वह बसा, आंत और मास को सुखा रहा है ॥ १० ॥ (आम की मजरियों से विरहोद्दीपन होता है)

\*६४०. हे कीकर<sup>२</sup> ! कण्टको को घवलता और शाखाओं को श्यामता (मलिनता) प्रदान करते हुए अनुचित (कार्य) मत करो अर्थात् दुष्टों का हित और सज्जनों का अहित मत करो क्योंकि तुम दोनों कटको और शाखाओं के आश्रय (आलय) कहे गये हो ॥ ११ ॥

१ यह गाथा कौतूहलकृत लीलावर्द्ध में भी पाई जाती है । समवत वही से संगृहीत हुई हो ।

२. बबूल की जाति का वृक्ष ।

\* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य ।

- \*६४१ मा रज्ज सुहजणए सोहजणए य दिट्ठमत्तम्मि ।  
भज्जिहिसिय साहसिया सा हसिया सव्वलोएण ॥१२॥  
मा रज्ज्य शुभजनके शोभाज्जनके च दृष्टमात्रे ।  
भङ्गस्यस इति साहसिका सा हमिता सर्वलोकेन ॥

६७ गिम्हवज्जा [ग्रीष्मपद्धति]

- ६४२ अवरेण तवइ सूरो सूरेण य ताविया तवइ रेणू ।  
सूरेणपरेण पुणो दोहिं पि हु ताविया पुहवी ॥१॥  
अपरेण तपति सूर्यं सूर्येण च तापिता तपति रेणु ।  
सूर्येणापरेण पुनर्द्वाभ्यामपि खलु तापिता पृथिवी ॥
- ६४३ गिम्हे दवग्गिमसिमइलियाइ दीसति विंझसिहराइ ।  
आससु पउत्थवइए न हुति नवपाउसब्भाइ ॥२॥  
ग्रीष्मे दवाग्निमपोमलिनीकृतानि दृश्यन्ते विन्ध्यशिखराणि ।  
आश्वसिहि प्रोपितपतिके न भवन्ति नवप्रावृडभ्राणि ॥
- ६४४ डहिऊण निरवसेस ससावय सुक्खरुक्खमारूढो ।  
किं सेस ति दवग्गी पुणो वि रण्ण पलांएइ ॥३॥  
दग्ध्वा निरवशेष सञ्चापद शुष्कवृक्षमारूढ ।  
किं शेषमिति दवाग्नि पुनरप्यरण्य प्रलोकयति ॥
- \*६४५. मूलाहितो साहाण निग्गमो होइ सयलरुक्खाण ।  
साहाहि मूलवधो जेहि कओ ते तरु घन्ना ॥४॥  
मूलेभ्य शाखाना निर्गमो भवति सकलवृक्षाणाम् ।  
शाखाभिर्मूलबन्धो ये कृतस्ते तरवो घन्या ॥

६८ पाउसवज्जा [प्रावृट्पद्धति]

- ६४६ भग्गो गिम्हप्पमरो मेहा गज्जति लद्धसमाणा ।  
मोरेहि वि उग्घट्ट पाउसराया चिर जयउ ॥१॥  
भग्नो ग्रीष्मप्रमरो मेघा गर्जन्ति लघ्नसमाना ।  
मयूरैरप्युदघुष्टं प्रावृट्प्राजश्चिर जयतु ॥



\*६४१. सरलता से टूट जाने वाले (या सुख उत्पन्न करने वाले) सहिजन को देखते ही प्रसन्न मत हो जाओ, (गिरकर) टूट जाओगो—इस प्रकार शाखा पर आश्रित (टाल पर चढ़ी) तटणी सब लोगों के द्वारा हँसी गई ॥ १२ ॥

द्वितीयायं—“इस प्रिय दर्शन और अस्त्यस्प्रणय तटण को देखते ही अनुरक्त मत हो जाओ, निराश्र होना पड़ेगा”—इस प्रकार तटणी लोगों के द्वारा हँसी गई ।

### ६७—गिम्ह-वज्जा (ग्रीष्म-पद्धति)

६४२. ग्रीष्म से सूर्य तप रहा है और सूर्य से रेणु तप रही है । फिर सूर्य और ग्रीष्म (या उत्तरायण) दोनों से पृथ्वी तप गई है ॥ १ ॥

६४३. ग्रीष्म में द्वाग्नि की मसि से मलिन बिन्ध्य के बाहर दिखाई दे रहे हैं, प्रोपितपतिके । आश्वस्त हो जाओ, ये वर्षाकाल के नवीन मेघ नहीं हैं ॥ २ ॥

६४४. जन्तुओं के साथ सपूर्ण वन को जला कर अग्नि शुष्कवृक्ष पर चढ़ गई । मानों फिर वह देख रही है कि अभी क्या शेष रह गया है ॥ ३ ॥

\*६४५. सभी वृक्षों की शाखाएँ जड़ों से निकलती हैं, जिन्होंने शाखाओं से ही जड़ें पकड़ी हैं, वे वृक्ष (वरगद) धन्य हैं ॥ ४ ॥

### ६८—पावसवज्जा (प्रायूट्-पद्धति = वर्षा-प्रकरण)

६४६. ग्रीष्म का प्रसार समाप्त हो गया, मेघ सम्मान पाकर गरज रहे हैं, मयूर भी मुखर हो उठे हैं । पावस-रूपी राजा की जय हो ॥ १ ॥

१. प्रो० पटवर्धन ने लिखा है (दक्षिण, भूमिका, पृ० १० की अंग्रेजी पाद-टिप्पणी) कि यह गद्या उचित प्रकरण में नहीं रखी गई है । इसका उचित स्थान वज्रवज्जा में है । यदि इसे ग्रीष्मावृत्त-उत्तर पथिक की सामिलापोति मानकर सोचें तो यह अपन ही स्थान पर प्रतीत होगी । ग्रीष्म में वरगद की मघन छाया में पथिकों की सुल मिलना है । रत्न-देव ने ‘वे वृक्ष’ का अर्थ अग्नि किया है । वह भी अपनी शिलाओं (शाखाओं) से दूसरी जगह जड़ बाँध लेती है ।

- विशेष विवरण परिशिष्ट ‘स’ में द्रष्टव्य ।

- ६४७ कक्खायपिगन्च्छो कसणगो चडुलविज्जुजीहालो ।  
पहियघरिणीइ दिट्ठो मेहो उक्कापिसाओ व्व ॥२॥  
कषायपिङ्गलाक्षः कृष्णाङ्गश्चटुलविद्युज्जिह्वः ।  
पथिकगृहिण्या दृष्टो मेघ उत्कापिशाच इव ॥
- ६४८ गज्जति घणा भग्ना य पथया पसरियाउ सरियाओ ।  
अज्ज वि उज्जुयसीले पियस्स पथ पलोएसि ॥३॥  
गजन्ति घना भग्नाश्च पन्थान प्रसृता सरित् ।  
अद्यापि ऋजुशीले प्रियस्य पन्थान प्रलोकयति ॥
- ६४९ अणुक्षिज्जिरीउ आलोइऊण पहियस्स पहियजायाओ ।  
धारामोक्खणिहेण मेहाण गलति असूणि ॥४॥  
अनुक्षयणशीला आलोक्य पथिकस्य पथिकजाया ।  
धारामोक्षनिभेन मेघाना गलन्त्यधूणि ॥
- ६५० उच्च उच्चाविकधरेण भणिय व पाउसे सिहिणा ।  
के के इमे पउत्था मोत्तूण घरेसु घरिणीओ ॥५॥  
उच्चैश्चवीकृतकन्धरेण भणितमिव प्रावृत्काले शिखिना ।  
के क इमे प्रोपिता भुक्त्वा गृहेषु गृहिणी ॥
- ६५१ जा नीलजलहरोदार गज्जिए मरइ नेय तुह जाया ।  
ता पहिय तुरियतुरिय वह वह उल्लवइ कलकठी ॥६॥  
पापनीलजलधरोदारगजिते म्रियते नैव तव जाया ।  
तावत्पथिक त्वरितत्वरित वह वहेत्युल्लपति कलकण्ठी ॥
- ६५२ अमुणियपयसचारा दोसति भयंकरा भुयग व्व ।  
विसविसमा दुल्लंघा मेहा महिमडले लग्गा ॥७॥  
अज्ञानपदसंचारा दृश्यन्ते भयङ्करा भुजङ्गा इव ।  
विषविषमा दुलङ्घ्या मेघा महामण्डले लग्ना ॥

६४७. जिसका वर्ण कपाय, पिंगल और स्वच्छ (उज्ज्वल) था, जिसके अङ्ग कृष्ण थे, और जो जिह्वा के समान चपला से युक्त था, उस मेघ को पथिक प्रिया ने ऐसे उत्का पिशाच के समान देखा, जिसके नेत्र कपाय और पिंगल वर्ण के थे, जिसकी जिह्वा विद्युत् के समान चंचल थी और जिसके अंग कृष्ण थे ॥ २ ॥

६४८. मेघ गरज रहे हैं, मार्ग खण्डित हो चुके हैं, मरितायें दूर-दूर तक फैल गई हैं। अरी सरले! अब भी प्रियतम का पथ देख रही हो! (अब वह कैसे आ पायेगा?) ॥ ३ ॥

६४९. पथिक के ध्यान में डूबी हुई प्रोषित-पतिकाओं (पति-स्यचाओं) को देख कर वर्षा की धारा के व्याज से मेघों के नयनों से भी आंसू टपक रहे हैं ॥ ४ ॥

६५०. प्रावृट् (वर्षा) में अपनी शीवा उत्तत करके मानो मयूर ने कहा है कि ये कौन-कौन ऐसे लोग हैं जो अपनी पत्नियों को घर में छोड़कर प्रवास में हैं ॥ ५ ॥

६५१. अरे बटोही! कलकण्ठी (कोयल) कह रही है कि जब तक तुम्हारी प्रिया श्यामल मेघों की गम्भीर गर्जना से मर नहीं जानी, उसके पूर्व ही घर जाओ, जाओ ॥ ६ ॥

६५२. जिनकी जल-संचालन-क्रिया अज्ञान है, जो जल (विप) से विषम (ऊँचे-नीचे या स्थूल) हैं और जिनके निकट नहीं पहुँचा जा सकता, वे भूमण्डल के निकट आ गये मेघ, ऐसे भयकर भुजङ्ग के समान दिखाई देते हैं, जिनका पद-संचालन (पैर चलाना, पैर रखना या पैरों से चलना) अज्ञात है, जो विप के कारण भयानक हैं, जिनका उल्लंघन करना कठिन है और जो पृथ्वी से चिपके रहते हैं ॥ ७ ॥

## ६९ सरयवज्जा [शरत्पद्धति]

६५३ सुसइ व पक न वहति निज्झरा वरहिणो न नच्चति ।  
तणुआयति नईओ अत्थमिण पाउसणरिदे ॥१॥  
शुष्यतीव पङ्को न वहन्ति निज्झरा, वरहिणो न नृत्यन्ति ।  
तनूभवन्ति नद्योऽस्तमिते प्रावृट्कालनरेन्द्रे ॥

६५४ उयह तरुकोडराओ गच्छती पूसयाण रिछोली ।  
सरए जरिओ व्व दुमो पित्त व सलोहिय वमइ ॥२॥  
पश्यत तरुकोटराद्गच्छन्तो शुक्राना पङ्क्ति ।  
शरदि ज्वरित इव द्रुम पित्तमिव सलोहित वमति ॥

## ७० हेमन्तवज्जा [हेमन्तपद्धति]

\*६५५ जाणिज्जइ न उ पियमप्पिय पि लोयाण तम्मि हेमते ।  
सुयणसमागम वग्गो निच्च निच्च सुहावेइ ॥१॥  
ज्ञायते न तु प्रियमप्रियमपि लोकाना तस्मिन्हेमन्ते ।  
सुजनसमागम इवाग्निनित्य नित्य सुखयति ॥

## ७१ सिसिरवज्जा [शिशिरपद्धति]

\*६५६ डज्झतु सिसिरदियहा पियमप्पिय जणो वहइ ।  
दहवयणस्स व हियए सीयायवणक्खओ जाओ ॥१॥  
दहान्ता शिशिरदिवसा प्रियमप्रिय जनो वहति ।  
दशवदनस्येव हृदये सीतातपनक्षयो जात ॥

\*६५७ अवधूयअलम्बणधूसराउ दीसति फस्सलुक्खाओ ।  
उय सिसिरवायलइया अलम्बणा दीणपुरिस व्व ॥२॥  
अवधूताल्लक्षणधूमरा दृश्यन्त परस्परस्था ।  
पश्य शिशिरवानगृहीता अलम्बणा दोनपुरुषा इव ॥

६५८ चाराण कामुयाण य पामरपहियाण कुक्कुडो रडइ ।  
रे पण्ह रमह वाहयह वहह तणुइज्जए रयणी ॥३॥  
चौरणा कामुकाना पामरपयिकाना च कुक्कुटो रटति ।  
रे पण्यध्वं, रमध्व वाहयन् वन्त तनूभवन्ति रजनी ॥

### ६९—सरय-वज्जा (शरत्पद्धति)

६५३—पावम-रूपी राजा के अमन हो जाने पर मानो (शोक से) पक सूख गया है, झरने नहीं बह रहे हैं, मयूर नृत्य नहीं करते हैं और नदियाँ वृक्ष होनी जा रही हैं ॥ १ ॥

६५४ वृक्ष के कोटर से (निकल कर) जानो हुई, नर युक्तों की पक्षि देवों । ऐसा लगता है, जैसे शरद् में वृक्ष ज्वर-ग्रस्त होकर रक्त-मिश्रित पित्त का वमन कर रहा हो ॥ २ ॥

### ७०—हेमन्त-वज्जा (हेमन्त-पद्धति)

\*६५५. उम हेमन्त में लोगों को प्रिय और अप्रिय का भी पना नहीं रहता है । आग सज्जनों के समागम के समान प्रतिदिन सुख देती है ॥ १ ॥

### ७१—सितिरवज्जा (सिशिर-पद्धति)

\*६५६ सिशिर के दिन (समय) भस्म हो जायें । लग अवाष्टि पत्नी को भी बहन करते हैं । जैसे रावण के हृदय में सीता के वियोग से भय उत्पन्न हो गया था, वैसे ही शीत से आत्म का विनाश हो गया है ॥ १ ॥

\*६५७ देखो, प्रवृत्त, स्वरूप-शून्य, धूमर, परुष और रुक्ष हो जाने वाली, सिशिर-शोषित लतिकायें द्यम प्रकार श्री-हीन दिखाई देती हैं, जैसे सिशिर-वान-गृहीत (ठण्डो हवा से पीड़ित) दन्दिपुष्प वंषित, स्वरूप-शून्य, धूमर, परुष और रुक्ष होकर श्री-हीन दिखाई देना है ॥ २ ॥

६५८ चोरों, कामुकों, कृपकों और पयिकों से कुक्कुट कहता है—  
अरे भागो, रमण करो, खैन जानो और यात्रा करो, रात बीत रही है ।

\* विस्तृत विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य ।

## ७२. जरावज्जा [जरापद्धति]

- ६५९ ता घणरिद्धी ता सुदरत्तण ता वियडिडमा लोए ।  
जा तरुणीयणकडुयत्तणाइ न हु हुति पलियाइ ॥१॥  
तावद्धनद्धिस्तावत्सुन्दरत्वं तावद्विदग्धता लोके ।  
यावत्तरुणीजनकटुकत्वानि न खलु भवन्ति पलितानि ॥
- ६६० न तहा लोयम्मि कडक्खियम्मि न हु जपिय तह च्वेय ।  
जह जह तरुणीयणलोयणेसु सीसे पडत्ताण ॥२॥  
न तथा लोके कटाक्षिते न खलु जल्पितं तथैव ।  
यथा यथा तरुणीजनलोचनेषु शीर्षे पतत्सु ॥
- ६६१ रमिय जहिच्छियाए धूलीधवलम्मि गाममज्झम्मि ।  
डिभत्तणस्स दियहा य ण कया जरयदियह व्व ॥३॥  
रमित्तं यथेप्पित्तं धूलीधवले ग्राममध्ये ।  
डिम्भत्वस्य दिवसाश्च ननु कृता जरादिवसा इव ॥
- \*६६२ सकुइयकपिरगो ससकिरो दिन्नसयलपयमगो ।  
पलियाण लज्जमानो न गणेइ अइत्तए दिन्न ॥४॥  
सकुचितकम्पनशीलाङ्गं शङ्कनशीलो दत्तसकलपदमार्गः ।  
पलितेभ्यो लज्जमानो न गणयति अतोते दत्तम् ॥
- \*६६३ वम्महभक्खणदिव्वोसहीइ अग च कुणइ जरराओ ।  
वेच्छह निट्ठुरहियओ एण्हि सेवेइ त कामो ॥५॥  
मन्मथभक्षणदिव्योपध्याङ्गं च करोति जरा राजः ।  
प्रेक्षध्वं निष्ठुरहृदय इदानीं सेवते तं कामः ॥
६६४. उज्जसु विसय परिहरमु दुक्कय कुणसु नियमणे घम्म ।  
ठाळण कण्णमूले इट्ठु मिट्ठु व पलिएण ॥६॥  
उज्जं विषयं परिहर दुष्कृतं कुरु निजमनसि धर्मम् ।  
स्वित्वा कर्णमूलं इष्टं कथिनमिव पलितेन ॥

### ७२—जरावृद्धा (जरा-पद्धति)

६५९. तभी तक घन और ऋद्धि है, तभी तक सुन्दरता है और ससार में तभी तक विदग्धता है, जब तक तरुणियों को कटु लगने वाले श्वेत-केश नहीं हैं ॥ १ ॥

६६०. जब तरुणियों की आँखें श्वेत बालों वाले शिर पर पड़ती हैं, तब जैसा लगता है, वैसा न तो छोड़ो के कटाक्ष करने पर अनुभव होता है, और न व्याघ्रपूर्ण वचनो से ॥ २ ॥

६६१. घूलि-धवल गाँव के बीच में हम इच्छा भर रमण करते रहे (खेलते रहे) और शैशव के दिनों को बुढ़ापे का दिन बना दिया ॥ ३ ॥

\*६६२. नायिका की वृद्धावस्था में उसकी सहेली कह रही है कि अरी ! देख, तेरा पुराना प्रणयी तेरे दिये हुए गुणों का अभ्यास कर रहा है । जीवन में उत्कट प्रणयावेग से तेरे गृह में रमणार्थ आने पर जो सिकुड़ा-सिकुड़ा-सा रहता था एवं जिमके अङ्ग भी कठिन परिस्थिति में काँप उठने थे, जो कुत्तो से डरता रहता था (कि कहो भूँकने न लगे) तथा सभी (सुगम या दुर्गम) स्थानों पर मार्ग बनाया करता था (क्योंकि प्रणयी दुर्गम स्थानों में भी राह ढूँढ लेता है), वही वृद्धावस्था में श्वेत बालों से लज्जाना हुआ, तेरे दिये हुए (सिखाये हुए) गुणों का अभ्यास कर रहा है क्योंकि अब अङ्गा में झुर्रियाँ (सिकुड़न) पड़ गई हैं और वे काँपने लगे हैं, उसे अपने कुटुम्बियों पर शंका होने लगे है तथा मार्ग में लड़खड़ाता-पैर रखता है ॥ ४ ॥

\*६६३ देखो काम हो जिमका दिव्य भोजन है (या जो काम का दिव्य भक्षण है), वह निष्ठुर-हृदय वार्षक्य रूपी ज्वरराज, सखी के अग को सिकोड़ रहा है (उत में झुर्रियाँ पड़ रही हैं या वे झुकते जा रहे हैं) । इस समय भी कामदेव उस (सखी) की सेवा कर रहा है ।

६६४ जरा (वृद्धावस्था) ने कानों के निकट स्थित होकर (श्वेत बालों के हम में) मानो इष्ट कर्तव्य का उपदेश दिया है—“विषय त्यागो, दुष्कर्म छोड़ो अपने मन में धर्म धारण करो ॥ ६ ॥

६६५. जीय जलविदुसम उप्पज्जइ जोव्वण सह जराए ।  
 दियहा दियहेहि समा न हुति कि निट्ठुरो लोओ ॥७॥  
 जीवित जलविन्दुसममुत्पद्यते यौवन सह जराया ।  
 दिवसा दिवसे समा न भवन्ति, किं निष्ठुरो लोक ॥
- ६६६ वरिससय नरआऊ तस्स वि अद्वेण हुति राईओ ।  
 अद्वस्स य अद्वयर हरइ जरा बालभावो य ॥८॥  
 वर्षंशत नरायुस्तस्याप्यर्धेन भवन्ति रात्रयः ।  
 अर्धस्य चार्धंतर हरति जरा बालभावश्च ॥
- ६६७ को एत्थ सया सुहिओ कस्स व लच्छी थिराइ पेम्माइ ।  
 कस्स व न होइ पलिय भण को न हु खडिओ विहिणा ॥९॥  
 कोऽत्र सदा सुखित कस्य वा लक्ष्मी स्थिराणि प्रेमाणि ।  
 कस्य वा न भवति पलित भण को न खलु खण्डितो विधिना ॥

### ७३ महिलावज्जा [महिलापद्धति]

६६८. गहचरिय देवचरिय ताराचरिय चराचरे चरिय ।  
 जाणति सयलचरिय महिलाचरिय न याणति ॥१॥  
 ग्रहचरित देवचरित ताराचरित चराचरे चरितम् ।  
 जानन्ति सकलचरितं महिलाचरितं न जानन्ति ॥
- ६६९ बहुकूडकवडभरिया मायारूवेण रजए हियय ।  
 महिलाए सवभाव अज्ज वि बहवो न याणति ॥२॥  
 बहुकूटकपटभृता मायारूपेण रञ्जयति हृदयम् ।  
 महिलायाः सद्भावमद्यापि बहवो न जानन्ति ॥
६७०. घेप्पइ मच्छाण पए आयासे पस्सिणो य पयमगो ।  
 एक्क नजरि न घेप्पइ दुल्लक्ख कामिणीहियय ॥३॥  
 गृह्यते मत्स्याना पयस्यावासे पक्षिणश्च पदमार्गः ।  
 एवं केवलं न गृह्यते दुर्लभ्य कामिनो हृदयम् ॥



६६५ जीवन जलविन्दु के समान मंगुर है यौवन जरा के साथ उत्पन्न होता है, सभी दिन समान नहीं रहते, लोक (मसार-वक्र) कैसा निपटुर है ? ॥ ७ ॥

६६६ मनुष्य को आयु सौ वर्ष है । उसके भी आधे भाग में रातें होती हैं । आधे का आधा जरा और शेषव से लेते हैं ॥ ८ ॥

६६७ इस लोक में कौन सदा सुखी रहा अथवा किसके धन और प्रेम स्थिर रहे, किमके बाल नहीं श्वेत हुये और वटाइये विधाता ने किसे नहीं खण्डित किया ॥ ९ ॥

### ७३—महिलावज्जा (महिला-वदति)

६६८ (लोग) ग्रह-चरित्र, देव-चरित्र, तारा-चरित्र और चण्ड तथा अचल सब चरित्र जानते हैं, परन्तु महिला-चरित्र नहीं जानते ॥ १ ॥

६६९ महिलायें छलछद्म से भरी रहती हैं, मादुरूप से हृदय को रजित कर देती हैं, उनके सत्य स्वभाव को आज नव बहून लोग नहीं जानते हैं ॥ २ ॥

७४ पुव्वकयकम्मवज्जा [पूर्वकृतकर्मपद्धतिः]

६७१. इह लोए च्चिय दीसइ सग्गो नरओ य किं परत्तेण ।  
घणविलसियाण सग्गो नरओ दालिद्वियजणाण ॥१॥

इह लोक एव दृश्यते स्वर्गो नरकश्च किं परलोकेन ।  
घनविलसिताना स्वर्गो नरको दरिद्रजनानाम् ॥

६७२ विहडति सुया विहडति बधवा विहडेइ सच्चिओ अत्थो ।  
एक्क नवरि न विहडइ नरस्स पुव्वकय कम्मं ॥२॥  
विघटन्ते सुता विघटन्ते बान्धवा विघटते सच्चितोऽर्थ ।  
एकं केवल न विघटते नरस्य पूर्वकृत कर्म ॥

\*६७३ अवहरइ ज न विहिय ज विहिय त पुणो न नासेइ ।  
अइणिउणो नवरि विही सित्थ पि न वडिडउं देइ ॥३॥  
अपहरति यन्न विहित यदिहित तत्पुनर्न नाशयति ।  
अतिनिपुणः केवल विधिः सिक्थमपि न वर्धितुं ददाति ॥

६७४ ज चिय विहिणा लिहिय त चिय परिणमइ सयललोयस्स ।  
इय जाणिऊण धीरा विहुरे वि न कायरा हुति ॥४॥  
यदेव विधिना लिखित तदेव परिणमति सकललोकस्य ।  
इति ज्ञात्वा धीरा विधुरेऽपि न कातरा भवन्ति ॥

६७५. पाविज्जइ जत्थ सुह पाविज्जइ मरणवंधण जत्थ ।  
तेण तहि चिय निज्जइ नियकम्मगलत्थिओ जीवो ॥५॥  
प्राप्यते यत्र सुख प्राप्यते मरणबन्धनं यत्र ।  
तेन तत्रैव नीयते निजबन्धनगलहस्तितो जीवः ॥

६७६ ता किं भएण किं चित्तिएण किं जूरिएण बहुएण ।  
जइ सो च्चेव वियभइ पुव्वज्जओ पुण्णपरिणामो ॥६॥  
तत् किं भवेन किं चिन्तिनेन किं सिद्धेन बहुना ।  
यदि म एव विजृम्भने पूर्वकृत पुण्यपरिणामः ॥

७४—पुण्यकर्मवज्रा (पूर्वकृत-कर्म-पद्धति)

६७१ इस लोक में ही स्वर्ग और नरक (दोनों) देखे जाते हैं, परलोक से क्या ? धन से सुख भोगने वालों को स्वर्ग है और दरिद्रों को नरक ॥ १ ॥

६७२. पुनः साय छोड़ देते हैं, बान्धव साय छोड़ देते हैं और सचित्त धन भी साय छोड़ देता है । केवल अकेला पूर्वकृत-कर्म ही मनुष्य का साय नहीं छोड़ता है ॥ २ ॥

\*६७३ जो पूर्व-निर्धारित नहीं है, उसे हर सेता है (प्राप्त नहीं होने देता), जो निर्धारित है, उसे नष्ट नहीं करता (सँजोये रहता है), भाग्य ही (मनुष्यों को उनका प्राप्य देने में) अति निपुण है, एक कण भी बढ़ने नहीं देता ॥ ३ ॥

६७४. विधाता ने जो लिखा है, वही सब लोगों को फलित होता है (प्राप्त होना है)—यह जान कर धीर पुरुष सकट में भी कातर नहीं होते ॥ ४ ॥

६७५. इस जीव को जहाँ सुख मिलना है और जहाँ मरना है—अपना कर्म—उसे गला पकड़ कर वही ले जाता है ॥ ५ ॥

६७६ यदि वही पूर्वकृत पुण्यकर्म का परिणाम ही प्रकट होता है, तो भय, चिन्ता, और अधिक सन्ताप करने से क्या लाभ ? ॥ ६ ॥

\* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य ।

६७७ को दाऊण समत्थो को वा हरिऊण जस्स ज विहिय ।  
परिणमइ फल पुत्तय पुब्बवक्कम्माणुसारेण ॥७॥  
को दातु समथं को वा हतुं यस्य यदिहितम् ।  
परिणमति फल पुनक पूर्वकर्मानुसारेण ॥

७५ ठाणवज्जा [स्थानपद्धति]

- ६७८ रायगणम्मि परिसठियस्स जह कुजरस्स माहप्प ।  
विंशसिहरम्मि न तहा ठाणेषु गुणा विसट्ठति ॥१॥  
राजाङ्गणे परिसस्थिनस्य यथा कुञ्जरस्य माहात्म्यम् ।  
विन्ध्यशिखरे न तथा स्थानेषु गुणा प्रसरन्ति ॥
- ६७९ अज्झाकवोलपरिसठियस्स जह चदणस्स माहप्प ।  
मलयसिहरे वि न तहा ठाणेषु गुणा विसट्ठति ॥२॥  
प्रौढयुवतिकपोलपरिसस्थितस्य यथा चन्दनस्य माहात्म्यम् ।  
मलयशिखरेऽपि न तथा स्थानेषु गुणा प्रसरन्ति ॥
- ६८० वरतरुणिणयणपरिसठियस्स जह कज्जलस्स माहप्प ।  
दीवसिहरे वि न तहा ठाणेषु गुणा विसट्ठति ॥३॥  
वरतरुणीनयनपरिसस्थितस्य यथा कज्जलस्य माहात्म्यम् ।  
दीपशिखरेऽपि न तथा स्थानेषु गुणा प्रसरन्ति ॥
- \*६८१ केसाण दतणहठक्कुराण बहुयाण बहुयणे तह य ।  
धणयाण ठाणचुक्काण मामि को आयर कुणइ ॥४॥  
केशाना दन्तनखठक्कुराणा वधूकाना वधूजने तथा च ।  
स्तनाना स्थानभ्रष्टाना सखि क आदरं करोति ॥
- ६८२ ठाण न मुयइ धीरो ठक्कुरसघस्स दुट्ठवग्गस्स ।  
ठन पि देइ जुज्झ ठाणे ठाणे जस लहइ ॥५॥  
स्थानं न मुञ्चति धीरष्ठक्कुरसघस्य दुष्टवर्गस्य ।  
तिष्ठदपि ददाति युद्ध स्थाने स्थाने यशो लभते ॥

६७७. कौन देने में समर्थ है या कौन लेने में । वेटा ! पूर्वकर्मानुसार जिसके भाग्य में जो फल विहित है, वही प्राप्त होता है (परिणत होता है) ॥ ७ ॥

### ७५—ठाणवज्जा (स्यान-पद्धति)

६७८. राजाओं के प्रागणों में स्थित होने पर गजराजों को जो महत्त्व प्राप्त होता है, वह विन्ध्य के शिखर पर नहीं । गुण उन्नित स्थानों पर ही विकसित होते हैं ॥ १ ॥

६७९. युवती (या नववधू) के कपोल पर स्थित होने पर चन्दन को जो महत्त्व प्राप्त होता है, वह मलयपर्वत के शिखर पर नहीं । उचित स्थानों पर ही गुण विकसित होते हैं ॥ २ ॥

६८०. श्रेष्ठतरुणियों के नेत्रों में स्थित होने पर काजल<sup>१</sup> को जो महत्त्व मिलता है, वह दीपक की शिखा पर भी नहीं । गुणों का विस्तार उचित स्थान पर ही होता है ॥ ३ ॥

\*६८१. सखि ! केश, दांत, नख, ठाकुर (क्षत्रिय या ग्रामपति) और घघूटियों के स्तन जब स्थान-व्युत्त हो जाते हैं, तब जनसमूह (बहुजन) में कौन उनका आदर करता ॥ ४ ॥

६८२. धीर पुरुष दुष्ट साथियों वाले राजपूत-समूह को ठहरने<sup>२</sup> नहीं देता है । जब युद्ध छिड़ता है, तब लड़ता है और स्थान-स्थान पर यश प्राप्त करता है ॥ ५ ॥

१. नंदा के सिंगार बजरवा, मुँह के कबखि होय ।

—सर्वमंगला, द्वितीय सर्ग

२. मथवा अपना स्थान नहीं समर्पित करता । मूल में 'ठक्कुर सघस्त' में बनादरायक पद्य मानना बहुत आवश्यक नहीं है ।

\* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य ।

\*६८३ गहियविमुक्ता तेय जणति सामाइणो नरिदाण ।  
दडो तह च्चिय द्विय आमूल हणइ टकारो ॥६॥

गृहीतविमुक्तास्तजो जनयन्ति सामाजिका नरेन्द्राणाम् ।  
दण्डस्तथैव स्थित आमूल हन्ति टण्टकारः ॥

६८४ उयहिवडवाणलाण परोप्परुह्वणसोसणमणाण ।  
अमुणियमज्झपजलणाणवइयरो जिणइ जियलोए ॥७॥  
उदधिवडवानलयो परस्परनिर्वापणशोपणमनसो ।  
अज्ञातमव्यप्रज्वलनयव्यतिकरो जयति जीवलोके ॥

७६ गुणवज्जा [गुणपद्धति]

६८५ जइ नत्थि गुणा ता किं कुलेण गुणिणो कुलेण न हु कज्ज ।  
कुलमकलक गुणवज्जियाण गरुय चिय कलकं ॥१॥

यदि न सन्ति गुणास्तत् किं कुलेन, गुणिन कुलेन न खलु कार्यम् ।  
कुलमकलङ्क गुणवर्जिताना गुरुक एव कलङ्कः ॥

६८६ गुणहीणा जे पुरिसा कुलेण गव्व वहति ते मूढा ।  
वसुप्पन्नो वि धणू गुणरहिए नत्थि टकारो ॥२॥

गुणहीना य पुरुषा कुम्भं गवं वहन्ति ते मूढा ।  
वशात्पन्नमपि धनु गुणरहित नास्ति टण्टकारः ॥

६८७ जम्मतर न गरुय गरुय पुरिसस्स गुणगणारुहण ।  
मुत्ताहल हि गरुय न हु गरुय सिप्पिसपुडय ॥३॥

जन्मान्तर न गुरु गुरु पुरुषस्य गुणगणारोहणम् ।  
मुक्ताफलं हि गुरु न खलु गुरु शुचिसपुटकम् ॥

६८८ खरफस्स मिप्पिउड रयण त होइ ज अणग्घेय ।  
जाईइ मि व किञ्चइ गुणेहि दोसा फुसिज्जति ॥४॥

खरफस्य शुचिपुट रत्न तद्भवति यदनर्घ्यम् ।  
जात्या विमिव क्वियं गुणदोषा प्राञ्छयन्ते ॥

\*६८३. (अनुकूल अवसर और उचित स्थान पर) ग्रहण किये गये और छोड़ दिये गये सामाधि उपाय राजाओं के प्रभाव को उत्पन्न करते हैं। दण्ड उसी प्रकार स्थित रह जाता है (अर्थात् उसका प्रयोग ही नहीं होता), तेज ही शत्रु को आमूल नष्ट कर देता है, जैसे धनुर्दण्ड अपने स्थान पर ही रहता है, परन्तु उसकी टकार (ज्या शब्द) ही शत्रुओं को मूलसमेत मार डालती है ॥ ६ ॥

६८४. समुद्र बड़वानल को बुझाना चाहता है और बड़वानल समुद्र को सुखा डालना चाहता है। बड़वानल नहीं समझता कि मैं अपार समुद्र में प्रज्वलित हूँ (क्योंकि उसे असौम समुद्र की अपार जल-राशि से कुछ भी भय नहीं है) और समुद्र भी यह ध्यान नहीं देता कि मेरे मध्य में बड़वानल घषक रहा है (क्योंकि उसे अपनी अपार जलराशि के समक्ष बड़वानल नगण्य प्रतीत होता है)। अतः उन दोनों का सम्बन्ध ससार में सभी प्राणियों को जीत लेता है (उनके सम्बन्ध की तुलना नहीं है) ॥ ७ ॥

### ७६—गुणवज्रा (गुण-पद्धति)

६८५. यदि गुण नहीं, तो कुल से क्या? गुणवान् के कुल से क्या प्रयोजन? जो गुणहीन हैं, पवित्र कुल, उसके लिये भारी कलक ही है ॥ १ ॥

६८६. जो पुरुष गुणहीन होकर भी, कुल पर गर्व करते हैं, वे मूढ़ हैं। धनुष वश (उत्तम कुल और बाँस) में उत्पन्न होता है, फिर भी गुण-रहित (प्रत्यवा और गुण) होने पर टकार नहीं होती (उसका तेज नहीं प्रकट होता) ॥ २ ॥

६८७. मनुष्य को उत्तम कुल में जन्म लेने से नहीं, बहुत से गुणों को धारण करने से महत्त्व प्राप्त होता है। मुचाहल ही महान् होता है (बहु-मूल्य होता है), सीपी नहीं ॥ ३ ॥

६८८. शुक्ति-सम्पुट कितना पर्युप्त होता है, परन्तु उससे उत्पन्न होने वाला रत्न (मोती) अमूल्य होता है। जन्म से क्या होता है, गुणों से दीप मिट जाते हैं ॥ ४ ॥

६८९ ज जाणइ भणइ जणो गुणाण विहवाण अतर मरुत्ता ।  
लभइ गुणेहि विहवो विहवेहि गुणा न धेप्पति ॥५॥

यज्जानाति भणति जनो गुणाना विमवानामन्तर गुरुकम् ।  
रन्त्यते गुणेविमवो विमवेगुणा न गृह्यन्ते ॥

६९० ठाण गुणेहि लब्धइ ता गुणगहण अवस्स कायव्व ।  
हारो वि नेय पावइ गुणरहिओ तरुणियणवट्ट ॥६॥

स्थान गुणैर्लभ्यते तद्गुणग्रहणमवश्य कर्तव्यम् ।  
हारोऽपि नैव प्राप्नोति गुणरहितस्तरुणींस्तनपट्टम् ॥

६९१ पासपरिसिठिओ वि हु गुणहीणे किं करेइ गुणवत्तो ।  
जायघयस्स दोवो हत्यकओ निप्फलो च्चेय ॥७॥

पाशपरिमस्थितोऽपि खलु गुणहीने किं करोति गुणवान् ।  
जात्यन्धस्य दीपा हस्तकृतो निष्फल एव ॥

६९२ परलोयगयाण पि हु पच्छत्ताओ न ताण पुरिसाण ।  
जाण गुणुच्छाहेण जियति वसे समुप्पन्ना ॥८॥ •

परलोकगतानामपि खलु पश्चात्तापो न तेषा पुत्पाणाम् ।  
येषा गुणोत्साहेन जीवन्ति वसे समुत्पन्ना ॥

७७ गुणणिदावज्जा [गुणनिन्दापद्धति]

\*६९३ मुत्ताहल व पट्टणो गुणिणो किं करइ वेहरहियस्स ।  
जत्थ न पविसइ सूई तत्थ गुणा बाहिर च्चेय ॥१॥

मुक्ताफलमिव प्रभोगुणिन किं करोति वेधरहितस्य ।  
यत्र न प्रविशति सूची तत्र गुणा बहिरेव ॥

६९४ पियकेत्तिमगमोमारिएण हारेण चित्थिय एय ।  
अवनररहिया गुणवत्तया वि दूरे धरिज्जति ॥२॥

प्रियकेत्तिमगमोन्सारितन हारेण चिन्तितमेतत् ।  
अवनररहिना गुणवन्ताऽपि दूर ध्रियन्ते ॥



६८९. गुणो और वैभवो के बीच के भारी अन्तर को जो लोग जानते हैं, उसे कहते हैं—गुणो मे वैभव (ऐश्वर्य या धन) मिल सकता है, परन्तु वैभवो से गुण नहीं मिल सकते ॥ ५ ॥

६९०. स्थान गुणो से मिलता है, अतः गुण अवश्य ग्रहण करना चाहिये । हार भी गुणरहित (सूत्रहीन) होने पर तरणियों के स्तन-पृष्ठ पर स्थान नहीं पाता ॥ ६ ॥

६९१. गुणवान् पार्वं में स्थित होने पर भी गुणहीन का क्या उपकार कर सकता है ? जन्मान्ध के हाथ में दिया हुआ दीपक निष्फल ही है ॥ ७ ॥

६९२. जिनके गुणो के बल से वंश मे उत्पन्न होने वाले लोग जीवित रहते हैं, व सत्पुरुष परलोक चले जाते हैं, तब भी परचात्ताप नहीं होना ॥ ८ ॥

### ७७—गुणनिन्दावज्जा (गुणनिन्दा-पद्धति)

\*६९३. सेवक छिद्ररहित मुक्ताहल के समान उस गुणवान् प्रभु का क्या करे (अर्थात् उसकी कौन सी सेवा करे) जो उस (सेवक) के गुणा को भूल गया है (या जानता ही नहीं या जिस पर सेवक के गुणा का कोई प्रभाव ही नहीं पड़ता है) । जहाँ सूई का प्रवेश नहीं होता (अर्थात् छिद्ररहित मुक्ताहल में), वहाँ सूत (गुण) बाहर ही रह जाते हैं । अन्वय—जहाँ तालिका (पेहरिस्त) का प्रवेश नहीं होता (अर्थात् तालिका नहीं सामने लाई जाती), वहाँ गुण (अच्छाईयाँ) बाहर ही रह जाते हैं (उपक्षिप्त रह जाते हैं) ॥ १ ॥

६९४. जब प्रिय के साथ सगम-मीठा करते समय सुन्दरी ने अपना हार उतार दिया, तब उसने सोचा—अनवसर पर गुणवान् (सूत्रयुक्त और गुणयुक्त) भी दूर हटा दिये जाते हैं ॥ २ ॥

- \*६९५. ता निग्गुण च्चिय वर पटुणवलभेण जाण परिओसो ।  
 गुणिणो गुणाणुरुव फलमलहता किलिस्सति ॥३॥  
 तन्निगुणा एव वर प्रभुनवलम्भेन येषा परितोष. ।  
 गुणिनो गुणानुरूप फलमलभमाना क्लिश्यन्ति ॥
- ६९६ निग्गुण गुणेहि नियणिग्गुणत्तण देहि अम्ह सङ्कीए ।  
 कलिकाले कि कीरइ गुणेहि पटुणो न घेप्पति ॥४॥  
 निगुण गुणैर्निजनिगुणत्व देह्यस्मभ्य विनिमयेन ।  
 कलिकाले कि क्रियते गुणै प्रभवो न गृह्यन्ते ॥
- ६९७ सब्बतो वसइ धरा सति नरिदा गुणा वि अग्घति ।  
 ता कि सहति गुणिणो अणायर अत्थवताण ॥५॥  
 सर्वतो वसति धरा सन्ति नरेन्द्रा गुणा अप्यर्धन्ति ।  
 तत् कि सहन्ते गुणिनोऽनादरमयवताम् ॥
- ७८ गुणसलाहायज्जा [गुणश्लाघापद्धति ]
- ६९८ जस्स न गेण्हति गुणा सुयणा गोट्टोसु रणमुहे सुहडा ।  
 नियजणणिजोव्वणुल्लूरणेण कि तेण जाएण ॥१॥  
 यस्य न गृह्णन्ति गुणान् सुजना गोष्ठीषु रणमुखे सुमहा ।  
 निजजननीयौवनोच्छेदकेन कि तेन जातेन ॥
- \*६९९ किं तेण जाइएण वि पुरिसे पयपूरणे वि असमत्थे ।  
 जेण न जसेण भरिय सरि व्व भुवणतर सयल ॥२॥  
 किं तेन जातेनापि पुरुषेण पदपूरणेऽप्यसमर्थेन ।  
 येन न यशसा भूत सखिद्वद् भुवनान्तरं सवलम् ॥
- ७०० देसे गामे नयरे रायपहे तियचउक्कमग्गे वा ।  
 जस्म न पमरइ किन्ती चिरत्थु किं तेण जाएण ॥३॥  
 देसे ग्रामे नगरे राजपये त्रिवचतुष्पमार्गे वा ।  
 यस्य न प्रमरति कीर्तिधिगस्तु किं तेन जातेन ॥

\*६९५ तो निर्गुण (गुण-हीन) ही श्रेष्ठ हैं, जो प्रभु से नई उपलब्धि होने पर सन्तुष्ट हो जाते हैं। गुणीजन-गुणों के अनुरूप फल (पारितोषिक आदि लाभ) न पाते हुये क्लेश उठाते रहते हैं ॥ ३ ॥

६९६ हे निर्गुण ! मेरे गुणों के बदले अपनी निर्गुणता मुझे दे दो। गुणों से क्या होगा ? कलिकाल में उनसे स्वामी बशीभूत (गृहीत) नहीं होते हैं ॥ ४ ॥

६९७ वसुधा सर्वत्र है (विस्तृत है), राजा भी सर्वत्र हैं और गुण भी सर्वत्र पूज्य हैं, तो गुणीजन धनियों का अनादर क्यों सहते हैं ? ॥ ५ ॥

### ७८—गुणसलाहावज्जा (गुणश्लाघा-पद्धति)

६९८ जिसके गुणों की प्रशंसा गोष्ठियों में विद्वान् और रण के मोर्चे पर सुभट नहीं करते, अपनी जननी का यौवन नष्ट करने वाले उस कुपुत्र के जन्म लेने से क्या लाभ ? ॥ १ ॥

\*६९९ श्लोक का एक चरण भी पूर्ण करने में असमर्थ रहने वाले उस पुत्र के उत्पन्न होने से क्या लाभ है, जिसने सरिता के समान जगत् के विभिन्न भागों को यश से भर नहीं दिया ॥ २ ॥

७००. देश, ग्राम, नगर, राजपथ, तिराहो या चौराहो पर जिसकी कीर्ति नहीं फैलती, धिक्कार है, उसके जन्म लेने से क्या लाभ है ? ॥ ३ ॥

७०१. किं तेण आइएण व किं वा पसयच्छि तेण व गएण ।  
जस्म कए रणरणय नयरे न घराघर होइ ।  
किं तेनागतेन वा किं वा प्रसृताक्षि तेन वा गतेन ।  
यस्य कृते रणरणको नगरे न गृहे गृहे भवति ॥

७१ पुरिसिणिदावज्जा [पुरुषनिन्दापद्धति]

७०२ उड्ढ वच्चति अहो वयति मूलकुर व्व भुवणम्मि ।  
विज्जाहियए कत्तो कुलाहि पुरिसा समुप्पन्ना ॥१॥  
ऊर्ध्वं व्रजन्त्यधो व्रजन्ति मूलाङ्कुरा इव भुवने ।  
विद्याधिके कुत कुलात् पुरुषा समुत्पन्नाः ॥

७०३ नियकम्मोहि वि नीय उच्च पुरिसा लहति सठाण ।  
सुरमदिरकूवयरा उड्ढद्धमुहा य वच्चति ॥२॥  
निजकर्मभिरपि नीचमुच्च पुरुषा लभन्ते सस्थानम् ।  
सुरमन्दिरकूपकरा ऊर्ध्वाधोमुखाश्च व्रजन्ति ॥

७०४ एकम्मि कुले एकम्मि मदिरे एककुक्खिसभूया ।  
एक्को नरसयमामी अन्नो एकस्स असमत्थो ॥३॥  
एवास्मिन् कुल एकस्मिन् मन्दिर एककुक्षिसभूतो ।  
एवो नरसतस्वाम्यन्य एकस्यासमर्थः ॥

७०५ सज्जणमलाहणिज्जे पयम्मि अप्पा न ठाविओ जेहि ।  
सुसमत्था जे न परोवयारिणो तेहि वि न किं पि ॥४॥  
सज्जनश्लाघनीये पद आत्मा न स्थापितो ये ।  
सुसमर्था ये न परोपकारिण्यस्तेरपि न किमपि ॥

८० कमलवज्जा [कमलपद्धति]

७०६ हिट्ठकयकटयाण पयडियकोसाण मित्तसमुहाण ।  
मामि गुणवतयाण वह कमले वसठ न हु कमला ॥१॥  
अधकृतकष्टवाना प्रकटितवानाना मित्रममुखानाम् ।  
सन्नि गुणवता कथं वसते वसन्तु न सन्तु कमला ॥

७०१. हे मृगाक्षि ! उसके आने से क्या अथवा उसके चले जाने से ही क्या ? जिसके लिये नगर में घर-घर अधीरता न हो ॥ ४ ॥

### ७९—गुरितर्णिवा-वज्जा (पुष्य-निन्दा-पद्धति)

७०२. जैसे एक ही बीज से मूल और अंकुर, दोनों उत्पन्न होते हैं, मूल नीचे जाता है और अंकुर ऊपर को, वैसे ही ससार में दो पुष्य एक ही कुल में जन्म लेते हैं, परन्तु एक अधोगामी होता है और दूसरा उन्नति करता है ॥ १ ॥

७०३. अपने कर्म से ही मनुष्य उच्च और निम्न स्थान प्राप्त करता है । मन्दिर और कूप बनाने वाले क्रमशः ऊपर और नीचे भूँह करके चलते हैं ॥ २ ॥

७०४. एक ही कुल, एक ही गृह और एक ही कोश से उत्पन्न होने पर भी एक तो सैकड़ों मनुष्यों का स्वामी बनता है और अन्य एक व्यक्ति का भी भरण-पोषण करने में असमर्थ रहता है ॥ ३ ॥

७०५. जिन्होंने अपने को सज्जनों के द्वारा श्लाघ्य कर्म में नहीं लगाया, उन्होंने कुछ नहीं किया और समर्थ होकर भी जिन्होंने परोपकार नहीं किया, उनसे भी कुछ न हो पाया ॥ ४ ॥

### ८०—कमलवज्जा (कमल-पद्धति)

७०६. सखि ! जिन्होंने कटको (कांटे और दुर्बन्धों) को नीचे रखा (तिरस्कृत किया), कोश (कली और भण्डार) को प्रकट किया और जो मित्र (सूर्य और सुहृद्) के सम्मुख रहे, उन गुणवान् (गुणयुक्त और तन्तुयुक्त) कमलों में लक्ष्मी क्यों न बसे ॥ १ ॥

७०७ अन्नन्नलग्नकयपत्तपरियणे निहयगुरुजडाजाले ।  
 मित्रालोयणसुहिए कह कमले वसउ न हुकमला ॥२॥  
 अन्योन्यलग्नकृतपत्र(पात्र) परिजने निहतगुरुजडाजाले ।  
 मित्रालोकनसुखिते कथ कमले वसतु न खलु कमला ॥

७०८ पयडियकोसगुणड्ढे तह य कुलीणे सुपत्तपरिवारे ।  
 एवविहे वसती कमले कमले कयत्था सि ॥३॥  
 प्रकटितकोशगुणाढ्ये तथा च कुलीने सुपत्तपरिवारे ।  
 एवविधे वसन्ती कमले कमले कृतार्थासि ॥

७०९ जडसवाहियफरुसत्तणस्स निण्हवियणियगुणोहस्स ।  
 रे कमल तुज्झ कमला निवसइ रत्ताण पत्ताण ॥४॥  
 जडसवाहितपरुषत्वस्य निहृतगुणौघस्य ।  
 रे कमल तव कमला निवसति रत्ताना पत्राणाम् ॥

७१० जह पलहिगुणा परछिद्दछायणे तह नु कमल जइ तुज्झ ।  
 ता इह सयले लोए का उवमा तव ठविज्जति ॥५॥  
 यथा कर्पासगुणा परिच्छिद्दच्छादने तथा नु कमल यदि तव ।  
 तद् इह सकले लोके का उपमास्तव स्थाप्यन्ते ॥

८१ कमलर्णिदावज्जा [कमलनिन्दापद्धति]

७११ अलियालावे वियसत कमल कलिओ सि रायहसेहि ।  
 ता सुदर न होहो तुज्झ फल कालपरिणामे ॥१॥  
 अत्यालापे विवसत् कमल कलितमसि राजहसे ।  
 तत् सुन्दरं न भविष्यति तव फल कालपरिणामे ॥

७०७ जिसके पत्र (पंखड़ी) रूपो परिजन (पक्षान्तर मे, सुपात्र परिजन = सेवक या कुटुम्बी) परस्पर सलज्ज (सटे हुये और प्रेम में दौधे हुये) हैं, जिसने जड़ो के भारो जाल (समूह) को भूमि मे गाड़ (निखात = णिहय) दिया है (पक्षान्तर मे जिसने भूखो के कपट को नष्ट (निहत) कर दिया है) तथा जो मित्र (सूर्य और सृष्टि) को देखने से (मित्रो की देख-रेख मे) सुखी है, उस कमल मे लक्ष्मी क्यों न बसे ? ॥ २ ॥

७०८ जिसका कोश (कलो और भंडार) प्रकट है, जो गुणो (विसतन्तु और अच्छाइयो) से समृद्ध है, जो पृथ्वी पर स्थिति (कु + लोन) है (पक्षान्तर मे कुलोन है) और जो सुन्दर पत्रो से परिवेष्टित है (पक्षान्तर मे, जिसका परिवार सुपात्र है), ऐसे कमल मे रहने वाली लक्ष्मी ! तुम कृतार्थ हो गई हो ॥ ३ ॥

७०९ अरे कमल ! तुम ने अपनी कठोरता (कटक) जल मे डुबो दी है (जड़ो मे स्थानान्तरित कर दी है) और गुणो (तन्तुओ और अच्छाइयो) के समूह को छिपा दिया है । तुम्हारे इन रक्त (लाल और प्रेम-भरे) पत्रो (पंखडियो) मे लक्ष्मी निवास करती है ॥ ४ ॥

७१० हे कमल ! यदि कणस के गुणो (तन्तुओ या रेशो) के समान तुम्हारे गुण (तन्तु) भी परछिद्र<sup>१</sup> को छिपा सकते, तो सम्पूर्ण जगत् मे तुम्हारी किससे उपमा दी जाती ? ॥ ५ ॥

### ८१—कमलार्णवा-वज्रा (कमलनिन्दा-पद्धति)

७११. अलियो (भ्रमरो) के आलाप (गुजन) मे खिलने वाले कमल ! राजहंसो ने तुम्हे जान लिया है, तो तुम्हारा फल पकने पर सुन्दर नहीं होगा ॥ १ ॥

अन्वार्थ—मिथ्या वचनो के बीच प्रसन्न होने वाले कलङ्कार ! तुम्हे हंसो के समान राजाओ ने ग्रहण कर लिया है, सो भी समय की परिणति होने पर (समय बीतने पर) तुम्हारा शुभ परिणाम नहीं होगा अर्थात् पुरस्कार नहीं मिलेगा ।

१. साधु शक्ति सुभ सरिस कपासू । निरस विसद गुनमय फल जासू ।

• जो सहि दुख पर छिद्र दुरावा । वदनीय जेहि जग जस पावा ।

\*७१७ जल में रहने वाले कमल यदि सूर्य के भरोसे रहते हैं, तो उनका कौन सा उपकार हो जाता है ! जब कमलों की जड़ें उखाड़ दी गईं और सरावर का पक भी शुष्क हो गया, तब सूर्य ने उन्हें क्यों नहीं बचा लिया ॥ ७ ॥

### ८२—हस मानस-वज्जा (हसमानस-पद्धति)

७१८ हे हंस ! जब तक भायावी वक्र मस्तक पर पैर न रख दे, तभी तक सरोवर को छोड़ दिया जाता है ! देव के विमुक्त हो जाने पर निवास कैसा ? ॥ २ ॥

७१९ जो वर्षाकाल में, पहले ही मानसरोवर को चले गये, उच्चासन पर बैठे वक्र-परिवार को जिन्होंने नहीं देखा, वे हस धन्य हैं ॥ २ ॥

७२० जहाँ पुलिन का पर्यन्त भाग क्षुद्र (उत्तर) विहंगो के चरण-चिह्न से चिह्नित है उस सरोवर में राजहंसा को नहीं रहना चाहिए ॥ ३ ॥

७२१ मनस्वी राजहंसों ने कमल वन को विविध (क्षुद्र) विहंगो से मण्डित देख कर मानस को छोड़ दिया ॥ ४ ॥

### ८३—चक्रवाय-वज्जा (चक्रवाक-पद्धति)

७२२ सूर्य के अस्त हो जाने पर चक्रवाको को जो दुःख होता है, वह तुम्हारे शत्रुता को ही अथवा उन्हें भी न हो ॥ १ ॥



\*७१७ सरसाण सूरपरिसठियाण कमलाण कीस उवयारो ।  
उक्खयमूला सुक्खत्तपकया कह न सठविया ॥७॥

सरसाना सूर्यपरिसस्थिताना कमलाना कीदृगुपकार ।  
उत्खातमूलानि शुष्यत्पङ्कानि कथं न सस्थापितानि ॥

८२ हसमाणसवज्जा [हसमानसपद्धति]

७१८ छडिज्जइ हस सर कत्तो वासो परम्महे दिव्वे ।  
जाव न ठवेइ चलणे कूडबओ मत्थए एण्हि ॥१॥

त्यज्यते हस सर कुतो वास पराङ्मुखै दैवे ।  
यावन्न स्थापयति चरणौ कूटबको मस्तक इदानीम् ॥

७१९ पढम चिय जे विगया घणागमे साहु ताण हसाण ।  
जेहि न दिट्ठ उच्चासणट्ठियं खलबयकुडुब ॥२॥

प्रथममेव ये विगता घनागमे साधु तेषां हसानाम् ।  
येन दृष्टमुच्चासनस्थित खलबककुटुम्बम् ॥

७२० इयरविहगमपयपतिचित्तला जत्थ पुलिणपेरता ।  
तत्थ सरे न हु जुत्त वसियव्व रायहसाण ॥३॥

इतरविहङ्गमपदपङ्क्तिचित्रिता यत्र पुलिनपर्यन्ता ।  
तत्र सरसि न खलु युक्त वसितव्य राजहसानाम् ॥

७२१. विविहविहगमणिवहेण मडिय पेच्छऊण कमलवण ।  
मुक्क माणम्मरिएहि माणस रायहसेहि ॥४॥

विविधविहङ्गमनिवहेन मण्डित प्रेक्ष्य कमलवनम् ।  
मुक्त मानमृतेर्मानस राजहसे ॥

८३ चक्कवायवज्जा (चक्रवाकपद्धति)

७२२ अद्धत्थमिए सूरे ज दुक्ख होइ चक्कवायत्स ।  
त होउ तुह रिऊण अहवा ताण पि मा होउ ॥१॥

अर्घास्तमिते सूर्ये यद् दृष्टं भवति चक्रवाकस्य ।

\*७१७ जल में रहने वाले कमल यदि सूर्य के मरोसे रहते हैं, तो उनका कौन सा उपकार हो जाता है। जब कमलों की जड़ें उखाड़ दी गईं और सरोवर का पंक भी शुष्क हो गया, तब सूर्य ने उन्हें क्यों नहीं बचा लिया ॥ ७ ॥

### ८०—हंस मानस-वज्रा (हंसमानस-पद्धति)

७१८. हे हम ! जब तक मायावी वक् मस्तक पर पैर न रख दे, तभी तक सरोवर को छोड़ दिया जाता है। देव के विमुख हो जाने पर निवास कैसा ? ॥ २ ॥

७१९ जो वर्षाकाल में, पहले ही मानसरोवर को चले गये, उच्चासन पर बैठे वक्-परिवार को जिन्होंने नहीं देखा, वे हंस धन्य हैं ॥ २ ॥

७२०. जहाँ पुलिन का पर्यन्त भाग क्षुद्र (उत्तर) विहंगो के चरण-चिह्नो से चित्रित है, उस सरोवर में राजहंसों को नहीं रहना चाहिए ॥ ३ ॥

७२१. मनस्वी राजहंसों ने कमल वन को विविध (क्षुद्र) विहंगो से मण्डित देव कर मानस को छोड़ दिया ॥ ४ ॥

### ८३—चक्रवाय-वज्रा (चक्रवाक-पद्धति)

७२२. सूर्य के अस्त हो जाने पर चक्रवाकों को जो दुःख होता है, वह तुम्हारे शत्रुओं को हो अपवा उन्हें भी न हो ॥ १ ॥

७२३. भूमीगय न चत्ता सूर दट्ठूण चक्कवाएण ।  
 जीयगल व्व दिन्ना मुणालिया विरहभीएण ॥२॥  
 भूमिगत न त्यक्ता सूर्यं दृष्ट्वा चक्रवाकेण ।  
 जीवार्गल्व दत्ता मृणालिका विरहभोतेन ॥
- ७२४ अग्नि व्व पउमसड चिय व्व नलिणी मडो व्व अप्पा ण ।  
 चक्केण पियाविरहे मसाणसरिस्स सर दिट्ठ ॥३॥  
 अग्निरिव पद्मपण्ड चितेव नलिनो मृतक इवात्मा खलु ।  
 चक्रेण प्रियाविरहे श्मशानसदृश सरो दृष्टम् ॥
- ७२५ आसासिज्जइ चक्को जलगयपडिर्विवदसणासाए ।  
 त पि हरति तरगा पेच्छह निउणत्तण विहिणो ॥४॥  
 आश्वासयते चक्रो जलगतप्रतिबिम्बदशनाशया ।  
 तामपि हरन्ति तरङ्गा प्रेक्षध्व निपुणत्व विधे ॥
- ७२६ आसति सगमासा गमति रयणिं सुहेण चक्काया ।  
 दियहा न य हुति विओयकायरा कह नु वोलति ॥५॥  
 आसते सगमाशया गमयन्ति रजनी सुखेन चक्रवाका ।  
 दिवसा न च भवन्ति वियोगकातरा कथं नु व्यक्तिक्रामन्ति ॥
- ७२७ अलिय जपेइ जणो ज पेम्म होइ अत्थलोहेण ।  
 सेवालजीवियाण कओ धण चक्कवायाण ॥६॥  
 अलीक जल्पति जनो यत् प्रेम भवत्यर्थलोभेन ।  
 सेवालजीविकाना कुतो धन चक्रवाक्याणाम् ॥

८४. चदणवज्जा (चन्दनपद्धति )

- ७२८ सुसिएण निहसिएण वि तह कह वि हु चदणेण महमहिया ।  
 सरसा वि कुसुममाला जह जाया परिमलविलक्खा ॥१॥  
 शोपिनेन निघपिनेनापि तथा कथमपि खटु चन्दनेन प्रमृत्तम् ।  
 सरसापि कुसुममाला यथा जाता परिमलविलक्षा ॥

७२३. सूर्य को पृथ्वी के निकट गया हुआ देख कर विरह-भीत चक्र-वाक ने मुँह में (चोंच में) ली हुई मृणाली को गिराया नहीं । निकलते हुए प्राणों को रोकने के लिए मानो कण्ठ में अर्गला<sup>१</sup> लगा दी ॥ २ ॥

७२४. चक्रवाक ने प्रिया के वियोग में पद्म-वन को अग्नि, नलिनी को चिता, अपने को मृतक और सरोवर को श्मशान के समान देखा ॥ ३ ॥

७२५. वियोगी चक्रवाक जल में प्रतिबिम्बित अपनी परछाई देखने की आशा से आश्रय हो जाता, परन्तु तरंगों उसे भी मिटा देती हैं । विधाता की निपुणता देखो ! ॥ ४ ॥

७२६. चक्रवाक को सगम की आशा रहती है, अतः बैठे रहते हैं एवं सुख (प्रतीक्षा-जन्य सुख) से रातें बिता देते हैं । क्या उन्हें दिनों में सन्ध्या तक बिछुड़ने का भय नहीं रहता ? वे कैसे बीतते होंगे ? ॥ ५ ॥

७२७. लोग असत्य कहते हैं कि प्रेम धन के लोभ से होता है । शैवाल-जीवी चक्रवाकों के पास धन कहाँ है ? ॥ ६ ॥

### ८४—चंदणयज्जा (चन्दन-मदति)

७२८. दुष्क हो जाने और घिस डाले जाने पर भी चन्दन कुछ इस प्रकार महमहा उठा कि जिससे फूलों की सरस-माला भी उसकी सुगन्ध से लजा गई ॥ १ ॥

१. मित्रे नवापि गते सरोरुहवने बभ्रानने ताम्बयति  
 क्रन्दत्सु भ्रमरेषु बीदय दयितासन्न पुर सारसम् ।  
 चक्रार्द्धेन वियोगिना विसलता नास्वादिता नोज्झिता  
 कण्ठे वेवलमगतेव निहिता जीवस्थ निर्गन्धतः ॥

—काव्य प्रकाश, ८

रवि-अत्ययणि समाउलेण कंठि विहृणु न छिणु !  
 चक्रं खटु मृणालिग्रहे नच जीवमगलु दिणु ॥

—हेमचन्द्रकृत प्राकृत व्याकरण

७२९. परसुच्छेदप्रहरणेण निहसणे नेय उज्झिता पयई ।  
चदण सनयसीसो तेण तुम वदए लोओ ॥२॥

परसुच्छेदप्रहरणेन निघर्पणेन नैवोज्झिता प्रकृतिः ।  
चन्दन सनतशीर्षस्तेन त्वा वन्दते लोकः ॥

\*७३० उत्तमकुलेसु जम्म तुह चदण तरुवराण मज्झम्मि ।  
दुज्जीहाण खलाण य निच्च चिय तेण अणुरत्तो ॥३॥  
उत्तमकुलेषु जन्म तव चन्दन तरुवराणा मध्ये ।  
द्विजिह्वाणा खलाना च नित्यमेव तेनानुरक्तः ॥

७३१ एक्को चिय दोसो तारिसस्स चदणदुमस्स विहिघडिओ ।  
जीसे दुट्ठभुयगा खण पि पास न मेल्लति ॥४॥  
एक एव दोषस्तादृशस्य चन्दनद्रुमस्य विधिघटितः ।  
यस्य दुष्टभुजङ्गाः क्षणमपि पार्श्वं न भुञ्जन्ति ॥

७३२. बहुतरुवराण मज्झे चदणविडवो भुयगदोसेण ।  
छिज्झइ निरावराहो साहु ध्व असाहुसगेण ॥५॥  
बहुतरुवराणा मध्ये चन्दनविटपो भुजङ्गदोषेण ।  
छिद्यते निरपराध साधुरिवासायुसङ्गेन ॥

८५ वडवज्जा (वटपद्धति)

७३३. जाओ सि कीस पथे अहवा जाओ सि कीस फलिओ सि ।  
अह फलिओ सि महादुम ता सउणविडवण सहसु ॥१॥  
जातोऽसि कस्मात्पथि, अथवा जातोऽसि कस्मात्फलितोऽसि ।  
अथ फलितोऽसि महाद्रुम तच्छत्रुनविडम्बना सहस्र ॥

७३४. नीरम-करीर-खरगइरमकुले विममसमिमरुद्देमे ।  
का होज गई पहियाण ज सि वडपायव न होत्तो ॥२॥  
नीरमनरीर-नगर-भदिरसुबुद्धे विषमशमोभरुद्देशे ।  
का भवेद्गतिः पथिवाना यदसि वटपादप न भवन् ॥

७२९. परशु के छेदन और प्रहार से और पत्थर पर रगड़ने से भी तुमने अपनी प्रवृत्ति नहीं छोड़ी। चन्दन ! इसी से संसार मस्तक झुका कर तुम्हारी वन्दना करता है।

\*७३०. हे चन्दन ! वृक्षों के मध्य में तुम्हारा सुजन्म उत्तम कुल में हुआ है, तभी तो जिनके दो जिह्वायें हैं और जो दुष्ट हैं, उन (सर्पों) पर नित्य अनुरक्त रहते हो ?

(यहाँ 'उत्तम कुल' के द्वारा चन्दन पर व्यंग्य किया गया है)

७३१. उस प्रकार के (नाना गुण-मण्डित) चन्दन में एक ही विधि-विरचित दोष है कि दुष्ट भुजग सगमर भी उसका साथ नहीं छोड़ते ॥ ४ ॥

७३२. जैसे असाधु के सग से निरपराध साधु कष्ट पाते हैं, वैसे ही भुजगों के दोष से बहुत से वृक्षों के मध्य में निरपराध चन्दन काटा जाता है ॥ ५ ॥

(सर्पों को देख कर लोग चन्दन को आसानी से पहचान लेते हैं)

#### ८५—वटवृक्षा (वट-पद्धति)

७३३. हे महावृक्ष ! तुम मार्ग में क्यों जनमे ? यदि जनमे ही तो फले क्यों ? और यदि फले तो अब पक्षियों की विडम्बना सहो ॥ १ ॥

७३४. हे वटवृक्ष ! यदि तुम न होते, तो शुष्क करील, तीक्ष्ण खैर और विषम शागी से मरे इस मरुस्थल में पक्षिकों की क्या गति होती ! ॥ २ ॥

\* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य ।

- \*७३५ भूमीगुणेण वडपायवस्स जइ तु गिमा इह होइ ।  
तह वि हु फणाण रिद्धी होसइ वीयाणुसारेण ॥३॥  
भूमिगुणेन वटपादपस्य यदि तुङ्गत्वमिह भवति ।  
तथापि खलु फणानामृद्धिर्भविष्यति बीजानुसारेण ॥

८६ तालवज्रा (तालपद्धति )

- ७३६ किं ताल तुज्झ तुगत्तणेण गयणद्वरुद्धमगेण ।  
छुहजलणताविएहि वि उवहेप्पसि ज न पहिएहि ॥१॥  
किं ताल तव तुङ्गत्वेन गगनार्धरुद्धमार्गेण ।  
क्षुधाज्वलनतापितैरप्युपगृह्यसे यत्र पथिके ॥
- ७३७ छायारहियस्स निरासयस्स दूरयरदावियफलस्स ।  
दोसेहि समा जा का वि तुगिमा तुज्झ रे ताल ॥२॥  
छायारहितस्य निराश्रयस्य दूरतरदर्शितफलस्य ।  
दोषे सम यत् किमपि तुङ्गत्व तव रे ताव ॥
- ७३८ जेहि नोओ वडिठ तालो सयसलिलदानसेवाए ।  
तस्सेव जो न फलिओ सो फलिओ कह नु अनस्स ॥३॥  
यैर्नीतो वृद्धि ताल शतमलिलदानसेवया ।  
तस्यैव यो न फलित स फलित कथं न्वन्यस्य ॥

८७ पलासवज्रा [पलाशपद्धति ]

- \*७३९ मउलतस्स य मुक्का तुज्झ पलामा पलास सउणेहि ।  
जेण महुमामसमए नियवयण झत्ति सामलिय ॥१॥  
मुबुल्यनश्च मुक्काम्भव पलाशा पलाश शकुने ।  
येन मधुमामममये निजवदन झटिति क्षामलिनम् ॥
- ७४० अच्छउ ता फणिवह पुण्णदियहम्मि कटुसियं वयण ।  
इय कलिञ्ज पणामो झड ति मुक्को मपत्तेहि ॥२॥  
आम्ना तावत्फणिवह पुष्पादिवो कटुपित्तं वदनम् ।  
इति कल्पित्वा पलाशा झटिति मुक्कं स्वपत्रे ॥

\*७३५. यद्यपि इस लोक में भूमि (मिट्टी और पद विशेष) के गुण (प्रभाव) से वट वृक्ष ऊँचा हो गया (पक्ष में, महान् हो गया), फिर भी फलों की वृद्धि (फलों की वृद्धि और लाभ की अधिकता) बीज (नन्हें से बीज और पिता का बीर्य) के अनुसार ही होती है ॥ ३ ॥

### ८६—तालवज्जा (ताल-पद्धति)

७३६ हे ताल वृक्ष ! आधे आकाश-मार्ग को अवहट्ट कर लेने वाली तुम्हारी ऊँचाई से क्या ? यदि भूख और गर्मी से तपे बटोही भी तुम्हें ग्रहण नहीं करते ॥ १ ॥

७३७ अरे ताल ! तुम छाया-हीन हो, किसी को आश्रय नहीं देते हो, परन्तु अपना फल बहुत दूर से दिखाते हो । तुम्हारी जो कुछ ऊँचाई भी है, वह दोषों के बराबर है (अथवा तुम्हारी ऊँचाई जितनी अधिक है, ठीक उतने ही अधिक तुम्हारे दोष भी अर्थात् ऊँचाई की उपमा दोषों से दी जा सकती है) ॥ २ ॥

७३८ जिसने स्वयं सैकड़ों बार पानी देकर अपनी सेवा से तालवृक्ष बड़ा किया, उसी के लिए जो नहीं फला, वह अन्य के लिए क्या फलेगा ? ॥ ३ ॥

(अनुश्रुति के अनुसार तालवृक्ष बहुत दिनों में फल देता है, तब तक प्रायः रगाने वाले व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है)

### ८७—पलाशवज्जा (पलाश-पद्धति)

\*७३९. हे पलाश ! जब तुम मुकुलित हो रहे थे, तभी तुम्हारे पत्ते अपने गुणों द्वारा छोड़ दिये गये (अर्थात् पतझड़ से उत्पन्न होने वाली विवर्णता के कारण गुणहीन हो गये), जिससे वसन्त के समय में तुम ने अपना मुँह काला कर लिया है (पलाश मुकुल काले होते हैं) ॥ १ ॥

७४०. फलों का समूह तो दूर रहे, फूलते समय ही मुँह काला हो गया—यह समझ कर पक्षियों ने झट पलाश को छोड़ दिया (अपने पत्तों ने पलाश को छोड़ दिया अथवा पक्षी (सपत्नी) स्त्री सत्पात्रों ने छोड़ दिया अथवा सत्पात्रों के समान स्वपत्नी ने छोड़ दिया) ॥ २ ॥

\* विस्तृत विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य ।



- \*७४१ दट्ठूण किसुया साहा त बालाइ कीस वेलविओ ।  
अह्सा न तुज्झ दोसो को न हु छलिओ पलासेहि ॥३॥  
दृष्ट्वा किंशुक शाखास्त्व बालया कस्माद् वञ्चित ।  
अथवा न तव दोष को न खलु च्छलित पलाशे ॥
- ७४२ गुरुविहववित्थस्त्यभिरे वि किविणम्मि अत्थिणो विहला ।  
भण फलिए वि पलासे मणोरहा कस्स जायति ॥४॥  
गुरुविभवविस्तरोत्तम्भनशीलेऽपि कृष्णेऽर्थिनो विफला ।  
भण फलितेऽपि पलाशे मनोरथा कस्य जायन्ते ॥
- ७४३ सच्च पलास ज फुल्लिओ सि फलिओ सि रहणिउजेषु ।  
जइ होज्ज सुखज्जफलो मण पि ता तुज्झ को मुल्लो ॥५॥  
सत्य पलाश यत्पुष्पितोऽसि फलितोऽसि रहोनिकुञ्जेषु ।  
यदि भवे सुखाद्यफलो मनागपि तत् तव किं मूल्यम् ॥

८८ वडवाणलवज्जा [वडवानलपद्धति]

- ७४४ सोसणमई उ निवससु वडवाणल मुणइ जाव न समुद्धो ।  
जाव य जाणिहिइ फुड ता न तुम नेय भुवणयलं ॥१॥  
शोषणमतिस्तु निवस वडवानल जानाति यावन्न समुद्र ।  
यावत्समुद्रो ज्ञास्यति स्फुट तावन्न त्व नैव भुवनतलम् ॥
- ७४५ का समसीसी तिर्यसिंदयाण वडवाणलस्स सरिसम्मि ।  
उवसमियसिहिप्पसरो मयरहरो इधण जस्स ॥२॥  
का समशीपिका त्रिदशेन्द्राणा वडवानलस्य सदृशे ।  
उपशमितशिखिप्रसरो भकरालय इन्धन यस्य ॥

८९ रयणायरवज्जा [रत्नाकरपद्धति]

- ७४६ रयणायरेण रयण परिमुक्क जइ वि अमुणियगुणेण ।  
तह वि हु मरगयखडं जत्थ गय तत्थ वि महग्घ ॥१॥  
रत्नाकरेण रत्न परिमुक्त यद्यप्यज्ञातगुणेन ।  
तथापि खलु मरवतखण्ड यत्र गत तथापि महाघम् ॥

\*७४१ (तुम) पलाश पुष्प (किशुक) को देख कर रक्तवर्ण वाली शाखा (पुष्पो के कारण पलाश की शाखायें लाल हो जाती हैं) के द्वारा कैसे ठग लिये गये ? अथवा तुम्हारा दोष नहीं है, पलाशों (वृक्षों और राक्षसों) ने किसे नहीं छला ? ॥ ३ ॥

७४२. कृपण प्रचुर वैभव से पूर्ण होता है सब भी याचक कुछ नहीं पाते । बताओ, पलाश के फलने पर भी किमके मन में अमिलापा उत्पन्न होती है (कौन उसके फलों की इच्छा करता है) ॥ ४ ॥

७४३. पलाश ! एकान्त कुज में फूले हो, फले हो, यह सच है । यदि तुम्हारे फल किंचित् आस्वाद्य (खाने योग्य) होने, तो क्या तुम्हारा मूल्य होता ? (अर्थात् अमूल्य हो जाते) ॥ ५ ॥

#### ८८—वडवानलवज्जा (वडवानल-पद्धति)

७४४. अरे, समुद्र को सुखाने का विचार करने वाले वडवानल ! जब तक समुद्र नहीं जानता, तब तक रह लो । जब वह सचमुच जान पायगा तब न तुम्ही रहोगे और न ससार ही रहेगा ॥ १ ॥

७४५. अग्नि के प्रसार को शान्त कर देने वाला समुद्र जिसका ईंधन है, उस वडवानल जैसे—(व्यक्ति) से श्रेष्ठ देवताओं की क्या स्पर्धा ? ॥ २ ॥

#### ८९—रत्नाकरवज्जा (रत्नाकर-पद्धति)

७४६. यद्यपि गुणों को न जानने वाले रत्नाकर (समुद्र) ने रत्न को त्याग दिया, फिर भी वह मरकत-खण्ड (मरकत मणि का टुकड़ा) जहाँ गया, वही अमूल्य बन गया ॥ १ ॥

\* विशेष विवरण परिधिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य ।

- ७४७ जलणिहिमुक्केण वि कुत्थुहेण पत्त मुरारिवच्छयलं ।  
तेण पुण तस्म ठाणे न याणिमो को परिट्टविओ ॥२॥  
जलनिधिमुक्केनापि कौस्तुभेन प्राप्त मुरारिवक्षस्थलम् ।  
तेन पुनस्तस्य स्थाने न जानीम क प्रतिष्ठापित ॥
- ७४८ मा दोस चिय गेण्हह विरले वि गुणे पससह जणस्स ।  
अक्खपउरो वि उवही भण्णइ रयणायरो लोए ॥३॥  
मा दोषमेव गृह्णीत विरलानपि गुणान् प्रशंसत जनस्य ।  
भक्षप्रचुरोऽप्युदधि भण्यते रत्नाकरो लोके ॥
- ७४९ वेलामहल्लकल्लोलपेल्लिय जइ वि गिरिणइ पत्त ।  
अणुसरइ मम्मलग्ग पुणो वि रयणायरे रयण ॥४॥  
बेलामहाकल्लोलप्रेरित यद्यपि गिरिनदी प्राप्तम् ।  
अनुसरति मार्गलग्न पुनरपि रत्नाकरे रत्नम् ॥
- ७५० लच्छीइ विणा रयणायरस्स गभीरिमा तह च्चेव ।  
सा लच्छी तेण विणा भणकस्स न मदिर पत्ता ॥५॥  
लक्ष्म्या विना रत्नाकरस्य गम्भीरता तथैव ।  
सा लक्ष्मीस्तेन विना भण कस्य न मन्दिर प्राप्ता ॥
- ७५१ वडवाणलेण गहिओ महिओ य सुरासुरेहि सयलेहि ।  
लच्छीइ उवहि भुक्को पेच्छह गभीरिमा तस्स ॥६॥  
वडवानलेन गृहीनो मयितश्च सुरासुरे सकले ।  
लक्ष्म्यादधिर्मुक्त प्रेक्षच्च गम्भीरता तस्य ॥
- ७५२ जलण जल च, अमिय विम च, कण्हो सदाणवो च्चेव ।  
खीरोयहि तुच्छ तह परलहिण्ण अहियअहिययरो ॥७॥  
ज्वरना जर् चामून विष च कृष्ण सदानवश्चैव ।  
धोरादय सन तथा परमहिमाधिवाधिवनरः ॥

७४७. समुद्र ने कौस्तुभ (मणिविशेष) को त्याग दिया, तब भी उसे विष्णु के वक्षस्थल पर स्थान प्राप्त हो गया, परन्तु उसने पुनः कौस्तुभ के स्थान पर किसे रखा—नहीं जानते ॥ २ ॥

७४८. दोष ही मत्त ग्रहण करो, गुण कम होने पर भी व्यक्ति की प्रशंसा करो। समुद्र में यद्यपि अक्ष (कर्पंदक या कौंडो का एक प्रकार एवं सोचर ममक का लक्षण से साधारण नमक) की ही प्रचुरता है, फिर भी वह ससार में रत्नाकर कहलाता है ॥ ३ ॥

७४९. यद्यपि समुद्र-तट पर फेलने वाले तरंगों से प्रेरित होकर रत्न पहाड़ी नदियों में पहुँच जाता है, परन्तु (उन्हीं तरंगों के) पीछे लगा हुआ वह पुन रत्नाकर (रत्नों का भण्डार, समुद्र) में चला जाता है ॥ ४ ॥

७५०. लक्ष्मी के अभाव में भी समुद्र की अगाधता जैसी की तैसी रह गई, परन्तु समुद्र के बिना वह लक्ष्मी, कहो, किम-किस के घर नहीं गई ? ॥ ५ ॥

७५१. समुद्र की बटवानल ने सुखाया, सम्पूर्ण सुरों और असुरों ने मया तथा लक्ष्मी ने भी छोड़ दिया, फिर भी उसका गाम्भीर्य देखो ॥ ६ ॥

७५२. हे समुद्र ! तुम्हारे भीतर अग्नि और जल, अमृत और विष, विष्णु और दानव—ये सब एक साथ रहते हैं, तुम्हारी महिमा बहुत ही बड़ी है ॥ ७ ॥

- ७५३ रयणेहि निरत्तरपूरिण्हि रयणायरस्स न हु गब्बो ।  
 करिणो मुत्ताहलससए वि मयविभला दिट्ठी ॥८॥  
 रत्तेनिरत्तरपूरिते रत्ताकरस्य न खलु गवं ।  
 करिणो मुक्ताफलमशयेऽपि मदविह्वला दृष्टि ॥
- ७५४ अणवरय देतस्स वि तुट्ठति न सायरे वि रयणाइ ।  
 पुण्णवस्वएण खिच्चइ न हु लच्छी चायभोएहि ॥९॥  
 अनवरत ददतोऽपि न खलु नुत्थन्ति सागरेऽपि रत्तानि ।  
 पुष्पक्षयेण क्षीयते न खलु लक्ष्मीस्त्यागभोगाम्बाम् ॥
- ७५५ रयणायरस्स न हु होइ तुच्छिमा निग्गएहि रयणेहि ।  
 तह वि हु चदसरिच्छा विरला रयणायरे रयणा ॥१०॥  
 रत्ताकरस्य न खलु भवति तुच्छत्व निर्गतै रत्तै ।  
 तथापि खलु चन्द्रसदृक्षाणि विरलानि रत्ताकरे रत्तानि ॥
- ७५६ रयणायरचत्तेण वि पत्त चदेण हरह तिलयत्त ।  
 तेणउणतस्स ठाणे न याणिमो को परिट्ठविओ ॥११॥  
 रत्ताकरत्यचेनापि प्राज्ञ चन्द्रण हरस्य तिलवत्वम् ।  
 तत्र पुनस्तस्य स्थाने न जानीम क प्रतिष्ठापित ॥
- ७५७ जइ वि हु कालवसेण ससी समुदाउ कह वि विच्छुडिओ ।  
 तह वि हु तस्म पयाव(भयासो)आणद कुणइ दूरे वि ॥१२॥  
 यद्यपि खलु कालवसेन शशी ममुद्रान् कथमपि विपाजिन ।  
 तथापि खलु तस्य प्रनाप (? प्रकाश ) आनन्द करोति दूरेऽपि ॥
- ७५८ रयणाइ सुराण समप्पिऊण बडवाणलम्म छुहियस्स ।  
 अप्पा (? अप्प ) देतेण तए ममुद्द मुद्दनिय भुवण ॥१३॥  
 रत्तानि सुरभ्य समर्प्य बहवानलाम धुधिताय ।  
 आमानं ददता त्वया समुद्र मुद्राद्विर्त भुवनम् ॥

७५३. निरन्तर भरे रहने वाले रत्नों से भी रत्नाकर को गर्व नहीं है। किन्तु मौक्तिक का सन्देह होने पर ही (सन्देहमात्र से ही) हाथी की दृष्टि मद (द्रव, गर्व) से विह्वल हो जाती है ॥ ८ ॥

७५४. अनवरत देते रहने पर भी सागर के रत्न क्षीण नहीं होते। लक्ष्मी पुष्प-क्षय से क्षीण होती है, त्याग और भोग से नहीं ॥ ९ ॥

७५५. रत्नों के निकल जाने से रत्नाकर लघु नहीं हो जाता, फिर भी उसमें चन्द्र-जैसे रत्न बिरले ही हैं ॥ १० ॥

७५६. रत्नाकर ने चन्द्रमा को त्याग दिया, फिर भी वह शिव के भस्तक का तिलक बन गया। रत्नाकर ने चन्द्रमा के स्थान पर किसे रखा—नहीं जानते ॥ ११ ॥

७५७. यद्यपि भाग्यवश (काल परिवर्तन से) चन्द्रमा किसी प्रकार समुद्र में बिटुड़ गया, फिर भी उसका प्रताप (प्रकाश) दूर देश में रहने पर भी सुख देता है ॥ १२ ॥

७५८. रत्नाकर ! देवताओं को रत्न सौंप कर और स्वयं को (अपने आप को) भूमे वहवानल के लिए समर्पित कर तुम ने संसार पर अपनी मुहर लगा दी (मय के प्रसंखान्यात्र बन गये) ॥ १३ ॥

- ७५९ अत्थि असखा सखा धवला रयणायरस्स सभूया ।  
न हु ताण सद्वलद्धी जा जाया पचजन्नस्स ॥१४॥  
सन्ति असख्या शखा धवला रत्नाकरस्य सभूता ।  
न खलु तेषा शब्दलब्धिर्या जाता पाञ्चजन्यस्य ॥
- ७६० जाएण तेण धवलीकओ सि नूण समुद् सखेण ।  
अत्थित्तणण हत्थ पसारिय जस्स कण्हेण ॥१५॥  
जातेन तन धवलीकृतोऽसि नून समुद्र शखेन ।  
अर्थित्वेन हस्त प्रसारितो यस्य कृष्णन ॥
- ९० समुद्गणिदावज्जा (समुद्रनिन्दापद्धति )
- ७६१ साहीणामयग्यणो अमरमरोर च भुवणमकरतो ।  
उल्लसिरीहि न लज्जसि लहरीहि तरगिणीणाह ॥१॥  
स्वाधीनामृतरत्नोऽमरमदरिद्र च भुवनमकुबन् ।  
उल्लसनशीलाभिन लज्जसे लहरीभिस्तरङ्गिणीनाथ ॥
- ७६२ रयणायर त्तिनाम बहत ता उवहि किं न सुसिओ सि ।  
मज्झे न जाणवत्ती अत्थत्थी ज गया पारे ॥२॥  
रत्नाकर इति नाम बहस्तद् उदधे किं न शुष्कोऽसि ।  
मध्ये न यानवर्तिनोऽर्थार्थिनो यद्गता पारे ॥
- ७६३ उवहि लहरीहि गव्विर गज्जतो किं न दीह सुसिओ सि ।  
जीसे गिम्हपिवासा वलति वि परम्मुहा पहिया ॥३॥  
उदधे लहरीभिर्गव्वोद्वहनशील गर्जन् किं न दीर्घं शुष्कोऽसि ॥  
यस्माद् ग्रीष्मपिपासा वलन्तेऽपि पराङ्मुखा पथिका ॥
- ७६४ सायर लज्जाइ कह न मुओ चिताइ कह न वीसन्नो ।  
पइ हुते वोहित्थियहि कओ जलसगहो अनो ॥४॥  
सागर लज्जया कथं न भूतश्चिन्तया कथं न विपण्ण ।  
त्वयि सति प्रवहणस्थिते कृतो जलमग्नहोऽग्न्य ॥

७५९ समुद्र मे असंख्य श्वेत शस्त्र उत्पन्न हुये हैं, परन्तु उनमें वह गम्भीर ध्वनि नहीं, जो पाञ्चजन्य मे है ॥ १४ ॥

७६०. हे समुद्र ! जिसके लिये याचक होकर विष्णु ने भी अपना हाथ फैलाया, उस शस्त्र (पाञ्चजन्य) के उत्पन्न होने से तुम यशस्वी हो गये ॥ १५ ॥

### ९०—समुद्राभिषेक (समुद्रनिन्दा-पद्धति)

७६१ हे तरंगिणीनाथ (समुद्र) ! अमृत और रत्न तुम्हारे अधिकार मे हैं, फिर भी जगत् को अमर<sup>१</sup> और धनी नहीं बना देते ! क्या तुम उल्लसित होने वाली इन लहरों से लजित नहीं होते ? ॥ १ ॥

७६२. अरे रत्नाकर-नामधारी समुद्र ! तुम सूख क्यों नहीं गये, क्योंकि धन-लोलुप पीतवाही वणिक् तुम्हारे मध्य से होकर उस पार चले गये (तुम्हारे रत्न लेने के लिए क्षण भर भी नहीं रुके) ॥ २ ॥

७६३ अरे लहरों से गर्वित रहने वाले समुद्र ! बहुत गरजते हुये तुम झुष्क क्यों न हो गये, क्योंकि ग्रीष्म मे प्यासे अधिक भी तुम्हारे निकट से मुँह फेर कर लौट जाते हैं ॥ ३ ॥

७६४. सागर ! लाज से मर क्यों न गये ? चिन्ता से उदास क्यों न हो गये ? तुम्हारे रहते पीन-यात्रियों को पानी का अन्य सग्रह करना पड़ा ॥ ४ ॥

---

१. संस्कृत टीकाकार ने यहाँ अमर का अर्थ देवता किया है जो ठीक नहीं है ।



७६५ बद्धो सि तुम पीआ सि पुच्चय लघिओ सि त उवहि ।  
 किं गजसि अलियजए न लज्जसे उयहि किं भणिमो ॥५॥  
 बद्धोऽसि त्व पीतोऽसि पूर्वं लङ्घितोऽसि त्वदमुधे ॥  
 किं गजस्यलीकजये न लज्जस उदधे किं भणाम ॥

७६६ निद्धोयउदयकस्तिर पथिय मा वच्च सायरो एस ।  
 जत्थ नियत्तइ सण्हा अन्न च्चिय ते सरुद्धेसा ॥६॥  
 निर्धोतादक्काक्षणशील पथिक मा व्रज सागर एप ।  
 यन्न निवर्तते तृष्णान्य एव त सरुद्धेसा ॥

९१ सुवण्णवज्जा (सुवर्णपद्धति )

७६७ जलणपवेसो चामीयरस्स कह सहि न जुज्जए काउ ।  
 हद्धो जस्स परिक्खति पत्थरा नवरि गुणणिवह ॥१॥  
 ज्वलनप्रवशाध्वामीकरस्य कथं ससि न युज्यत वतुम् ।  
 हा धिग्यस्य परोदान्त प्रस्तरा केव<sup>२</sup> गुणनिवहम् ॥

७६८ जलणढहणेण न सहा पत्थरघसणेण सडणे तह य ।  
 गुजाहलसमतुलणे ज दुक्ख होइ कणयस्स ॥२॥  
 ज्वलनदहनन न तथा प्रस्तरघपणन सण्डने तथा च ।  
 गुक्काफलसमतुलने यद् दुःखं भवति वनकस्य ॥

७६९ जूरिज्जइ किं न जए किं न जरा आवए अकालम्मि ।  
 जह सन्नसर तुलइ सली निरक्खरो वचण सडं ॥३॥  
 सिद्यत किं न जगति किं न जरागच्छत्यवा<sup>२</sup> ।  
 यथा साक्षरस्तुल्यनि सटिका निरक्षर बाधनं सण्डम् ॥

७७० नाराय निरक्खर लोहवत दोमुह य तुज्ज किं भणिमो ।  
 गुजाइ मम कणय ता<sup>२</sup>तो कह न लज्जेमि ॥४॥  
 नाराय निरक्षर लोहवन् द्रिमुग च तव किं भणाम ।  
 गुग्गाफलेन समं वनकं तोयन् कथं न लज्जमे ॥

७६५. अरे समुद्र ! पहले तुम्हें राम ने बाँध लिया, अगस्त्य ने पी डाला और वन्दर लाँच गये । क्यों गरज रहे हो, निर्लज्ज ! लजाते नहीं, क्या कहे ? ॥ ५ ॥

७६६. अरे विसुद्ध जल को इच्छा वाले पथिक ! मत जाओ, यह समुद्र है । जहाँ तृष्णा निवृत्त होती है, वें सरोवर दूसरे हैं ॥ ६ ॥

### ९१—सुवर्णवज्रा (सुवर्ण-पद्धति)

७६७. हाय री सखी ! धिक्कार है, जिनके गुणों की परीक्षा निरे पत्थर करते हैं, वह सुवर्ण अग्नि में प्रवेश क्यों न करे ? ॥ १ ॥

७६८. अग्नि में तपाये जाने पर, पत्थर पर घिसने पर और सोनार के द्वारा काटे जाने पर भी सुवर्ण को वह दुःख नहीं हुआ, जो गुजा (धुमकी) के बराबर तौलने पर हुआ ॥ २ ॥

७६९. ससार में दुःख क्यों न हो ? असमय में जराबस्त्या क्यों न आये ? जबकि साक्षर (विद्वान्) खडिया<sup>२</sup> उठता है और निरक्षर (मूर्ख) सोनार स्वर्ण-खण्ड तौलता है (पञ्च अक्षराकित तुलादण्ड से खली तौली जाती है और अक्षराकपूय तुलादण्ड से सोना तौला जाता है) ॥ ३ ॥

७७०. नाराच (तौलने का काँटा) ! तुम निरक्षर हो (मूर्ख हो, तुम्हारे ऊपर अक्षर नहीं अकित है), लौह युक्त हो (लोभ युक्त हो), दो मुँह वाले हो (दो पलकों वाले, चुगली करने वाले), तुम्हें क्या कहे, गुजा के साथ सुवर्ण को तौलते समय क्यों लज्जित नहीं होते ? ॥ ४ ॥

१. कभी काटा गया कभी छेदा गया, कभी पीट के पत्र बनाया गया । घिस डाला गया कभी पाहन पे, कभी पावक में पिघलाया गया । इतनी बड़ी तापना का, तप का, प्रविदान यही ठहराया गया । धुमकी के बराबर कचन को, जब एक तुला पे चढ़ाया गया ॥  
न वै ताडनात् तापनाद् वह्नि मध्ये  
न वै विक्रयात् क्रियमनोऽहमस्मि ।  
सुवर्णस्य मे मुख्यदुःख तदेक  
यत्ने मा जन्म शुक्लपलित्यन्ति ॥

२. प्रो० पटवर्धन ने खली का अर्थ ईश किया है । उन्होंने मूल में स्थित खली को सखी और सखी को सटिका मानकर मराठी शब्द सखी साक्षर तक पहुँचने का प्रयत्न किया है ।

७७१ जह कणय तह पडिमाणपत्थर पेच्छ तुलइ नाराआ ।  
 अहवा निरक्खराण गुणदोसवियारणा कत्तो ॥५॥  
 यथा वनक तथा प्रतिमानप्रस्तर पश्य तोलयति नाराच ।  
 अथवा निरक्षराणा गुणदोषविचारणा कुत ॥

९२ आइच्चवज्जा (आदित्यपद्धति)

७७२ भमिओ सि भमसि भमिहिसि अणुदिणु पासम्मि मेरुसिहरस्स ।  
 जह पावसि कचणमासय पि ता सूर सूरु सि ॥१॥  
 भ्रान्तोऽसि भ्रमसि भ्रमिष्यस्यनुदिनं पार्श्वे मेरुशिखरस्य ।  
 यदि प्राप्नोषि काञ्चनमापकमपि तत् सूर्यं शूरोऽसि ॥

७७३ वियलियतेएण वि ससहरेणजइ दसिओ दिणे अप्पा ।  
 तह जइ रयणीइ तुम ता सच्च सूर सूरु सि ॥२॥  
 विगलिततेजसापि शशधरेण यथा दर्शितो दिन आत्मा ।  
 तथा यदि रज्ज्या त्व तत्सत्यं सूर्यं शूरोऽसि ॥

७७४ उयण भुवणक्कमण अत्थमण एक्कदिवसमज्झम्मि ।  
 सूरस्स वि तिसि दसा का गणणा इयरलोयस्स ॥३॥  
 उदयन भुवनाक्रमणमस्तमनमेकदिवसमध्वे ।  
 सूर्यस्यापि तिस्रो दशा का गणनेतरलोकस्य ॥

९३ दीवयवज्जा (दीपकपद्धति)

७७५ सउणो नेहसउण्णो लोइल्लो लोयलोयणाणदो ।  
 नासियतमोहपसरो किं सुयणो नेह जोइस्सो ॥१॥  
 सगुण स्नेहमपूर्णं आलोकवांल्लोकलोचनानन्द ।  
 नाशिततमओघप्रसर किं सुजनो नेह ज्योतिष्व ॥

७७६ जोइस्सो गिलइ तम त चिय उगिलइ वज्जम्मिसेण ।  
 अहवा सुद्धमहावा हियए कलुस न धारेंति ॥२॥  
 ज्योतिष्वो गिलति तमस्तदेवोद्गिरति वज्रलम्बिणेन ।  
 अथवा शुद्धस्वभावा हृदयं क्लृप्तं न धारयन्ति ॥

७७१. अरे देखो, कांटा सोने और पत्थर को बराबर तौल रहा है !  
अथवा निरक्षरों (अक्षरांकक्षान्य, मूर्खों) को गुण और दोष का विचार ही  
कहाँ है ॥ ५ ॥

### ९२—आइच्चवज्जा (आदित्य-पद्धति)

७७२. अरे सूर ! (सूर्य) भूतकाल में मेरु-शिखर के चारों ओर  
चक्कर काटते रहे, वर्तमान में चक्कर काट रहे हो और भविष्य में  
चक्कर काटते रहोगे, यदि एक माशा भी सोना पा जाओ, तो समझें कि  
तुम सच्चे सूर हो (या सच्चे सूर्य हो) ॥ १ ॥

७७३. हे सूर (सूर्य) जैसे निस्तेज हो जाने पर भी चन्द्रमा ने अपने  
को दिन में दिखला दिया है, वैसे ही यदि तुम भी रात में अपने को दिखा  
सको, तो समझें कि तुम सच्चे सूर हो या (या सच्चे सूर्य हो) ॥ २ ॥

७७४. एक ही दिन में सूर्य की भी—उदय, भुवनाक्रमण (जगत्  
आक्रान्त करना या तपना) और अस्त हो जाना—ये तीन अवस्थायें होती  
हैं । अन्य लोगों की क्या गणना ? ॥ ३ ॥

### ९३—दीव्यवज्जा (दीपक-पद्धति)

७७५. सगुण (वर्तिकायुक्त, गुणवान्), स्नेह पूर्ण (तैलसहित, प्रेम  
युक्त), आलोकवान् (तेजोमय, कान्तियुक्त), तम (अन्धकार, तमोगुण) के  
समूह को नष्ट करने वाला और श्लोको की आँखों को आनन्द देने वाला  
कौन है ? क्या सज्जन ? नहीं, दीपक ॥ १ ॥

७७६. दीपक अन्धकार को निगल जाता है और उसे ही कज्जल के  
व्याज से उगल देता है अथवा जिनका स्वभाव शुद्ध रहता है, वे कालिमा  
को हृदय में नहीं रखते ॥ २ ॥

७७७. निययालएसु मलिणा कुणति मलिणत्तण जइच्छाए ।  
गुणणेहकतिजुत्तय न जुज्जए तुज्ज जोइक्ख ॥३॥  
निजालयेपु मलिना. कुवन्ति मलिनत्व यथेच्छम् ।  
गुणस्नेहकान्तियुक्त न युज्यते तव ज्योतिष्क ॥

७७८ नियगुणणेहखयकर मलिण निययालय कुणतस्स  
जोइक्ख तुज्ज छाया परिचत्ता तेण सुयणेहि ॥४॥  
निजगुणस्नेहखयकर मलिनं निजालयं कुर्वतः ।  
ज्योतिष्क तव च्छाया परित्यक्ता तेन सुजनैः ॥

७७९ किं तुज्ज पहाए किं गुणेण किं दीव तुज्ज नेहेण ।  
छाय जस्स विसिट्ठा दूरे वि चयति निदता ॥५॥  
किं तव प्रभया किं गुणेन किं दीप तव स्नेहेन ।  
छाया यस्य विशिष्टा दूरेऽपि त्यजन्ति निन्दतः ॥

९४ पियोल्लाववज्जा (प्रियोल्लापपद्धति.)

७८०. एक्केण विणा पियमाणुसेण बहुयाइ हुति दुक्खाइ ।  
आलस्सो रणरणओऽणिद्दा पुलओ ससज्जसओ ॥१॥  
एकेन विना प्रियमाणुपेण बहूनि भवन्ति दुःखानि ।  
आलस्य रणरणकोऽनिद्रा पुलकः ससाध्वस ॥

७८१ एक्केण विणा पियमाणुसेण सव्भावणेहभरिएण ।  
जणसकुला वि पुहवी अव्वो रण्ण व पडिहाइ ॥२॥  
एकेन विना प्रियमाणुपेण सद्भावस्नेहमृतेन ।  
जनसकुलापि पृथ्वी, अहो अरण्यमिव प्रतिमाति ॥

७८२ सो कत्थ गओ सो सुयणवत्त्थो सो सुहाण सयत्ताणी ।  
सो मयणग्गिविणासो सो सो सोसेइ मह हियय ॥३॥  
स कुत्र गतः स सुजनवत्त्रयः स सुखाना शतधनिः ।  
स मदनाग्निविनाशः स स शोषयति मम हृदयम् ॥

७७७. अरे दीपक ! मलिन लोग ही अपने घर में धपेच्छ मालिन्य उत्पन्न करते हैं । तुम तो गुण (बाती और अच्छाई) और स्नेह (तेल और प्रेम) से युक्त हो, तुम्हें यह उचित नहीं है ॥ ३ ॥

७७८. दीपक ! तुम अपने गुण (बाती और अच्छाई) और स्नेह (तेल और प्रेम) को नष्ट कर डालते हो और अपने घर को मलिन बना देते हो । इसी लिये सज्जनो ने तुम्हारी छाया का परित्याग कर दिया ॥ ४ ॥

(दीपक, खर और गज की छाया त्याज्य है—संस्कृत टीकाकार)

७७९. दीपक ! तुम्हारे गुण (बाती, अच्छाई), प्रभा और स्नेह (तेल, प्रेम) से क्या ? जिसकी छाया को भी विशिष्ट लोग निन्दा करते दूरे दूर से ही त्याग देते हैं ॥ ५ ॥

### ९४—पियोत्लाव-वज्जा (पियोत्लाप-पद्धति)

७८०. एक ही प्रिय मनुष्य के बिना बहुत से दुःख हो जाते हैं—आलस्य, अस्त्वय, अनिद्रा और पुलक के साथ-साथ भय ॥ १ ॥

७८१. अहो ! सच्चे प्रेम से परिपूर्ण एक ही प्रिय मनुष्य के अभाव में जनसङ्गल पृथ्वी भी वन-जैसी लगती है ॥ २ ॥

७८२. वह कहाँ गया ? वह मुजन बल्लभ था, वह सैकड़ों सुखों की स्तानि था, वह मदनाग्नि-विनाशक था, आज वही मेरे हृदय का शोषण कर रहा है ॥ ३ ॥

- ७८३ सो होहिइ को वि दिणो जत्य पिओ बाहुपजरविलीणो ।  
 रइरहसखेयखिन्नो निज्झरइ पवासदुक्खाइ ॥४॥  
 तद्धविष्यति किमपि दिन यत्र प्रियो बाहुपञ्जरविलीन ।  
 रतिरभसखेदखिन्नो निक्षरति प्रवासदु खानि ॥
- ७८४ आविहिइ पिओ चुबिहिइ निट्ठुर चुबिऊण पुच्छिहिइ ।  
 दइए कुसल त्ति तुम नमो नमा ताण दिवसाण ॥५॥  
 एष्यति प्रियश्चुम्बिष्यति निष्फुर चुम्बित्वा प्रक्षयति ।  
 दयिते कुशलेति त्व नमो नमस्तेभ्यो दिवसेभ्य ॥
- ७८५ धन्न त चेव दिण सा रयणी सयललक्खणसउण्णा ।  
 अमय त पि मुहुत्त जत्य पिओ झत्ति दीसिहिइ ॥६॥  
 धन्य तदेव दिन सा रजनी सकललक्षणसपूर्णा ।  
 अमृत सोऽपि मुहूर्तो यत्र प्रियो झटिति द्रक्ष्यते ॥
- ७८६ दूरयरदेसपरिसठियस्स पियसगम महत्तस्स ।  
 आसावधो च्चिय माणुसस्स अवलवए जीव ॥७॥  
 दूरतरदेशपरिसस्थितस्य प्रियसगम काङ्क्षत ।  
 आशाबन्ध एव मानुपस्यावलम्बते जीवम् ॥
७८७. हिययट्ठिओ वि सुहवो तह विहु नयणाण होइ दुप्पेच्छो ।  
 पेच्छह विहिणा न कया मह हियए जालयगवक्खा ॥८॥  
 हृदयस्थितोऽपि सुभगस्तथापि खलु नयनयोर्भवति दुःप्रेक्ष ।  
 प्रेक्षष्व विधिना न कृता मम हृदये जालवगवाक्षा ।

९५ दोसियवज्जा (दोपिकपदति )

- ७८८ दीह लण्ह बहुसुत्तरु दय कडियलम्मि सुहजणय ।  
 तह वास च महग्घ दोसिय कडिलम्ह पडिहाइ ॥१॥  
 दीर्घं दलक्षण बहुमूत्रविशाल वटितले सुयजनकम् ।  
 तथा वासश्च महार्घं दोपिक वटिवस्त्रं मम प्रतिभाति ॥

७८३. क्या वह भी कोई दिन होगा, जब प्रियतम वाहु-भारा (आलिंगन) में आयेंगे और रति के आनन्द से खिन्न होकर (थककर) प्रवास के दिनों को भूल से जायेंगे ॥ ४ ॥

७८४. प्रियतम आयेंगे, निर्दयता-पूर्वक चुम्बन करेंगे और चुम्बन करके पूछेंगे—प्रिये ! तुम कुशल से हो न ? उन दिनों को नमस्कार है, नमस्कार ॥ ५ ॥

७८५. वही दिन धन्य है, वह रात सम्पूर्ण लक्षणों से पूर्ण है और वह मुहूर्त भी अमृत है, जब सहसा प्रियतम दिखाई देंगे ॥ ६ ॥

७८६. दूरतर देश में रहने वाले और प्रियतम के सगम की इच्छा रखने वाले मनुष्य के जीवन को आशावन्धन ही सहारा देता रहता है ॥ ७ ॥

७८७. देखो, प्रियतम हृदय में रहकर भी नयनों को नहीं दिखाई देते । विधाता ने मेरे हृदय में जालीदार झरोखे नहीं रच दिये ! ॥ ८ ॥

### ९५. दोसिय-वज्जा (दोषिक-पद्धति)

७८८. हे दोषिक ! (वस्त्र-विक्रेता) मुझे ऐसा कटिवस्त्र रचता है, जो दीर्घ, मृदु, घने सूतों वाला एवं चौड़ा हो तथा जिसका कपड़ा बहु-मूल्य हो । (मुझे ऐसा पति<sup>१</sup> रचता है, जो लम्बा, कोमल, सुभाषी तथा मोटा हो और जिसकी कटि सुखद हो) ॥ १ ॥

१ सङ्कृत टीकाकार ने वस्त्र को स्त्री का प्रतीक मानकर व्याख्या की है । मैंने उसे पुरुष का प्रतीक मानकर अनुवाद किया है ।



- ७८९ माणविहूण रुदोइ छोडय सिलघोयगयछाय ।  
ज वसण न सुहावइ मुय दूर नम्मयाडे ॥२॥  
मानविहोन विस्तारेण त्यक्क शिलाघोतगतच्छायम् ।  
यद्धसन न सुखयति मुञ्च दूर नमंदातटे तत् ॥
- ७९० पम्मुहमुत्त अट्ठोसुहावह जणियरायपुलइल्ल ।  
दोसिय दिज्जत पि हु नारग अम्ह पडिहाइ ॥३॥  
प्रमुखसूत्रमस्थिमुखावह जनितरागपुलकवत् ।  
दौपिक दीयमानमपि खलु नारङ्ग मग प्रतिभाति ॥
- ७९१ ज पक्खालियमार ज गरुय चैव खममहगघ च ।  
त दोमिय अम्हाण दमिज्जउ किं वियारेण ॥४॥  
यत्प्रक्षालितसार यद् गुरुक चैव क्षममहार्घं च ।  
तद् दौपिकाम्माक दक्ष्यंता किं विचारेण ॥
- ७९२ दासिय घणगुणमार मुविणीय मुट्ठु मोहमजणय ।  
दमहि मा कुण खेय त अम्ह जगइ परिआस ॥५॥  
दौपिक घनगुणमार मुविनोन मुट्ठु क्षामामजनकम् ।  
दर्शय मा कुर खेद तदम्माक् जनयति परितोषम् ॥
- ७९३ जह पडमे तह दोमइ अवसाणे साडयस्म निवहण ।  
त्त फुट्ठु अम्ह नियवे दोनिय फुट्ठु पि पडिहाइ ॥६॥  
यथा प्रथमे तथा दुस्त्यतेज्जसाने शाटकस्य निर्वहणम् ।  
तत् स्फुटं मम निनम्बे दौपिक स्फुटिनमपि प्रतिमानि ॥

७८९. जिसमें लम्बाई न हो, विन्तार (चौड़ाई) में छोटा हो, शिला पर घोने से जिसका रंग चला गया हो, (फोका हो गया हो) वह वस्त्र मुझे नहीं सुहाता । उसे दूर नर्मदा के तट पर छोड़ दो (जो नाटा हो, दुबला-भनला हो, जो शील एवं कान्ति से शून्य हो, वह पुरुष मुझे नहीं सुहाता) ॥ २ ॥

७९०. दौपिक (वस्त्र-विक्रेता) ! जो श्रेष्ठ सूत्रों से बुना है, अस्थियों को सुखदायक है, हृदय में अनुराग और शरीर में पुलक उत्पन्न करने वाला है, वह वस्त्र दिये जाने पर भी यदि रंग-हीन है, तो मुझे नहीं रुचता (जो पुरुष सुभाषी, शरीर को सुखद, प्रेम एवं पुलक उत्पन्न करने वाला है, वह यदि नीरस है तो मुझे पसन्द नहीं है) ॥ ३ ॥

७९१. दौपिक ! क्यों विचार करते हो ? जो घोने पर चमकें, बढा हो, टिकाऊ हो और बहुमूल्य हो, वही वस्त्र मुझे दो । (जिसका भूँह घोने पर सुन्दर लगे, जो महान् हो, जो सुरत में समर्थ एवं दुर्लभ (महार्थ) हो, वह पुरुष मुझे बिना विचारे दो) ॥ ४ ॥

७९२. दौपिक ! कष्ट मत दो (या कष्ट मत करो), जो घने सूतों के कारण श्रेष्ठ हो, अच्छे ढंग से बुना हो, सुन्दर हो, शोभाजनक हो, वही वस्त्र दिखाओ, वही मुझे सन्तोष देता है (जो अनेक गुणों से श्रेष्ठ हो, विनम्र हो, सुन्दर हो और शोभा उत्पन्न करने वाला हो, वही पति मुझे दो) ॥ ५ ॥

७९३. जो शाटक (वस्त्र विशेष, साडी) पहले दिन पहनने पर जैसा लगता है वैसा ही अन्त में लगता है, वह सचमुच मेरे नितम्बों पर फट जाने पर भी अच्छा लगता है (सदा एक रस पुरुष ही मुझे पसन्द है) ॥ ६ ॥

९६ पज्जतगाहाजुयल (पयन्तगाथायुगलम्)

अह पज्जतगाहाजुयल भण्णइ ।

७९४ इय कइयणेहि रइए वज्जालए सयललायहिट्टिए ।  
पत्थावे गोट्टिट्ठय इच्छियगाहा पढिज्जति ॥१॥  
इति कविजनै रचिते ब्रज्यालये सकललोकाभीष्टे ।  
प्रस्तावे गोष्ठीस्थित ईप्सितगाथा पठ्यन्ते ॥

७९५ एय वज्जालग्ग ठाण गहिऊण पढइ जो को वि ।  
नियठाणे पत्थावे गुरुत्तण लहइ सो पुरिसो ॥२॥  
एतद् ब्रज्यालग्न स्थान गृहीत्वा पठति य कोऽपि ।  
निजस्थाने प्रस्तावे गुरुत्वं लभते ॥ पुंस्य ॥

९६. पञ्जतंगाहानुयलं (पर्यन्तगाथायुगलम्)

७९४. कविजनो के द्वारा रचित, सब लोगोको अमीष्ट 'वज्जालय'  
मे जो प्रिय गायायें हैं, वे प्रसंगानुसार गोष्ठो में पढ़ी जाती हैं ॥ १ ॥

७९५. जो कोई भी इस वज्जालम् को स्थान देख कर पढ़ता है,  
वह पुण्य अपने स्थान और अवसर पर गुणत्व प्राप्त करता है ॥ २ ॥

## परिशिष्ट 'क'

अतिरिक्त गाथाएँ

गाहावज्जा

१५\*१. गाहा रुअइ अणाहा सीसे काऊण दो वि हत्याओ ।

सुकईहि दुक्खरइया सुहेण मुक्खो विणासेइ ॥१॥

गाथा रोदित्थनाथा शोपे कृत्वा द्वावपि हस्तौ ।

सुकविभिदुःखरचिता सुत्तेन मूर्खो विनाशयति ॥

१६\*१. कुप्पाढएहि कुल्लेहएहि अत्थं अयाणमाणेहि ।

नयरि व्व छत्तभगे लुच पलुचीकिया गाहा ॥१॥

कुपाठकैः कुलेखकैरर्थमजानद्भिः ।

नगरीव च्छन्नभङ्गे लुच्चप्रलुब्धोक्ता गाथा ॥

१६\*२. वाससएण वि वद्धा एक्का वि मणोहरा वर गाहा ।

लक्खणरहिया न उणो कोडी वि खणद्धमेत्तेण ॥२॥

वर्षशतेनापि वद्धा एकापि मनोहरा वरे गाथा ।

लक्षणरहिता न पुनः कोटिरपि क्षणार्धमात्रेण ॥

१८\*१. गाहाहि को न हीरइ पियाण मित्ताण को न सभरइ ।

दूमिज्जइ को न वि दूमिएण सुयणेण रयणेण ॥१॥

गाथाभि को न हियते प्रियाणा मित्राणा को न संस्मरति ।

दूयते को नापि दूनेन सुजनेन रत्नेन ॥

कव्ववज्जा

३१\*१. सरसा वि हु कव्वकहा परिओस जणइ कस्स वि मणम्मि ।

वियसति न सयलतरु वरतरुणीचरणपासेण ॥१॥

मरसापि खलु काव्यकथा परितोषं जनयति कस्यापि मनसि ।

विवमन्ति न सकलतरवो वरतरुणीचरणस्पर्शेन ॥

### हस्तप्रति 'स' में उपलब्ध अतिरिक्त गायार्थे

(प्रो० पटवर्धन ने इन गायार्थों को परिशिष्ट में दिया है। हमने उन्हीं का अनुसरण किया है। बाईं ओर उस गायार्थ का क्रमांक दिया गया है, जिसके पश्चात् अतिरिक्त गायार्थ पाई जाती है और तारकाक के पश्चात् अतिरिक्त गायार्थ का क्रमांक है)

### गाथावज्जा

१५\*१. अनाथ गायार्थ शिर पर दोनों हाथ रख कर रोती है—कवियों ने मुझे दुःख से (कष्ट-पूर्वक) रचा है, परन्तु मूलं सुख से नष्ट कर रहा है ॥ १ ॥

१६\*१. जैसे राजा की मृत्यु हो जाने पर नगरी की दुर्दशा हो जाती है, वैसे ही कुपाठको, कुलेवका और अर्थ को न समझने वालों ने गायार्थ को नोच-खसोट डाला है ॥ १ ॥

१६\*२. सौ वर्षों में रची गई एक भी मनोहर गायार्थ श्रेष्ठ है, परन्तु आगे क्षण में रची हुई करोड़ों लक्ष्म-हीन गायार्थे श्रेष्ठ नहीं हैं ॥ २ ॥

१८\*१. गायार्थे किसे आकृष्ट नहीं करती? प्रिय मित्रों को कौन स्मरण नहीं करता? सज्जन-शिरोमणि के दुःखी होने पर कौन दुःखी नहीं होता? ॥ १ ॥

### कव्यवज्जा

३१\*१. सरस गायार्थ (काव्य-कथा) भी किमी बिरले व्यक्ति के मन में ही परितोष उत्पन्न करती है (सबके नहीं), सुन्दर वृत्तियों के चरणों के स्पर्श से सभी वृक्ष नहीं विकसित होते ॥ १ ॥

- ३१\*२ अणुसरइ मगलमग अज्ज वि कइमहुयराण रिछोली ।  
ताण छइल्लाण नमो पाइयकइगघहत्थीण ॥२॥  
अनुसरति मार्गलममद्यापि कविमधुकराणा पडिक्क ।  
तेषा छेकाना नम प्राकृतकविगन्धहस्तिनाम् ॥
- ३१\*३ डउज्जउ सबकयकव्व सबकयकव्व च निम्मिय जेण ।  
वसहरम्मि पलित्ते तडयडतट्टत्तण कुणइ ॥३॥  
बह्यता सस्कृतकाव्य सस्कृतकाव्य च निर्मित येन ।  
वशगूहे प्रदीप्ते तडतडशब्द करोति ॥
- ३१\*४ पाइयकव्वुल्लावे पडिवयण सक्कएण जो देइ ।  
सो कुसुमसत्थर पत्थरेण दलिउ विणासेइ ॥४॥  
प्राकृतकाव्योल्लापे प्रतिवचन सस्कृतेन यो ददाति ।  
स कुसुमसत्तर प्रस्तरेण दलित्वा विनाशयति ॥
- ३१५ छदेण विणा कव्व लक्खणरहियम्मि सक्कयालाव ।  
रुव विणा मरट्टो तिण्णि वि सोह न पायति ॥५॥  
छन्दसा विना काव्य लक्षणराहित्ये सस्कृतालाप ।  
रूप विना गवस्त्रीष्यपि शोभा न प्राप्नुवन्ति ॥
- ३१\*६ त किं वुच्चइ कउ तेण कएणावि विणडिओ अप्पा ।  
एक्कसुय व्व कुडुवे हत्था हत्थे न ज भमइ ॥६॥  
तत् किमुच्यते काव्य तेन कृतनापि विनटित आत्मा ।  
एकसुत इव कुटुम्बे हस्तादस्ते न यद् भ्रमति ॥
- ३१\*७ अइचपिय विणस्मइ दत्तच्छेएण होइ विच्छाय ।  
ढलहल्लय चिय मुच्चइ पाइयकव्व च पेम्म च ॥७॥  
अतिनिपीडित विनश्यति दन्त छेदन भवति विच्छायम् ।  
शिथिल चैव मुच्यते शृङ्खलाय च प्रम च ॥

३१\*२ जिनके पीछे-पीछे कविस्थी भ्रमरो की पक्ति आज भी चल रही है, उन प्राकृत के विदग्ध-रूपी गन्धहृस्तिषो (मद-गन्ध-युक्त हाथियों) को नमस्कार है ॥ २ ॥

३१\*३ सस्कृत-काव्य भस्म हो जाय और जिसने सस्कृत काव्य रचा है, वह भी । बाँस के घर में आग लगने पर तड़-तड़ का कटु शब्द होता है ॥ ३ ॥

(सस्कृत काव्य-पाठ बेसा हो कटु लगता है जैसा बाँस के घर में आग लगने पर तड़-तड़ का शब्द)

३१\*४ प्राकृत-काव्य पढ़ने पर जो उमका उत्तर सस्कृत में देता है, वह पुष्प-शय्या को पत्थर से पीटकर नष्ट कर देता है ॥ ४ ॥

३१\*५ छन्द के बिना काव्य, व्याकरण के बिना सस्कृत-भाषण, और रूप के बिना गर्व—ये तीनों शोभा नहीं पाते ॥ ५ ॥

३१\*६ जो परिवार के इकलौते पुत्र के समान हाय-हाय पर नहीं फिरता अर्थात् जन-जन के पास नहीं पहुँचना, वह काव्य क्यों पड़ा जाना है ? उसकी रचना भी करके कवि ने अपनी विडम्बना की है ॥ ६ ॥

३१\*७ प्राकृत काव्य और प्रेम—दोनों ही छोड़ दिये जाने हैं । दोनों ही दन्तच्छेद (दाँत टूटना और दाँन में काट लेना) से श्रीहीन हो जाते हैं ॥ ७ ॥



## सज्जनवज्रा

- ४८\*१ खुहइ न कडुय जपइ लेइ न दोसे गुणे पयासेइ ।  
 रुसताण न रुसइ दक्खिणमहोयही सुयणो ॥१॥  
 क्षुभ्यति न कटुक जल्पति छाति न दोपान् गुणान्प्रकाशयति ।  
 रुप्यता न रुप्यति दाक्षिण्यमहोदधिं सुजन ॥
- ४८\*२. सुयणस्स होइ सुक्ख न तेत्तिय जेत्तिय दुह होइ ।  
 ज ज पिच्छइ दुहिय त त अणुसोयमाणस्स ॥२॥  
 सुजनस्य भवति सौख्यं न सावधावद् दुःखं भवति ।  
 य य प्रक्षते दुःखिनं त तमनुशोचत ॥
- ४८\*३ होति परक्खणि रया नियक्खपरमहा फुड सुयणा ।  
 चदो धवलेइ महि न कलक अत्तणो फुमइ ॥३॥  
 भवन्ति परकायनिरस्ता निजकार्यपराद्मुक्ता स्फुट सुजना ।  
 चन्द्रो धवलयति मही न कलङ्कमात्मन प्रोञ्छति ॥
- ४८\*४ सच्चुच्चरणा पडिवन्नपालणा गरुडभारणिव्वहणा ।  
 धीरा पसन्नवयणा सुयणा चिरजीवणा होतु ॥४॥  
 सत्त्वोच्चरणा प्रतिपन्नपालना गुरुभारनिर्वहणा ।  
 धीरा प्रसन्नवदना सुजनाश्चिरजीवना भवन्तु ॥
- ४८\*५ विहववत्तए वि सुयणो सेवइ रण्ण न जपए दीण ।  
 मरणे वि महग्घयर न विक्कए माणमाणिकक् ॥५॥  
 विमयक्षयेऽपि सुजनं सेवतेऽरुण्यं न जल्पति दीनम् ।  
 मरणेऽपि महार्घंतरं न विक्रोणीते मानमाणिक्यम् ॥

## दुज्जनवज्रा

- ६४\*१ त नत्थि घर त न नत्थि देउल राउल पि त नत्थि ।  
 जत्थ अकारणकुविया दो तिन्नि खला न दोसति ॥१॥  
 तन्नास्ति गृहं तन्नास्ति देवकुलं राजकुलमपि तन्नास्ति ।  
 यत्राकारणकुपिता द्वौ त्रयः खला न दृश्यन्ते ॥

सज्जनवज्जा

४८\*१. सज्जन दाक्षिण्य का समुद्र है, वह क्षुब्ध होता है, कटु नहीं बोलता, दोष नहीं ग्रहण करता, गुणों को प्रकाशित करता है और छठने वालों पर भी नहीं रुटता ॥ १ ॥

४८\*२. सज्जन को जितना दुःख होना है, उतना सुख नहीं, क्योंकि वह जिसे-जिसे दुःखी देखता है, उसी-उसी के लिये शोक करने लगता है ॥ २ ॥

४८\*३. सज्जन स्पष्टतया (या सचमुच) अपने कार्य से विमुक्त होकर परकार्य में निरत रहते हैं। चन्द्रमा पृथ्वी को घबलित करता रहता है, अपना कलक नहीं पोछता ॥ ३ ॥

४८\*४. जो सत्यवचन का उच्चारण करते हैं, अगीकृत का पालन करते हैं, जो गुरुभार वहन करते रहते हैं और प्रसन्न-मुख रहते हैं, वे धैर्यवान् सज्जन चिरायु हो ॥ ४ ॥

४८\*५. यह गाथा धीरवज्जा में गाथा क्रमांक ९४ में किंचित् पाठ-भेद के साथ आ चुकी है ॥ ५ ॥

दुज्जनवज्जा

६१\*१. वह घर नहीं, वह मन्दिर नहीं और वह राजकुल नहीं, जहाँ अकारण कृपित होने वाले दो-तीन दुष्ट न दिखाई दें ॥ १ ॥

- ६४\*२. खल्वगो परिचते पेच्छह तिल्लेण ज फल पत्त ।  
 नियणाहिमुचिह्वानियपट्टनीत्त उवलहनेण ॥२॥  
 खल्वुल्ले परिचटे प्रेक्षय तिल्लेण यत्त फल प्राप्ताम् ।  
 नृगानिनुचिनिनात्तिप्रनुचोपम् उदन्तमानेन ॥
- ६४\*३. धन्ना वहिरवल्लिया दो न्विय जीवति मानुसे लोए ।  
 न मुणत्ति पिमुणवयण खल्वस्स रिद्धी न पेच्छति ॥३॥  
 धन्तो वधिरान्वी द्वावेव जीवतो मानुसे लोके ।  
 न नृगान्ति पिमुणवयण खल्वस्स ऋद्धीर्न प्रेक्षन्ते ॥
- ६४\*४. कारन न्विय चयुयारयाण निप्पन्नकञ्जविमुहाण ।  
 मल्लमुरयाण व दुज्जपाण मग्गो न्विय उडव्वो ॥४॥  
 कारन्म एव चाट्टकारकाण निप्पन्नकायविमुत्तानाम् ।  
 मल्लमुरत्तानामिव दुज्जनाना मां एवाव्वं ॥
- ६४\*५. पयडियपयावगुणकित्तणेण लज्जति जे महानत्ता ।  
 इयरा पुण अलियपसन्नणे वि अगे न मायति ॥५॥  
 प्रकटितप्रतापमुक्तिनेन लज्जन्ते ये महासत्त्वा ।  
 इतरे पुनरलीकप्रसन्नेऽप्यल्ले न मान्ति ॥

६४\*२. खल (खली और दुष्ट) का सग छोड़ देने से तेल ने जो फल पाया, उसे देख लो—कस्तूरी की महक से महकते हुये राजा के शिर पर उसे स्थान मिल गया ॥ २ ॥

६४\*३. वहरे और अन्ये धन्य हैं, वे ही मनुष्यलोक में जीवित हैं क्योंकि वे न तो निन्दको के वचन सुनते हैं और न खलो का वैभव देखते हैं ॥ ३ ॥

६४\*४ कुत्तो के मैयुन के समान दुष्टों का मार्ग ही अपूर्व है। वे प्रारम्भ में चाटुवाक्य बोलते हैं और कार्य पूरा हो जाने पर मुँह फेर लेते हैं (कुत्ते भी मैयुन के पूर्वं चाटुकारिता करते हैं और कार्य पूरा हो जाने पर मुँह दूसरी ओर कर लेते हैं) ॥ ४ ॥

६४\*५ जो महासत्त्व (महापुरुष) होते हैं, वे अपने प्रताप का वर्णन होने पर लज्जित हो जाते हैं। क्षुद्र लोग तो सूठी प्रशंसा से ही फूले नहीं समाते ॥ ५ ॥

### मित्तवज्जा

७२\*१ गंगा का प्रवाह, वटवृक्ष की तुंगता, सुजनो का अगोकार—ये पहले छोटे ही रहते हैं, पश्चात् वृद्धि प्राप्त करते हैं ॥ १ ॥

७२\*२. प्रिय के न देखने पर ओत्सुक्य, देखने पर ईर्ष्या, अधिक प्रेम होने पर मान और दूर चले जाने पर दुःख होता है। सखि ! प्रिय से सुख कहां मिलता है ? ॥ २ ॥

- ७२\*३. अज्वाहं पुष्पवई तुमं पि रे चुंवणसयण्हो ।  
तह चुंव जह न छिप्पसि भणिऊणसमप्पिओ अहरो॥३॥  
अज्वाहं पुष्पवती त्वमपि रे चुम्बनसतूष्णः ।  
तथा चुम्ब यथा न स्पृशसि भणित्वा समर्पितोऽधरः ॥
- ७२\*४. हत्थे ठियं कवालं न मुयइ वराई खणं पि खट्ठंगं ।  
सा निदय तुज्ज कए वाला कावालिणी जाया ॥४॥  
हस्ते स्थितं कपालं न मुञ्चति वराकी क्षणमपि खट्वाङ्गम् ।  
सा निदयं तव कृते वाला कपालिनी जाता ॥
- ७२\*५. कीरइ समुदतरणं पविसिज्जइ हुयवहम्मि पज्जलिए ।  
आयामिज्जइ मरणं नत्थि दुलंघं सिणेहस्स ॥५॥  
क्रियते समुद्रतरणं प्रविश्यते हुतवहे प्रज्वलिते ।  
आकाम्यते मरणं नास्ति दुर्लङ्घ्यं स्नेहस्य ॥
- ७२\*६. मा जाणसि वीसरियं तुह मुहकमलं विदेसगमणम्मि ।  
सुध्नं भमइ करकं जत्थ तुमं जीवियं तत्थ ॥६॥  
मा जानासि विस्मृतं तव मुखकमलं विदेशगमने ।  
शून्यं भ्रमति करको यत्र त्वं जीवितं तत्र ॥
- ७२\*७. रणरणइ घरं रणरणइ देउलं राउलं पि रणरणइ ।  
एक्केण विणा सुंदरि रणरणइ ससायरा पुहवी ॥७॥  
रणरणकं करोति गृहं रणरणकं करोति देवकुलं राजकुलमपि  
रणरणकं करोति ।  
एकेन विना सुन्दरि रणरणकं करोति ससागरा पृथ्वी ॥
- ७२\*८. वहले तमंघयारे विज्जुज्जोएण दीसए मग्गो ।  
अहिसारियाण नेहो अत्थि-अणत्थो पप्पसेइ ॥८॥  
वहले तमोऽन्धकारे विद्युद्योतेन दृश्यते मार्गः ।  
अभिसारि कानां स्नेहोऽस्तिनास्ति प्रकाशयति ॥

७२\*३. “अरे आज मैं पुष्पवती (रजस्वला) हूँ और तुम भी चुम्बन के प्यासे हो रहे हो, ऐसा चुम्बना कि छू न जाय” कहकर नायिका ने अघर उसकी ओर कर दिया ॥ ३ ॥

७२\*४. यह गाया किञ्चित् पाठ-भेद से ओलुगाविया-वज्जा में गाया क्रमांक ४३६ पर आ चुकी है ॥ ४ ॥

७२\*५. समुद्र का संतरण किया जाता है, प्रज्ज्वलित हुताशन में प्रवेश किया जाता है, मृत्यु का वरण किया जाता है—प्रेम के लिये कुछ दुर्लभ्य नहीं है ॥ ५ ॥

७२\*६. विदेश जले जाने पर तुम्हारा मुखपक्ष भूल गया होगा—यह मत समझ लेना, रिक्त अस्थिपजर (करक) ही डोल रहा है, जीव बही है, जहाँ तुम हो ॥ ६ ॥

७२\*७. घर दुःख देता है, देव-मन्दिर दुःख देता है और राजभवन भी दुःख ही देता है। अकेली उसी (प्रेमी) के बिना समुद्र से घिरी सम्पूर्ण पृथ्वी कष्टमय हो गई है ॥ ७ ॥

७२\*८. घनान्धकार में विजली की कौंध से मार्ग दिखाई देता है। अभिसारिकाओं का प्रेम—मार्ग में बया है, क्या नहीं? —यह प्रकाशित कर देता है ॥ ८ ॥

(विजली की जरासी कौंध अँधेरे में मार्ग दिखाने के लिये पर्याप्त है, क्योंकि उन्हें अपने प्रेम से ही मार्ग दर्शन होता है)

## नेहवज्जा

- ८०\*१ गुणवज्जिए वि नेहो अह नेहो होइ कस्स वि कह पि ।  
 मोत्तूण मणहरदुमे निबम्मि दिवायरो वसइ ॥१॥  
 गुणवर्जितेऽपि स्नेहोऽथ स्नेहो भवति कस्यापि कथमपि ।  
 मुक्त्वा मनोहरदुमात् निम्बे दिवाकरो वसति ॥
- ८०\*२ दूरयरदेशपरिसठियस्स प्रियसगम वहतस्स ।  
 आसाबधो च्चिय माणुसस्स परिरक्खए जीय ॥२॥  
 दूरतरदेशपरिसस्थितस्य प्रियसङ्गम वहत ।  
 आशाबन्ध एव मानुषस्य परिरक्षति जीवितम् ॥
- ८०\*३ एक्केण विणा प्रियमाणुसेण सन्भावणेहभरिएण ।  
 जणसकुला वि पुहवी अब्बो रण्ण व पडिभाइ ॥३॥  
 एकेन विना प्रियमानुषेण सद्भावस्नेहभूतेन ।  
 जनसङ्कुलापि पृथ्वी अहो अरण्यमिव प्रतिभाति ॥

## नीइवज्जा

- ९०\*१ लवणसमो नत्थि रसो विज्ञानसमो य ब धवो नत्थि ।  
 धम्मसमो नत्थि निही कोहसमो वेरिओ नत्थि ॥१॥  
 लवणसमो नास्ति रसो विज्ञानसमो बान्धवो नास्ति ।  
 धर्मसमो नास्ति निधि क्रोधसमो वैरो नास्ति ॥
- ९०\*२ महिला जत्थ पहाणा डिभो राया निरक्खरो मंती ।  
 अच्छउ ता धणरिद्धी जीय रक्खउ पयत्तेण ॥२॥  
 महिला यत्र प्रधाना डिभो राजा निरक्षरो मन्त्री ।  
 आस्ता तावद् धनऋद्धिर्जीव रक्षतु प्रपत्नेन ॥
- ९०\*३ जस्म न गिण्हति गुणा सुयणा गाट्ठीसु रणमुहे सुहडा ।  
 नियजणणिजोव्वणुल्लूरणेण जाएण किं तेण ॥३॥  
 यस्य न गृह्णन्ति न गुणान् सुजना गोष्ठोपु रणमुखे सुमदा ।  
 निजजननीयीवनोच्छेदकेन जानेन किं तेन ॥

### मेरुपर्व

८०\*१. गुणहीन में भी प्रेम हो जाता है अपना प्रेम विगो में भी हो जाता है । मनोहर वृक्षां को छोड़कर कोआ नाम पर रहता है ॥ १ ॥

८०\*२. यह गाथा पियोल्लावपर्व में (गा० ७८६) विनिन् परिषर्नन के साथ संगृहीत है । अर्थ में कोई विनोद अन्तर नहीं है ॥ २ ॥

८०\*३. यह पियोल्लावपर्व की क्रमांक ७८१ की गाथा है । अर्थ यही देंगे ॥ ३ ॥

### नीरुपर्व

९०\*१. नमक के समान रस नहीं, विज्ञान के समान बाणधर नहीं, धर्म के समान निधि नहीं और क्रोध के समान वेरी नहीं ॥ १ ॥

९०\*२. जहाँ महिला की प्रधानता है, राजा बाणधर है और मन्त्री निरक्षर है, वहाँ धन-भूमि रहने दो, प्रपल्ल-मूर्खक प्रान्तों की गथा करो ॥ २ ॥

९०\*३. यह गाथा गुण्डावपर्व में गाथा क्रमांक ६९८ पर है ।



- ९०\*४ कुप्युत्तेहि कुलाइ गामणगराइ पिसुणसीलेहि ।  
 नासति कुमतीहि नराहिवा सुट्ठु वि समिद्धा ॥४॥  
 कुपुत्रे कुलानि ग्रामनगराणि पिशुनशीले ।  
 नश्यन्ति कुमन्त्रिभिनंराधिपा सुष्ठु अपि समृद्धा ॥
- ९०\*५ नासइ वाएण तुस नासइ गेय जणस्स सद्देण ।  
 अगुणिज्जती विज्जा नासइ भज्जा पवासेण ॥५॥  
 नश्यति वातेन तुष नश्यति गेय जनस्य शब्देन ।  
 अगुण्यमाना विद्या नश्यति भार्या प्रवासेन ॥
- ९०\*६ कज्ज एव्व पमाण कह व तुलम्मेण कज्जइत्ताण ।  
 जइ त अवहेरिज्जइ पच्छा उण दुल्लह होइ ॥६॥  
 कार्यमेव प्रमाण कथ वा तुलाग्रण कार्यकतुणाम् ।  
 यदि तदवहेत्यते पश्चात् पुनर्दुर्लभ भवति ॥
- ९०\*७ मा होसु सुयग्गाही मा पत्तीय ज न दिट्ठ पच्चक्ख ।  
 पच्चक्खे वि य दिट्ठे जुत्ताजुत्त वियारेह ॥७॥  
 मा भव श्रुतग्राही मा प्रत्येहि यत्त दृष्टप्रत्यक्षम् ।  
 प्रत्यक्षेऽपि च दृष्टे युक्तयुक्त विचारयत ॥
- ९०\*८ धम्मो घणाण मूल जाया मूल सुहाण सयलाण ।  
 विणओ गुणाण मूल दप्पो मूल विणासस्स ॥८॥  
 धर्मो घनाना मूल जाया मूल सुखाना सवलानाम् ।  
 विनयो गुणाना मूल दपो मूल विनाशस्य ॥
- ९०\*९ नासइ जूएण घण नासेइ कुलं अमीलवताण ।  
 अइरुव्वेण नि महिला नामइ राया कुमतीहि ॥९॥  
 नश्यति दूतेन घन नश्यति कुलमशोकवनाम् ।  
 अतिरूपेणापि महिला नश्यति राजा कुमन्त्रिभि ॥

९०\*४. कुमुत्र से कुल, पिशुनो (निन्दको) से ग्राम और नगर तथा कुमन्त्रियो से भली प्रकार समृद्ध राजा भी नष्ट हो जाते हैं ॥ ४ ॥

९०\*५. हवा से भूसी नष्ट हो जाती है (उड़ जाती है), लोगो के शब्द (कोलाहल) करने से गीत चौपट हो जाता है, विद्या अभ्यास न करने से नष्ट हो जाती है और भार्या प्रवास से नष्ट हो जाती है ॥ ५ ॥

९०\*६. कार्य ही (योग्यता का) प्रमाण कैसे हो सकता है? जो लोग काकतालीय न्याय (संयोग) से किसी कार्य में सफल हो जाते हैं, वे यदि उस अवसर की (संयोग की) अवहेलना कर दें, तो फिर कभी भी वह कार्य नहीं कर सकते ॥ ६ ॥

९०\*७. सुनी बात को मत ग्रहण करो। जिसे देखा-सुना नहीं, उस पर विश्वास न करो। अपनी आँखों से देखने पर भी युक्त और अयुक्त का विचार करो ॥ ७ ॥

९०\*८. धर्म धनो का मूल है, स्त्री सम्पूर्ण सुखो का मूल है, विनय गुणों का मूल है और दर्प विनाश का मूल है ॥ ८ ॥

९०\*९. धन द्यूत से नष्ट होता है, कुल दुराचारियो से नष्ट होता है, स्त्री अति सुन्दरता होने से नष्ट होती है और राजा कुमन्त्रियो से नष्ट होता है ॥ ९ ॥

- ९०\*१० जम्मातर न गह्य गह्य पुरिसस्स गुणगणगहण ।  
मुत्ताहल च गह्य न हु गह्य सिप्पिसउडय ॥१०॥  
जन्मान्तर न गुरु गुरु पुरुषस्य गुणगणग्रहणम् ।  
मुक्ताफल च गुरु न खलु गुरु शुक्सिपुटकम् ॥
- ९०\*११ ज जाणइ भणउ जणो गुणाण विहवस्स अतर गह्य ।  
लब्भइ गुणेहि विहवो विहवेण गुणा न लब्भति ॥११॥  
यज्जानाति भणतु जनो गुणाना विभवानामन्तर गुरु ।  
लभ्यते गुणेविभवो विभवेन गुणा न लभ्यन्ते ॥
- ९०\*१२ बुद्धी सच्च मित्त चरत्त नो महाकब्ब (?) ।  
पुब्ब सव्वा पि सुह पच्छा दुक्खेण निव्वहइ ॥१२॥  
बुद्धि सत्य मित्र (?) नो महाकाव्यम् ।  
पूर्वं सर्वमपि सुख पश्चाद् दुःखेन निर्वहति ॥
- ९०\*१३ किं वा गुणेहि कीरइ किं वा रूपेण किं च सीलेण ।  
धणविरहियाण सुदरि नराण को आयर कुणइ ॥१३॥  
किं वा गुणै क्रियते किं वा रूपेण किं च शीलेन ।  
धनविरहिताना सुन्दरि नराणा क आदर करोति ॥
- ९०\*१४ ठाण गुणेहि लब्भइ ता गुणगहण अवस्स कायब्ब ।  
हारो वि गुणविहूणो न पावए तरुणिथणवट्टं ॥१४॥  
स्यान् गुणैर्लभ्यते तद् गुणग्रहणमवश्य कर्तव्यम् ।  
हारोऽपि गुणविहीनो न प्राप्नोति तरुणीस्तनपट्टम् ॥
- ९०\*१५ देसे गामे नयरे रायपहे तियचउक्कमग्गे वा ।  
जस्स न वियरइ किन्ती धिरत्थु किं तेण जाएण ॥१५॥  
देशे ग्रामे नगरे राजपथे त्रिकचतुष्कमार्गे वा ।  
यस्य न विचरति कीर्तिर्धनस्तु किं तेन जातेन ॥

९०\*१०. यह गाथा गुणवज्रा में गाथा क्रमांक ६८७ पर है ॥१०॥

९०\*११. यह गाथा भी गुणवज्रा में गाथा क्रमांक ६८९ पर है ॥ ११ ॥

\*९०\*१२. बुद्धि, सत्य, मैत्री, सेवारत सेवक और महाकाव्य—ये सभी प्रारम्भ में सरल होते हैं, परन्तु बाद में इनका निर्वाह करना कठिन हो जाता है ॥ १२ ॥

९०\*१३. यह गाथा दारिद्र्यवज्रा में गाथा क्रमांक १४३ पर है ।

९०\*१४ यह गाथा गुणवज्रा में गाथा क्रमांक ६९० पर है ॥१४॥

९०\*१५. यह गाथा गुणसलाहा वज्रा में गाथा क्रमांक ७०० पर है ॥ १५ ॥

---

† इन गाथाओं में अर्थ सूचित स्थलों पर देखें ।

\* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में देखिए ।

## साहसवज्जा

- ११९\*१. विहवक्खए वि दाण भाण वसणे वि धोरिमा मरणे ।  
 कज्जसए वि अमोहो पसाहण धोरपुरिसाण ॥१॥  
 विभवक्षयेऽपि दानं मानो व्यसनेऽपि धैर्यं मरणे ।  
 कार्यंशतेऽप्यमोह प्रसाधन धोरपुरुषाणाम् ॥
- ११९\*२. धीरा मया वि कज्ज नियय साहति, पेच्छह हरस्स ।  
 दह्ढेण वि अवरद्ध अवहरिय कुसुमबाणेण ॥२॥  
 धीरा मृता अपि कार्यं निजक साधयन्ति, पश्यत हरस्य ।  
 दग्धेनापि अपराधम् अपहृत कुसुमबाणेन ॥
- ११९\*३. जह जह वाएइ विही विसरिसकरणेहि निट्ठुर पडह ।  
 धीरा पहसियवयणा नच्चति य तह तह च्चेव ॥३॥  
 यथा यथा वादयति विधिर्विसदृशकरणैर्निष्ठुर पटहम् ।  
 धीरा प्रहसितवदना नृत्यन्ति च तथा तथैव ॥

## सेवयवज्जा

- \*१६१\*१. अप्पत्थिय न लब्भइ, पत्थिज्जतो वि कुप्पसि नरिद ।  
 हद्धी कह सहिज्जइ कयतवसहिं गए सते ॥१॥  
 अप्रार्थित न लभ्यते प्रार्थ्यमानोऽपि कुप्यसि नरेन्द्र ।  
 हा धिक्, कथं सहिष्यते कृतान्तवसतिं गते सति ॥

## सुहडवज्जा

- १७८\*१. चिरयालसठियाइ सामियजणियाइ माणदुक्खाइ ।  
 रिउगयदसणप्पेल्लणविवरेहि भडस्स गलियाइ ॥१॥  
 चिरकालसस्थितानि स्वामिजनितानि मानदुःखानि ।  
 रिपुगजदशनप्रेरणविवरेभैटस्य गलितानि ॥
- १७८ २. कद्दमरुहिरविलित्तो रणगणे नेय निवडिओ सुहडो ।  
 अइसाहसेण भीओ इदो अमएण सिंचेइ ॥२॥  
 कद्दमरुधिरविलिप्तो रणाङ्गणे नैव निपतित सुभट् ।  
 अतिसाहसेन भीत इन्द्रोऽमृतेन सिञ्चति ॥

साहसवज्जा

११९\*१. घन क्षीण हो जाने पर भी दान, व्यसन (संकट) में भी मान, मरने पर भी घेयं और सैकड़ों कार्यों में भी मोह-अस्त न होना—ये धीर-पुरुषों के आंगूषण हैं ॥ १ ॥

११९\*२. धीर पुरुष मर कर भी अपना निश्चित कार्य सिद्ध कर लेते हैं, देखो भस्म हो जाने पर भी कामदेव ने शिव का आधा शरीर हर लिया ॥ २ ॥

११९\*३. जैसे-जैसे विद्याना विपमनाओं को उत्पन्न करके निष्ठुरता पूर्वक नगाड़ा बजाता है, वैसे-वैसे धीर पुरुष प्रफुल्ल मुख से नाचते रहते हैं ॥ ३ ॥

सेव्यवज्जा

\*१६१\*१. राजत् ! बिना मांगे मिलना नहीं और मांगने पर तुम क्रुद्ध हो जाते हो ! हाय ! धिक्कार है, जब यमराज के घर जाओगे, तब वहाँ की यातना तुमसे कैसे सही जायगी ॥ १ ॥

सुहृद्वज्जा

१७८\*१. स्वामी के सम्मान से उत्पन्न होने वाला चिर-काल-सर्वत्र दुःख (यह सोच कर कि मैं इतने अधिक सम्मान का पात्र नहीं हूँ)—शत्रु के हाथियों के दाँतों के घँमने से होने वाले विवरों से बह गया ॥ १ ॥

१७८\*२. रक्त-यक से लिप्त होने पर भी वह रणागण में गिरा नहीं, भयभीत इन्द्र ने (कही स्वर्ग में आकर उपद्रव न करे) अमृत से सींचकर जीवित कर दिया ॥ २ ॥

\* विशेष विवरण परिलिप्त 'स' में देखिये ।

- १७८\*३. एकक्तो रूयइ पिया अन्नत्तो समरतूरणिग्घोसा ।  
पेम्मेण रणरसेण य भटस्स दोलाइयं हियय ॥३॥  
एकतो रोदिति प्रिया, अन्यत समरतूर्यनिर्घोपाः ।  
प्रेम्णा रणरसेन च भटस्य दोलायित हृदयम् ॥

गयवज्जा

- १९९\*१. सिद्धगणाउरस्थलयणभरुच्छलत्तमथरतरग ।  
सुमरतो च्चिय मरिहिसि गइद रे नम्मयाणीर ॥१॥  
सिद्धाङ्गनाउरस्थलस्तनभरोच्छलन्मथरतरङ्गम् ।  
स्मरन्नेव मरिष्यसि गजेन्द्र रे नर्मदानोरम् ॥
- \*१९९\*२. दंतुल्लिहण सव्वगमज्जण हत्थचल्लणायास ।  
पोढगइदाण मय पुणो वि जइ नम्मया सहइ ॥२॥  
दन्तोल्लिखन सर्वाङ्गमञ्जन हस्तचालनायासम् ।  
प्रौढगजेन्द्राणा मद पुनरपि यदि नर्मदा सहते ॥
- १९९\*३. सयलजणपिच्छणिज्जो जो अप्पा आसि सो तए मूढ ।  
केसरिभएण भज्जत अज्ज लहुयत्तण पत्तो ॥३॥  
सकलजनप्रेक्षणीयो य आत्मासीत् स त्वया मूढ ।  
केसरिभयेन भज्यमान अद्य लघुत्व प्राप्तः ॥
- \*१९९\*४. सरला मुहे न जीहा थोवो हत्थो मउब्भडा दिट्ठी ।  
रे रयणकोडिगव्विर गइद न हु सेवणिज्जो सि ॥४॥  
सरला मुखे न जिह्वा स्तोको हस्तो मदोद्भटा दृष्टि ।  
रे रत्नकोटिगव्विन् गजेन्द्र न खलु सेवनीयोऽसि ॥
- \*१९९\*५. कुजर मइददसणविमुक्कपुक्कारमयपसगेण ।  
न हु नवरि तए अप्पा वि सो वि लहुयत्तण पत्तो ॥५॥  
कुञ्जर मृगेन्द्रदर्शनविमुक्तपूत्कारमदप्रसङ्गेन ।  
न खलु केवलं त्वया आत्मापि सोऽपि लघुत्व नीतः ॥

१७८\*३. एक ओर प्रिया रो रही है, तो दूसरी ओर समर में तूर्य वज्र रहे हैं—प्रेम और रणोत्साह से वीर का मन सन्देह में पड़ गया ॥ ३ ॥

गयवज्जा

१९९\*१. गजेन्द्र ! सिद्धो की रमणियों के वक्षस्थल में स्थित चरोजो पर उछलती हुई जिस की तरंगें मन्यर गति से बहने लगती हैं, उस नर्मदा जल (नर्मदा नदी के पानी) की स्मृति करते-करते ही मर जाओगे ॥ १ ॥

\*१९९\*२. यह नर्मदा ही है, जो प्रौढगजेन्द्रो की प्रमत्तता की स्थिति में, दाँतो से तटो का खोदना, सम्पूर्ण शरीर को जल में डुबो देना और सूँडों के मचालन का आयास (कष्ट) सह लेती है ॥ २ ॥

द्वितीयार्थ—यह सुन्दरी ही है जो (कपोलादि पर) दाँतो से होने वाला क्षत, सम्पूर्ण लिंग का भग में प्रविष्ट हो जाना, (कुचादि पर) हस्त मचालन से उत्पन्न आयास और गजेन्द्रो के समान प्रौढ पुरुषों का वीर्य (या रमणोन्माद) सह ले जाती है ।

१९९\*३. केसरो (सिंह) के भय से भागने वाले, अरे मूढ़ गजराज ! तुम्हारी जो आकृति सब लोगों के द्वारा प्रेक्षणीय थी, उसे तुम ने आज तुच्छ (लघु) बना दिया है ॥ ३ ॥

\*१९९\*४. मुँह में सीधी जिह्वा नहीं है, सूँड स्वल्पाकृति है, दृष्टि मद से भयानक हो गई है । अरे दाँतो की कोरी पर गर्वशील गजेन्द्र ! तुम आरोहण के योग्य नहीं हो ॥ ४ ॥

द्वितीयार्थ—सीधे मुँह बात नहीं करते हो, हाथ छोटा है (और छोटे हाथ से थोड़ा दान ही सम्भव है), दृष्टि गर्व से भयानक बन गई है । अरे करोड़ों रत्नों पर गर्वित (या रत्नों की श्रेणियों पर गर्वित) नरेन्द्र ! तुम सेवा करने योग्य नहीं हो (क्योंकि धनी होने पर तुम्हारी सेवा से कोई कुछ पा नहीं सकता) ।

\*१९९\*५. अरे गजेन्द्र ! जब सिंह को देख कर मद (हाथी के कुमस्थल से प्रवाहित होने वाला जल) छोड़कर चीत्कार करने लगे, तब तुम ने अपनी श्रेष्ठ आत्मा (या विशाल आकृति) को ही नहीं, उस दुर्धर्ष आक्रामक सिंह को भी लघु बना दिया (अर्थात् ऐसे भीष एव निर्बल गज पर आक्रमण करने वाले सिंह में क्या पराक्रम रह गया) ॥ ५ ॥

\* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में देखिये ।



## वाहवज्जा

\*२१४\*१ ओ सुयइ विल्लरव्विल्ललुलियघम्मिल्लकुतलकलावो ।

अन्नत्थ वच्च वाणिय अम्हं मुत्ताहलं कत्तो ॥१॥

अहो स्वपिति लुलितघम्मिल्लकुन्तलकलाप ।

अन्यत्र व्रज वणिग् अस्माकं भुक्ताफलं कुत ॥

२१४\*२ इतीइ कुलहराओ नाय वाहीइ भत्तुणो मरण ।

गयमयकबोलणिहसणमलमइलकरजसाहाहि ॥२॥

आयत्था कुलगृहाज ज्ञात व्याध्या भर्तुर्मरणम् ।

गजमदकपोलनिघर्षणमलमलिनकरञ्जशाखाभि ॥

२१४\*३ न तहा पइमरणे वि हु रुण्ण वाहीइ निब्भरक्कठ ।

जह पल्लिसमासन्ने गइदगलगज्जिय सोउ ॥३॥

न तथा पतिमरणेऽपि खलु रुदित व्याध्या निर्भरकण्ठम् ।

यथा पल्लीसमासन्ने गजेन्द्रगलगर्जितं श्रुत्वा ॥

२१४\*४ पल्लिपएसे पज्जूसणिग्गय लुलियकुतलकलाव ।

दट्ठूण वाहवद दतक्कइया नियत्तति ॥४॥

पल्लीप्रदेशे प्रत्यूषनिर्गतं लुलितकुन्तलकलापम् ।

दृष्ट्वा व्याधवृन्दं दन्तक्रयिका निवर्तन्ते ॥

\*२१४\*५ अच्छउ ता करिवहण तुह तणुओ धणुहर समुल्लिहइ ।

धोरधिरथणहराण किं अम्ह माहप्प ॥५॥

आस्ता तावत् करिवधनं तव तनुजो धनुर्हर(?)समुल्लिखति ।

स्थूलस्थिरस्तनभराणां किमस्माकं माहात्म्यम् ॥

## करहवज्जा

२२६\*१ दे जं पि त पि अहिलससु पल्लव मा कहि पि रे करह ।

उड्डमुहदीहसासो वल्लि सरतो विवज्जिहसि ॥१॥

अहं प्रार्थये, यदपि तदपि अभिलषस्व पल्लव मा कुत्रापि रे करभ ।

ऊर्ध्वमुखदीधन्नासो वल्ली स्मरन् विपत्स्यसे ॥

बाहवज्जा

\*२१४\*१. ओह, मेरा पुत्र सो रहा है, उसके बालों की लटें प्रिया कोमल एवं स्वच्छ केश-शाश में मिश्रित हो गई हैं। वणिक्! अन्यत्र जाओ, हमारे पास मुक्ताफल कहाँ ? ॥ १ ॥

२१४\*२ पिता के घर से आती हुई व्याधवधू ने मनवाले गजराजों के कपोलों के धर्पण से लगने वाले मैल से मलिन करज-शाखाओं से जान लिया कि मेरे पति की मृत्यु हो गई है ॥ २ ॥

२१४\*३ पति के मरने पर भी व्याधवधू ने वैसा मुककंठ से क्रन्दन नहीं किया जैसा पल्लो (गाव) के निकट हाथियों की गर्जना सुन कर ॥ ३ ॥

२१४\*४. गाँवों में बिखरे बालों वाले व्याध-वृन्द को प्रत्युप में निकला हुआ देखकर हाथी-दाँत खरीदने वाले लौट जाते हैं ॥ ४ ॥

\*२१४\*५ ( हे सास ! ) हाथियों को मारना तो दूर रहे, तुम्हारा पुत्र भारी धनुष के भार को छील कर हल्का कर रहा है। हमारे पीन एवं सुदृढ़ पयोधरों की क्या महत्ता रह गई ॥ ५ ॥

करह-वज्जा

२२६\*१ मेरी प्रार्थना है, कही भी, जिस-किसी पल्लव की इच्छा कर लो। ऊर्ध्व-मुल हो कर दीर्घ श्वास लेने वाले करह ! ( ठँट ) उस चैलि का स्मरण करते हुए कही मर न जाओ ॥ १ ॥

\* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में देखिये।

२२६\*२. कह वि तुलगावडियं महुपडलं चक्खिऊण मा खिज्ज ।  
 हियइच्छियाइ कत्तो अणुदियह करह लब्भति ॥२॥  
 कथमपि यदृच्छापतित मधुपटलमास्वाद्य मा खिद्यस्व ।  
 हृदयेप्सितानि कुतो अनुदिवस करम लभ्यन्ते ॥

२२६\*३. नीसससि स्यसि खिज्जसि जूरसि चितेसि भमसि उब्बिबो ।  
 सा मरणस्स कए ण करह तए चक्खिया वल्ली ॥३॥  
 निःश्वसिषि, रोदिषि, खिद्यसे, क्षीयसे, चिन्तयसि भ्रमसि उद्विग्न ।  
 सा मरणस्य कृते खलु करम त्वया आस्वादिता वल्ली ।

### इदिदिरवज्जा

२५२\*१ मोत्तूण वियडकेसरमयरदुद्दामसुरहिसयवत्त ।  
 जे महइ महुयरो पाडलाइ त केण व गुणेण ॥१॥  
 मुक्त्वा विकटकेसरयकरन्दोद्दामसुरभिमतपत्रम् ।  
 यत् काङ्क्षति मधुकर पाटलानि तत् केन वा गुणेन ॥

२५२\*२ त किं पि पएस पकयस्स भमिऊण छप्पओ छिवइ ।  
 नलिणीण जेण कड्ढइ आमूलगय पि मयरद ॥२॥  
 तं किमपि प्रदेश पङ्कजस्य भ्रान्त्वा षट्पद स्पृशति ।  
 नलिनीना येन कर्पति आमूलगतमपि मकरन्वम् ॥

२५२\*३ इदिदिर मा खिज्जसु दे निलसु कहिं पि मालईविरहे ।  
 हियइच्छियाइ न हु सपडति दिव्वे पराहुत्ते ॥३॥  
 इन्दिन्दिर मा खिद्यस्व प्रार्थये निलय कुत्रापि मालतीविरहे ।  
 हृदयेप्सितानि न खलु सपतन्ति देवे परागभूते ॥

२५२\*४ बहुगधलुद्ध महुयर कमलउडणिरुद्ध खिज्जसे कीस ।  
 अहवा वसणासत्ता अन्ने वि सुह न पावति ॥४॥  
 बहुगन्धलुब्ध मधुकर कमलपुटनिरुद्ध खिद्यसे कस्मात् ।  
 अथवा व्यसनासका अन्येऽपि सुख न प्राप्नुवन्ति ॥

२२६\*२ हे करम ! वही संयोग से प्राप्त मधु-पटल को चब कर  
खिन्न मत हो जाओ । मनमाने भोग सर्वदा वहाँ मिलते हैं ? ॥ २ ॥

२२६\*३. आह भरते हो, रोने हो, खिन्न होने हो, शोक होने हो,  
चिन्ता करते हो, उद्विग्न हो कर भ्रमण करते हो, अरे करम ! तुम ने  
मानो अपनी मृत्यु के लिये उस बत्ती (लता) का आस्वादन किया  
था ॥ ३ ॥

### इतिद्विर-वज्रा

२५२\*१. उत्कृष्ट केसर, मकरन्द और उद्दाम सुरभि वाले शतपल  
(कमल) को छोड़ कर यदि अमर पाटला को चाहता है, तो वह उसके  
किस गुण के कारण ? ॥ १ ॥

२५२\*२ अमर भँडारकर कमल के कुछ ऐसे स्थान का स्पर्श करता  
है कि नलिनियों (कमल के पौधों) के मूल में भी स्थित मकरन्द को खींच  
लेता है ॥ २ ॥

२५२\*३. मधुकर ! खेद मत करो, प्रार्थना करता हूँ, मालती के  
वियोग में वही छिप जाओ । माय्य विमुख होने पर मनोवाञ्छित वस्तु नहीं  
मिलती ॥ ३ ॥

२५२\*४. सुगन्ध-लोभी अमर ! कमल के सपुट में निरुद्ध  
हो कर क्यों खिन्न होते हो । अन्य सबट में पड़े व्यक्ति भी सुख नहीं पाते  
हैं ॥ ४ ॥

## हसवज्रा

- २६३\*१. वच्चिहिसि तुम पाविहिसि सरवर रायहस, किं चोज्ज ।  
माणससरसारिक्ख पुहवि भमतो न पाविहिसि ॥१॥  
वजिप्यसि त्व प्राप्स्यसि सरोवर राजहस, किं चित्रम् ।  
मानससरसदृक्ष पृथिवी भ्रमन् न प्राप्स्यसि ॥
- २६३\*२ माणससरोरुहाण मा साय सरसु रे हस ।  
कज्जाइ दिव्ववससठियाइ दुक्खेहि लब्धमिति ॥२॥  
मानससरोरुहाणा मा सात स्मर रे हस ।  
कार्याणि देववशसस्थितानि दुस्खैर्लभ्यन्ते ॥
- २६३\*३ हसेहि सम जह रमइ कमलिणी तह य महुयरेणावि ।  
सियकसिणणिच्चिसेसाइ होति महिलाण हिययाइ ॥३॥  
हंसे सम यथा रमते कमलिनी तथा च मधुकरेणापि ।  
सितवृष्णनिविशेषाणि भवन्ति महिलाना हृदयानि ॥
- २६३\*४. विउल पि जलं जलरकुण्हि तह कलुसिय हयासेहिं ।  
जह अवसरवडियाण वि न हु निलय रायहसाण ॥४॥  
विपुलमपि जलं जलरकुण्ठैस्तथा कलुषितं हताशैः ।  
यथा अवसरपतितानामपि न एतद् निलयो राजहंसानाम् ॥

## छङ्गलवज्रा

- २८४\*१ अवस्रडियउवयारा पुव्वाभावे अभिन्नमुहराया ।  
सिढिलता वि सिणेह छेया दुक्खेहि नज्जति ॥१॥  
अराण्हितोपनारा पूर्वाभावे अभिन्नमुसराणा ॥  
सिथिल्यन्तोऽपि स्नेहं छेवा दुस्खैर्नाप्यन्ते ॥
- २८४\*२ ताव च्चिय द्दल्लया जाव च्चिय नेहूपरियसरीरा ।  
छेया नेहविहूणा तिलसच्छाया खला वृत्ति ॥२॥  
तावदेव अनुवम्पिनो यावदेव स्नेहपूरितसरीरा ।  
छेया स्नेहविहीनास्तिलमदृशा गन्ता भवन्ति ॥

### हंस-वज्रा

२६३\*१. अरे राजहंस ! तुम जाओगे और सरोवर भी पा जाओगे— इसमें आश्चर्य क्या ? परन्तु पृथ्वी भर में भटक कर भी मानस जैसा सरोवर तो नहीं ही पाओगे ॥ १ ॥

२६३\*२. अरे हंस ! मानस के कमलों का सुख मत स्मरण करो ! देवाधीन वस्तु दुःख से ही मिलती है ॥ २ ॥

२६३\*३. कमलिनी जैसे हंस के साथ क्रीडा करती है, वैसे ही भ्रमर के साथ भी ! महिलाओं के हृदय शृष्ण और शुबल में अन्तर नहीं रखते ॥ ३ ॥

२६३\*४. दुष्ट जलरंजुओं (जल-जन्तुओं) ने सरोवर का विपुल जल ऐसा क्लुपित कर दिया कि अवसर पर आने वाले राजहंसों के लिये अब स्थान ही नहीं रह गया ॥ ४ ॥

### छद्मल-वज्रा

२८४\*१. जिनका उपचार खंडित नहीं होता (या जो उपकार करना बन्द नहीं करते), पहले-जैसा प्रेम न रह जाने पर भी जिनके मुँह का रंग परिवर्तित नहीं होता, वे विदग्ध जन विरक्त होने पर भी कठिनाई से जाने जाते हैं ॥ १ ॥

२८४\*२. विदग्ध जन स्नेह-हीन (प्रेमहीन और तेलहीन) हो जाने पर तिलों के समान खल (दुष्ट और खली) बन जाते हैं। वे तभी तक कोमल रहते हैं, जब तक उनका शरीर स्नेह (प्रेम और तेल) से पूर्ण होता है ॥ २ ॥

१. रङ्ग शब्द भ्रूणवाचक है। लक्षणया उसे जीव के अंग में दृष्ट कर सकते हैं। नैपथ्य (२।८३) में यह मूय के अंग में हो प्रयुक्त है।

- २८४\*३. वंकभणियाइ कत्तो कत्तो अद्धच्छिपेच्छियव्वाइ ।  
 ऊससिय पि मुणिज्जइ छइल्लजणसकुले गामे ॥३॥  
 वक्रभणितानि कुतः कुतो अर्धाक्षिप्रेछितव्यानि ।  
 उच्छ्वसितमपि ज्ञायते छेक्जनसङ्कुले ग्रामे ॥
- २८४\*४. अणुणयकुसल परिहासपेसल लडहवाणिसोहिल्लं ।  
 आलाव च्चिय छेयाण कम्मणं किं च मूलीहि ॥४॥  
 मनुनयकुशल परिहासपेशल लटभवाणीशोभाढ्यम् ।  
 आलाप एव च्छेकाना कर्मणं, किं च मूलीभिः ॥
- २८४\*५. ते धन्ना ताण नमो ते कुसला ताण वम्महपसाओ ।  
 जे बालतरुणिपरिणयवयाहि हियए धरिज्जति ॥५॥  
 ते धन्यास्तेभ्यो नमस्ते कुशलास्तेषा मन्मथप्रसादः ।  
 ये बालातरुणीपरिणतवयोमिहृदये धार्यन्ते ॥
- \*२८४\*६. वंक ताण न कीरइ किं कज्ज जस्स ते वि याणति ।  
 सम्भावेण य छेया पुत्ति देव व्व घेप्पति ॥६॥  
 वक्रं तेषा न क्रियते किं कार्यं यस्य तेऽपि जानन्ति ।  
 सद्भावेन च च्छेकाः पुत्रि देवा इव गृह्यन्ते ॥
- २८४\*७. दिन्ना पुणो वि दिज्जउ रेहा छेयत्तणम्मि कणहस्स ।  
 जो रमइ गोविसत्थ हिययणिहिताइ लच्छोए ॥७॥  
 दत्ता पुनरपि दीयता रेखा छेक्त्वे कृष्णस्य ।  
 यो रमयति गोपीसार्धं हृदयनिहितया लक्ष्म्या ॥
- २८४\*८. हियए जं च निहितं तं पि हु जाणति बुद्धोए ।  
 मा पुत्ति वंकग्रंथ जंपसि पुरओ छइल्लाणं ॥८॥  
 हृदये यच्च निहितं तदपि खलु जानन्ति बुद्धया ।  
 मा पुत्रि वक्रग्रन्थं जल्पसि पुरनरच्छेकानाम् ॥

२८४\*३. कहाँ वक्रोक्ति-पूर्ण वचन और कहाँ आधी आँखों से देखना ? विदग्धों से भरे गाँव में साँस लेने पर लोग जान लेते हैं ॥ ३ ॥

२८४\*४. अनुनय में समर्थ, परिहास से पेशल (मनोहर) और वैदग्ध्य-पूर्ण उक्तियों से मुशोभित संभाषण ही चतुरों के लिये वशीकरण है । अन्य मूलों (जडियों) से क्या प्रयोजन ? ॥ ४ ॥

२८४\*५. वे धन्य हैं, उन्हें नमस्कार है, वे कुशल हैं, उनके ऊपर कामदेव की कृपा है, जो बालाओं, तरुणियों और वृद्धाओं के द्वारा हृदय में धारण किये जाते हैं ॥ ५ ॥

\*२८४\*६. उन (विदग्धों) से वक्र व्यवहार नहीं किया जा सकता, वे जिसकी (उनके प्रति) सेवा होती है, उसे विशेषतः जानते हैं । बेटी । विदग्धजन देवताओं के समान सच्चे प्रेम से ही वशीभूत होते हैं ॥ ६ ॥

२८४\*७. यद्यपि पहले दी जा चुकी है अर्थात् श्रेष्ठ मान लिया गया है फिर भी उस कृष्ण को विदग्धता में उच्च श्रेणी (कोटि) प्रदान करो, जो हृदय में लक्ष्मी को रख कर भी गोपियों के समूह से रमण करते हैं ॥ ७ ॥

२८४\*८. पुत्रि । छेको के समस्त वक्र वचन मत बोलो, वे हृदय में जो रहता है उसे भी बुद्धि से जान लेते हैं ॥ ८ ॥

\* विशेष विवरण परिशिष्ट 'क्ष' में देखिये ।



## नयणवज्जा

- ३००\*१. धणु सधइ भुयवलरं आयड्डइ नयणवाण कण्णता ।  
विंघइ मण न जीय अउव्वघाणुविकणी बाला ॥१॥  
धणु सदधाति भ्रवलयम् आकर्षति नयनबाणान् कर्णान्तात् ।  
विध्यति मनो न जीवम् अपूर्वधानुष्का बाला ॥
- ३००\*२. पामरवहुयाइ सवम्महाण नयणाण रक्खसाण व ।  
सासको भमइ जणो जोयइ मग्ग पुल्लोयतो ॥२॥  
पामरवध्वा समन्मयाभ्या नयनाभ्या राक्षसाभ्यामिव ।  
साशङ्को भ्रमति जनो पश्यति मार्गं प्रलोकयन् ॥
- ३००\*३. अज्ज वि य तेण विणा इमीइ एयाइ कसिणधवल्लाइ ।  
जच्चधगोरूयाइ व दिसासु धोलति नयणाइ ॥३॥  
अद्यापि च तेन विना अस्या एते कृष्णधवले ।  
जात्यन्धगोरूपाया इव दिशासु घूर्णन्तो नयने ॥
- ३००\*४. सियकसिणदीहरूज्जलपम्हलधोलततारणयणाण ।  
तरुणाण मा हु हयविहि दिट्ठीपसर पि भजिहिसि ॥४॥  
सितकृष्णदीर्घोज्ज्वलपद्मलघूर्णमानतारनयनानाम् ।  
तरुणाना मा खलु हतविधे दृष्टिप्रसरमपि भङ्क्ष्यन्ति ॥
- ३००\*५. रत्तं रत्तेहि सियं सिएहि कसिण कुणति कसिणेहि ।  
सियकसिणच्छोहि तए मयच्छि रत्तो जणो चोज्ज ॥५॥  
रक्तं रक्ते सितं सिते कृष्णं कुर्वन्ति कृष्णे ।  
सितकृष्णासिभ्या त्वया मृगादि रत्नो जन आश्चर्यम् ॥
- \*३००\*६. गाडयरचुण्णुप्फुसियगहलणोलजणाइ रेहति ।  
वप्फांम्भतरपमारियगलत्ताहाहि अच्छोइ ॥६॥  
गाडनरचुम्बनप्रोच्छिन्नगहलनोलाज्जने शोभते ।  
वाय्नाम्बन्नस्पृशतगन्त्र ... (?) अधिणी ॥

नयन-ध्वजा

३००\*१. वह बाला अपूर्व धनुर्विद्या जानती है। मीहिं टेडी कर धनुष का सन्धान करती है, काना तक नयन-त्राणो को खोचती है, मन को विद्ध कर देती है, परन्तु जीव को नहीं ॥ १ ॥

३००\*२. जैसे राक्षसों को देख कर लोग शक्ति (भीत) हो जाते हैं और (भागने के लिये) मार्ग देखने लगते हैं, वैसे ही कृष्ण-वधू के सकाम नेत्रों को देख कर लोग (प्रेम को) आशका करने लगते हैं और (उसके निकट तक पहुँचने का) मार्ग (उपाय) देखने लगते हैं ॥ २ ॥

३००\*३ आज भी उसके बिना इसके कृष्ण-श्वेत नेत्र जन्मान्ध पशुओं के समान दिशाओं में भटकते रहते हैं ॥ ३ ॥

३००\*४. हे दुर्देव ! (दुर्भाग्य) तरुणों और तरुणियों के श्वेत, कृष्ण, दोष, उज्ज्वल, पश्मल और चबल पुतलियों वाले नयना की दृष्टियों का प्रसार भी मत सोड़ देना ॥ ४ ॥

३००\*५ सब लोग लाल रंग से लाल, श्वेत रंग से श्वेत और काले रंग से काला बनाते हैं। भृगाक्षि ! आश्चर्य है, तुम्हारी कृष्ण और श्वेत आँखों ने लोगो को रक्त (लाल और अनुरक्त) कर दिया है ॥ ५ ॥

\*३००\*६ प्रगाढ़ चुम्बन से जिनका घना कृष्ण काजल प्रोक्षित हो चुका है, वे आँखें अश्रुधारा के भीतर विवर्चमान विरोधों (बाधाओं) के विगलित (नष्ट) हो जाने के कारण सुन्दर लग रही हैं ॥ ६ ॥

\* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में देखिये ।

- ३००\*७. न मए रुण्ण न कयममंगलं होंतु सयलसिद्धीओ ।  
 विरहग्निघूमकडुयावियाइ पगलंति नयणाई ॥७॥  
 न मया रुदितं न कृतमङ्गलं भवन्तु सकलसिद्धयः ।  
 विरहाग्निघूमकटुकोकृते प्रगलतो नयने ॥

### थणवज्जा

- ३१२\*१. नहकुंतगयभिन्ना हारावलिमुत्तमडलङ्गाठिया ।  
 रेहति सुरयरज्जाहिसेयकलसं व्व से थणया ॥१॥  
 नखकुन्ताप्रकभिन्नौ हारावलीसूत्रमण्डलाप्रस्थितौ ।  
 शोभते सुरतराज्याभिषेककलशाविव तस्या स्तनौ ॥
- \*३१२\*२. सो तण्हाइयपहिय व्व दूमिओ तीइ दिट्ठमेत्तेहि ।  
 पथपवाकलसेहि व थणेहि उम्मयियमुहेहि ॥२॥  
 स तृपितपथिक इव दूनस्तस्या दुष्टमात्राभ्याम् ।  
 पथिप्रपाकलशाभ्यामिव स्तनाभ्या दग्धमुक्ताभ्याम् ॥
- ३१२\*३. थणकणयकलसजुयलं रोमावलिलोहसंकलावद्ध ।  
 कत्तस कए ण वाला रयणणिहाण समुव्वहइ ॥३॥  
 स्तनकनककलशयुगलं रोमावलीलोहसंखलावद्धम् ।  
 कस्य कृते ननु वाला रत्ननिधानं समुद्वहति ॥
- ३१२\*४. अनुरायरयणभरियं कचणकलसम्मि तरुणियणजुयलं ।  
 ता किं मुहम्मि कालं मसिमुद्दा मयणरायस्स ॥४॥  
 अनुरागरत्नमृतं काञ्चनकलशे तरुणीस्तनयुगलम् ।  
 तत् किं मुखे कालं मयोमुद्दा मदनराजस्य ॥
- ३१२\*५. ठाणच्चुयाण सुंदरि मडलरहियाण विहवचत्ताण ।  
 थणयाण सुपुरिमाण य को हत्थ देइ पडियाण ॥५॥  
 स्थानच्युताना मुन्दरि मण्डलरहिताना विभक्तपरिस्थितानाम् ।  
 स्तनाना मुपुरुषाणा च को हस्तं ददाति पतितानाम् ॥

३००\*७. मैं न तो रोई हूँ और न मैंने अमंगल ही किया है। तुम्हें सभी सफलताएँ मिलें। ये बाँखें तो विरहान्नि के धूर्ण से कड़वी होने के कारण टपक रही हैं ॥ ७ ॥

### यण-वज्रा

३१२\*१. जो कुन्त (वर्ती) के समान नखों से भिन्न (घायल) हो चुके हैं, जिनके अप्रभाग हारावलि के सूत्र के मण्डल (घेरे) में स्थित हैं, वे स्तन सुरत राज्ञ के उग अभिषेक-कलश से लगते हैं, जो कुन्ताप्र से भिन्न हैं और सूत्र-मण्डल के आगे स्थित हैं ॥ १ ॥

\*३१२\*२. वह युवक उस महिला के अधोमुख (लटके हुए) स्तनों को देख कर ऐसे दुःखी हो गया जैसे कोई तृपित बटोही मार्ग में प्रपा (प्याऊ) के आँधे-मुँह वाले कल्शों को देख कर दुःखी होना है ॥ २ ॥

३१२\*३. रोमावलि रूपी लौह भृङ्गला में दो स्तन-रूपी वनक-कलश बँधे हैं। यह बाला किस के लिये रत्नों की निधि बंधी रही है ? ॥ ३ ॥

३१२\*४. वनक-कलश में अनुराग-रूपी रत्न भर है। प्रश्न—सूरणी के दोनों स्तनों के मुख काले क्यों हैं ? उत्तर—मदन-राज ने मसि की मुद्रा (मुहर) लगा दी है ॥ ४ ॥

३१२\*५. जो स्थानच्युत हो चुके हैं, जो मण्डल-गोत्र आकृति या परिवार) रहित हैं, विभव (सौन्दर्य या धन) ने जिनका परित्याग कर दिया है, उन स्तनों और सत्पुरुषों को कौन हाथ देना है (हाथ से मर्दन करता है या सहारा देता है) ? ॥ ५ ॥

\* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में देखिए।

- ३१२\*६. नहकुतगयभिन्ना समुहागयकुभपीलणसमत्था ।  
 थणया निव्वूढमरा भडु व्व पडिया वि सोहति ॥६॥  
 नखकुन्ताग्रकमिन्नो समुखागतकुम्भपोडनसमर्थो ।  
 स्तनो निव्वूढमरो भट इव पतितावपि शोभते ॥
- ३१२\*७ आसन्नपडणभयभीरुएहि जमलेहि सोमलमुहेहि ।  
 दुद्धसुएहि रुण्ण थणेहि ठाण मुयतेहि ।  
 आसन्नपतनभयभीरुकाभ्याम् यमलाभ्या श्यामलमुखाभ्याम् ।  
 दुग्धाश्रुभि रुदित स्तनाभ्या स्थानं मुञ्चद्भया ॥
- ३१२\*८. अलिया खल व्व कुडिला मज्झसे किविणदाणसारिञ्छा ।  
 थणया उन्नयचिचित्ति य तीइ हियए न मायति ॥८॥  
 अलीको खल इव कुटिलो मध्याक्षे कृपणदानसदृक्षो ।  
 स्तनो उन्नतचिन्तितमिव तस्या हृदये न मात ॥
- \*३१२\*९ थणहार तीइ समुन्नय पि दट्ठूण तारिस पडिय ।  
 मा कुणउ को वि गव्व एत्थ असारम्मि ससारे ॥९॥  
 स्तनभार तस्या समुन्नतमपि दृष्ट्वा तादृश पतितम् ।  
 मा करोतु कोऽपि गवमन असारे ससारे ॥
- ३१२\*१० उच्चट्टाणा वि सुसगया वि सपुण्णया वि तुह थणया ।  
 तरुणमणरयणसार हरति ज तं महच्छरिय ॥१०॥  
 उच्चस्थानावपि सुमगतावपि सपूर्णावपि तव स्तनौ ।  
 तरुणमनोरत्नसारं हरतो यत् तन् महाश्रयम् ॥
- \*३१२\*११ ठाणयेरेहि एहि अहोमुहेहि अणवरयपोडेहि ।  
 सिहिणेहि नरिदेहि व किं किञ्चइ पयविमुक्केहि ॥११॥  
 स्थानवराभ्यामाभ्यामधोमुखाभ्यामनवरत्नप्रोद्गाभ्याम् ।  
 स्तनाभ्या नरेन्द्राभ्यामिव किं क्रियते पदविमुक्ताभ्याम् ॥

३१२\*६. जो कमो कुन्नाग्र के समान नखों से विद्ध हो चुके हैं, जो कमो सम्मुख (तुलना के लिये) आये हुए कलशों को पीड़ित करने में समर्थ थे, जो अपना बोज़ (पीनता) उतार चुके हैं, वे पयोधर गिर जाने पर भी रण भूमि में गिरे हुए उन वीरों के समान शोभित होते हैं, जो नख-तुल्य कुन्तो के अग्र-भाग से आविद्ध हो चुके हैं, जो अपने सम्मुख आये गजों के कुम्भो (मस्तकों) को पीड़ित करने में समर्थ थे और जो अपना भार (कर्णव्य) वहन कर चुके हैं ॥ ६ ॥

३१२\*७. जो आसन्नवर्ती पवन से भान थे और जिनका मुँह क्षाम हो गया था, वे दोनों सहजान पयोधर स्थान छोड़ते समय (गिरते समय) दुग्ध के आंसुओं से रो पड़े ॥ ७ ॥

३१२\*८. खल अलोक (मिथ्या) भापी हैं, तो ये स्तन भी (कस्तूरी आदि से) अलम्बित (अल्प) हैं। उनका व्यवहार कुटिल है, तो इनकी आकृति कुटिल है। इनका मध्य भाग कृण्व के दान के समान बहुल हो कृश है। ये उन्नत विचार के समान हृदय में समाते ही नहीं हैं ॥ ८ ॥<sup>१</sup>

३१२\*९. उस सुन्दरी के समुन्नत स्तन भार को उस प्रकार गिरता हुआ देख कर इस अमार सवार में काई गर्व न करे ॥ ९ ॥

३१२\*१०. तेरे स्तन उन्नत स्थान (वक्षस्थल) पर स्थित हैं, सुमग्न हैं (उनकी आकृति सुन्दर है, वे सज्जनों के सग रहते हैं) और भरे-पूरे (पीन और सम्पन्न) हैं, फिर भी जा तक्षगा का मन-रूपी रत्न-धन चुरा लेते हैं, यह बहुत बड़ा आश्चर्य है ॥ १० ॥

\*३१२\*११. जो अपने स्थान पर लटक रहे हैं, जो प्रथमावस्था के समोहों से परिणत हो चुके हैं, जिनका मुख नीचे हो गया है, वे दुग्धहीन स्तन उन पदच्युत एवं निरन्तर वृद्ध राजाओं के समान क्या कर सकते हैं, जो (निराशा और अनुत्साह से) उच्चम-रहित हो चुके हैं और जिनका मुख (लज्जा से) नीचा हो गया है ॥ ११ ॥

१ देखिये गाथा सख्या ३०२

\* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में देखिये ।

## लावणवज्रा

- ३१८\*१. इह त्रिवलिरमणे इह वयणकमले इह कठिणविजलयणवट्टे ।  
अज्झाए लावणं फलिय पिव दुंगुं गेहि ॥१॥  
इह त्रिवलिरमणे इह वदनकमल इह कठिणविपुलस्तनपट्टे ।  
प्रोड्युवत्था लावण्यं फलितमिव स्तवकस्तवकैः ॥
- ३१८\*२. अघ्नन्ता मेहलया अघ्नन्तो कचुओ नववहूए ।  
परिहेउ न समप्पइ समारुहतम्मि तारुणे ॥२॥  
अन्यान्या मेखला अन्यान्य. कचुको नववध्वाः ।  
परिधातुं न समाप्यते समारोहति तारुण्ये ॥
- ३१८\*३. अंतीकट्टत मयणगिताविय वहइ कणयकतिल्ल ।  
वालाए लावण उप्पिणिय थणभरमिसेण ॥३॥  
अन्तं कथं मदनग्नितपिनं वहति कनककान्तियुक्ता ।  
वालाया लावण्यं बहिर्निर्गतं, स्तनभरमिसेण ॥
- ३१८\*४. सहस त्ति ज न मज्जइ थणहरभारेण मज्झतणुयगो ।  
भजणभएण विहिणा दित्तो रोमावलीखमो ॥४॥  
सहसेति यन्न भज्यते स्तनभरभारेण मध्यतनुकाङ्क्षी ।  
भङ्गभयेन विधिना दत्तो रोमावलीस्तम्भो ॥
- ३१८\*५. वालाकवोललावणणिज्जिओ चद खिज्जसे वीस ।  
अह माणो न हुकीरउ वहुरयणविभूसिया पुहवी ॥५॥  
वालावपोऽग्रावप्यनिजितश्चन्द्र खिद्यते बस्माद् ।  
अथ मानो न सलु क्रियता वहुरत्वविभूषिता पृथ्वी ॥
- \*३१८\*६. वाला लावण्यणिही नवन्लवल्लि व्य माउन्निगस्म ।  
चिचि व्य दूरपक्का करेइ लालाउयं हियय ॥६॥  
वाला लावण्यनिधिर्नवोदवन्धीव मानुलिङ्गस्य ।  
चित्रेव दूरपक्का करोति लालाकुलं हृदयम् ॥

लावण्यवज्जा

३१८\*१. यहाँ जघनो पर, यहाँ मुखकमल पर और यहाँ कठिन विस्तृत स्तन-पृष्ठ पर मानो युवती का लावण्य गुच्छो-गुच्छो में फला है ॥ १ ॥

३१८\*२. नव यौवन पर आरुढ़ होने पर नववधू को दूसरी-दूसरी मेखलायें और दूसरी-दूसरी कचुकियाँ पहनने के लिये नहीं अँटती थी ॥ २ ॥

(यौवन की उत्तरोत्तर वृद्धि के कारण कटि सतत क्षीण होती जा रही थी, अतः जो भी मेखला पहनती थी, वही थोड़ी देर के पश्चात् ढीली पड़ जाती थी और पयोधरो की निरन्तर वृद्धि के कारण प्रत्येक कचुकी कुछ ही क्षणों में छोटी पड़ जाती थी। सस्कृत टीकाकार के अनुसार सुरत के अन्त में जैसे ही नायिका कचुकी और मेखला पहनती थी, वैसे ही पति उन्हें उतार देता था।)

३१८\*३. मदनाग्नि से सतप्त होकर भीतर ही भीतर खोलता हुआ, उस वाला का सुवर्णच्छवि-लावण्य मानो पयोधर-भार के व्याज से उफन कर बह रहा है ॥ ३ ॥

३१८\*४. जिसका मध्य भाग कुछ है, वह सुन्दरी स्तनों के भार से सहसा टूट न जाय—इसलिए विधाता ने रोमावलि का स्तम्भ (खम्भा) लगा दिया है ॥ ४ ॥

३१८\*५. अरे चन्द्र ! बाला के कपोल के सौन्दर्य से पराजित होकर खिन्न क्यों होते हो ? गर्व मत करो। पृथ्वी बहुत से रत्नों से विभूषित है ॥ ५ ॥

\*३१८\*६ वह वाला विजोरे की नवीन लता के समान लावण्य की निधि है। सुदूर ढाली पर पकी इमली जैसे दर्शकी के मुँह में लार उत्पन्न कर देती है, उसी प्रकार वह भी हृदय में लोभ (अनुराग) उत्पन्न कर देती है ॥ ६ ॥



## सुरयवज्रा

- ३२८\*१. अन्नोन्नणेहणिज्झरैविइण्हिययाण अलियकुवियाण ।  
पत्तियजणाण सुरए ज सोक्ख त फुड अमय ॥१॥  
अन्योन्यस्नेहनिक्षरंवितीर्णहृदयानाम् अलीककुपितानाम् ।  
विश्वस्तजनाना सुरते यत् सौख्यं तत् स्फुटममृतम् ॥
- ३२८\*२. सुरयावसाणसमए मउलियणयणाणणा य विवोद्वी ।  
अलहती सुरयसुह पासत्थमुही पिय भणइ ॥२॥  
सुरतावसानसमये मुकुलितनयनानना च विम्बोष्ठी ।  
अलभमाना सुरतसुखं पान्धस्यमुखी प्रिय भणति ॥
- ३२८\*३. सुरयप्पसुत्त कोवण अप्पभर मा हु रे निवज्जिहिसि ।  
कयकज्ज कि न याणसि असमत्तरयाण ज दुक्खं ॥३॥  
सुरतप्रसुप्त कोपन आत्मभर मा खलु रे निपत्तस्ये ।  
कृतकार्यं किं न जानासि असमाप्तरताना यद् दुःखम् ॥
- ३२८\*४. चलवल्लयमेहलरव कलकलिरमणोहरं च सोळण ।  
ईसा रोसो महिलत्तण च मुक्क सवत्तीहि ॥४॥  
चलवल्लयमेखलारव कलकलयुक्तमनोहरं च श्रुत्वा ।  
ईर्ष्या रोपो महिलात्वं च मुक्क सपत्नीभिः ॥
- ३२८\*५. वाला असमत्तरया रयावसाणम्मि पहरिसी भणइ ।  
कि सुयसि नाह, ठ सुयमि, कि नु पज्जत्तक्खो सि ॥५॥  
वाला असमाप्तरता रतावसाने प्रहृष्टा भणति ।  
किं स्वपिपि नाय, अहं स्वपिमि, किं खलु पर्याप्तकार्योऽस्ति ॥

## पेम्मवज्रा

- ३४९\*१. पढमारभमणहरं घणल्लग्ग माणरायरमणिज्जं ।  
पेम्म मुरिदचाय व चचलं क्षति वोलेइ ॥१॥  
प्रथमारम्भमनोहरं घनल्लग्न मानरागरमणीयम् ।  
प्रेम सरेन्द्रधनुर्विष चञ्चलं क्षतिरिति अपक्रामति ॥

### सुरय-वज्जा

३२८\*१. जिनके हृदय पारस्परिक प्रेम के निर्झर में दृवकियां लगा रहे हैं और जिनका कोप कृत्रिम है, उन विश्वस्त प्रेमियों को सुरत में जो सुख मिलता है, वह सचमुच अमृत है ॥ १ ॥

३२८\*२. मुकुलित नेत्रों से युक्त मुख वाली, विम्बोष्ठी नायिका रति का अवसान हो जाने पर पुनः सुरत-सुख न पाती हुई मुँह मोड़कर प्रिय से बातें करती है ॥ २ ॥

३२८\*३. सुरत के अन्त में सो जाने वाले ! कोपन ! आत्मभर ! (अपना पोषण करने वाले स्वार्थी) सो मत जाओ ! अपना काम निकाल लेने वाले ! जिनकी रति समाप्त नहीं हो पाती, उन्हें जितना दुःख होता है, क्या तुम उसे नहीं जानते ? ॥ ३ ॥

३२८\*४. चंचल वलय और मेखला की मनोहर झकार सुन कर सपत्नियों ने ईर्ष्या, रोष और स्नीह का परित्याग कर दिया ॥ ४ ॥

३२८\*५. जिसकी रति अभी समाप्त नहीं हुई थी, उस प्रहृष्ट बाला ने रति के अन्त में कहा—“नाय ! क्या तुम सो रहे हो ? (नायक ने कहा)—“हाँ मैं सो रहा हूँ”। (नायिका ने कहा)—“क्या तुम्हारा काम पूरा हो गया” ॥ ५ ॥

(आशय यह है कि तुम्हारा कार्य पूर्ण हो गया है, परन्तु मैं तो अभी सन्तुष्ट नहीं हुई हूँ)

### वेम्भ-वज्जा

३४९\*१. जिसका प्रथम आरम्भ मनोहर होता है, जिसमें घना लगाव हो जाता है तथा जो मान और अनुराग से रमणीय लगता है, वह प्रेम, उस इन्द्रधनुष के समान चंचल है और क्षीघ्र नष्ट हो जाता है, जिसका प्रथमारम्भ मनोहर होता है, जो सीमाबद्ध रंगों से रमणीय होता है और मेघों से सलग्न रहता है ॥ १ ॥

- ३४९\*२ खणभगुरेण विसमेण हारिणा दुण्णिवारपसरेण ।  
अणवट्टियसब्भावेण सब्बहा होउ पेम्मेण ॥२॥  
क्षणभगुरेण विषमेण हारिणा दुर्निवारपसरेण ।  
अनवस्थितस्वभावेन सर्वथा भवतु प्रेम्णा ॥
- ३४९\*३ जइ देव मह पसन्नो मा जम्म देहि माणुसे लोए ।  
अह जम्म मा पेम्म, अह पेम्म मा विओय च ॥३॥  
यदि देव मम प्रसन्नो मा जन्म देहि मानुषे लोके ।  
अथ जन्म मा प्रेम, अथ प्रेम मा वियोग च ॥
- ३४९\*४ अन्न त सयदलिय पि मिलइ रसगोलिय व्व ज पेम्म ।  
अम्ह मयच्छि मुत्ताहल व फुट्ट न सघडइ ॥४॥  
अन्यत् तत् क्षतदलितमपि मिलति रसगोलिकेव यत् प्रेम ।  
अस्माक भृगाक्षि मुक्ताफलमिव स्फुटितं न सघटते ॥
- ३४९\*५ दढणेहणालपसरियसब्भावदलस्स रइसुयधस्स ।  
पेम्मुप्पलस्स मुद्धे माणतुसारो न्चिय विणासो ॥५॥  
दृढस्नेहनालप्रसृतसद्भावदलस्य रतिसुगन्धस्य ।  
प्रेमोत्पलस्य मुग्धे मानतुषार एव विनाशः ॥
- \*३४९\*६ अब्बो जाणामि अह पेम्म च हवइ लोय ज्झम्मि ।  
थिरआसाए रइय न पीडिय नवरि दिब्बेण ॥६॥  
अहो जानाम्यह प्रेम च भवति लोकमध्ये ।  
स्तिराज्यमारचितं न पीडितं केवलं दैवेन ॥
- ३४९\*७ जा न चलइ ता अमय चलिय पेम्म विस विसेसेइ ।  
दिट्ठ सुय व वत्थ वि मयच्छि विसगट्ठिभण अमयं ॥७॥  
यावन्न चलति तावदमृतं चलितं प्रेम विष विशेषयति ।  
दष्टं शृतं वा कुत्रापि भृगाक्षि विषर्गमितम् अमृतम् ॥

३४९\*२. जो क्षण-भंगुर है, जो कठिनाइयों से पूर्ण है, जो मन को हर लेता है, जिसका प्रसार रोका नहीं जा सकता तथा जिसका स्वभाव स्थिर नहीं, उस प्रेम को सर्वथा होने दो ॥ २ ॥

३४९\*३. यदि देव ! मृत पर प्रसन्न हैं, तो मनुष्य लोक में जन्म न दें, यदि जन्म दें, तो प्रेम न हो और यदि प्रेम हो, तो विषोग न हो ॥ ३ ॥

३४९\*४. वह प्रेम और ही है, जो पारे की गोली के समान सी टुकड़े हो जाने पर भी जुड़ जाना है। मृगालि ! हमारा प्रेम तो मुकाफल के समान टूटने पर फिर नहीं जुड़ता ॥ ४ ॥

३४९\*५. दृढस्नेह ही जिसका माल है, सद्भाव ही जिसके प्रभूत पत्र (फैली पल्लवियाँ) हैं तथा रति ही जिसकी सुगन्ध है, उस प्रणयोत्पल का विनाश करने वाला मान-रूपी तुषार ही है ॥ ५ ॥

\*३४९\*६. अहो ! ससार में प्रेम सुदृढ आशा से निर्मित होता है—यह मैं जानती हूँ, परन्तु वह (प्रेम) भाग्य से पीडित होता है (भाग्याधीन होता है)—केवल यह नहीं जानती ॥ ६ ॥

३४९\*७. प्रेम जब तक स्थिर रहता है, तब तक अमृत है। जब वह स्थिर नहीं रह जाता, तब विष से भी अधिक भयानक बन जाता है। मृगलोचने ! तुमने क्या कहीं भी विष से मिश्रित अमृत देखा या सुना है ? ॥ ७ ॥

\* विषेय विवरण परिशिष्ट 'ख' में देखिये ।

- ३४९\*८ भग्न न जाइ घडिउ दुज्जणहियय कुलालभड व ।  
 सयखड पि घडिज्जइ कचणकलसो सुयणचित्त ॥८॥  
 भग्न न याति घटितु दुर्जनहृदय कुलालभाण्डमिव ।  
 शतखण्डमपि घट्यते काञ्चनकलश सुजनचित्तम् ॥
- ३४९\*९ भग्न पुणो घडिज्जइ कणय ककणयणेउर नयर ।  
 पुण भग्न न घडिज्जइ पेम्म मुत्ताहल जच्च ॥९॥  
 भग्न पुनर्घट्यते कनक कङ्कणनूपुर नगरम् ।  
 पुनर्भग्न न घट्यते प्रेम मुक्ताफल जात्यम् ॥
- \*३४९\*१० सो को वि न दोसइ सामलगि जो घडइ विघडिय पेम्म ।  
 घडकप्पर च भग्न न एइ तेहि निया सलेहि ॥१०॥  
 स कोऽपि न दृश्यते श्यामलाङ्गि यो घटयति विघटित प्रेम ।  
 घटकपर्प च भग्न नैति तैरेव (?) ॥

## माणवज्जा

- ३६४\*१ दंते तिणाइ कठे कुवारय सुदर च तुह एय ।  
 माणमडप्परणडिए तुह माणो केण निर्दिट्ठो ॥१॥  
 दन्ते तृणानि कण्ठे कुवारक (?) सुन्दर च तवेतत् ।  
 मानाहङ्कारवञ्चिते तव मान केन निर्दिष्ट ॥
- ३६४\*२ एमेव कह वि माणसिणीइ तह महमहाविओ माणो ।  
 जह खेमकुसलसभासमेत्त सो पिओ जाओ ॥२॥  
 एवमेव कथमपि मनस्विन्या तथा प्रसारितो मान ।  
 यथा क्षेमकुसलसभापमात्र स प्रियो जात ॥

## पवसियवज्जा

- ३७३\*१ वासारत्ते पावासियाण विरहग्गितावतवियाण ।  
 अगेसु लग्गमाणो पढमासारो छमच्छमइ ॥१॥  
 वर्षारात्रे प्रवासिना विरहाग्नितापतप्तानाम् ।  
 बङ्गेपु लग्गन् प्रयमागारश्छमच्छमायते ॥

३४९\*८ दुर्जन का हृदय कुलाल (कुम्हार) के भाण्ड (वर्तन) के समान टूट जाने पर नहीं जुड़ता, परन्तु सज्जनो का हृदय कंचन-कलश के समान क्षतखण्ड हो जाने पर भी जुड़ जाता है ॥ ८ ॥

३४९\*९ सोने के कंकण, नूपुर और नगर टूट जाने पर पुनः जुड़ जाते हैं, परन्तु प्रेम और विशुद्ध मुक्ताफल टूट जाने पर फिर नहीं जुड़ते ॥ ९ ॥

\*३४९\*१०. श्यामांगि ! ऐसा कोई नहीं दिखाई देता, जो टूटे प्रेम को फिर जोड़ सके। टूटा हुआ घड़ा फिर उन्हीं साँचों में नहीं आता ॥ १० ॥

#### माण-वज्जा

३६४\*१. दाँतो में तृण और गले में छोटा सा कलश—यही तुझे उचित है। अरी मान और गर्व से नाचने वाली ! तुझे मान किसने सिखा दिया ? ॥ १ ॥

३६४\*२. उस मनस्विनी ने कुछ ऐसा मान का विस्तार कर दिया, कि उसका प्रेमी अब केवल कुशल-क्षेम और संभाषण का पात्र रह गया है ॥ २ ॥

#### पवासिय-वज्जा

३७३\*१. जो विरहाग्नि के ताप में तप चुके हैं, इन प्रवासियों के अंगों पर वर्षा की रात्रि में जब पहली बूँद पड़ती है, तो छनछना कर रह जाती हैं ॥ १ ॥

\* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में देखिये ।

## विरहवज्जा

- ३८९\*१ जेहि सोहगणिही दिट्ठो नयणेहि ते च्चिय रूयतु ।  
अगाइ अपावियसगमाइ ता कीस खिज्जति ॥१॥  
याभ्या सोभाग्यनिधिदृष्टो नयनाभ्या ते एव रुदताम् ।  
अङ्गान्यप्राप्तसङ्गमानि तत् कस्मात् खिद्यन्ति ॥
- ३८९\*२ तुह सुरयपवरतरुपल्लवगकवलाण लद्धमाहप्पो ।  
मह मणकरहो मुद्धे दक्खाकवल पि परिहरइ ॥२॥  
तव सुरतप्रवरतरुपल्लवाग्रकवलाना लब्धमाहात्म्य ।  
मम मनकरभो मुग्धे द्राक्षाकवलमपि परिहरति ॥
- ३८९\*३ विरहग्निजलणजालाकरालिय कुवलयच्छि मह अगं ।  
तुह रमणमहाणइपाणिण मुद्धे पविज्झाहि ॥३॥  
विरहग्निज्वलनज्वालाकरालित कुवलयाक्षि ममाङ्गम् ।  
तव रमणमहानदीपानीयेन मुग्धे विध्यापय ॥
- ३८९\*४ रेहइ पियपडिरु भण पसारिय सुरयमदिरदारे ।  
हेलाहल्लाविययोरथणहर भुयलयाजुयलं ॥४॥  
राजते प्रियप्रतिरोधनप्रसारित सुरतमन्दिरदारे ।  
हेलाचालितस्यूलस्तनभर भुजलतायुगल्म् ॥
- ३८९\*५ ता जाइ ता नियतइ ठाण गतूण झत्ति वाहुडइ ।  
पियविरहो घोडा विगहो व्व हियए न सठाइ ॥५॥  
तावद्याति तावन्निवर्तते स्थान गत्वा झटिति व्याघुटति ।  
प्रियविरहोऽग्नौ विग्रह इव हृदये न सतिष्ठति ॥
- ३८९\*६ न जलति न घगवगति न सिममिमंति न मुयति धूमवतीओ  
अगाइ अणगपरव्वसाइ एमेव ढज्जति ॥६॥  
न ज्वलन्ति, न घगघगन्ति न शमशमन्ति न मुञ्चन्ति धूमवती ।  
अङ्गानि अनङ्गपरवसानि एवमेव दहन्ते ॥

### विरह-वज्जा

३८९\*१. जिन्होंने सौभाग्य-निधि प्रियतम को देखा है, वे आँखें ही रोयें। जिन्हें समागम (सयोग) नहीं प्राप्त हो सका है, वे अग क्यो क्षीण होते जा रहे हैं ? ॥ १ ॥

३८९\*२ मेरे मन का उँट तुम्हारे सुरत-रूपी श्रेष्ठ वृक्ष के कोमल पल्लवों का स्वाद पाकर द्राक्षा (अगूर) का कौर भी छोड़ रहा है ॥ २ ॥

३८९\*३. कुवलयलोचने ! विरह-रूपी अग्नि की लपटों में जलते मेरे अंग को अपने सभोग-रूपी महानदी के जल से बुझा दो ॥ ३ ॥

३८९\*४ प्रिय को रोकने के लिये रतिमन्दिर के द्वार पर कैली हुई, वे सुन्दरी की लता-जैसी भुजायें, जो सीलापूर्वक पीन पयोधरो को हिला दे रही हैं, सुन्दर लगती हैं ॥ ४ ॥

३८९\*५. कभी जाता है फिर मुठता है, स्थान पर पहुँच कर लौट पड़ता है। प्रिय का विरह बिना लगाम के घोड़े के समान हृदय में स्थिर नहीं रहता है ॥ ५ ॥

३८९\*६. जो काम देव के अधीन हो चुके हैं, वे अंग ऐसे ही दग्ध होते हैं। न जलते हैं, न धकधकाते हैं, न सनसनाते हैं और न धुप का मण्डल छोड़ते हैं ॥ ६ ॥

१. वह पीकर रूप छटा प्रिय की जो कषाते नहीं वे कभी पहले।  
अब रोते हुए उन लोचनों को यह दारुण पीर भले ही सले।  
जिन्हें अवसर सगम का न मिला जो अभागे कभी हूँ लगे न गले।  
सति ! वे चिरवचित कोमल अंग वियोग में हो रहे क्यों दुबले ॥



३८९\*७

वड्डसि विरहे हस्ससि समागमे हा निसे निससा सि ।  
 भदे तुम पि महिला तह वि हु दुक्ख न याणासि ॥७॥  
 वधसे विरहे हससि समागमे हा निसे नृशसासि ।  
 भद्रे त्वमपि महिला तथापि खलु दुःख न जानासि ॥

अणगवज्जा

३९७\*१

ता किं करेमि माए निज्जियरूवस्स कामदेवस्स ।  
 दड्ड पि डहइ अग निद्धूमो सखचुण्णु व्व ॥१॥  
 तत्किं करोमि मातर्निजितरूपस्य कामदेवस्य ।  
 दग्धमपि दहत्यङ्ग निर्धूमं शखचूर्णं इव ॥

\*३९७\*२

हारेण मामि कुसुमच्छटायलुप्पन्नचिच्चिणा दड्डो ।  
 वम्मीसणो न मन्नइ उलूविओ तेण म डहइ ॥२॥  
 हारेण सखि कुसुमच्छटातलोत्पन्नवह्निना दग्ध ।  
 वर्मेपणो न मन्यते विष्पापिन तेन मा दहति ॥

पियाणुरायवज्जा

४१२\*१

जे के वि रसा दिट्ठीउ जाउ जे भरह्माविद्या भावा ।  
 ते नच्चिज्जति अणच्चिया वि सहसा पिए दिट्ठे ॥१॥  
 ये केऽपि रसा दृष्टयो या ये भरतभावित्ता भावा ।  
 ते ते नत्यन्ते अनृता अपि सहसा प्रिये दृष्टे ॥

४१२\*२

सो कय गओ सो सुयणवल्लहो सो सुहासियसमुदो ।  
 सा मयणग्गिणिणासो जो सो सोसेइ मह हिययं ॥२॥  
 स कुत्र गतः स सुजनवल्लभः स सुभाषितसमुद्रः ।  
 स मदनाग्निविनाशो यः स शोषयति मम हृदयम् ॥

४१२\*३

सो मासो त पि दिणं सा राई सञ्चलक्खणसउण्णा ।  
 अमयं व त मुहुत्तं जत्य पिओ झत्ति दोमहिइ ॥३॥  
 स मामस्तदपि दिन सा रात्रिः सर्वलक्षणसपूर्णा ।  
 अमृतमिव ॥ मुहूर्तो यत्र प्रियो झटिति द्रश्यते ॥

३८९\*७. प्रिय के विरह में बढ जाती हो और समागम में घट जाती हो। हाय री रात्रि ! तुम नृशंस हो (निर्दय हो)। भद्रे ! तुम भी तो महिला हो, तब भी दुःख नहीं समझ पाती<sup>१</sup> ॥ ७ ॥

### अणंग-वज्जा

३९७\*१. मां ! जिसका शरीर (शिव द्वारा) भस्म हो चुका है, उस रूपहीन कामदेव के लिए क्या करें ? वह नो जले हुए अंग को निर्बल शंख चूर्ण के समान जला रहा है ॥ १ ॥

\*३९७\*२. सखि ! मैं समझती हूँ, जिसके पुष्पों के समूह के नीचे से अग्नि उत्पन्न हो रही थी, उस हार के द्वारा दग्ध होकर कामदेव फिर बुझा नहीं, तभी तो मुझे जला रहा है ॥ २ ॥

### पिपाणुरायवज्जा

४१२\*१. जो भी रस हैं, जो भी वृष्टियाँ हैं और भरतमुनि द्वारा कल्पित जो भी भाव हैं—वे सभी सहसा प्रिय को देखते ही अभिनीत हो जाते हैं (सबका अभिनय होने लगता है) ॥ १ ॥

४१२\*२. जो मेरे हृदय का शोषण कर रहा है, वह सुजनों का प्रेमी, सुभाषितों का समुद्र और मदनाग्नि को बुझाने वाला कहाँ गया<sup>२</sup> ? ॥ २ ॥

४१२\*३. वह मास, वह दिन और वह रात्रि सब लक्षणों से<sup>३</sup> पूर्ण है और वह मुहूर्त अमृत के समान है, जब प्रिय सहसा दिखाई देगा ॥ ३ ॥

१. घटने का समागम में प्रिय के, अति पाप भरा हठ ठानती है।  
बढ जाती वियोग में है इतना, कि न बीतना भी शक जानती है।  
ठरसाने में ही अनुरागियों को, यो बढप्यन बैरिनि ! मानती है।  
करी याभिनी ! तू भी तो याभिनी है, फिर पीर न क्यों पहचावती है ॥

\* विस्तृत विवेचन परिशिष्ट 'ख' में देखिये।

२. देखिये, गा० ७८२

३. देखिये, गा० ७८५

- ४१२\*४. हिययट्ठिओ वि पिओ तह वि हु नयणाण होइ दुप्पेच्छो ।  
 पेच्छह विहिणा न कया मह उयरे जालयगवक्खा ॥४॥  
 हृदयस्थितोऽपि प्रियस्तथापि खलु नयनयोर्भवति दुष्प्रेक्षः ।  
 प्रेक्षध्वं विधिना न कृता ममोदरे जालकगवाक्षा ॥
- ४१२\*५. होही त किं पि दिण जत्थ पिओ वाहुपजरणिबद्धो ।  
 वित्ते सुरयपसगे पुच्छिहिइ पवासदुक्खाइ ॥५॥  
 भविष्यति सत् किमपि दिनं यत्र प्रियो बाहुपञ्जरनिबद्धः ।  
 वृत्ते सुरतप्रसङ्गे प्रस्थति प्रवासदुःखानि ॥
- ४१२\*६. दिन्न गेण्हइ, अप्पेइ पत्थिय, असइ, भोयण देइ ।  
 अक्खइ गुज्झ पुच्छेइ पडिबय जाण त रत्त ॥६॥  
 दत्त गृह्णाति, अर्पयति प्रार्थितम्, अस्नाति, भोजन ददाति ।  
 आख्याति गुह्यं पृच्छति प्रतिपद जानीहि त रक्तम् ॥

### दूईवज्जा

- \*४२१\*१. अहवा तुज्झ न दोसो तस्स उ रूवस्स हियकिलेसस्स ।  
 अज्जावि न प्पसीयइ ईसायति व्व गिरित्तनया ॥१॥  
 अथवा तव न दोषस्तस्य तु रूपस्य हितक्षेत्रस्य ।  
 अद्यापि न प्रसोदति ईर्ष्यायमाणेव गिरित्तनया ॥
- ४२१\*२. कस्स कहिज्जति फुड दूइविणट्ठाइ सहि कज्जाइ ।  
 अहवा लोयपसिद्ध न फलति समक्कडारामा ॥२॥  
 कस्य कथ्यन्ते स्फुटं द्वुतीविनष्टानि सखि कार्पाणि ।  
 अथवा लोकप्रसिद्धं न फलन्ति समकंठारामा ॥

### ओलुगावियावज्जा

- ४३८\*१. सा दिंयह चिय पेच्छइ नयणा पडियाइ दप्पणतलम्मि ।  
 एएहि तुम दिट्ठो सि सुहय दोहि पि अच्छीहि ॥१॥  
 सा दिवसमपि प्रेक्षते नयने पतिते दर्पणनले ।  
 एताभ्या त्वं दृष्टोऽसि सुभग द्वाभ्यामप्यक्षिभ्याम् ॥

४१२\*४. देगो, प्रिय हृदय में रहता है, तब भी नयनों से उसे देख पाना कठिन है। विद्याता ने मेरे पेट में जालीदार क्षरोक्षे क्यों न किये ? ॥ ४ ॥

४१२\*५ वह भी कोई दिन होगा, जब प्रिय के भुजपार में बढ़ होंगे और रति-श्रीढा समाप्त हो जाने पर प्रवास के कष्ट को पूछेंगे<sup>१</sup> ॥ ५ ॥

४१२\*६ जो दो हुई वस्तु को ग्रहण करता है, प्रापित वस्तु ला कर देता है, पाता है और खिलाता है, गुप्तमेद बनाना है और प्रतिक्षण मुन्द-दुःख पूछता रहता है—उसे अनुरक्त समझो ॥ ६ ॥

### द्वैत-वज्रा

\*४२१\*१. हे शिव ! तुम्हारा कोई अपराध नहीं है, अपराध तो क्लेश को हर लेने वाले, पार्वती के रूप का है, जिसके कारण अब भी वे प्रसन्न नहीं हो रही हैं ॥ १ ॥

४२१\*२. सखि ! दूतों के द्वारा जो कार्य नष्ट हो चुके हैं, क्या उन्हें स्पष्ट रूप से किसीसे कहा जाना है ? अर्थात् नहीं। यह लोक प्रमिद है—जिस उपवन में वन्दर रहते हैं, उनमें फल नहीं लगते (रहते) हैं ॥ २ ॥

### ओलुगाविद्या-वज्रा

४३८\*१. सुभग ! वह दिन भर दर्पण में प्रतिबिम्बित अपने नेत्रों को इसलिए देखती रहती है कि इन्ही (सौभाग्यशाली) दोनों नेत्रों के द्वारा तुम देखे जा चुके हो ॥ १ ॥

१. देखिये, गा० ७८७

२. देखिये, गा० ७८३

\* विस्तृत अर्थ के लिए परिशिष्ट 'ख' देखिए ।

- ४३८\*२ दुःखेहि वि तुह विरहे बालय दुःख ठिय, अह च्चाए ।  
 असूजलेहि रुण्ण नीसार्सेहि पि नीससिय ॥२॥  
 दु खैरपि तव विरहे बालक दु ख स्थितम्, अथ त्यागे ।  
 अश्रुजलैरपि रुदित नि स्वासैरपि (च) नि श्वसितम् ॥
- ४३८\*३ बालय नाहं दूई तीइ पिओ सि त्ति नम्ह वावारो ।  
 सा मरइ तुज्झ अअसो त्ति तेण धम्मक्खर भणिमो ॥३॥  
 बालक नाहं दूती तस्या प्रियोऽसीति नास्माकं व्यापार ।  
 सा म्रियते तव अयश इति तेन धर्माक्षर भणाम ॥
- ४३८\*४ सा सुहय सामलगो जा सा नीसासस सियसरीरा ।  
 आसासिज्जइ सहसा जाव न सासा समप्पति ॥४॥  
 सा सुभग श्यामलाङ्गी या सा नि स्वासशोषितशरीरा ।  
 आश्वास्यते सहसा यावन्न श्वासा समाप्यन्ते ॥
- ४३८ ५ परपुरपवेसविन्नाणलाहव सुहय सिक्खिय कत्थ ।  
 जेण पविट्ठो हियए पढम च्चिय दसणे मज्झ ॥५॥  
 परपुरप्रवेशविज्ञानलाघव सुभग शिक्षित कुत्र ।  
 येन प्रविष्टो हृदये प्रथम एव दर्शने मम ॥

### पथियवज्जा

- ४४५\*१ उद्धच्छो पियइ जल जह जह विरलगुली चिर पहिओ ।  
 पावालिया वि तह तह धार तणुय पि तणुएइ ॥१॥  
 ऊर्वाक्ष पिबति जल यथा यथा विरलाङ्गुलि चिर पथिक ।  
 प्रपापालिकापि तथा तथा धारा तनुकामपि तनूकरोति ॥
- ४४५\*२ अहिणवगब्बियसद् मोराण य कलयल निसामतो ।  
 मा पवस विट्ठ पथिय, मरिहिसि, किं ते पउत्थेण ॥२॥  
 अभिनवगर्जितशब्द भयूराणां च कलकल निशाम्यन् ।  
 मा प्रवसष्टु पथिक, मरिष्यसि, किं ते प्रवासेन ॥

४३८\*२. बालक ! तुम्हारे विरह में दुःख को भी दुःख हुआ और जब तुमने त्याग दिया, तब आँसू भी रो पड़े और आँहें भी आँह भरने लगी ॥ २ ॥

४३८\*३. बालक मैं दूनी नहीं हूँ, तुम उसके प्रिय हो, अतः मेरा कोई प्रयत्न नहीं है । वह मर रहा है, तुम्हें अवश्य होगा—इसलिए धर्म के वचन कह रही हूँ ॥ ३ ॥

४३८\*४ सुभग ! जिसके शरीर को निश्वासी ने सुखा डाला है, उस श्यामलांगी का तभी तक आश्वासन देना चाहिये, जब तक उसकी साँस बन्द नहीं हो जाती ॥ ४ ॥

४३८\*५ सुभग ! दूमे के नगर में प्रवेश करने की क्या तुमने कहीं से सोख ला, जो प्रथम दर्शन में ही मेरे हृदय में प्रविष्ट हो गई ? ॥ ५ ॥

- ४४५\*३. वासारत्ते वाउद्धुएण वास विमग्गमाणेण ।  
 पहिएण पहियघरिणी स्याविया थरहरतेण ॥३॥  
 वर्षारात्रे वातोद्धूतेन वास विमार्गयता ।  
 पथिकेन पथिकगृहिणी रोदिता कम्पमानेन ॥
- ४४५\*४. सिहिरड्डिय घणरड्डिय दूर पि घर घणत्थण रमणि ।  
 सभरिऊण सएस पहिएण घणग्घण रुण्ण ॥४॥  
 शिखिरटित घनरटित दूरमपि गृह घनस्तनी रमणोम् ।  
 सस्मृत्य स्वदेश पथिकेन घन घन रुदितम् ॥
- ४४५\*५. तइ वोल्ते बालय तिस्सा वलियाइ तह नु अगाइ ।  
 जह पट्टिमज्झणिवडतवाह्वारा व दीसति ॥५॥  
 त्वयि अपक्रामति बालक तस्या वलितानि तथा नु अङ्गानि ।  
 यथा पृष्ठमध्यनिपतद्बाष्पधारा इव दृश्यन्ते ॥

### घनवज्रा

- ४४९\*१ इय तरुणितरुणसभरणकारण तुरगतरणरणुच्छलिय ।  
 रइय इय वरकुलय पाइयसीलेण लीलेण ॥१॥  
 इति तरुणीतरुणसस्मरणकारण तुरगतरणरणोच्छलितम् ।  
 रचितमिति वरकुलक प्राकृतशीलेन लीलेन ॥

### हियसवरणवज्रा

- ४५४\*१. हे हियय अब्बवट्ठिय अगणिज्जतो वि त जण महसि ।  
 कदु व्व सिलावडिय अलद्धपसर नियत्तिहिसि ॥१॥  
 हे हृदय अव्यवस्थित अगण्यमानमपि त जन काङ्क्षसि ।  
 वन्दुक इव शिलापतितो अलब्धप्रसर निर्वर्तिष्यसे ॥
- \*४५४\*२ सातम्मि हियय दुलहम्मि माणुत्ते अलियरत्तममासाए ।  
 हरिण व्व मूढ मयतण्हियाइ दूर हरिज्जिहिसि ॥२॥  
 साते हृदय दुर्लभे मनुष्ये अलीकमङ्गमाशया ।  
 हरिण इव मूढ मृगतृष्णिकया दूर हरिष्यसे ॥

४४५\*३ वर्षों को रान में वायु में आन्दोलित और धरयराने हुए चटोहो ने जब आवास की याचना की, तब प्रोषित-पतिका की सृष्टि आ गई ॥ ३ ॥

४४५\*४ वह पथिक, मयूरा का शब्द, मेना की गर्जना, सुदूरवर्ती गृह, पोवर-स्तनी पत्नी और अपने देश को स्मरण करके मूँव रोया ॥ ४ ॥

४४५\*५ तुम्हारे जाने ही उसके अग (देखने के लिए) इतने अधिक मुड़ गये कि आँसुआ की धारा पीठ पर गिरनी हुई सी दिखाई देने लगी<sup>१</sup> ॥ ५ ॥

### धन्न-वज्जा

४४६\*१ इस प्रकार प्राकृताभ्यासी लाल (कवि) ने तहणा और तहणियों की स्मृति (वियोग) से सम्बद्ध पथों के समूह की ऐसी रचना की है, जिसमें रणागण में छलांगें भरते हुए अश्वा के समान शब्द उठलते हैं ॥ २ ॥<sup>२</sup>

### हियय-सवरण-वज्जा

४४४\*१ अरे चंचल हृदय ! तुम उपेक्षित होकर भी उस व्यक्ति को चाहते हो । शिला पर गिरे हुए कन्दुक के समान आगे न जाकर तुरन्त वहाँ से लौटोगे ॥ १ ॥

\*४४४\*२ अरे मूढ़ मन ! मानुष-मुख दुर्लभ हो जाने पर तू उसी प्रकार मिथ्या सगमाप्ता के द्वारा दूर तक भरमाया जायगा, जैसे हरिण मृगमरोचिका के द्वारा दूर तक दौड़ाया जाता है ॥ २ ॥

१ मूल में वाह शब्द है । सस्कृत टाकाकार ने उसका अर्थ अग्नि-ज्वाला किया है ।

२ लील कवि के सम्बन्ध में कुछ ज्ञान नहीं है । गाथा के अनुसार वह कोई श्रेष्ठ कवि था ।

\* विशेष विवरण परिशिष्ट 'स' में देखिये ।



- ४५४\*३ नयणाइ नयति नयतु, हियय को एत्थ तुज्झ वावारो ।  
 होहिंति इमाइ तडे तुह पडिहिइ वम्महचडवका ॥३॥  
 नयने नयतो नयता हृदय कोऽन तव व्यापार ।  
 भविष्यत इमे तटे तव पतिष्यति मन्मथचपेटा ॥
- ४५४\*४ नयणाइ फुससु मा रयसु अणुदिण, मुयसु तस्स अणुवध ।  
 गाइज्जइ किं मरिऊण पचम मुद्ध हरिणच्छि ॥४॥  
 नयने प्रोज्छ मारोदिहि अनुदिन, मुञ्च तस्यानुबन्धम् ।  
 गीयते किं मृत्वा पञ्चमो मुग्धे हरिणाक्षि ॥
- ४५४\*५ इटीवरच्छि सयवारवारिया कीस त जण महसि ।  
 जइ कणयमयच्छुरिया ता किं चाइज्जए अप्पा ॥५॥  
 इन्दीवराक्षि शतवारवारिता कस्मात् त जन काडक्षसि ।  
 यदि कनकमयच्छुरिका तत् किं चात्यत आत्मा ॥

### सुघरिणीवज्रा

- ४६२\*१ परधरगमणालसिणी परपुरिसविलीयणे य जच्चधा ।  
 परआलावे बहिरा धरस्स लच्छी, न सा घरिणी ॥१॥  
 परगृहगमनालस्यवती परपुरुषविलोकने च जात्यन्धा ।  
 परालापे बधिरा गृहस्य लक्ष्मीनं सा गृहिणी ॥
- ४६२\*२ अज्जेव पियपवासो, असई दूरे, विडवए मयणो ।  
 चरणुग्गओ वि अग्गी कया वि सीस समारुहइ ॥२॥  
 अद्यैव प्रियप्रवासो असती दूरे, विडम्बयति मदन ।  
 चरणोद्गतोऽप्यग्नि कदापि क्षीर्णं समारोहति ॥

### सईवज्रा

- ४७१\*१. भद्द कुलगणाण जासि मणकमलकोसमणुपत्तो ।  
 मयणभमरो वराओ वच्चइ निहण तहिं चेव ॥१॥  
 भद्र कुलाङ्गनाना यासा मन कमलकोशमनुप्राप्त ।  
 मदनभ्रमरो वराको व्रजति निधन तत्रैव ॥

४५४\*३. नेत्र मुझे उस (प्रीती) के पास ले जाने हैं, तो ले जायें, अरे हृदय ! तुम्हारा यहाँ क्या काम है ? ये (नेत्र) तो बिनारे हो जायेंगे, कामदेव के तमाचे (थप्पड़) तो तुम पर पड़ेंगे ॥ ३ ॥

४५४\*४. हे मुखे ! भृगलोचने ! आँखें पोंछ डालो, प्रतिदिन रोओ मत, उमका अनुराग छोड़ दो, क्या पंचमराग मर कर गाया जाना है ?

४५४\*५. इन्दीवर नेत्रे ! सौ बार मना करने पर उस व्यक्ति को क्यों चाहनी हो ? यदि सोने की छूरी हा, तो क्या उससे अपनी हत्या की जाती है ? ॥ ५ ॥

### मुघरिणीवग्जा

४६२\*१. जो दूसरे के घर जाने के लिए आलस करने वाली बन जाती है, जो पर-पुरुष को देखने के लिये जन्मान्ध हो जाती है और जो परायी बात के लिए बहरी हो जाती है, वह घर की लक्ष्मी है, गृहिणी नहीं है ॥ १ ॥

४६२\*२. आज ही प्रिय प्रवामी हुए हैं, दूर व्यभिचारिणी स्त्री रहती है और कामदेव उपहास कर रहा है । चरणों से उठो आग कभी भी शिर पर चढ़ सकती है ॥ २ ॥

### सईवग्जा

४७१\*१. जिनके मन-रूपी वज्र कोप में पड़ूँच कर बेचारा मदनल्लो भ्रमर वहीं मर जाता है, उन कुलागनाओं का भंगल हो ॥ १ ॥

- ४७२\*२ सकुलकलक नियकतवचण अजसपडहणिग्घोसो ।  
सरिसवमेत्ते च सुहे को दूइ विडवए अप्प ॥२॥  
स्वकुलकलङ्को निजकान्तवञ्चनम् अयशपटहनिर्घोष ।  
सर्पपमात्रे च सुखे को दूति विडम्बयत्यात्मानम् ॥

### असईवज्जा

- ४९६\*१ जेण सम सबधो गिण्हइ नाम पुणो पुणो तस्स ।  
पुच्छेइ मित्तवग्ग भण्णइ एवविहा रत्ता ॥१॥  
येन सम सबन्धो गृह्णाति नाम पुन पुनस्तस्य ।  
पृच्छति मित्रवग्गं भण्यते एवविधा रक्ता ॥
- ४९६\*२. असई असमत्तरया सयड दट्ठूण गाममज्झम्मि ।  
घप्ता हु चक्कणाही निच्च अक्खो हिओ जिस्सा ॥२॥  
असतो असमाप्तरता शकट दूष्ण ग्राममध्ये ।  
धन्या खलु चक्रनाभिर्नित्यम् अक्षो हितो यस्या ॥
- ४९६\*३ डिभत्तणम्मि डिंभेहि रामिया जोव्वणे जुवाणेहि ।  
येरो वि गयवएहि मया वि असई पिसाएहि ॥३॥  
डिम्भत्वे डिम्भै रमिता योवने युवभि ।  
स्थविरापि गतवयोभिर्मृताप्यसती पिशाचै ॥
- ४९६\*४ भयव हुयास एक्कम्ह दुक्कय खमसु ज पई रमिओ ।  
निहणइ पाव जाराणुमरणकयणिच्छया असई ॥४॥  
भगवन् हुताश एकस्माक दुष्कृतं क्षमस्व यत् पतो रमित ।  
निहन्ति पाप जारानुमरणहृत्तनिश्चया असती ॥
- ४९६\*५ सकेयकुडगोड्डीणसउणकोलाहल सुणतीए ।  
घरकम्मवावडाए वडूइ खिज्जति अगाइ ॥५॥  
सङ्केतकुओड्डीनशकुनकोलाहल शृण्वत्या ।  
गृहकर्मव्यापृताया वध्वा खिद्यन्ति अङ्गानि ॥

४७२\*२. दूती ! सरसों के बराबर सुख के लिए अपने कुल में कलंक लगा कर, अपने पति को छोड़ा देकर और अपयश का नगाड़ा पोट कर कौन अपनी विदम्बना करे ? ॥ १ ॥

### असई-वन्जा

४९६\*१. अनुरक्त महिला इस प्रकार बताई जाती है—जिसके साथ सम्बन्ध (प्रेम) होता है, उसका नाम बार-बार लेती है और मित्रों से उसे पूछती है ॥ १ ॥

४९६\*२. जो रति से सन्तुष्ट नहीं हुई थी, उस व्यभिचारिणी ने गाँव के बीच में छफड़े को देखकर सोचा<sup>१</sup> कि जिसमें धुरा निहित रहता है, वह चकन्तामि (पहिये का वह छिद्र जिसमें धुरा लगाया जाता है) धन्य है ॥ २ ॥

४९६\*३. उस व्यभिचारिणी ने बाल्यकाल में बालकों से, युवावस्था में युवकों से, वृद्धावस्था में वृद्धों से और मर जाने पर भी पिशाचों से रमण किया ॥ ३ ॥

४९६\*४. भूत जार (उपपति) की चिता पर सती हो जाने का निश्चय करने वाली व्यभिचारिणी अपना पाप नष्ट कर रही है—भगवन् अग्निदेव ! मैंने जो अपने पति के साथ रमण किया था, वह मेरा एकमात्र दुष्कर्म क्षमा कर दें ॥ ४ ॥

४९६\*५. सवेत-कुंज में उड़ते हुए विहंगों का कोलाहल सुनती हुई, गृहकार्य में लगी बहू के अंग टूटने लगे ॥ ५ ॥

१. मूल प्राकृत में यहाँ कोई क्रिया नहीं है ।

- ४९६\*६ जारट्ठविणिम्मियमेहलावलि जा न वधइ नियवे ।  
ताव च्चिय नवकामालिणीइ रमण व पज्जरिय ॥६॥  
जारार्थेविनिर्मितमेखलावली यावन्न बध्नाति नितम्बे ।  
तावदेव नवकामातुराया रमणमिव प्रक्षरितम् ॥
- ४९६\*७ जारमसाणसमुब्भवभूर्इसुहफससिज्जिरगीए ।  
न समप्पइ नवकामालिणीइ उद्धूलणारमो ॥७॥  
जारम्मशानसमुद्धवभूतिसुखस्पर्शस्वेदनशीलाङ्ग्या ।  
न समाप्यते नवकामातुराया उद्धूलनारम्भ ॥
- \*४९६\*८ बहले तमधयारे रमियपमुक्काण सासुसुण्हाण ।  
समया चिय अम्भिडिया दोण्ह पि सरद्दे हत्था ॥८॥  
बहले तमोज्झकारे रमितप्रमुक्कयो श्वभ्रूसुपयो ।  
सममेव सगतौ (मिलितौ) द्वयोरपि (?) हस्तौ ॥
- ४९६\*९ सपत्तिया वि खज्जइ पत्तच्छेयम्मि, मामि को दोसो ।  
निययवई वि रमिज्जइ परपुरिसविवज्जिए गामे ॥९॥  
पिप्पलीपन्नमपि खाद्यते पत्रच्छेदे, सखि को दोष ।  
निजकपतिरपि रम्यते परपुरुषविवर्जिते ग्रामे ॥
- ४९६\*१० रच्छातुलगवडिओ नालत्तो ज जणस्स भीयाए ।  
सो चेय विरह्हाहो अज्ज वि हियए छमच्छमइ ॥१०॥  
रथ्यायदुच्छापतितो नालपितो यज्जनस्य भीतया ।  
स चैव विरह्हाहो अद्यापि हृदये छमच्छमायते (प्रज्वलति) ॥
- ४९६\*११ अच्छीहि तेण भणिय मए वि हियएण तस्स पडिवन्न ।  
जा पत्तिय पि जाय घुणहुणिय ता हयग्गामे ॥११॥  
अक्षिभ्या तेन भणितं मयापि हृदयेन तस्य प्रतिपन्नम् ।  
यावत् प्रनीतमपि जातं वर्णोपवर्णिकया प्रवटितं तावद् हृत्प्रामे ॥

४९६\*६ नवीन कापालिनी अभो उपपत्ति के धन से निर्मित मेखला को नितम्बों पर बांध भी न पाई थी कि उसका स्थलन हो गया ॥ ६ ॥

४९६\*७. जार (उपपत्ति) के मरघट की राख से उत्पन्न होने वाले सुख स्पर्श से जिसके अंगों में पमीना (सात्त्विक मावोद्रेकवश) आ गया था (संस्कृत टीका के अनुसार, जार के मरघट पर उत्पन्न होने वाली राख की सुखस्पर्श दाय्या पर जिसे सुखानुभूति हो रही थी) वह नवीन कापालिनी शरीर में भस्म (राख) लगाना वन्द ही नहीं करती थी ॥ ७ ॥

४९६\*८. निविड अन्धकार में जिसके साथ रमण किया गया था और जिसे (बिना रमण किये ही) छोड़ दिया गया था, उन आँसुओं से युक्त और (रमण जनित) उष्णता से युक्त, सास और बहू—दोनों के हाथ शरत् सरोवर में एक साथ डाले गये (या छू गये) ॥ ८ ॥

४९६\*९. ताम्बूल आदि के पत्तों के अभाव में पिप्पलीपत्र (पीपल का पत्ता) भी खाय़ा जाता है। सखि! दोष क्या है? जिस गाँव में पर-पूरण नहीं है, वहाँ अपने पति से भी रमण किया जाता है ॥ ९ ॥

४९६\*१०. वे गली में सयोगवश आ मिले, पर उस समय लोगों के क्रोध से जो मैं उनसे बोली नहीं, वह विरहग्नि की तपन आज भी हृदय में सनसनाती हुई सुलग रही है ॥ १० ॥

४९६\*११. उन्होंने आँखों से कह दिया और मैंने भी हृदय से स्वीकार कर लिया। जब तक दोनों के मनो ने इसे समझा, तब तक दुष्ट गाँव में कानाफूसी होने लगी ॥ ११ ॥

- ४९६\*१२. मिचतो वि मियको जोण्हामलिलेण पकयवणाइ ।  
तहवि अणिट्टयरो च्चिय, सकलको कस्म पडिहाइ ॥१॥  
सिञ्चन्नपि मृगाङ्को ज्योत्स्नामलिनेन पङ्कजवनानि ।  
तथाप्यनिष्टतर एव, सकलङ्क कस्य प्रतिभाति ॥
- ४९६\*१३. अत्ता जाणइ सुण्ह मुण्हा जाणेइ अत्तचरियाइ ।  
वच्चउ मुहेण कालो मा फुट्टउ विल्ल विल्लेण ॥१३॥  
श्वयूज्जानाति स्नुपा स्नुपा जानाति श्वयूचरितानि ।  
अजनु सुत्तेन कालो मा स्फुट्टनु विल्व विल्वेन ॥
- ४९६\*१४ पडम चिय मह रेहा अमईमज्झम्मि उट्ठिमओ हत्यो ।  
सरणामि तुज्झ पाया मुरमरि दूयत्तण कुणइ ॥१४॥  
प्रथम चैव मम रेखा अमतीमध्ये ऊर्ध्वतो हस्तः ।  
धारणयामि तव पादौ मुरमरिद् दूतस्व करानि ॥

### जोइसियवज्जा

- \*५०७\*१ सीसेण कह न कीरइ निउवण मामि तस्स गणयस्स ।  
अममत्तसुक्कमकमण्ठेयणा जेण मह मुणिया ॥१॥  
क्षीपेण कथं न क्रियते निङ्खुअन(?)मस्ति तस्य गणकस्य ।  
अममाप्तसुक्कमकमणवदना येन मम ज्ञाना ॥

### धम्मियवज्जा

- ५३२\*१. धुत्तीरणेण धम्मिय जो होइ चडाविएण एक्केण ।  
मो कुरयाण मएण वि न होइ लिगस्स परिओसो ॥१॥  
धतूरखेण(धतूरतेन)धामिअ यो भवन्ति उपरिम्मापित्तेन एकेन ।  
अ वुरववाणा शतेनापि न भवन्ति त्रिङ्गम्य परितोषः ॥
- ५३२\*२. धम्मिय धम्मो सुव्वइ दाणेण तवेण तित्थजत्ताए ।  
तएणतएण्णवुल्लूण्णेण धम्मो बहिं दिट्ठो ॥२॥  
धामिअ धमं श्रूयते दानेन तयमा तोयंयात्रया ।  
तएणतएण्णोच्छेदनेन धमं. कुत्र दृष्ट ॥

४९६\*१२ चन्द्रमा पकजवनो को ज्योत्स्ना-जल से सींचता रहता है, फिर भी वह उन्हे अप्रिय ही है । कलकी किसे मला लगता है ? ॥ १२ ॥

४९६\*१३. सास वहू को जानती है और वहू सास की करतूत जानती है । दिन मुख से इसलिए बीत रहे हैं कि कहीं बेल से लड कर बेल फूट न जाय ॥ १३ ॥

४९६\*१४ व्यभिचारिणियों के बीच में मैंने अपना हाथ ऊपर उठाया है, उन सबमें मेरा पहला स्थान है । हे प्रिय । मैं तुम्हारे चरणों के आश्रय में हूँ । गङ्गा नदी मेरे लिये दूती का कार्य करती है (जब तुम्हारे द्वारा प्रक्षिप्त नागबल्लोपत्र<sup>१</sup> या काष्ठ-भञ्जुपा म रखे प्रणयपत्र को अपनी धारा में बहा कर मेरे निकट तक लाती है) ॥ १४ ॥

### जोइसिय-वज्जा

\*५०३\*१. सखि ! उस गणक का शिर (मस्तक) क्यों न चूम लें (चूमा जाय), जो शुक्र नक्षत्र के मक्रमण के न समाप्त होने के कारण उपस्थित मेरी वेदना को समझ गया है (शुक्रमात क्रिया के अपूर्ण रहने पर होने वाले बलेश को जान गया है) ॥ १ ॥

### धम्मिय-वज्जा

५१२\*१. चढ़ाये हुए एक ही घटूरे से जा लिंग (शिवलिंग) का परितोष होता है, यह सेकड़ो कुरखको से नहीं (एक घूर्तरित से लिंग को जो आनंद मिलता है, वह सेकड़ो कुरत से नहीं) ॥ १ ॥

५१२\*२. (अपने सकेत-स्थल पर वृक्षों का पल्लव तोड़ने के लिए प्रतिदिन आने वाले पुजारी को रोकने के लिए व्यभिचारिणी की उक्ति) धम्मिय ! दान, तप और तीर्थयात्रा से धर्म होता है, यह तो सुना जाता है, पर तरुण वृक्षों में पत्तों को तोड़ने से उत्पन्न होने वाला धर्म तुमने कहां देखा है ? ॥ २ ॥

१. पहला व्यग्यार्थ सस्वत टीकाकार द्वारा निर्दिष्ट है और दूसरे को कल्पना में की है ।

\* विशेष अर्थ परिशिष्ट 'क्ष' में देखिए ।



## वालासवरणवज्रा

- ५५१\*१ तोलिज्जति न केण वि सब्बगायारगोवणसमत्था ।  
अन्न उण हिययतुलाइ दिट्ठ चिय् तुलति ॥१॥  
तोत्यन्ते न केनापि सर्वाङ्गाकारगोपनसमर्था ।  
अन्य पुनर्हृदयतुल्या दृष्टमेव तोलयन्ति ॥

## कुट्टिणीसिक्खावज्रा

- ५५९\*१ पञ्जरण रोमच्चो वयणे सच्च सया महादिट्ठो ।  
एय पुणो वि सिक्खसु मुद्धे अत्यक्कविघ्नाण ॥१॥  
प्रक्षरण रोमाच्चो वदने सत्य सदा महादृष्टि ।  
एतत् पुनरपि शिक्षस्व मुग्धे अश्रान्तविज्ञानम् ॥  
\*५५९\*२ करफसमलणचुव्वणपीलणणिहणाइ हरिसवयणेहि ।  
अत्ता मायदणिहीण किं पि कुमरीउ सिस्सवइ ॥२॥  
वरम्पशमर्दनचुम्भनपीडननिहननानि हर्षवचने ।  
आर्या माकन्दनिघोत् किमपि कुमारी शिक्षयति ॥

## वेसावज्रा

- ५७८\*१ अमुणियजम्मप्पत्ती सब्बगया बहुभुयगपरिमलिया ।  
मयणविणासणसीला हरो व्व वेसा सुह देउ ॥१॥  
अज्ञातजन्मात्पत्ति सर्वगता बहुभुजङ्गपरिमृदिता ।  
मदनविनाशनशीला हर इव वेश्या मुख ददातु ॥  
५७८\*२ सब्बगरागरत्त दमइ कणवीरकुमुमसारिच्छ ।  
गट्ठे वह वि न रत्तं वेसाहियम तह च्चेव ॥२॥  
सर्वाङ्गरागरक दर्शयति करवोरक्कुमुमसादृश्यम् ।  
गर्भे कथमपि न रत्तं वेस्याहृदय तथा चैव ॥

## कण्हवज्रा

- ६०५\*१ उव्वूढमुवणमारो वि केमवो थणहरेण राहाए ।  
मालाइदल व्व कलिओ लट्ठइच्चइ को न पेम्मेण ॥१॥  
उद्व्यूढमुवनमारोऽपि केशव म्मनमरेण राधाया ।  
मालाश्लमिव कलिनो लघूक्रियते को न प्रेम्णा ॥

### मालासंचरण-वज्जा

५५१\*१. जो सम्पूर्ण अंगों और आकृति की विकृतियों को छिपाने में समर्थ हैं, उन्हें कोई भी तौल नहीं पाता (रहस्य नहीं जान पाता), परन्तु वे ही अन्य व्यक्ति को देखते ही हृदय की तुला पर तौल लेते हैं ॥ १ ॥

### कुट्टिणीसिक्खा-वज्जा

५५२\*१. मुग्धे ! द्वयोभाव, रोमाच, वाणी की सत्यता और निर्मल दृष्टि—ये कलायें अवसर न रहने पर भी पुनः सीखो ॥ १ ॥

\*५५२\*२. वेश्या माता आम के मण्डारो (धनियों) के लिए कुमारियों को कुछ सिखा रही है, जैसे—करस्पर्श, मर्दन, घुम्बन, निष्पीडन (निचोड़ना) और निह्नन (फेंक देना या छोड़ देना) ॥ २ ॥

### वैसावज्जा

५७८\*१. जिसका जन्म अज्ञात है (शिव के भी जन्म का पता नहीं है), जो सबके पास जाती है (सर्वगत है) (शिव भी सर्वगत है, सर्वत्र विद्यमान रहते हैं), जो बहुत से भुजगो (वेश्या प्रेमियों) से सेवित है (शिव भी बहुत से भुजगो अर्थात् सर्पों से सेवित है) और जो (सभोग-द्वारा) मदन (काम) को नष्ट कर देता है (शिव ने भी मदन को नष्ट कर दिया था), वह वेश्या शिव के समान सुख प्रदान करे ॥ १ ॥

५७८\*२. वेश्या का हृदय कनेर के पुष्प के समान होता है। कनेर के पुष्प का सम्पूर्ण भाग रक्त (लाल या रंगा) होता है, पर भीतर रंग नहीं रहता है। वेश्या का शरीर रक्त (अनुरक्त) होता है, हृदय नहीं (वह शरीर से प्रणय का अभिनय करती है, वस्तुतः मन से अनुरक्त नहीं होती) ॥ २ ॥

### कण्ह-वज्जा

६०५\*१. यद्यपि कृष्ण अपने भीतर तीनों लोको का भार वहन करते हैं, फिर भी राधा के स्तन उन्हें मालती-पुष्प के पत्र के समान धारण कर लेते हैं, प्रेम से कौन नहीं लघु (हल्का) हो जाता ॥ १ ॥

\* विस्तृत अर्थ परिशिष्ट 'ख' में देखिये ।

१. सा राग सर्वाङ्गे मुञ्जेव न तु मुञ्जे वहति ।

मचनपटोस्तव राग निवलमास्ते धुकस्येव ॥

—आर्या सप्तशती

- ६०५\*२ तह रुण्ण तीइ तडट्टियाइ राहाइ कण्हविरहम्मि ।  
जह से कज्जलमइल अज्ज वि जत्तणाजल वहइ ॥२॥  
तथा रुदित तथा तटस्थितया राघया कृष्णविरह ।  
ययास्या कज्जलमलिनम् अद्यापि यमुनाजल वहति ॥

### हियालीवज्जा

- ६२४\*१ छोए जीव न भणिय परियणमज्झम्मि पोढमहिलाए ।  
छोडेइ चिहुरभार पुण वद्ध केण कज्जेण ॥१॥  
क्षुते जीव न भणितं परिजनमध्ये प्रौढमहिलया ।  
मोचयति चिकुरभार पुनरुद्ध केन कार्येण ॥
- ६२४\*२ कुलवालिया पसूया पुत्तवई सुरयकज्जतत्तिल्ला ।  
एरिमगुणसपन्ना भण कीस न वासिया पइणा ॥२॥  
कुलवालिका प्रसूता पृथ्वती सुरतकार्यतत्परा ।  
ईदृशगुणसपन्ना भण कस्मान्न वासिता पत्या ॥
- \*६२४\*३ वस्स कएण किसोयरि वरणयर वहसि उत्तमगेण ।  
कण्णेण कण्णवहण वाणरसख च हत्थेण ॥३॥  
वस्य वृत वृशादिर वरनगर(वर्णकर)वहसि उत्तमाङ्गेन ।  
वर्णेन वर्णवहन वानरमुख्य च हस्तेन ॥

### वसतवज्जा

- \*६३७\*१ लंकाएण रत्तंरवेमिण दिनपुप्फयाणेण ।  
दह्मयणेणेव कय सीयाहरण पलासेण ॥१॥  
रङ्गाग्र्यन रत्नाम्बरवणिणा दत्तपुष्पयानेन ।  
दशमदनेनेव शृन सीनाहरण (मीनाहरण) पद्मसेन ॥

६०५\*२. कृष्ण के वियोग में तट पर खड़ी होकर वह राधा इतनी रो कि आज भा यमुना में उसके काजल से मैला जल वह रहा । २ ॥

### हियाली-वज्जा

६२४\*१ परिवार के मध्य में (पति के) छीकने पर सुन्दरी तहणो बरजोवी हो' यह नहीं कहा, बल्कि अपना चिकुर-भार छोड़ दिया फिर बांध लिया । उसका प्रयोजन क्या था ? ॥ १ ॥

२—शिर पर जितने बाल हैं, उतने वर्ष जोवित रहो, यह अर्थ प्रकट के लिये नायिका ने केशपाश मुक्त कर पुन बांध लिया)

६२४\*२ जो उच्च कुल में उत्पन्न हुई थी (या जो परिवार का करने वाली थी), पुनवती थी, प्रमव कर चुकी थी एवं सुरत-कार्य में थी, ऐसी गुणसम्पन्ना पत्नी को पति ने अपने घर में ठौर क्यों नहीं ? बताओ ॥ २ ॥

२—पति को नन्हे बालक पर दया आ गई । अपने कक्ष में पत्नी आन देने पर सभोग के पश्चात् वह गर्भवती हो जाती)

\*६२४\*३. हे कृशोदर ! तुम किसके लिए मस्तक पर श्रेष्ठ नगर, पर कर्ण का वध और हाथों पर बन्दरो को सख्या हो ? ॥ ३ ॥

अन्यार्थ—किसके लिये मस्तक पर चित्रवल्ली (वर्णकर), कानों में लाल और हाथों में अंगद (आभूषण विदोष) धारण करती हो ?

२—पति के लिये)

### वसन्त-वज्जा

\*६३७\*१. जैसे लकानिवासी, रक्ताम्बरधारी, (कुवेर से) पुष्पक प्राप्त करने वाले एवं मासभक्षी रावण ने सीता का हरण किया था, प्रकार शास्त्राओं के आलय (अर्थात् शास्त्राओं के आश्रय, शास्त्राश्रित), रो के कारण) लाल वेश धारण करने वाले और पुष्प प्रदान करने पलाश ने शीत (ऋतु) का हरण कर लिया ।

१. स्वाम सुरति करि राधिका, निकसि तरनिजा तीर ।

अमुवन करति तिरौह की, तनिक तिरौह नीर ॥

—विहारी

\* विस्तृत अर्थ परिशिष्ट 'ख' में देखिये ।

१\*१ गुरुविरहसधिविग्रहणिम्मवणो अत्थि को वि जइ मत्तो ।  
पढमिक्कमज्जरि अगुलि व उब्भेइ सहयारो ॥१॥

गुरुविरहसधिविग्रहनिर्माता अस्ति कोऽपि यदि मत्त ।  
प्रथमैकमञ्जरीमङ्गुलिमिव ऊर्ध्वयति सहकार ॥

१\*२ चचुपुडकोडिवियलियमायदरसोहसित्तदेहस्स ।  
कीरस्स मग्गलग्ग भमरउल भमइ गघड्ड ॥२॥  
चञ्चूपुटकोटिविगलितमाकन्दरसोषसिक्कदेहस्य ।  
कीरस्य मार्गलग्न भ्रमरकुल भ्रमति गन्धाढ्यम् ॥

४१\*३ सच्च चेव पलासो असइ पल विरहियाण महुमासे ।  
तित्ति अवच्चमाणो जलइ व्व छुहाइ सव्वग ॥३॥  
सत्य चेव पलाशोज्ज्नाति पल विरहिणा मधुमासे ।  
तूतिम् अव्रजन् ज्वलयतीव सुधया सर्वाङ्गम् ॥

४१\*४ सुहियाण सुहजणया दुक्खजणया य दुक्खियजणस्स ।  
एए सोहजणया सोहजणया वसतस्स ॥४॥  
सुखिताना सुखजनका दु खजनकाश्च दु खितजनस्य ।  
एते शोभजनका शोभाजनका वसन्तस्य ॥

### पाउसवज्जा

५२\*१. विज्जुभुयगममहिय चवलवलायाकवालकयसोह ।  
गज्जियफुडट्टहास भइरवरुव नह जाय ॥१॥  
विद्युद्भुजगमसहितं चपलवलाकाकपालवृत्तशोभम् ।  
गजितस्फुटाट्टहास भैरवरूपं नमो जातम् ॥

६४१\*१ आम्नवृक्ष एकमात्र प्रथम मञ्जरी को अगुलों के समान ऊपर उठाकर मानो उद्गोष कर रहा है कि यदि मेरे अतिरिक्त प्रेमियों के दार्शनिक विद्याग में सन्धि और विग्रह सम्पन्न करने वाला कोई है, तो कहे ॥ १ ॥

६४१\*२ चञ्चु के अग्रभाग से विदलित आम्नमञ्जरी की रसधारा में जिसका शरीर सिक्त हो चुका था, उस कोर (शुक्र) के मार्ग के पीछे-पीछे मुग-वन्दन मनुकर-पुन मँडरा रहा है ॥ २ ॥

\*६४१\*३ सत्य हो वन-त में पलाश विरहियों का मान ला जाना है और तू न होने के कारण उसका सर्वांग माना भूख को ज्वाला से जलना रहता है ॥ ३ ॥

६४१\*४. सुविशो का सुख और दुःखियों को दुःख देने वाले ये महजन वन-त की शोभा के जनक हैं ॥ ४ ॥

### पाउस-वज्रा

६५२\*१. विद्युत्-रूपी भुजंग में युक्त, चपल बलाका-रूपी कपाल से घामिन, घनगर्जन रोगी अट्टशम को प्रकट करने वाले आकाश ने भैरव का रूप धारण कर लिया है ॥ १ ॥



\* विष्णु अर्थ परिसिद्ध 'व' में दलित ।

## वालासिलोयवज्जा\*

तुह तुगपओहरविसमकोट्टमज्झट्ठिओ कुरगच्छि ।  
काही पुण व्य नूण हरेण सह विग्गहमणगो ॥ १ ॥

अवहत्थियमयपसरो नूण पसयच्छि वम्महो इण्ह ।  
हरजुज्झसहो वट्टइ तुह तुगपओहरारुढो ॥ २ ॥

पायडियवाहुमूल ओणमियथोरथणहरुच्छग ।  
दियहेण मा समप्पिय (?समप्पड?) तुह  
एय चिहुसरसजमण ॥ ३ ॥

सुहिउ त्ति जियइ विद्धो मरइ अविद्धो तुहच्छिवाणेण ।  
इय सिम्भविआ केण वि अउव्वमेय घणुव्वेय ॥ ४ ॥

निवडइ जहिं जहिं चिय तुज्झ मणोहरतरलतरलिया दिट्ठी ।  
सुदरि तहिं तहिं चिय अगेसु वियभए मयणो ॥ ५ ॥

ससिवयणे मा वच्चसु एत्थ तलायमि मयसिलवच्छि ।  
मउलताइ न याणसि ससकसकाइ कमलाइ ॥ ६ ॥



### वालासिलोय-वज्रा

१. हे कुरगाक्षि ! निश्चय ही तुम्हारे उत्तुंग पयोधर के विषम कोट (दुर्ग) में स्थित होकर भानो अनग फिर शिव से युद्ध करेगा ॥ १ ॥

२. हे प्रसूताक्षि (हरिणलोचने, पसर भर की आँखों वाली) ! निश्चय ! यही तुम्हारे उन्नत शरोजों पर आलूठ मग्नय अब निडर होकर शिव से द्वन्द्व करने में समर्थ हो गया है ॥ २ ॥

३. हे शशिवदने ! जिसके कारण भुजमूल दिखाई देने लगते हैं और लल स्तन ऊपर उठ जाने हैं, वह तुम्हारा केशवन्धन कार्य (ईश्वर करे) क दिन में न समाप्त हो ॥ ३ ॥

४. हे मृगाक्षि ! तुम्हें यह अपूर्व धनुर्विद्या किमने मिलाई है—जो श्वाण से विद्ध हो जाता है, वह अपने को सुबो समझ कर जोवित रहना और जो विद्ध नहीं होता है, वह मर जाता है ॥ ४ ॥

५. हे सुन्दरि ! जहाँ-जहाँ तुम्हारी मनोहर एवं चञ्चल वृष्टि पड़ती वहाँ-वही अंगों में मदन (धतूरे का विष और काम)-विकार हो जाना ॥ ५ ॥

६. हे मृगशावकलोचने ! हे शशिवदने ! इस सरोवर में मत ओ, क्या तुम नहीं जानती हो कि चन्द्रमा की आशका से कमल मुकुलित गये हैं ? ॥ ६ ॥





## परिशिष्ट 'ख'

### कतिपय गायानो के अर्थ पर पुनर्विचार

प्राकृत ग्रन्थ-परिपद् से अंग्रेजी अनुवाद सहित प्रकाशित बज्जालग की भूमिका में विद्वान् सम्पादक श्री माधव वासुदेव पटवर्धन ने अनेक गायानो का भाव स्पष्ट करने में असमर्थता व्यक्त की है।<sup>१</sup> संस्कृत टीकाकार रत्नदेवसूरि ने भी बहुत सी गायानो की सम्योपजनक व्याख्या नहीं की है। इसके अतिरिक्त कुछ गायानें ऐसी भी हैं, जिनके अर्थ तो दोनो व्याख्याकारों ने दिये हैं परन्तु वे भ्रष्ट जेंचे नहीं या अधूरे होंगे। साथ ही कुछ स्थलों पर किया गया आक्षेप भी भ्रष्ट उचित नहीं प्रतीत हुआ। अतः उन समस्त गायानो के अर्थतत्त्व का पुनर्निरूपण करना नितान्त आवश्यक समझता हूँ। यहाँ क्रमानुसार कतिपय गायानें और उनकी विवेचनात्मक विवृत्तियाँ दी जा रही हैं —

#### गाथा क्रमांक (१)

सर्व्वद्रव्ययणपकयणिवासिणि पणमिउण सुयदेवि ।

धम्मइतिवगजुय सुयणाण सुहासिय वोच्छ ॥१॥

टीकाकारों ने इस गाथा की संस्कृत छाया इस प्रकार दी है —

सर्व्वशब्दनपङ्कजनिवासिनी प्रणम्यश्रुतदेवीम् ।

धर्मादित्रिवर्गयुत सुजनाना सुभाषित वक्ष्यामि ॥

अर्थात् सर्वज्ञ के मुल्लाम्बुज में बसने वाली श्रुतदेवी को प्रणाम करके धर्म, अर्थ और काम से युक्त सज्जनों के सुभाषित कहूँगा।

- १ I am aware of the fact that inspite of my efforts to unriddle the meanings of a number of obscure stanzas in the text, I have not been able to give a satisfactory rendering and explanation of their exact sense. I shall be grateful if my readers send their suggestions, if any, in all such cases

इन अर्थ के सम्बन्ध में यह कहना है कि सुभाषित की उपादेयता उसके स्वयम् में ही निहित है। सज्जनों से सुभाषित का सम्बन्ध अनिवार्य नहीं है। दुर्जनों को भी सुभाषित ग्राह्य होते हैं। अतः इस रूप में सुजन शब्द की कोई सार्थकता नहीं रह जाती है।

प्राकृत व्याकरण के अनुसार चतुर्थी के स्थान पर पछी विभक्ति का प्रयोग विहित है—

चतुर्थ्यां पछी—प्राकृत प्रकाश

अतएव यदि हम 'सुयणाण' को छाया 'सुजनैभ्य' कर लें तो सुजन शब्द सार्थक हो जायगा, क्योंकि सुभाषित सुजनग्राह्य ही होता है, दुर्जनग्राह्य नहीं। साथ ही ग्रन्थारम्भ में 'सुभाषित' से विषय, 'सुजन' से अविकारो, 'धर्मादि' पद से प्रयोजन और 'वक्ष्यामि' से प्रतिपादकता की प्रतीति होने लगी। अथवा 'सुयणाण' और 'सुहासिभ्य' का समस्तपद मानकर चतुर्थ पाद की छाया इस प्रकार करें—

श्रुतज्ञानसुभाषित वक्ष्यामि।

अर्थात् श्रुतज्ञान रूप सुभाषित का वर्णन कहेगा।

इस प्रकार श्रुतज्ञान रूप सुभाषित के वर्णन के पूर्व श्रुतदेवी को प्रणाम करना आवश्यक होगा।

गाथा क्रमांक (३)

विविह्वइविरइयाण गाहाग वरकुलाणि धेतूण।

रइय वज्जालम्ब विहिणा जयवल्ह नाम ॥३॥

इस गाथा में प्रयुक्त नाम शब्द की अभिधानार्थक समझकर टीकाकारों ने यह अतत्कल्पना की है कि वज्जालम्ब का अन्य नाम 'जयवल्ह' है। इस कल्पना का उद्गम रत्नदेव का निम्नलिखित वाक्य है—

जयवल्ह नाम प्राकृतकाव्यमिति—तृतीय गाथा की टीका

उपर्युक्त साक्ष्य पर श्री० माधव बागुदेव पटवर्धन ने यह स्वीकार किया है कि 'वज्जालम्ब' ग्रन्थ का सामान्य नाम है और 'जयवल्ह' विशेष। अतः उक्त साक्ष्य की 'प्रासंगिकता' का विवेचन आवश्यक है।

रत्नदेव प्रणीत छायाटीका के अवलोकन से प्रतीत होता है कि टीकाकार व्याख्येय ग्रन्थ के नाम के सम्बन्ध में सशयालु हैं। लगता है, जैसे वे 'वज्जालम्ब'

का ठीक-ठीक अर्थ ही नहीं समझ सके। टीका में उन शब्द का जो अर्थ दिया गया है, वह केवल अटकल पर आधारित है, अन्यथा एक ही ग्रन्थ को कभी विद्यालय कभी पद्यालय और कभी वज्जालम्भा कहने का कोई कारण नहीं। इस सम्बन्ध में टीका के निम्नलिखित वाक्य द्रष्टव्य हैं —

विद्यालयस्यच्छाया लिख्यते ।—टीकारम्भ, पृ० ३

वज्जालम्भा विरचितम् ।—तृतीय गा० टीका, पृ० ३

तत्त्वतु विद्यालय नाम ।—चतुर्थ गा० टीका, पृ० ४

इदं विद्यालय सर्वं य पठस्यवसरे सदा ।—पञ्चम गा० टीका, पृ० ४

कविजनैर्विरचिते वज्जालम्भा सकललोकाभीष्टे ।—७९४वीं गाथा की टीका

एतद् वज्जालम्भा पद्यालय स्थान गृहीत्वा ।—७९५वीं गाथा की टीका

उपर्युक्त स्थलों पर टीका वज्जालम्भा शब्द का कोई एक निश्चित अर्थ नहीं देती साथ ही चतुर्थ गाथा की टीका में यह स्वीकार किया गया है कि पठति वाचक संस्कृत पद्या शब्द प्राकृतवशात् 'वज्जा' हो गया—

एकार्षे प्रस्तावे यत्र प्रचुरा गाथा पठन्ते तत खलु विद्यालय नाम । वज्जा इति पठतिमणिता । अथवा प्राकृतवशात् पद्या पठति सरणि ।

परन्तु प्राकृत व्याकरणानुसार पद्या से वज्जा शब्द निष्पन्न होगा, 'वज्जा' नहीं, क्योंकि आद्य प के स्थान पर व नहीं होता। यदि व्याकरण के नियमों की बहुलता (विभाषा) के कारण कथञ्चित् 'वज्जा' की निरन्तर पद्या से मान लें, तो भी ग्रन्थ का नाम वज्जालम्भा ही होगा, विद्यालय नहीं, क्योंकि मूल पाठ में वज्जा के साथ लम्ब शब्द जुड़ा है। फिर भी उसी गाथा की व्याख्या में ग्रन्थ का नाम 'विद्यालय' लिखा है। इस प्रकार टीका 'वज्जालम्भा' का अपदिष्ट अर्थ देने में असमर्थ है। टीकाकार कदाचित् पद्या से वज्जा और वज्जा स विज्जा (विद्या) का सम्बन्ध जोड़ना चाहत है, फिर भी लम्ब शब्द अप्प्राप्त्यार रह गया है। यह भी समभव है कि 'वज्जालम्भा' के तात्पर्य से अनभिज्ञ मशयप्रसू टीकाकार ने 'जयवल्म' के साथ नाम शब्द का प्रयोग दसकर ग्रन्थ का वास्तविक नाम 'जयवल्म' ही समझ लिया हो। पर तु ग्रन्थ का वास्तविक और एकमात्र नाम 'वज्जालम्भा' है, जयवल्म नहीं। इसका प्रमाण मूल ग्रन्थ की निम्नलिखित गाथाओं में है, जिनमें ग्रन्थ के लिये 'वज्जालम्भा' का प्रयोग किया गया है—

एकस्ये पन्थावे जस्य पट्टिज्जन्ति पट्ठर माहाओ  
त सत्तु वज्जालग्य वज्ज त्ति य पट्ठई नणिदा ॥ गा० ४

एय वज्जालग्य मुञ्च जो पट्ठई अवधरमि सया ।  
पादय-ज्वज्जई सो होट्टिइ तह कित्तिभन्तो म ॥ गा० ५

एत वज्जालग्य ठाप गहिऊय पट्ठई जो को वि ।  
नियठाणे पत्थाव गुस्तप ल्हइ सो पुरिसो ॥ परंत गा० २

उपसंहार में केवल एक स्थान पर 'वज्जालग्य' का प्रयोग मित्रा है, जो प्रमादवश भी हो सकता है। प्रो० पटवर्धन के अनुसार वहाँ छन्दोभंग है। उपर्युक्त अन्य गायार्थों में छन्द की गति को बिना सोचे 'वज्जालग्य' के स्थान पर 'वज्जालय' का प्रयोग समझ नहीं है। अतः ग्रन्थ का नाम वज्जालग्य है। वज्जालों का आल्य होने से उसे 'वज्जालय' ही कह भी सकते हैं, परन्तु विद्यालय या पद्यालय कभी नहीं।

उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध होता है कि टीकाकार व्याख्येय ग्रन्थ का ठीक-ठीक नाम नहीं दे सके। विवेच्य भाषा में 'जयवल्लह' के 'नाम' का प्रयोग बल कर उन्होंने ग्रन्थ का नाम ही 'जयवन्तम' समझ लिया, जिससे आगे चल कर एक बहुत बड़ी भ्रान्ति की परम्परा चल पड़ी। नाम शब्द अनेकार्थक है—

नाम कोपेज्जुपयमे विस्ममे स्मरणेऽपि च ।

समाख्यकुत्सा प्राकाश्य-विकल्पेऽपि दृश्यते ॥—मेदिनीकोश

नाम प्राकाश्य-समाख्य-क्रोधीपगम-कूत्सने ।—अमरकोश

'पाइयसदमहण्यव' के अनुसार नाम या नाम का प्रयोग वाक्यालंकार या पादपूर्ति के लिये भी होता है। कालिदास ने इस शब्द का प्रयोग निश्चय या स्वीकार के अर्थ में किया है—

विनीतवेदेण प्रवेष्टव्यानि तपोवनानि नाम ।

—अभिज्ञानशाकुन्तल, प्र० अ०

अतः प्रस्तुत गायार्थ में नाम शब्द या तो पादपूर्ति या वाक्यालंकार के लिये प्रयुक्त है अथवा उपनम या निश्चय के लिये। जब तक रत्नदेव की अविश्वसनीय टीका के अतिरिक्त कोई अन्य प्रबल प्रमाण नहीं मिल जाता तब तक हम प्रस्तुत गायार्थ में प्रयुक्त नाम शब्द को अभिमानार्थक मानने के लिये बाध्य नहीं हैं।

'जयवल्लह' का संस्कृत रूपान्तर, जैसा कि कुछ विद्वानों ने माना

‘जगदवल्लभ’ होगा। जगदवल्लभ का अर्थ है—लोकप्रिय (जगत लोकस्य वल्लभ प्रिय जगदवल्लभ, प्राकृते जयवल्लभो)। यह शब्द ग्रन्थ का नाम नहीं, वज्जालम् का विशेषण है। इसी विशेषण की दृढ़ता या स्वीकृति के लिये नाम का प्रयोग किया गया है। इस आलोक में प्रस्तुत गाथा का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार होगा—

‘विविध कविया द्वारा रची हुई गाथाओं से श्रेष्ठ गाथाओं का समूह चुन कर निश्चय ही लोकप्रिय वज्जालम् की रचना विधिपूर्वक की गई है’।

यहाँ एक बात हम स्पष्ट बतल देना चाहते हैं कि ग्रन्थकार ने प्रस्तुत गाथा में मुद्रालकार के माध्यम से अपने नाम की सूचना दी है। कवियों के द्वारा अपने नाम की इस प्रकार सूचना देने की यह कोई नवीन पद्धति नहीं है। प्राचीन काल में यह साकेतिक पद्धति खूब प्रचलित थी। विमलसूरि ने ‘पद्मचरित’ की सन्धियों के अन्त में इसी पद्धति से अपने नाम की ओर इंगित किया है—

एव विहा जहयसेदिगमा महत्ता आहार-पाण-सयणासन-सपउत्ता ।

विज्जाहरा अणुहवति सुह ममिद्ध, धम्म करिति विमल च जिणोवइद्ध ॥

—तृतीय सन्धि, गा० ११२

इसी प्रकार अपभ्रंश महाकवि स्वयंभूदेव ने भी ‘पद्मचरित’ की सन्धियों के अन्त में अपना नाम सूचित किया है—

रिसउ वि गउ णिब्बाणहो सासयणाणहो, भरहु वि णिब्बुइ पत्तउ ।

अङ्गकित्ति पिउ उग्गह दणुदुमोज्जहे, रउजु सइमुज्जन्तउ ॥

—विज्जाहरकड, प० ४

उपमूर्त उद्धरणों में विमल और सद्म शब्द प्राकरणिक अर्थ में अन्वित रहने पर भी व्रज कवि विमलसूरि और स्वयंभू की सूचना देत हैं। इसी प्रकार ‘वज्जालम्’ की उक्त गाथा में भी जयवल्लभ शब्द यद्यपि मुख्यतया विशेषण के रूप में ही प्रतिबद्ध है तथापि उसका प्रयोग ग्रन्थकार ने जान-बूझ कर अपने नाम की सूचना देने के लिये किया है। ‘जयवल्लभ’ नाम से ‘जयवल्लभो नाम कवि’—यह सूझाप सूचित होता है। सूचना देना ही मुद्रालकार का प्रयोजन है—

सूच्यार्थ सूचनं मुद्रा प्रकृतार्थपरं पदे

—कुवलयानन्द

### गाथा क्रमांक १०

सालकाराहि मलकलणाहि अन्नन्नरायरमिग्राहि ।  
गाहाहि पणइणीहि य खिज्जइ चित्त अइतीहि ॥१०॥

टीकाकारों ने श्लिष्ट पदों के अर्थ इस प्रकार दिये हैं —

राय = राग, Emotion, अइतीहि = In the absence of, ( उभयपक्ष )  
— श्री पटवर्धन

राय = राग = प्रीति ( केवल प्रणयिनी-पक्ष में ), अइतीहि = अनागच्छन्तीमि.  
— श्री रत्नदेवमूरि

‘रसिय’ का रसिक और रसित अर्थ दोनों टीकाकारों ने समान रूप से किया है । उपर्युक्त व्याख्याओं में उभयपक्षीय इलेप का निर्वाह नहीं हो सका है । अतः श्लिष्ट-पदों को इस प्रकार समझें —

राय = १—संगीतशास्त्र प्रतिपादित राग या स्वर<sup>१</sup> ( गाथापक्ष ) ।

२—रात<sup>२</sup> ( प्रणयिनी-पक्ष )

अइतीहि = १—न आती हुई ( प्रणयिनी-पक्ष )

२—समझ में न आती हुई ( गाथापक्ष )

‘रसिय’ का अर्थ पूर्ववत् है तथा ‘राय’ का रत्नदेव-सम्मत अर्थ ‘प्रीति’ भी नायिका-पक्ष में स्वीकार्य है ।

गाथार्थ—जैसे आभूषणों से मण्डित, सुलक्ष्णों वाली ( सामुद्रिकशास्त्रवर्णित लक्ष्णों से युक्त ) तथा अन्य-अन्य रातों में रम्ययुक्त ( या प्रेम के रस को समझने वाली ) प्रेयसियों के (प्रतीक्षा करने पर भी) न आने पर चित्त दुःखी हो जाता है वैसे ही जब उपमादि असकारों से अलङ्कृत, व्याकरणप्रतिपादित लक्षणों से युक्त और विभिन्न रागों ( संगीत-स्वरों ) में रसित ( ध्वनित ) होनेवाली गाथायें समझ में नहीं आती हैं, तब मन दुःखी हो जाता है ।

### गाथा क्रमांक २०

रयणुज्जल-पय-मोह त वट्ठ ज तवेइ पडिक्खत ।  
पुरिसायत-विलासिणि-रसणादाम मिक्ख रसत ॥२०॥

१. “.....” रागस्तु मात्सर्यं लोहितादिषु ।

कलेशादावनुरागे च गान्धारादो नृपेऽपि च ॥ — मेदिनीकोश

२. पाइयसद्मदुष्णव

रचनोज्ज्वल (रत्नोज्ज्वल)-पदशोभ सत् काव्य यत् तापयति प्रतिवक्ष  
(प्रतिपक्षम्) । पुरुषायमाण-विज्ञासिनो-रसनादामेव रसान्तम् (रसत्) ॥

प्रो० पटवर्धन ने 'पडिवक्ख' में श्लेष मानकर काव्य एवं रसनादाम के पक्ष में निम्नलिखित अर्थ दिये हैं —

पडिवक्ख = १—प्रतिवक्ष = प्रत्येक हृदय को

२—प्रतिपक्ष = Opponent in the सुरत-संगर । the male partner in coitus

गाथा में सुरत पर संगर का आरोप न होने के कारण उक्त अर्थ अप्राप्त-जनित है । अकारण प्रेमी ( नायक ) को प्रतिपक्ष ( विरोधी ) मानना प्रणय के साथ अन्याय है । ऐसे स्थलो पर उक्त शब्द का अर्थ मपत्नी ( Rival wife ) ही उचित है । अन्य कवियों ने इसी अर्थ में इसका प्रयोग किया है —

पियमुहपोल्लविरिय थोव थोव चिरेण कावि पिया ।

अमय व पियइ सरस सरोत्तपडिवक्खसच्चविय ॥

—कौतूहलकृत लोलावर्द्ध, १२७३

उपर्युक्त संस्कृतछाया को देखने लिये 'पडिवक्ख' में श्लेष मानना बहुत अधिक आवश्यक नहीं है क्योंकि काव्यपन्न में तापयति क्रिया प्रतिवक्ष के साथ उचितरूप से अन्वित नहीं हो पाती है । यदि 'पडिवक्ख' में श्लेष का रहना अधिक आवश्यक समर्थ हो 'ज तवेइ पडिवक्ख' को छाया यो करनी होगी —

१—यत् तापयति प्रतिपक्षम् ( रसना दाम पन्न )

( जो सीतो को सज्ज करता है )

२—यत् स्तुति प्रतिवक्ष ( काव्य पन्न )

( प्रत्येक हृदय जिसकी प्रशंसा ( स्तुति ) करता है )

प्राकृत में एव शब्द के दो रूप होने हैं—एव और तव (स्तवे वा—हं० सू० २।४६) । प्राकृत सर्वस्व ( सूत्र ६७ ) के अनुसार 'तव' युष् ( स्तुतिकरता ) के अर्थ में होता है ।<sup>१</sup>

गाथा क्रमांक ४६

पडिवज्जति न सुयणा अह पडिवज्जति कह वि दुस्सेहि ।

पन्थर-रेहव्व समा मरणे वि न अत्तहा होइ ॥४६॥

१ सम्पूर्ण गाथा का अर्थ हिन्दी अनुवाद में देखिये ।

प्रतिपद्यन्ते न सुजना अथ प्रतिपद्यन्ते कथमपि दुःखे ।

प्रस्तर-रेखेव समा मरणेऽपि नान्यथा भवति ॥

रत्नदेव ने 'पत्थर रेहव्व समा' की व्याख्या 'प्रस्तररेखासमा' की है । प्रो० पटवर्धन ने उक्त अंश पर टिप्पणी करते हुए लिखा है —

"This is a clumsy expression used in the sense of पत्थर-रेहाइ समा (प्रस्तररेखा समा)"

और पूर्वार्ध में निम्नलिखित ससोषण की सम्मति दी है —

We should expect न अग्रहा हुति for न अग्रहा होइ, the subject being सुयगा (Plural)

परन्तु न तो पत्थररेहव्व समा की पत्थररेहाइ समा समझने की आवश्यकता है और न सुयगा से अन्वित करने व लिए अग्रहा होइ को अग्रहा हुति करने की । गाथा का अर्थ इस प्रकार है —

सुजन अगीकार नहीं करते हैं, यदि किसी प्रकार बड़ी कठिनाई से (मुँह से) अगीकार भी कर लेते हैं तो वह (अगीकार) पापाण रेखावत् समान (एक जैसा) रहता है, प्राणों पर सकट आ जाने पर भी कभी अन्यथा (अन्य प्रकार का) नहीं होता । (जैसे पापाण-रेखा सभी कालों और सभी परिस्थितियों में एक सी बनी रहती है वैसे ही सज्जना की प्रतिपत्ति भी सर्वदा अपरिवर्तित होती है) ।

गाथा में समा शब्द औपम्य वाचक नहीं, धर्म वाचक है ।

### गाथा क्रमांक ५०

थदो वकग्गीवो अवचियो विसमदिट्ठि-दुप्पेच्छो ।

अहिणव-रिद्धि व्व खलो सुलादिन्नु व्व पडिहाइ ॥ ५० ॥

स्तथो वक्रग्गीवोऽवाञ्छितो विषमदृष्टिदुष्प्रेक्ष्य ।

अमिनवद्विरिव खल सुलादत्त इव पतिमाति ॥

गाथा में प्रयुक्त विशेषणों, 'वक्रग्गीव' और 'अवचिय' की आलोचना इन शब्दों में की गई है—

The epithets वक्रग्गीव and अवाञ्छित hold good in the case of a सुलादत्त or सुलाभिन्न person, who hangs down from the pale in a lifeless and limp manner



But it is difficult to see how they can go with either a खल or an अमिनवद्भक्तिक person

परन्तु ऐसी कोई कठिनाई नहीं है, जिसके कारण उक्त दोनों विशेषणों का अन्वय उक्त दोनों उपमानों से न हो सके। कवि ने तीन वस्तुओं को समानता मूल्य विशेषणों से प्रदर्शित कर अपनी प्रकाश प्रतिभा एवं भाषा पर अपने असाधारण अधिकार का परिचय दिया है। भाषा का अर्थ इस प्रकार होगा —

जिसकी घोषा (गर्ज से) बरक रहती है (भयानक दृष्टि के कारण) जिसे देखना कठिन है, बचिउ न होने वाला (कभी चोखा न खाने वाला) वह अमिमात्रा (स्त्र = यद—३० पादयसदमहृगव) खर, गून्त्रोत्र (गून्नीपर चडाये हुए) मनुष्य और अमिनव घनी के समान प्रतीत होता है। गून्त्रोत्र निम्नाग मनुष्य की घोषा स्वभावतः अकड़ आती है। वह निचेष्ट (यद = स्त्र = ३) हो जाता है और लटवता रहता है (अवखिउ)। मनु के पदचान बाहर निकलने हुई जीवों के कारण उसकी दृष्टि विषम हो जाती है और भयानकता के कारण उसे देखना कठिन हो जाता है। नवीन घनी अमिमानी (स्त्र = ३) होता है, अकड़ कर चलाता है अतः उसकी घोषा भी टेढ़ी रहती है, वह मुन्दर पक्षियों से रहित (बचिउ) नहीं रहता, सबको समान दृष्टि से नहीं देखना (निमदृष्टि) और अदृग्गन्ध (अमन्ध) होता है।

गाथा क्रमांक ५३

निदम्भो गुणरहिआठाणविमुक्क य लाहमभूओ ।

विचइ जणम्म हियम पिमुणा वाणु व्व लगगतो ॥ ५३ ॥

निदम्भो—मस्तुत-टीका में इस शब्द का अर्थ धनुर्मूक लिखा है। पउमचरित में भी इसी अर्थ में यह शब्द प्रयुक्त है। पादयसदमहृगव के अनुसार इसका एक अर्थ 'एक दिशा में जानेवाला' भी है।

गाथा क्रमांक ५७

परविवरलदलक्खे चित्तलए भीमणे जमलजोहे ।

वक्खपरिमक्खरे गोमसे व्व पिमुणे मुह वत्तो ॥ ५७ ॥

परविवरल्लल्लक्खे चित्तले (चित्तले) भीमणे यमलजिह्वे ।

वक्खमनजोले गोमस इव पिमुने मुह कुउ ॥

प्रो० पटवर्धन ने चित्तल का अर्थ Possessed of a fickle, unsteady mind<sup>१</sup> लिखा है और रत्नदेव ने 'नानाचित्ते आश्चर्यं भुक्ते ।' यदि पिशुन पत्र में उक्त शब्द का अर्थ मंडित या सजा-धजा किया जाय तो अधिक उपयुक्त है :—  
चञ्चिय-चित्तला मडिबंमि ।

—देशीनाममाला, ३१४

(चञ्चिय और चित्तल का अर्थ मंडित है)

चित्तलं रमणीयमित्यग्ये ।

—देशीनाममाला, ३१४ की वृत्ति ।

(चित्तल का अर्थ अग्य विद्वान् रमणीय मानते हैं)

गाथार्थ—जिसका ध्यान दूसरों के दोषों (द्विवर) पर रहता है, जिसकी गति (व्यवहार) कुटिल है, जो चुगली किया करता है उस सजे-पजे (मंडित) एवं भयानक पिशुन (दुष्ट) से सुख कहाँ ? ठोक बैसे हो, जैसे दूसरों के बिलों में प्रविष्ट हो जाना हो जिसका लक्ष्य है, जिसके शरीर पर चित्तियाँ हैं, जिसके दो जिह्वायें हैं और जो कुटिल गति से चलता है, उस भयानक सर्प से ।

सर्प और पिशुन दोनों ही सुख के अधिकरण हो सकते हैं । सर्प अपने सुष्ठु जीवन में सुखी रहता है और दुष्ट भी । अतः 'पिशुने सुख-कुतः' इस कथन की सार्थकता नहीं रह जाती । कदाचित् इसीलिए प्रो० पटवर्धन ने पिशुने का अर्थ 'in the company of a wicked person' और गोनसे का 'in the vicinity of a snake'<sup>२</sup> किया है । परन्तु यह तब समझ या जब उक्त दोनों शब्द बहुवचन होते । वस्तुतः यहाँ सप्तमी को तृतीया के अर्थ में स्वीकार करना चाहिए ।

द्वितीया-तृतीययोः सप्तमी

—प्रा० व्या०, ३११ ३५

'पिशुने सुखम्' का अर्थ पिशुनेन सुखम् है ।

गाथा क्रमांक ५८

असमत्प्यमंततताण कुलविमुक्काण भोयहोणार्णं ।

दिट्ठाण को न वोहइ वितरसप्पाण व खलार्णं ॥ ५८ ॥

१. वज्रालङ्कार, पृ० ४२४

२. वज्रालङ्कार, पृ०, २७९

असमर्थमन्त्रतन्त्रेभ्यः कुलविमुक्तेभ्यो भोगहीनेभ्यः ।

दृष्टेभ्यः को न विभेति व्यन्तरसर्पेभ्य इव खलेभ्यः ॥

जिनके निवारण में उपदेश एवं उपाय (मन्त्रतन्त्र) व्यर्थ हैं, जो परिवार से मुक्त हैं, (परिवार की चिन्ता से मुक्त हैं या जिन्हें जन समूह ने त्याग दिया है) जो विषय-सेवन से नीच हो चुके हैं, उन खलो को मन्त्रतन्त्र (शाङ्ख्य-युक्त) से अन्नाध्य, (साँपों के) आठों कुलों से बहिर्भूत एवं भोगहीन व्यन्तर सर्पों (प्रेतल्लो) के समान देखकर कौन नहीं डरता ?

अबघो के महाकवि जायसी ने भी सर्पों के आठ कुलों की चर्चा की है :—

अस पँदवार बेस बै, परा सीस गिव फाँद ।

आठौ कुरी नाम नव, भये केसन के बाँद ॥

—पद्मावत, १०९

प्र० पटवर्धन ने यह टिप्पणी की है :—

“व्यन्तरों के उत्तमकुल में उत्पन्न होने की आशा की जाती है क्योंकि वे पातालवासी देव हैं ।” यहाँ ‘कुलविमुक्त’ शब्द से उनकी अनुत्तीर्णता नहीं, अपितु अष्ट-प्रपित-कुल-बहिर्भूतता अभिप्रेत है ।

अग्नेजी अनुवाद ‘भोगहीन’ को ‘भोगवन्त’ पढ़कर किया गया है ।

शब्दार्थ—कुलविमुक्त = कुलविमुक्त = १ गृह या परिवार से मुक्त (स्वतन्त्र) अर्थात् परिवार की चिन्ता से मुक्त ।  
अथवा जन-समूह के द्वारा मुक्त (छोड़ दिये गये) ।

२. आठों कुलों से मुक्त (स्वतन्त्र या पृथक्)

अग्नेजी अनुवाद में इस शब्द का अर्थ Devoid of noble birth दिया गया है ।

भोगहीन = भोगहीन = १. विषय-सेवन के कारण हीन (अधम)

२. षण (भोग) से रहित

गाथा क्रमांक ६१

मा वत्त्वह वीरम पमुहे बटुकूडकवडभरियानं ।

निजवृत्तिवक्त्रपरमुहाण मुणयाण व खलाण ॥ ६१ ॥

गाथा की प्रकृति को देखने हुए कुत्तो और खलों के निम्नलिखित दोनों विशेषणों में श्लेष का अस्तित्व स्वीकार करना चाहिये —

१. बहुकूटकवटभरिमाण (बहुकूटकपटभूतानाम्)

२. निवृत्तिकज्जपरमुहाण (निर्वृत्तिकार्यपराङ्मुधानाम्)

टीकाकारों ने द्वितीय विशेषण के दोनों पक्षों में दो अर्थ दिये हैं। प्रथम विशेषण की व्याख्या केवल खल-पक्ष में की है। यदि मूल प्राकृत की पैकम्पिक छाया 'बहुकूटकवटभूतानाम्' करें तो यहाँ भी खान-पक्षीय अर्थ उभरने के कारण श्लेष शलक उठेगा। इस पद की व्याख्या यों करनी होगी :—

बहुकूटे बहुगुच्छे कवटे कुत्तितनगरे भूताना पुधानाम् अर्थात् बहुत से गुच्छजनों वाले कुत्तितनगर में पले। कूट का यह अर्थ मेदिनी कीस से इस प्रकार समर्थित है —

कूटोऽग्नी निश्चले राक्षी लोहमुदगर-दभयोः ।

भाषादिशृङ्गयोस्तुच्छे

॥

यदि कूट का अर्थ कूड़ा करें तो यह अर्थ होगा—अति कूड़ा वाले क्षुद्र नगर में पले। कुत्ते प्रायः घुरी या कूड़ा पर घूमते दिखाई देते हैं। सत्सृष्ट कूट से ही हिन्दी का कूड़ा शब्द सम्बन्धित है। पालि महावग्ग में जीवक की उत्पत्ति के प्रसंग में मकार-कूट शब्द का प्रयोग है। विमुट्ठिमग्ग के द्वितीय परिच्छेद में भी सकार-कूट आया है। उक्त दोनों स्थलों पर सकार का अर्थ है—माड़ लगाने से पुजोभूत धूल या गन्दगी। लगता है, प्रारम्भ में सकार और कूट—दोनों शब्द साप-नाथ प्रयोग में आते थे। धीरे-धीरे कालान्तर में सकार की सन्निधि में रह कर राक्षी वाचक कूट शब्द बूढ़े या बुहारन के अर्थ में रूढ़ हो गया। इस आलोक में गाथा का यह अर्थ होगा —

कार्य (मैथुन) समाप्त हो जाने पर जो अपना मुँह फेर लेते हैं और जिनका पोषण तुच्छजनों से पूर्ण क्षुद्र नगर में होता है (या जो बहुत से कूड़ों वाले क्षुद्र नगर में पलते हैं) उन कुत्तों के समान बहु छल-छद्म-पूर्ण एवं अपना कार्य समाप्त हो जाने पर मुँह फेर लेने वाले खलों के सम्मुख विश्वासपूर्वक मत जाओ।

गाथा क्रमांक ७०

समुणाण णिग्गुणाण य गरुया पालति जजि पडिवध ।

पेच्छह वसहेण समं हरेण वोलाविओ अप्पा ॥ ७० ॥

इस गाथा में सम के प्रयोग पर आपत्ति करते हुए संपादक ने लिखा है —

“The use of सम is not happy”<sup>१</sup>

उन्होंने ‘वसहेण बोलाविओ अप्पा’ पढ़कर इस प्रकार अर्थ किया है —

“भगवान् शिव ने बेल के द्वारा अपने को लज्जाया।” परन्तु गाथा न पाठ को खण्डित करने के पश्चात् उपलब्ध होने वाले इस अर्थ में कोई कान्योचित रसानुगुण्य या चमत्कारातिशय नहीं है। यही बात जब इस प्रकार कह दी जाती है कि शिव ने बेल के साथ अपना जीवन बिता दिया, तब स्थिति बदल जाती है। इससे यह प्रकट होता है कि सामर्थ्य रहते हुए भी शिव ने अगोचर बेल को नहीं छोड़ा, बल्कि ही उस खूबसूरतवाहन के साथ उनका जीवन चौपट हो गया। अतः सम का प्रयोग निरर्थक नहीं है। उक्त वाक्य का अर्थ है —

शिव ने बेल के साथ अपना जीवन बिता दिया।

शब्दार्थ—बोलाविय = बिना दिया (पाइयसहमहणव)

अप्पा = स्वयं को,

बोलाविओ अप्पा = अपने आप को बिता दिया अर्थात् अपना जीवन बिता दिया या चौपट कर दिया।

### गाथा क्रमांक ७३

चदो धवलज्जइ पुण्णिमाइ अह पुण्णिमा वि चदेण।

नममुहदुक्खाइ मणे पुण्णेण विणा न लभति ॥ ७३ ॥

पूर्णिमा चन्द्रमा को धवल बना देती है और चन्द्रमा भी पूर्णिमा को धवल बना देता है। मैं समझता हूँ, दिनके सुख और दुःख समान हैं, वे पुण्य के बिना नहीं मिलने हैं। इस अर्थ पर श्री परमार्थन का यह आक्षेप है —

‘पूर्वार्ध में चन्द्र और पूर्णिमा का परस्पर धवलीकरण यह सूचित करता है कि वे एक दूसरे के सच्चे मित्र हैं। एक का सुख दूसरे का सुख है। परन्तु दुःख के सम्बन्ध में क्या स्थिति है? चन्द्र और पूर्णिमा तो केवल समसुख कहे जा सकते हैं। लेकिन ऐतक ने यह दिखाने के लिए कुछ नहीं कहा है कि वे नमदुःख भी हैं।’ अतः गाथा के पूर्वार्ध का उत्तरार्ध द्वारा पूर्ण समर्थन समभव नहीं है। यह आक्षेप अविवारित है। गाथा में ऐसे मित्रों की दुर्बलता का ही प्रभावतया

वर्णन है जिनके सुख-दुःख सदैव समान रहते हैं, चन्द्रमा और पूर्णिमा का नहीं। कवि का आशय यह है — पूर्णिमा चन्द्रमा को धवल बनाती है और चन्द्रमा पूर्णिमा को। दोनों सुख में ही एक दूसरे के सहायक हैं, दुःख में नहीं। जिनके सुख-दुःख समान होते हैं, वे मन्चे मित्र तो मैं समझता हूँ, पुण्य के बिना नहीं मिलने हैं।

### गाथा क्रमांक ९०

छन्न धम्म पयड च पोरिस परकलत्तवचणयं ।

गजणरहिओ जम्मो राडाइत्ताण सपडइ ॥ ९० ॥

छनो धर्म प्रकट च पोष्य परकलत्रवक्षनम् ।

कलङ्कुरहितं जन्म भग्यात्मना सपद्यते ॥

यही राडाइत्ताण की छाया भग्यात्मनाम् का गई है। इस मनुष्य का अर्थ देने वाला प्रथम है, आत्मन् चन्द्र से उसका सम्बन्ध नहीं है। 'भग्यस्त्ववताम्' यह छाया होगी।

### गाथा क्रमांक १०६

सपडियपडियविघडिय-वडन-विघउत-सपडिज्जतं ।

अवहत्थियऊण दिव्व करेइ धीरो समारद्धं ॥ १०६ ॥

यह पद्य रत्नदेवद्वारा सम्पादित है। श्री० पटवर्धन ने लिखा है कि इसका भाव अस्पष्ट है। उन्होंने घटनादि की समारब्ध कार्य का विशेषण मानकर यह अर्थ किया है :—

सपटन = Planning

घटन = Starting

परन्तु उपर्युक्त पद्य में प्रयुक्त सभी विशेषण दैव (भाग्य) के हैं और उनके अर्थ निम्नलिखित हैं —

घडिय = बना हुआ

विघडिय = बिगड़ा हुआ

संघडिय = संयुक्त, साथ लगा हुआ

इस दृष्टि से सम्पूर्ण गाथा का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार होगा — जो पहले साथ था या बना था या बिगड़ गया था एवं अब जो बन रहा है या बिगड़ रहा है या साथ दे रहा है, उस भाग्य को छोड़कर धीरपुरुष समारब्ध कार्य को कर डालता है।

## गाथा क्रमांक ११०

अगणिय-समविसर्माणं साहसतुगे समारुहताणं ।  
रत्नखट्वं घीराण मणं आसन्न भयाउलो दिव्यो ॥ ११० ॥

प्रो० पटवर्धन ने 'रत्नखट्वं घीराण मणं' (रक्षति घीराणा मनः) का अर्थ "Preserve the balance of their minds or to steady up their minds" लिखा है, जो ठीक नहीं है। 'मन रखना' एक मुहाविरा है, जो मात्र भी हिन्दी में प्रचलित है। इसका अर्थ है—अनुकूल कार्य करना। वैसे संस्कृत में मन का अर्थ संकल्प और रुचि भी होता है। इस दृष्टि से उद्धृत गाथा का अर्थ निम्नलिखित है :—

निकटवर्ती (पराजयजनित) भय से आकुल दैव, सब एवं विषम (अनुकूल एवं प्रतिशूल) अवस्थाओं को न गिनने वाले (परवाह न करने वाले) एवं साहस के समुन्नत शिखर पर आरोहण करने वाले धीर पुरुषों का मन रक्षता है (अनुकूल कार्य करता है या उनके संकल्प को पूर्ण करता है)।

## गाथा क्रमांक १२१

सदस्यत्वे पडियस्स वि मज्जेण एह किं पित्तं कज्जं ।  
जं न कहिउं न सहिउं न चेव पच्छाइउं तरइ ॥ १२१ ॥

रत्नदेव ने 'सदस्यत्वे' का अर्थ 'स्वस्थार्ये' और प्रो० पटवर्धन ने 'शस्तार्ये' लिखा है परन्तु इन दोनों की अपेक्षा 'शस्तार्ये' (शस्ते श्लाघ्यैऽर्थे प्रयोजने अर्थात् प्रशस्तनीय प्रयोजन में) अधिक संगत है। अतः सम्पूर्ण गाथा का अर्थ इस प्रकार है :—

श्लाघ्य प्रयोजन में लगे हुए (पडे हुए = पडियस्स) व्यक्ति का भी कार्य बीच में कुछ ऐसी स्थिति में पहुँच जाता है कि जिसे वह न कह सकता है, न सह सकता है और न टिप्पणी सकता है।

'तरइ' का अर्थ शक्नोति है, शक्यते नहीं।

## गाथा क्रमांक १२७

को एत्थ सया सुहिओ वस्म व लच्छी विराई पेम्माइं ।

• वस्म व न होइ सलणं मण को दू न सडिओ विहिणा ॥ १२७ ॥

घर के भीतर रखे जाते हैं, जो सेवक कोई सहायता नहीं करते वे चाहे कितन ही सुन्दर क्यों न हों, बाहर रखे जाते हैं" ।<sup>१</sup>

हम 'विह्वरसहाय' को तो सहायविह्वर मानना ही आवश्यक समझते हैं और न सहाय को साहाय्य पढ़कर शब्द के साथ खिलवाड़ ही करना चाहते हैं । 'विह्वर-सहाय' का सीधा सा अर्थ है—सकट में सहायक ( विह्वरमि आवद-पाने सहायो ) ।

गाया का अर्थ यह है—

गजेन्द्र के कृष्णदन्त जो खाने का कार्य करते हैं, वे भीतर रहते हैं । जो विपत्तियों में सहायक बनते हैं, वे शुभ्रदन्त बाहर रहते हैं ( हाथी अन्त्यन्तरवर्ती कृष्णदन्तो से खाता है और बाह्य श्वेत-दन्तो से युद्ध करता है ) ।

यहाँ अत्रस्तुतप्रशसा के माध्यम से यह बताया गया है कि राजा लोग प्राय गुणियों का सम्मान नहीं करते, चाटुकारों को ही अधिक प्रशय देते हैं । पद का अभिप्राय यह है—जो कासी करतूतों वाले चाटुकार केवल बैठे-बंठे खाते हैं, कुछ करते नहीं, वे तो राजा के अन्तरंग बन जाते हैं और जो उज्ज्वल चरित वाले सेवक सकट काल में सहायक बनते हैं, वे उपेक्षित रह जाते हैं ( बाहर रह जाते हैं ) ।

गाया क्रमांक १६२

ज दिज्जह पहरपरव्वसेहि मुच्छागएहि पयमेक्कं ।

तह नेहस्म पयस्म व न याणिमो को समम्भहिओ ॥ १६२ ॥

प्रो० पटवर्धन ने उत्तरार्थ में प्रयुक्त 'पयस्म' की छाया 'पदस्य' की है, जो अस्मत् है क्योंकि एक ही छन्द में और एक ही अर्थ में 'पद' शब्द दो बार प्रयोग होने से पुनर्दत्त दोष होगा । पृ० ४४१ पर व्याख्यात्मक टिप्पणी में उन्होंने अपने अनुवाद की अटक्क पर आधारित बताया है और छन्द के उत्तरार्थ की अप्रत्यक्ष का उल्लेख किया है । रत्नदेव ने 'पयस्म' को 'पयस' समझकर उक्त अर्थ की निम्नलिखित व्याख्या की है—

न जानीम किमधिकम् स्नेहपानीययोर्मध्ये ।

अपत्ति स्नेह और पानी में क्या अधिक है—यह नहीं जानते । हा व्यास का आशय स्पष्ट नहीं है । मेरे विचार में 'पय' का अर्थ 'पद' है, न 'पानास' ।

पृ० २९२ पर मूल अंग्रेजी और पृ० ४४० पर अंग्रेजी-टिप्पणी देखिये ।



उसका अर्थ दूध है । इसके अनुसार गाया का अर्थ निम्नलिखित होगा—

“जब गणमूमि में विपक्ष-ग्रहण से परवश और मूर्च्छितप्राय हो जाने पर भी सुमदगण रणमूमि में एक ढग आगे ही रखते हैं, तब हम यह नहीं समझ पाते कि प्रेम और दूध में कौन बड़ा है । अर्थात् उस दारुण दशा में भी वे प्रभु-प्रेम-वशा ही आगे बढ़ते जाते हैं या उनकी माताओं के दूध में ऐसी अद्भुत शक्ति है जो उन्हें पीछे नहीं लौटने देती ।” आगे पद रखना दोनों कारणों से सम्भव है, जब कवि उनके आश्रय का निदधय नहीं कर सका । अत्रिक शब्द यहाँ श्रेष्ठता के अर्थ में है ।

### गाया क्रमांक १८३

जमुणियगुणो न जुप्पद न मुण्डिज्जह स य गुणो अजुत्तस्म ।

यक्क भरे विसूरह अठव्ववग्ग गओ धवलो ॥१८३॥

अपूर्ववग्गा गत ( अठव्ववग्ग गओ ) प्रथम बार गत्यवरोधक रज्जु से रोक गया । श्री पटवर्धन ने ‘वग्गा’ को गमन के अर्थ में ग्रहण किया है, परन्तु यहाँ वग्गा का अर्थ रश्मि ( प्रग्रह ) या गत्यवरोधक रज्जु है । गाड़ी में जुने बैल की गति को नियन्त्रित करने के लिये उसकी नाभ ( नामा-रज्जु ) में एक रस्सी बँधी रहती है, जिसे खींचकर गाड़ीवान उसे काबू में रखता है या अनावश्यक रूप से बढ़ने नहीं देता । इसी रस्सी को वग्गा कहा गया है । गाया का भाव यह है—बिना गुणों को समझे कोई बैल जोता नहीं जाता है और जोने बिना गुण भी नहीं ज्ञात होता है । मुदुक्क और बलवान् बैल को दुःख तब होता है जब भार से लड़ी गाड़ी में उसे पहली बार गत्यवरोधक रज्जु से रोक दिया जाता है ।

### गाया क्रमांक २१०

जह जह न चडइ चावो उम्मिल्लइ करह पल्लिणाहस्स ।

तह तह सुण्हा विष्कुल्लगहविवरुम्मही हसइ ॥२१०॥

‘विष्कुल्लगहविवरुम्मही’ में समास इस प्रकार है—विष्कुल्लमि गड्ढाम विवरो जीए मा विष्कुल्लगहविवरा सा य उम्महो विष्कुल्लगहविवरुम्मही ति । श्रीपटवर्धन का निम्नलिखित विग्रह-वाक्य भी ठीक है—विष्कुल्लगहविवरा च उम्महो च । परन्तु अंग्रेजी अनुवाद में विष्कुल्ल को विवर का विशेषण लिखना ठीक नहीं है क्योंकि उत्प्लव्य धर्म विवर में नहीं है । हास्य के समय गड में अवश्य उम्पलता आ जाती है ।

## गाथा क्रमांक २२५

ज जीहाइ विलम्ब किंचिवर मामि तस्स त दिट्ठ ।

युक्केइ चक्खिउ वण-सयाइ करहो घुयग्गीवो ॥२२५॥

अर्थ—( वह ) ऊँट सैकड़ों बनो को ( वृक्ष समूह को ) चख कर, गरन हिलाकर धूक देता है । गन्धि, यह देखा गया है कि जियकी जिह्वा में जा लग जाता है ( रुख जाता है ) उसक लिय वह थोछ है ।

उपर्युक्त गाथा के “किंचिवर मामि तस्स त दिट्ठ” का अर्थ प्रो० पद्मवदन ने यों दिया था—

Whatever is seen or found or thought by the camel will be somewhat good at first sight

यह अर्थ उचित नहीं है क्योंकि ज पद किंचि से अन्वित है, अतः पूर्वार्थ का संस्मृत रूपान्तर इस प्रकार करना चाहिये—

यत्किञ्चिद जिह्वाया विलम्ब, वर नस्ति । तस्स ( तस्मै वा ) तद् दृष्टम् ।

जिह्वा में लगने का अर्थ—जिह्वा से सलग्न होना नहीं, अपितु अग्रा लम्बा ( रचना ) है ।

## गाथा क्रमांक २४०

रुणरुणइ बलइ वेल्हइ पक्खउउ धुणइ खिबइ अगाइ ।

मालइकल्लियाविरहे पचावत्य गजो भमरो ॥२४०॥

इस गाथा में रुणरुणइ (१) बलइ (२) वेल्हइ (३) पक्खउउ धुणइ (४) अगाइ खिबइ (५)—इन पाँच क्रिया रूप अवस्थानों का वर्णन है । पचावत्य गज इन्हीं पाँचों अवस्थानों का अर्थ देता है । पचाव या पचत्ता का अर्थ मृत्यु है । व्यजनाभ्यासार का स्फुरण होना पर पच गज में पचना या पचत्व की स्मृति होगी निर मरण । पूर्ववर्तिचष्टामाय्य-द्वारा ‘पचावच’ का अर्थ हो जायगा—मरण की अवस्था । गाथा में पचावत्य शब्द में ही उक्त अर्थ ग्रहण करने में बाधा रह है कि पच शब्द मरण का वाचक नहीं है । इस अर्थ में पचत्व का ही प्रयोग होता है अतः अवाचकत्व दोष भी होगा । यदि पचावत्य का ही अर्थ पचत्व मान लें तो भी टीका नहीं है क्योंकि मृत शरीर में उक्त क्रियायें अगम्य हैं ।

## गाथा क्रमांक २४१

मालइविरहे रे तरणमाल मा न्वमु निम्भरक्खठ ।

वल्हइओवदुक्ख मरप्पो विगा न वोउरइ ॥२४१॥

गाथा में वर्णित 'प्रिय का वियोग बिना मरे नहीं भूलता' इस तथ्य पर निम्नलिखित टिप्पणी की गई है—

‘द्वितीयांश में वर्णित तथ्य पूर्णतया ठीक नहीं है क्योंकि विरहियों की विरह-वेदना केवल मरने पर भूलती हो ऐसी बात नहीं है, प्रणयों के मितन से भी भूल जाती है (पृ० ४५४)।’ यह टिप्पणी उचित नहीं है। प्रणय को पराकाष्ठा में जब कभी अवस्मात् अमह्य वियोग उपस्थित हो जाता है तब कालान्तर में संयोग होने पर व्यथा तो शांत हो जाती है परन्तु उस असह्य विरह-वर्षा-भूति की असीम स्मृतियाँ आजीवन नहीं भूलती हैं। वे तो मरने पर ही भूलती हैं। गाथा में बीसह शब्द हैं, सम्मिश्र शब्द नहीं। संयोग होने पर विरह-वेदना का क्षमन मात्र सम्भव है, विस्मरण नहीं।

### गाथा क्रमांक २४४

छप्पय गमेसु काल वासवकुसुमाइ ताव मा भुयसु ।

मन्न जियतो पेळसि पत्तया रिद्धी वसतस्स ॥२४४॥

गाथा में प्रयुक्त वासव शब्द पर टिप्पणी करते हुए श्री पटवर्धन ने लिखा है कि यह शब्द-कोशों में नहीं मिलता है। सम्भवत इन्द्रवाणी ही वासव ही। संहृत-दीक्षा में वासव का अर्थ आटरूपक दिया गया है। इस सम्बन्ध में उन्होंने मुनियर विलियम और आटे का प्रमाण देते हुए लिखा है कि आटरूपक या अटरूपक एक लाभकारी औषधि का पौधा है। इस प्रकार उन्हें संहृत कोशों में वासव शब्द नहीं मिला। अतः उन्होंने उस शब्द का अर्थ टीका में आये आटरूपक के आधार पर सदाय-श्रुत मन से लिखा है।

वासव शब्द वस्तुतः संहृत वासक का विवृत रूप है। वासक और आटरूपक समानार्थक शब्द हैं। अमरकोश में दोनों का एक साथ उल्लेख है—

वृषोटरूप सिद्धास्थी वासको वाविदन्तक ।

—द्वितीय बाण्ड, वनोपनिषद्

वासक या आटरूपक की हिन्दी में अरुसा कहते हैं।

### गाथा क्रमांक २४९

वोसट्टु वहल परिमल केयइ मयरदवासिर्णस्त ।

द्विय इच्छिय पियलभा चिरा सयावस्स जायति ॥ २४९ ॥

एक बार बहुपरिमला प्रफुल्ल केतकी के मकरन्द से जिसके अंग सुवासित हो चुके हैं, ऐसे किस भ्रमर ( या युवक ) को चिरकाल में मनोवाछित प्रियाओ ( कलिकाओ, लताओ या तरुणियों ) की उपलब्धियाँ सदा होती हैं ? अर्थात् सदा नहीं होती ।

अग्रेजी अनुवादक ने समुद्धृत गाथा के अन्तिम अंश का अर्थ निम्नलिखित ढंग से समझाया है —

“चिरात् सदा कस्य जायन्ते Means अचिरादेव जायन्ते ।” इसके अनुसार उक्त विशेषण विशिष्ट भ्रमर को शीघ्र ही मनोवाछित प्रियाओ की प्राप्ति हो जाती है । परन्तु इस व्याख्या से गाथा में वर्णित भ्रमर या युवक के विशेषणों की साभिप्रायता समाप्त हो जाती है, क्योंकि केतकी-मकरन्द-वासितागत्व प्रिया प्राप्ति का हेतु नहीं है । यदि होता तो किसी भी भ्रमर या युवक को प्रेय का अभाव न रहता । विवेच्य गाथा के चतुर्थपाद के अव्यय-भेद एवं विभिन्न शब्दों पर विवेकानुसार अधिक बल देने से अनेक अर्थों की अभिव्यक्ति समभव है:—

१ चिरात् सदा कस्य जायन्ते ?

( चिरकाल में सदा किस को होती है ? अर्थात् किसी को भी नहीं होती )

२ कस्य सदा चिरात् जायन्ते ?

( किस को सदा चिरकाल में होती है ? अर्थात् शीघ्र हो जाती है । )

३. कस्य चिरात् सदा जायन्ते ?

( किसकी चिरकाल में सदा होती है ? अर्थात् कभी-कभी ही होती है । )

४. कस्य सदाचिरात् जायन्ते ?

( किस को सदाचिरकाल में होती है ? अर्थात् कभी-कभी ही चिरकाल में होती है । )

५. कस्य चिरात् सदा जायन्ते ?

( किस को चिरकाल में सदा होती है ? अर्थात् चिरकाल में सदा सब को नहीं होती है । )

यदि ‘प्रियलभ का अर्थ प्रिय वस्तुओं की प्राप्ति’ करें तो भी भावोत्कर्ष में कमी न होगी ।

मैंने उपर्युक्त अर्थों के मध्य से तृतीय को ही ग्रहण किया है । उसके अनुसार ‘चिरात् सदा कस्य जायन्ते’ का अभिप्राय यह है कि यद्यपि चिरकाल में प्रियप्राप्ति समभव है तथापि कौन ऐसा चिरही प्राणी है, जिसे बहुत दिन व्यतीत हो जाने पर प्रिय की प्राप्ति सदा हो ही जाती ? किसी-किसी को दुर्भाग्यवश नहीं भी होती है ।

शाला इमांश्च २५५

नगरं नन्देन तत् उपेक्ष्य दृष्ट्वा नृपतेः ।

दिष्टो भुजो यं वनं नि मरिचकं पारिजातम् ॥ २५५ ॥

इस शाला के द्वितीय पाद में वन, गहन और कानन तीन समानार्थक शब्दों का सह-प्रयोग है। श्री पराशर ने मन्त्रवित् पुनरुक्ति दोष के नाश के लिये इन का अर्थ वृक्ष, कानन का अर्थ उदय और गहन का अर्थ A thicket (of trees) लिखा है। उसी सिद्धान्त में पुनरुक्ति का इसका उदाहरण इस प्रकार है—

“वन उपवन के अर्थ में प्रयुक्त हो सकता है और कानन उदय के।” उपर्युक्त दोनों समानार्थक शब्दों का उदाहरण पर उपर्युक्त होने के कारण निरर्थक और श्राव्य हैं। शाला के ‘वन गहन कानन’ पद में पुनरुक्ति दोष नहीं, पुनरुक्ति-वदामास नामक अलंकार है। वहाँ तीनों शब्द समानार्थक होने के कारण पुनरुक्ति का उदाहरण मात्र कराते हुये प्राकरणिक स्वार्थ में विद्यमान होकर अलंकार उत्पन्न करते हैं। तीनों के अर्थ इस प्रकार हैं—

१. वन<sup>२</sup> = गृह, वन

२. गहन<sup>३</sup> = दुष्प्रवेश गह्वर, वन

३. कानन<sup>४</sup> = गृह, वन

शाला का अर्थ यह होगा—

हे भ्रमर ! अनेक गृहों, गह्वरों और वनप्रान्तों में भ्रमण करते हुये तुमने कहीं भी पारिजात के समान वृक्ष देखा और सुना है ?

१. शालावृक्षो यदर्थस्य पौनदक्येन भासतम् ।

पुनरुक्तवदामासः ॥ मिश्राकारशब्दयः ॥

—साहित्यदर्पण, १०

२. शीर्षं स्यात् कानने नीरे निवासे नित्ये वनम्

—अमरकोश

वनं नपुंसकं नीरे निवासाच्चकानने

—मेदिनीकोश

वनं प्रसक्तं गेहे प्रवासेऽप्यति

—अनेकार्थसंग्रह

३. कलिलं गहनं समे ।

—अमरकोश

.....गहनं कलिले त्रिषु ।

नपुंसकं गह्वरे स्याद् दुःखकाननयोरपि ॥

—मेदिनीकोश

.....गहनं वनं गुह्ययोः ।

गह्वरे कलिले चापि.....॥

—अनेकार्थसंग्रह

४. काननं विपिने गेहे परमेष्ठिमुखेऽपि च

काननं ॥ शृङ्गास्य विपिने गृहे ।

गाथा में प्रयुक्त 'सरिसतर' पद को अशुद्ध बताते हुये श्री पटवर्धन ने सरिस शब्द को लुप्तविभक्तिक माना है परन्तु उक्त पद न तो अशुद्ध है और न लुप्तविभक्तिक । सरिसतर समस्त पद है ।

### गाथा क्रमांक २८१

जइ कह वि ताण छप्पन्नयाण तणुयगि गोयरे पडसि ।

ता थोरवसण दाहेक्कमडिया दुक्कर जिमसि ॥ २८१ ॥

अंग्रेजी टिप्पणी में 'थोरवसण दाहेक्कमडिया' पाठ स्वीकार किया गया है । इसका आधार एक प्राचीन हस्तलिखित प्रति है । रत्नदेव ने 'थोर वसह-दाहेक्क-मडिया' पाठ मान कर उसकी छाया 'उत्सृष्टवपभदाहकमण्डिता' की है । परन्तु थोर का अर्थ उत्सृष्ट नहीं है । टीकाकार ने अथ की स्पष्टता के लिए सभवतः वैसे अनुवाद किया होगा । स्थूल होना चाहिए । अंग्रेजी अनुवादक ने लिखा है कि 'थोरवसह दाहेक्क मडिया' का भाव स्पष्ट नहीं है । टीकाकार ने इसकी छाया तो दी है पर अर्थ पर प्रकाश नहीं डाला है । मूल में वसह ( वृषभ ) का अर्थ सामान्य बैल नहीं, साँड है । साँड़ जब छोड़ा जाता है तब तपे लोहे से उसका शरीर अकित कर दिया जाता है । इस प्रक्रिया को गाँवों में साँड दागना कहते हैं । बाहाक से ही साँड की पहचान होती है और वह स्वच्छन्द खेतों में चर कर खूब मोटा हो जाता है । कोई उसे बाँध कर हल में नहीं जोतता है । गाथा में बाह शब्द विलुप्त है—

दाह = १. तप्त लौह शलाका से जलाना या अकित करना ( साँडपक्ष )

२. जलन पीडा ( तन्वगीपक्ष )

गाथाय — हे कृशगि ( दुबल अगोंवाली ) यदि किसी प्रकार तुम उन चतुर जनों के समक्ष पड गई तो स्थूल साँड के समान एक मात्र दाह ( तप्तशलाकाक और पीडा या जलन ) से युक्त होकर कठिनाई से जीवित रहोगी । वसह के स्थान पर वसण पाठ स्वीकार करने पर यह अर्थ होगा—

एक मात्र भारी दुःख की जलन से युक्त होकर कठिनाई से दिन काटोगी ।

### गाथा क्रमांक २८८

अप्पण कज्जेण वि दीहरच्छि थोरयर-दीहरणरणया ।

पचमसरपमरुग्गार गट्ठिभणा एति नीसासा ॥ २८८ ॥

यह रत्नदेव द्वारा अ-याख्यात है । प्रो० पटवर्धन न इसका अनुवाद तो दिया

है परन्तु तात्पर्य अस्पष्ट बताया है—

Exact sense of this stanza is not clear (पृ० ४६३)

गाथा का रणरणय (रणरण + क) शब्द उद्बेगोत्पादक के अर्थ में है (पाड्यसङ्ग्रहणव)। उद्गार का अर्थ है—वचन। 'पञ्चमसर पसरुगार-गग्मिण' का अमिप्राय ऐसे मामिक वचन से है, जिसके अन्तराल में पञ्चमस्वर का प्रसार रहता है।

कठिन कार्यरत सेवक को बीच-बीच में लम्बी साँस लेकर मामिक वचनों से युक्त पञ्चमराग गाते देखकर स्वामिनी, जिसे यह पता नहीं था कि वह मन ही मन छिपकर उससे प्रेम करता है, कुछ ताड़ जाती है। सेवक अपना अपराध छिपाने के लिये कहता है—

हे विशाल लोचने, जिनके भीतर पञ्चमस्वर का प्रसार रहता है, उन मामिक वचनों से युक्त, दीर्घ, स्थूल (स्पष्ट या गम्भीर) और उद्बेगोत्पादक निश्वास अपने कार्य से भो आते हैं।

आशय यह है—ऐसे उद्गारपूर्ण पञ्चमराग और दीर्घ निश्वास केवल प्रणय-प्रसूत नहीं होते। परायीन सेवक विवशता की स्थिति में जब सेवा कार्यरत रहने हैं, तब भी कभी-कभी बेइना-भरे गीत गाकर लम्बी साँसें लेते हैं।

गाथा क्रमांक २९१

नयणाङ्ग समाणियपत्तलाङ्ग परपुरिसजीवहरणाङ्ग।

असियसियाङ्ग य मुद्धे खग्गाङ्ग व क न मारति ॥ २९१ ॥

इस पद्य में क्लृष्ट विशेषणों के द्वारा नेत्रों और खड्गों का औपम्य वर्णित है। रत्नदेव ने विशेषण पदों में क्लृष्ट का अस्तित्व स्वीकारते हुये भी कोई विशेष ध्याना नहीं दी। केवल 'असिय-सियाङ्ग' का रूपान्तर 'असित सितानि' देकर छोड़ दिया है। प्रो० पटवर्धन ने इस पर आपत्ति करते हुये लिखा है कि नेत्रों का विशेषण 'असितसित' (कृष्ण-धवल) हो सकता है परन्तु खड्गों के लिये अनुप-युक्त है, क्योंकि साहित्य में उनका वर्ण कृष्ण बताया गया है। अतः 'असियसिय' का अनुवाद 'असितसित' होना चाहिये। परन्तु यह सुझाव स्वीकार्य नहीं है, क्योंकि उन्होंने शेष विशेषणों के अर्थ इस प्रकार दिये हैं—

समाणियपत्तल = तीक्ष्णता को प्राप्त

परपुरिमजाव हरण = अन्य पुरुषों के जीव को हरने वाले

यदि 'सिय' को शिज मानकर उसका अर्थ तीक्ष्ण स्वाकार करें तो पूर्ववर्ती विशेषण को पुनरुक्ति होती। सिय शब्द वस्तुतः मस्कृत श्री का अपभ्रंस रूप है। महाकवि स्वयम्भू ने 'पठमचरित' में इसका प्रयोग किया है —

नेय-मणचिपवाहै वर वज्रहै।

परियण पिण्डवास सियरज्जहै ॥ —जुज्ज कड, ६७।१५।६

'मविस्समत्त कहा' में भनपाल ने भी इसी अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया है —

मियवतु वियणु विज्जय छवि ण विणु नीरि कमउमह ।

—चतुर्थं सन्धि, पृ० २६

वर तर सिहरणि दिद्र पडाय मुझावणिय ।

हक्कारइ नाइ सनइ मिय नविमहो तणिय ॥ —यष्ट मन्त्रि, पृ० ४५

'पाइयमद्महण्णव' में सियको सिरी (श्री) का पर्याय किया है। श्री का अर्थ सोमा या कान्ति भी होता है। शेष शब्दों के अर्थ निम्नलिखित हैं—

ममाणिप = १. सम्मानित या आदृत ( नेत्र पक्ष में )

२. साथ में लाये गये या संबालित ( खड्ग पक्ष में )

पत्तल = १. पद्मयुक्त ( नेत्र पक्ष में, देखिये पाइयमद्महण्णव )

२. तीक्ष्ण ( खड्ग पक्ष में )

पर = १. अन्य ( नेत्र पक्ष में )

२. शत्रु ( खड्ग पक्ष में )

पर श्रेष्ठेरिद्रान्योत्तरेत्कीव तु केवले ।

—मेदिनीकौश

दोनों पक्षों में सम्पूर्ण भाषा का अर्थ इस प्रकार है—शरी मुरखे, शत्रु के सैनिकों ( पुरुषों ) का वध करने वाले, कृष्ण कान्ति-युक्त एवं साथ में लाये गये ( या

१. बेकसेनगणित्त मुञ्जेवनाचरित्त को निम्नलिखित पंक्तिपा द्वारा पत्तल शब्द का उक्त अर्थ समर्थित है—

णयण इदीहर कसुमुज्जनाइ ।

ण वम्मह कडइ पत्तलाइ ॥

—उद्धत, अरभ्रस साहित्य, पृ० २१८ ( हरिवंश कोठड वृत्त )



संचालित) तीक्ष्ण छद्मों के समान, पराये पुरुषों का जीव लेने वाले (वियोग में) समादृत एवं पदमयुक्त तथा कृष्ण-धवल कान्ति वाले तेरे नेत्र किस-किस को नहीं भार डालते ? छद्मपक्ष में 'असियसिय' को निम्नलिखित व्याख्या भी संभव है—

असिन कृष्णवर्णं श्रिते आश्रिते कृष्णच्छवि युक्त इत्यर्थः । इस दृष्टि से भी पूर्वोक्त अर्थ ही होगा ।

### गाथा क्रमांक ३०२

अमुहा<sup>१</sup> खलो ज्व कुडिला मज्झ से किक्खिणदाण-सारिच्छा ।

थणवा सप्पुरिसमणोरह् ज्व हियए न मार्याति ॥ ३०२ ॥

'किक्खिण-दाण-सारिच्छा' पर टिप्पणी करते हुए श्री० पटवर्धन ने लिखा है कि "इसमें उपमा की उपपत्तयोप सक्ति स्पष्ट नहीं है । कृपणों का दान व्यवहार में दिखाई नही देता क्योंकि वे लोभवश दान देने ही नहीं हैं, परन्तु स्त्रियों के मध्य भाग तो स्पष्ट दिखाई देते हैं । दोनों में एक विद्यमान वस्तु है और अन्य अविद्यमान । अब उनका साम्य किस आधार पर बणित है—यह समझ में नहीं आता है<sup>२</sup> ।"

इस सन्दर्भ में यह समझना चाहिये कि उक्त पद में उपमा के अन्तराल में व्युक्ति है । गाथा के उत्तरार्ध में भी उपमा-द्वारा स्त्रियों के परिणाह का अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन है । व्युक्ति दूसरा का रूपण भले हो हो पर कवियों का रूपण है । विहारी ने भी यहाँ तक कह दिया है—

करी विरह ऐसी तऊ, गैल न छाडत नीच ।

दीने हूँ बसमा बखनि, चाई लखै न मीच ॥

जायसी ने सक ( कटि ) को मृणालस्तम्भ के समान क्षीण बताया है—

मानहुँ नाल खड बुद्ध भए ।

दुहुँ बिष लक-तार रहि गए ॥ —पद्मावत, नक्षत्रिख खड

श्री० पटवर्धन ने अमुहा का स्तन-पत्तीय अर्थ "जिसके<sup>३</sup> चूबुक विकसित नहीं

१. संदेश-रागक में भी स्त्रियों को मुचरहित बतकर उनका तुलना खल से की गई है—

सिहणा सुगण-खला इव थदुदा निचुभ्रमा य मुहरहिया ।

तगमि सुगण सरिच्छा आवासहि वेनि अगाइ ॥—द्वितीय प्रक्रम, ३६

२. वज्रालम्ब, पृ० ४६६

३. वही, पृ० ४६६

हुये हैं" लिखा है। परन्तु इसे स्वीकार करने पर 'मञ्ज' से किबिण-दाण-सारिच्छा यह वर्णन पिष्टपेषण जैसा प्रतीत होने लगता है। जिम्न मार्ग से नवजात शिशु के लिये दुग्ध-धारा प्रवाहित होती है, वह स्त्रियों के चूचुक में सतानोत्पत्ति के पश्चात् ही स्फुटित होता है। अतः अमुक्त्वा का अर्थ इस प्रकार है—

अमुक्त्वा = १. अनम्रमुख<sup>१</sup> (खल पक्ष)

२. जिसमें छिद्र (मुख) नहीं है।

अर्थ—(अप्रजावतीत्व के कारण) जिसमें दुग्ध-रस नहीं है, वे कुटिला-कुटिल स्तन, अनम्रमुख एवं कुटिल व्यवहार वाले खल के समान हैं। उनका मध्याय कृपणों के दान ने समान है और वे वज्र स्थल में यों नहीं समा रहे हैं वैसे सत्पुरुषों के मनोरथ उनके मन में नहीं समात।

गाथा क्रमांक ३०९

अमया मञ्जोन्व समया मसि व्व हरि करि सिरो व्व चकलया ।

किबिणम्मत्यण-विमुहा पसयच्चि पओहरा तुज्झ ॥ १०९ ॥

अमृतमयाविव समदो (समृगो) शशीव हरि करि शिर व्व वतुलो ।

कृपणाम्भयन विमुलो प्रसृत्यक्षि पयोवरी तव ॥

रत्नदेवकृत उपर्युक्त छाया के आगार पर प्रो० पटवर्न ने 'अमयामञ्जोन्व' और 'किबिणम्मत्यणविमुहा' का भाव अस्पष्ट घोषित किया है एवं<sup>१</sup> टीकाकार-मम्मत् 'अमया-मय (अमृतमयी) पाठ को, उपमा नहीं, उत्प्रेक्षा के रूप में मान्यता दी है। परन्तु गाथा की प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण करने पर उक्त टिप्पणी असंगत प्रतीत होती है। कवि ने प्रत्येक उपमान के साथ उनका चिह्न सामान्य धर्म उपन्यस्त किया है। अतः 'मञ्ज' का सामान्य धर्म भी उसका साथ रहना चाहिये। गाथा में बार-बार व्व की आवृत्ति समान-क्रम की सूचना देती है। सत्त्व टीका के आगार पर 'अमया मञ्जोन्व' को अमृतमयाविव (उत्प्रेक्षा के रूप में) स्वीकार कर लेने पर इस सलोने पक्ष में उपमाओं की सुरभिज माला प्रारम्भ में ही टूट जायगी। अतः गाथा के प्रथम चरण की छाया इस प्रकार होगी—

त्रिविकारो (अमृतो) मद इव समदो (समृगो) --- १

१. तन्मादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता ।

अप्राप्तस्य विरोधश्च नञर्या पदं प्रकीर्तितम् ॥

२. वज्रालम्ब पृ० ४६८

शब्दार्थ —अमय = १. विकार रहित<sup>२</sup>, निर्दोष ( स्तनपत्र में )

२. अमन = अनिष्ट, असम्मत ( मदिरा-पत्र में )

मत्र = मद = मदिरा

समया = १. समदो (मदेन वस्तुविक्रयमहिनी) = वस्तु-सहित  
( स्तनपत्र )

२. समृग = मृग-सहित ( चन्द्रपत्र )

चक्रलया = विस्तीर्ण ( यहाँ चतुर्ज अर्थ उचित नहीं है क्योंकि  
गजकुम्भ में बैसी गोलाई नहीं होती )

किविशब्दव्यय-विमुक्त = कृपणाम्यर्थनविमुक्त = कृपण के समान अभ्यर्थना से  
विमुक्त, जैसे कृपण अभ्यर्थना ( माधना ) करने पर  
मुह फेर लेता है ( विमुक्त हो जाता है ) उसी प्रकार  
स्तन भी अभ्यर्थना-विमुक्त है ( अर्थात् किसी को  
अभ्यर्थना नहीं करते ) अथवा अभ्यर्थना करने पर  
मुखहीन ( विमुक्त ) हो जाते हैं ।

शाब्दार्थ—जैसे मदिरा अनिष्ट ( असम्मत ) है ( अमन ), वैसे ही ये भी  
निष्कल्प है ( दोषहीन ) ( अमय ), जैसे चन्द्रमा मृगयुक्त ( समय =  
समृग ) है वैसे ही ये भी वस्तुयुक्त ( समद ) है, जैसे ऐरावत वा कुम्भ विस्तृत  
है वैसे ही ये भी विस्तृत है, हे प्रमृताक्ष ! ( मृग के समान आँखों वाली या पत्त  
भर की आँखों वाली, प्रमृत्त = मृग, पत्तर ) जैसे कृपण अभ्यर्थना करने पर मुह फेर  
लेते हैं ( विमुक्त हो जाते हैं ) वैसे ही तारे पयोधर भी अभ्यर्थना-विमुक्त हैं  
( अर्थात् स्वयं किसी की अभ्यर्थना नहीं करते अथवा अभ्यर्थना करने पर मुख-  
हीन हो जाते हैं, चुप रह जाते हैं ) ।

अचिरप्रसूता रमणी के पीन पयोधरो के प्रति कामुक पति का अमिलाप वर्णित  
है । पयोधर शब्द से जायात्व, अमय से निष्कल्पता और 'किविशब्दव्ययविमुक्त' से  
समय की व्ययता होती है ।

१. वज्रालम्ब, ( अग्नेजी सस्करण ), पृ० ४६८

२. पाठ्यसहस्रहणव के अनुसार यह देशी शब्द 'विशेषावश्यक भाष्य में यों  
प्रयुक्त है —अमयो च होइ जीवोकारणविरहा जहेव आयाम ।

## गाथा क्रमांक ३२८

२४— रेहइ सुरयवमाणे अद्दुविखत्तो सणेउरो चलणा ।  
जिणिऊण कामदेव ममुन्निभया धयवढाअ व्व ॥ ३२८ ॥

श्री पटवर्धन ने इसका यह अर्थ किया है —

“रति के अन्त में नायिका का नूपुरयुक्त अर्धोत्थित ( बाग ऊपर उठा हुआ ) चरण, ऐसा लगता है जैसे कामदेव को जीतकर ध्वजा पहरा दो गई हो ।” गाना पर यह आक्षेप है—

“विजेता ही ध्वज पहराता है (झंडा ऊपर करता है), विजित नहीं । जो दम्पति स्वयं काम के बाणों से परास्त हो चुके हैं, उन्हें विजयी कैसे कहा जा सकता है । विजयी तो वस्तुतः कामदेव ही है और उसे ही अपना झंडा पहराना चाहिये । उपमा का आशय स्पष्ट नहीं है । अतः ‘जिणिऊण कामदेव’ के स्थान पर ‘जिणिऊण कामदेवे’ पाठ रखना उचित है ।”<sup>१</sup>

अब प्रश्न यह है कि कवियों की भाषा में जिनकी मृकुटिमणिमा देखते ही कामदेव के हाथ से धनुष गिर पड़ता है,<sup>२</sup> जिन्हें मयोग से रच कर विप्राज्ञ भी कृतार्थ हो गया, जिनकी अपरिमित मोहक स्फुरादि के समय मुनियों की निश्चल समाधियाँ भी टूट जाती हैं, उन त्रैलोक्य विजयिनी, अनुत्तम-श्रावण्य-महित नायिकाओं के पराभव का वर्णन कौन अभागा कवि करेगा ? कामदेव शब्द यहाँ निम्नलिखित अर्थों को प्रकट करता है—

कामदेव = १ काम्यदेव, वाञ्छित देवता अर्थात् पति

( काम = काम्य, काम स्मरेच्छाकाम्येषु—अनेकार्यं सग्रह )

■ स्मर

अग्नेजी अनुवादक ने प्रस्तुत गाथा में उपमा का उल्लेख किया है, परन्तु है उत्प्रेक्षा । उत्तरार्ध का अर्थ यह होया—

१. वज्रालम्ब, पृ० ४६१ अग्नेजी टिप्पणी

२. वारन के बेनी बान्हें पै,

होइ सिखी के कूटि ।

भृगुटी लखे काम के धनुही,

परं हय से छूटि ॥ गर्वमगला

मानों सुन्दरी ने पति-रूपी कामदेव को जीत कर ध्वजा पहना दी है। यह अर्थ न करें तो भी उत्प्रेक्षा में साक्षात् कामदेव को जीत लेने की सम्भावना पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है।

कामदेव में रूपकान्तिशयोक्ति मान कर भी अर्थ कर सकते हैं। इससे नायक का सर्वातिशायी लावण्य सूचित होता है। 'जिणिऊन' से नायिका के रतित्व की श्रृंखला सम्भव है क्योंकि उन्नी के (रति के) द्वारा समोग-समर में कामदेव का परास्त होना उचित है। इस प्रकार गाथा अर्थात्काल द्वारा नायक की कामदेव और नायिका की रति के रूप में प्रतिष्ठित करती है।

### गाथा क्रमांक ३३४

दाहिमफलं व पेम्म एक्के पक्खे य होइ सकसाय ।

जाव न बीओ रज्जइ ता कि महु रत्तण कुणइ ॥ ३३४ ॥

रत्नदेव ने हमकी पूरी व्याख्या की है। प्रो० पटवर्धन कदाचित् उसका भाव नहीं समझ सके, फलतः द्वितीय चरण का अर्थही अनुवाद अबुरा रह गया और गाथा की दुर्बुद्धता का उल्लेख भी करना पड़ा। उन्होंने केवल 'बीय' में श्लेष का अस्तित्व स्वीकार किया है परन्तु 'पक्ख' में भी श्लेष है।

एक्क मि पक्ख मि = १. एक पक्ष में ( एक ओर )

२. एक पाख में ( पन्द्रह दिनों में )

पूरा अर्थ इसप्रकार होगा—

जैसे दाहिम फल ( अन्ना ) जब पन्द्रह दिनों का होता है तब उसका स्वाद बसैका रहता है।

जब तक बीज लाज नहीं हो जाना तब तक वरा उसमें माधुर्य आता है ? उन्नी प्रकार जब प्रेम एकरसाय ( नायक और नायिका में से किसी एक में ही स्थित ) रहता है तब कटु होता है। जब तक दूसरा प्रेमी अनुरक्त नहीं हो जाता तब तक वरा उसमें आनन्द माना है ?

### गाथा क्रमांक ३६९

जइ वच्चमि वच्च तुमं अंबल गहिओ य कुप्पमे कोस ।

पडमचिय मो मुच्चइ जो जीवइ तुह विओएण ॥ ३६९ ॥

यदि व्रजसि व्रज त्वमञ्जले गृहीतश्च कुप्यसि कस्मात् ।

प्रथममेव स मुच्यते यो जीवति तव वियोगेन ॥

रत्नदेव ने उत्तरार्ध की व्याख्या इस प्रकार की है —

प्रथममेव स मुच्यते यस्तव वियोगे जीवति । अहं तु न तथेति । अर्थात् जो तुम्हारे वियोग में जीवित रहता है, वह प्रथम ही छोड़ दिया जा रहा है । मैं वंसी नहीं हूँ । इस व्याख्या में स्पष्ट नहीं है कि नायक के विरह में कौन जीवित रहता है, जिसका परित्याग प्रथम ही किया जा रहा है और जिसके समान नायिका नहीं है । अग्नेजी टिप्पणी में लिखा है कि इस गाथा के द्वितीयार्ध का भाव स्पष्ट नहीं है । यदि इस गाथा को निम्नलिखित प्रसंग में रखकर व्याख्या करें तो अस्पष्टता नहीं रह जायगी —

नायक के प्रवास की अवधि में उसकी विरह विधुरा प्रेयसी जैसे-जैसे रोते-झलते दिन काट लेती थी । इस बार जब वह पुनः प्रयाणोद्यत हुआ तब प्रियतमा ने झट से आँचल पकड़ कर रोक लिया । प्रिया के इस अप्रत्याशित प्रतिरोध से नायक को कुछ रोय आ गया । यह देखकर नायिका ने आँचल छोड़ दिया और विभीत होकर धोली —

अर्थ—यदि तुम जाते हो तो जाओ, आँचल पकड़ने पर क्रोध क्यों करते हो ? जो तुम्हारे वियोग में ( प्रत्येक बार ) जीवित रहता था, उस ( शरीर ) को मैं पहले ही छोड़ दे रही हूँ ।

गाथा क्रमांक ३७४

अज्ज चेय पउत्थो उज्जागरओ जणस्स अज्जेय ।

अज्जेय हलदीपिजराइ गोलाइ तूहाइ ॥ ३७४ ॥

तूह का अर्थ तीर्थ या घाट है । 'गोलाइ तूहाइ' की छाया गोदावरी तीर्थानि होना चाहिये । आश्रायण सम तूह मणोहर । ( पञ्चमचरित, विद्याधर काण्ड )

गाथा क्रमांक ३९४

ए कुसमसरा तुह ढज्झिहिति मा भणसु मयण न ह्य भणियं ।

पिय विरहतावतविए मह हियए पविलवंतस्स ॥ ३९४ ॥

( हे कुसुमधरास्तव धन्यन्ते मा भण मदन न खलु भणितम् ।

प्रिय विरहतापतसे ममहृदये प्रक्षिपतः ॥ )

इस गाथा के द्वितीय पाद का अनुवाद श्री पटवर्धन ने नहीं किया है। उन्होंने लिखा है कि 'मा भणसु मयण न ह भणिय' का कोई संगत अर्थ नहीं निकलता है।<sup>१</sup> सस्कुत टीकाकार ने भी उसे उद्धृत कर अव्याख्यात ही छोड़ दिया है। हम अर्थ-सौकर्य के लिये द्वितीय पाद का निम्नलिखित अन्वय करते हैं—

( हे ) मदन ! मा भण, न खलु भणित मयेति शेष ।

अर्थात् हे मदन, मत बोलो, क्या मैंने तुमसे नहीं कहा ?

भण का सामान्य अर्थ बोलना है। बोलना झगड़े के लिए भी हो सकता है। खेलवाड़ हुआ बालक प्रायः रुठ कर अपने साथी से कहता है—'मुझसे बोलना मत, नहीं तो बहुत बुरा हो जायेगा'। इस दृष्टि से गाथा का निम्नलिखित अर्थ होगा—

हे मदन ! मुझसे मत बोलो, क्या मैंने तुमको बताया नहीं कि प्रिय-वियोग से संतप्त मेरे हृदय पर यदि पुष्प-बाण छोड़ोगे तो वे दग्ध हो जायेंगे।

गाथा क्रमांक ३९७

सच्च अंगं कोर्यडवावडो सरणहुत्तलक्खो सि ।

तण्णीचल्लंतलोयणपुरतो जइ कुणसि सवार्ण ॥ ३९७ ॥

( सत्यमनङ्ग कोर्यडव्यापृत शरणभूतलक्ष्योक्तिः ।

तण्णीचल्लोचनपुरतो यदि करोषि सम्मानम् ॥ )

भावार्थ—अरे अनन ! यदि तण्णियों के चपल नयनों के सम्मुख बाण-सम्मान करो तो जानें कि तुम सच्चे कोर्यड-धारी ( धनुर्धर ) हो और तुम्हारा निशाना कभी नहीं चूकता।

इस अर्थ पर श्री पटवर्धन का आक्षेप है कि जब सर्वदा तण्ण और तण्णो दोनों समान रूप से काम-बाणों के लक्ष्य बनते हैं तब इस कथन का कोई अर्थ नहीं रह जाता कि 'यदि तण्णियों के चपल नयनों के समक्ष शर-सम्मान करो तो'... इत्यादि ! कामदेव तो सदैव तण्णों के साथ तण्णियों को लक्ष्य बनाता रहता है।<sup>२</sup>

यह आक्षेप अनुचित है। गाथा में अनन, पुरत और कोर्यडव्यापृत शब्द अर्थ-विशेष के अभिव्यजक हैं। अनन से काम के निरवयवत्व एवं अनुरक्त की प्रतीति के साथ-साथ कोर्यड-व्यापृति में अग्रदा ( अविश्वास ) ध्वनित होती

१. वज्रालम्ब, अष्टांश टिप्पणी, पृ० ४८५।

२. वही, पृ० ४८६-४८७।

है। जो स्वयं निरवयव है, वह कोदण्ड क्या उठायेगा ? 'पुरतो यदि करोपि सन्धान' से अग्रत अनभिगमन व्यक्त होता है। कामदेव प्रायः अतृप्तता का लाभ उठाता है। वह अदृश्य होकर रमणियों पर पीछे से प्रहार करता है। वह उन के सामने पबता ही नहीं है। अदृश्य होकर पीछे से शर-वृष्टि करने वाला निदल शत्रु भी अजेय होता है। अतः काम के शौर्य का रहस्य उसकी अरूपता और अप्रत्यक्षता में निहित है। विश्वविजयिनी तरुणियों के अमोघ नयन-शर उस रूप-हीन पर पड़त ही कब है ? यदि तरुणियाँ के समस्त प्रकट होकर आगे से शर-सन्धान करने का दुस्साहस करे तो उस रूपवान् को व कुतूहलवश अवश्य देखेंगी। फलतः अपाग वृष्टियों से आविद्ध होने के कारण उसका लक्ष्य चूक जायगा। अतएव कवि ने उसे सम्मुख प्रत्यक्ष होकर बाण-सन्धान करने की चुनौती दी है। इस मनोहर पद्य में रमणियों के कुटिल कटाक्षों की अमोघता का सहृदय-सन्देश प्रतिपादन किया गया है। शब्दों में अद्भुत व्यञ्जकता है।

### गाथा क्रमांक ४००

करह सा न सभलिज्जइ जा सा नवणलिणिकोमला बाला ।

कररह तणु छिप्पती अकाल घणभट्टव कुणइ ॥ ४०० ॥

(कय सा न सस्मयते या सा नवनलिनीकोमला बाला ।

कररहै तनु स्पृशन्ती अकाले घनभाद्रपद करोति ॥)

—रत्नदेवसम्मत संस्कृत छाया

प्रो० पटवर्धन ने लिखा है कि इस गाथा के तृतीयपाद 'कररह तणु छिप्पती' का भाव स्पष्ट नहीं है। 'रत्नदेव की संस्कृत छाया ऊपर दी गई है। यह छाया अशुद्ध एवं भावसम्वहन में नितान्त असमर्थ है। 'छिप्पती' वास्तव में कर्मणि प्रयोग है, कर्तरि नहीं। हेमचन्द्र ने भाव और कर्म में कय प्रत्यय के लुक् (लोप) के साथ-साथ स्पृश धातु के 'छिप्प' आदेश का उल्लेख किया है—

स्पृशेच्छिप्प

—प्रा० व्या०, ४।२५७

कररह लुप्त विभक्तिक तृतीयान्त पद है। तणु अस्पर्शक है। इस दृष्टि से तृतीय पाद की छाया इस प्रकार होगी—

१ वज्रालङ्कार, अग्नेजो टिप्पणी पृ० ४८७ ।



करहैस्तनु स्पृश्यमाना ।

अर्थात् नाखूनो से जरा छुई जाती हुई ।

यदि तनु को लुप्त विभक्तिक सप्तम्यन्त पद मान लें तो छाया का स्वरूप यह हो जायगा—

करहैस्तनो स्पृश्यमाना ।

अर्थात् नाखूनो से शरीर में छुई जाती हुई । इस छाया में तनु का अर्थ शरीर होगा । अकाल घण मद्ध की व्याख्या यों होगी—

१. अकाले घनमाद्वपदम् = अकाल में घना भादों

२. अकालघन माद्वपदम् = न कालवना वृष्णमेघा विद्यन्ते यस्मिन् तादृश माद्वपदम् अर्थात् बिना काले मेघों का भादों ।

गाथा में प्रेयसी के अंग भार्दव का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन है । वह इतनी मुकुमार थी कि नायक अंगुलियों से भी स्पर्श करते डरता था क्योंकि यदि कहीं नाखून छू गये तो रोते रोते अममय में ही आँखों के आँसुआ से भादों का प्लावन उपस्थित कर देती थी । विरह के दारुण दिनों में प्रिया का मुकुमारता और ममृता की स्मृतिमाँ नायक के आँसुव हृदय-पटल को बार-बार कुरेद रही हैं । वह कहता है—

गाथार्थ—उम मवीन नलिनी के समान कीमत् अर्घों वाली प्रिया का स्मरण क्यों न करें जो (हाथ के) नाखूनों में तनिक छू जाने पर (छुई जाती हुई) अकाल में ही घना भादों उपस्थित कर देती थी (अथवा वृष्ण मेघों के बिना ही भादों उपस्थित कर देती थी) ।

नाखून लग जाने की आशंका बृट स्वाभाविक भी हो सकती है, बिहारी का नायिका तो जत्र पुष्पगय्या पर बरबटें लेती थी तब उसकी सहेलिया को गुलाब की पंखुरियों से खरोट लगने का भय होने लगता था ।<sup>१</sup>

गाथा क्रमांक ४०२

बह सा न समलिज्ज जा छा भीमासमोमियसरीरा ।

आमामिज्ज सासा जाव न सासा सम्पत्ति ॥ ४०२ ॥

१. हो बरजी के बार लें, उत जनि रेहि करोट ।

पंखुरी लगे गुलाब की, परिहै बात खरोट ॥

—बिहारी सतसई

(कथं सा न सस्मर्यते या सा निश्वाससोपितशरीरा ।  
आश्वास्यते मासा यावन्न मासा समाप्यन्ते ॥)

—रत्नदेवसम्मत छाया

प्रो० पटवर्धन ने तृतीय चरण में सासा के स्थान पर दशासा कर दिया है । अग्नेजो अनुवाद में सासा (श्वासा) का अर्थ छोड़ दिया गया है । व्याख्यात्मक टिप्पणी में लिखा है—

आमासिज्जइ सासा is obscure

पुन 'सासा' को सासाए या श्वासवती के अर्थ में घसीटने का प्रयत्न किया गया है ।<sup>१</sup>

उपर्युक्त दोनों व्याख्याकारों की सस्कृत छायाएँ दोषपूर्ण हैं । द्वितीयान की छाया इस प्रकार की जानी चाहिये—

आश्वास्यते मासा यावन्न श्वासा समाप्यन्ते ।

सासा का अर्थ है आशा सहित (आशया सहिता) । यदि सासा पद को पूर्वार्द्ध स्थित सा का विशेषण मानें तो यह अर्थ होगा—

निश्वासों से शरीर (अपना या मेरा) सुखा देने पर भी जो आशावती है, उसका स्मरण क्यों न किया जाय । जब तक साँसें समाप्त नहीं हो जाती तब तक (अपने या दूसरे को) आश्वासन दिया जाता है ।

यदि सासा पद को श्वासा का विशेषण मान लें तो अर्थ यह होगा—

जिसने निश्वासों से शरीर सुखा डाला है उसका स्मरण क्यों न किया जाय ? जब तक आशा सहित साँसें (श्वास) समाप्त नहीं हो जाती तब तक आश्वासन दिया जाता है ।

इस अर्थ के अनुसार सस्कृत छाया में सासा के स्थान पर सासा पद होगा ।

यदि चाहें तो सासा की छाया साम्बा<sup>२</sup> मान कर यह अर्थ कर लें—

उस सासा (अश्रुयुक्त) विरहिणी को तब तक आश्वासन दिया जाता है जब तक साँसें समाप्त नहीं हो जाती, वह मर नहीं जाती ।

१ वज्जालम्भा, अग्नेजो टिप्पणी, पृ० ४८८ ।

२ न दीर्घानुस्वारान—प्रा० व्या० २।९२ से द्वित्वामावः । सासा = अश्रुं अश्रुभिः सहिता अर्थात् अश्रु-सहित ।

### गाथा क्रमांक ४१६

तिलय विलय विवरीयकचुय सेर्याभन्नमव्वग ।  
पडिवयण जलहत्ती दूर्ई कल्लिज्ज मा हमिया ॥ ४१६ ॥

(तिलव विलय विपरीत कञ्चुक स्वदमित्र सर्वाङ्गम ।  
प्रतिवचनमलममाना दूती वत्तपित्वा मा हमिता ॥)

—श्रीपटवर्धनमम्मउ मम्हूत छाया

अग्नेजी अनुवाद, विवरीय को विवरीय तथा सेर्याभन्न को सेर्याभन्न मान कर किया गया है। इन पदों को लुप्तविभक्तिक मानना आवश्यक नहीं है। 'विवरय-कञ्चुय' और 'सेर्याभन्नसम्भग' समस्त पद हैं। 'दूर्ई' अवश्य लुप्तविभक्तिक पद है। संस्कृत छाया में दूती के स्थान पर दूती होना चाहिये। अग्नेजी अनुवादक ने पूर्वार्ध में प्रश्न की अनावश्यक प्रकल्पना की है। प्रतिवचन शब्द नायिका के द्वारा पूछे गये प्रश्नों के उत्तर को और नहीं, शायक-द्वारा दिये गये उत्तर या सन्देश की ओर इंगित करता है। विलय की छाया शब्द ने विलय गमन की है, जिससे उक्त पद का अर्थ सूचित होता है। श्री० पटवर्धन को इस शब्द का प्रयोग कुछ अटपटा सा लगता है।<sup>१</sup> उक्त शब्द की व्याख्या बहुश्रीहि मान कर करें—

विलय = विगत तय सन्देश<sup>२</sup> यस्य, सन्देशोऽयं मन्त्रनाता ।

• अर्थात् जिसकी सत्यता नष्ट हो चुकी है, जो मिट चुका है ।

गाथार्थ—जिसका तिलक मिट गया था, कचुकी उलट गयी थी और शरीर पगीने से भर गया था उस दूती को बेत कर (नायक का कोई) उत्तर (या सन्देश) न पाती हुई बह (नायिका) हँस पड़ी ।

नायिका ने समझ लिया कि दूती नायक से रमण करके लौटने है, इसीलिए तिलक मिट गया है, कचुकी विपरीत हो गई है शरीर पगीने से भर हो गया है और मुझे नायक ने क्या सन्देश दिया है—इसे भी उद्धिगतावश नहीं कह (या सोच) पा रही है। अब उसकी दशा पर नायिका को किंचित हँसी आ गई। यह हँसी व्यंग्य की है, प्रशंसा की नहीं ।

१ वज्रालङ्कार, (अग्नेजी संस्करण) पृ० ४९० और ३२८

२ सपो विनाशे सन्देशे साम्ये तौय्यनिके मतम् ।

## गाथा क्रमांक ४१८

द्विसमागमसेजल्लयमि दरल्हसियसिचयघम्मिल्ले ।  
थणजहणकवोलणहवखएहि नायासि जह पडिया ॥ ४१८ ॥

(दूति समागमस्वेदार्दाङ्गि ईषत्तस्तसिचयकेसपासे ।  
स्तनजघनकपोलनखसतैर्जातासि यया पतिता ॥)

नायक को अनुनय करने के लिए गई हुई और उसके साथ रमण करके लौटी हुई दूती के प्रति स्निग्ध नायिका की चक्ति है। टीकाकारों ने इसका निम्नलिखित अर्थ किया है—

हे दूति ! तुम्हारे अंग समागम-अनित स्वेद से आर्द्र हो गये हैं, तुम्हारा कवपाश किंचित् स्निग्ध गया है, स्तन, जघन, और कपोलों पर लगे नखों के क्षतो से शीत होता है कि तुम ( आचरण से ) पतित हो चुकी हो ।<sup>१</sup>

अटकल की बात तो बहुत दूर है, विदग्ध नायिका प्रत्यक्ष प्रमाण पाकर भी किमी के चरित्र पर इतना स्पष्ट लक्षण नहीं लगाती है। अतः टीकाकारों द्वारा प्रतिपादित उपर्युक्त अर्थतत्त्व का वर्णन अवश्य ही कुछ छिपा कर किया गया होगा। हम इसे सहृदय-सवेद्य एव निगूढ व्यंग्यार्थ समझते हैं। प्रकट अर्थ कुछ और ही है। वस्तुतः यहाँ पडिया ( पतिता ) और समागम शब्दों में श्लेष है—

पडिया = ( पतिता ) १ आचरण से पतित ।

२ भूमि पर गिरी हुई ।

समागम = १ सभोग

२ आगमन, चलन क्रिया ( सम्यक् आगम समागम )

अन्य शब्दों के अर्थ इस प्रकार हैं—

थणजहणकवोलणहवखएहि = १ स्तन, जघन और कपोलों पर लगे नखों के क्षतों ( घावों ) से ।

जिस प्रकार स्तन, जघन और कपोलों पर अकित नखों के क्षतों से रमणी का रमण-व्यापार सूचित होता है, उसी प्रकार स्तन, जघन, कपोलों और नखों पर लगे घावों ( चोटों ) से यह आशंका भी हो सकती है कि यह

१. रत्नदेवकृत संस्कृत टीका और प्रो० पटवर्धनकृत अग्रजी अनुवाद

२ स्तन, जघन, कपोल और नखों के घावों से

बेचारी बहो गिर पड़ी होगी । अतः नायिका के वाग्देव्य एवं गायिका के वाग्य गुणोत्कर्ष की रक्षा के लिए विदग्ध बेच-उपयुक्त अर्थ के अतिरिक्त निम्नलिखित सामान्यजन-ग्राह्य, प्रकट अर्थ स्वीकार्य हैं—

हे दूति ! मेरे निकट तक आने में जो स्वेद उत्पन्न हुआ है, इससे तुम्हारे अंग भोग गये हैं, तुम्हारा केशपाश थोड़ा खिसक गया है, तुम्हारे स्तनों, अघनों, कपोलों और नखों पर लगी चोटों से (क्षत = घाव या चोट) ॥ ज्ञात हो गया है, कि जैसे तुम कहों गिर पड़ी हो ।

गाया क्रमांक ४१९

इय रक्खमाण वि फुड दूइ न खज्जति दूइया लोए ।

अह एरिनी अवत्था गयाण अम्ह वसे जाया ॥ ४१९ ॥

(एव राससानामपि स्फुट दूति न साधन्ते दूतिका लोके ।

अथेदृश्यवत्स्या गतानामस्माक वसे जाया ॥)

रामदेव ने केवल इसकी सस्मृत छाया दी है, व्याख्या नहीं की है । प्रो० पटवर्नन ने खज्जति का अनुवाद 'तिष्ठन्ते' किया है । व्याख्यात्मक टिप्पणी में गायिका के भाव की अस्पष्टता का उल्लेख है और अग्नेजी अनुवाद को अनुमान पर अवलम्बित बताया गया है ।<sup>१</sup> यदि गायिका को निम्नलिखित प्रसङ्ग में रक्त दें तो अर्थ स्वतः स्पष्ट हो जायगा—

नायिका ने नायक को मनाने के लिए जिम दूती को भेजा था, वह उसी के साथ रमण करके लौटी । कपोलों पर अकित समोम-मूचक दन्तक्षत स्पष्ट लक्षित हो रहे थे । अतः विदग्ध नायिका सब रहस्य ताड गई । वह कृत्रिम सहानुभूति के स्वर में व्यग्य करती हुई कहती है—

अर्थ—हे दूति ! राक्षसों के भी लोक में दूतियाँ इस प्रकार स्पष्ट नहीं खाई जाती हैं । हमारे वन में रहने वाली ( सेविकाओं, दूतियों ) की हूय ! अब यह दसा हो गई । अथवा द्वितीयार्थ का यह अर्थ करें—

हम गये हुए ( गये गुजरे, मृतकुन्य या नष्टप्राय ) लोगों के अंग में रह कर खेरी यह दसा हो गई है ।

१. The sense of the gatha is obscure The English translation is purely conjectural वज्रालम्ब पृ० ४९१

आशय यह है कि नायक ने रमण काल में तेरे कपोलों को इस प्रकार काट-खाया है कि राक्षस भी सन्देशवाहिका दूतियों को वैसी निर्दयता से नहीं काटते। मुझे इसका खेद है कि मेरे अधीन रह कर तेरी यह शोचनीय दशा हो गई है।

शब्दार्थ—लज्जति = सावन्ते, सार्द जाती है।

इय = एवम्, इस प्रकार

फुड = स्फुट, स्पष्ट या सचमुच, हिन्दी फूर

अह = अथवा, अब

अम्ह वसे गयाण = अस्माक वशे गतानाम, हमारे वश में गये हुए लोगो का।

गयाण अम्ह वसे = गतानाम् अस्माक वशे, हम गये हुए ( गये गुजरे, नष्टप्राय ) लोगों के अधीन।

गाथा क्रमांक ४२३

तुह सगमदोहलिणीइ तीइ सोहगविभियासाए।

नवसियसयाइ देंतीइ सुहय देवा वि न हु पत्ता ॥ ४२३ ॥

इसके चतुर्थपाद का अर्थ अस्पष्ट बताया गया है ( पृ० ४२८-४२९ )। रत्नदेव भी मौन है।

अर्थ—हे सुमग ! प्रचुर धन के कारण जिसको आशा बढ गई थी, जिसे तुम्हारे सगम की इच्छा थी और जो सैकड़ो मनोतियाँ कर रही थी, उसे देवता भी नहीं मिले। आशय यह है कि धनवती नायिका धन के बलपर पूजा-पाठ और मनोतियाँ करके देवताओं की कृपा से नायक का समागम प्राप्त करना चाहती थी। परन्तु नायक का समागम देवानुकम्पा से सम्भव नहीं था, अतः नायिका को ऐसे कदम भी नहीं मिले, जो मनोतियाँ लेकर मनोरथ पूर्ण कर सकने। काम्य नायक-सम्प्राप्ति देवाराधना से भी असम्भव होने के कारण नितान्त दुर्लभ थी। अथवा 'देवा वि न हु पत्ता' का तात्पर्य यह है कि मनोतियाँ करने वाली नायिका को सुराधिक लावण्यशाली नायक का समागम तो दूर रहा, कुछ देवता ( जो देवन-प्रकाशन विशिष्ट होने पर भी सौन्दर्यादि में नायक से बहुत घट कर हैं ) भी समोगार्थ नहीं मिले। इससे नायक का देवाधिक लावण्य-शालित्व व्यजित होता है। यदि चतुर्थ-पाद में स्थित 'सुहय देवा' को समस्त पद

मानकर 'सुखद-देवा अथवा 'सुहृद-देवा' यह छाया करें तो 'सुख देने वाले देवता भी नहीं मिले' या 'अभागो देवता भी नहीं मिले' ये दो अर्थ होंगे। इन दोनों अर्थों में प्रथम के भीतर यह व्यंग्य निहित है कि नायक के समागमतीक्ष्णभाव में नायिका को देवता भी सुख न दे सके।

शब्दार्थ—सोहृग = सौभाग्यम् ( सुभगस्य भाव सौभाग्यम् ) घन<sup>१</sup>प्राचुर्यं,  
महत्त्व या ऐश्वर्य

णवसिय—उपयाचितक = मनोती<sup>२</sup>

गाथा क्रमांक ४६०

अमुणिय-पियमरणाए वायसमुडाविरीइ घरिणीए।

रोवाविज्जइ गामो अणुदियह बद्धवेणीए ॥ ४६० ॥

'भो काक', 'उडुयस्व मम भर्ता ममिष्यति' इस टीका-वाक्य को अन्वया समझकर प्रो० पटवर्धन ने प्रस्तुत गाथा में निम्नलिखित टिप्पणी की है—

“जिनके पति, भाई और अन्य सम्बन्धी प्रवास में रहते हैं, वे स्त्रियाँ जब कौए को समीप आते देखती हैं तब उसे दूर उड़ा देती हैं।” उन्होंने भागे लिखा है “कौए की उपस्थिति और उसे दूर उड़ा देने का भाव स्पष्ट नहीं है। कदाचिन् कौए का आगमन यह सूचित करता है कि प्रेमी नहीं लौटेगा और इसीलिये महिला उसे दूर उड़ा देती है—“हे काक ! दूर उड़ जाओ, ईश्वर करे मेरा प्रेमी लौट आए। क्या काक-दर्शन प्रेमी की मृत्यु का सूचक है और क्या महिला उसे अपशकुन समझकर दूर उड़ा देती है ? परन्तु पूर्ववर्ती गाथाओं में टीकाकार के अनुसार कौआ बलभागमन-सूचक है या बल्लभ कुशल-निवेदक है और इसलिये महिला उसका स्वागत करना चाहती है एवं उसे भोजन प्रदान करती है।”<sup>३</sup>

उपर्युक्त टिप्पणी भ्रम-जनित है। 'भो काक उडुयस्व मम भर्ता ममिष्यति' इस कथन में विरहिणी के मनोगत आह्लाद का स्फुरण है। इस कथन का यह

१ भग श्रीमोनिवीर्येच्छा ज्ञानवैराग्यकीर्तिषु।

माहात्म्यश्र्ययत्नेषु धर्म मोक्षे च ना रवो ॥

—मेदिनी

२ देसीनाममाला, ४।२२।

३. वज्रालम्ब, ( अग्रजो सस्करण ) पृ० ५००

अभिप्राय नहीं है कि कौआ अमंगल की सूचना देता है—इसलिये स्त्रियाँ उसे देखते ही डहा लेकर उड़ाने लगती हैं। जब कौआ गृह-शिखर पर बैठकर बोलने लगता है सब उसे बड़ा शकुन माना जाता है। परदेशी प्रिय के पथ पर प्रतिक्षण आँखें बिछाये बैठी व्यथातुर विरहिणी तो यही समझती है कि मेरा प्रवासी अब अवश्य घर आ जायगा। वह उसे सादर उड़ाकर प्रिय तक अपना सन्देश पहुँचाती है। प्राचीन कालों और लोक-गीतों में पदे-पदे चरित्रभागमननिवेदक काक के वर्णन मिलते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी के निम्नलिखित पद में कौए की ऐश कर माता कौशल्या के शकुन मनाने का वर्णन है—

बैठी सगुन मनावति माता ।

कब ऐहै मेरे बाल कुसल घर, कहहु काग फुरि बाता ।

दूध-भात की दोनी देहों, सोने खोच मँहहो ।

जब सिय-सहित विलोकि नयन भरि, राम लपन उर लँहो ।

अवधि समोप जानि जननी जिय, अति आतुर अकुशनी ।

गनक बोलाइ पार्यो परि पूजति, प्रम मगन मुहु-बानी ॥

तेहि अवसर कौठ भरत निकट तै, समाचार लै आयो ।

प्रभु आगमन सुनत तुलसी, मनो मोन मरत जल पायो ॥

रतनसेन की विरहिणी नागमती ने उसे सन्देश-वाहक के रूप में देखा है—

पिय सौ कहैहु सदेसदा, हे भौरा हे काग ।

साधनि विरहै जारि मुई, तेहिक घुषी हम्ह लाग ॥

—पद्मावत

अपभ्रंश-कवि ने तो यहाँ तक लिखा है कि इनर वियोगिनी कौआ उड़ा हा रही थी कि उधर से उसका प्रमी सहसा दिखाई पड़ गया। कौए का मांगलिकता का इतना जीवित प्रमाण और क्या हो सकता है—

वायस चट्टावतिए, पिय दिट्टो सहसति ।

अद्धा बलया महिहि गय, अद्धा फुट्टि चहति ॥

—हेमचन्द्रकृत प्राकृत व्याकरण

गाथा में अवस्थित ‘अणुदियह बद्धवेणोए’ को आलोचना में श्रीपटवर्धन लिखते हैं—“यह वर्णन उस कथन के सर्वथा विपरीत है, जिसके अनुसार प्रोषित पतिकाओं को विरह की अवधि में अपना केश-संस्कार नहीं करना चाहिये—



क्रोडा शरीर सस्कार समाजोत्पददर्शनम् ।

हास्य परगृहे यान त्यजेत् प्रोपितभर्तृका ॥<sup>१</sup>

यहाँ विद्वान् बालोचक ने लोकभाषा-कवि के साथ समुचित न्याय नहीं दिया है । उपर्युक्त श्लोक में एक पवित्र आदर्श का निरूपण है और बताया गया है कि प्रोपितपतिमात्रों को उस प्रकार जीवन-यापन करना चाहिये । उसमें यह नहीं कहा गया है कि प्रोपितपतिकायें उस प्रकार जीवन-यापन करती हों । शास्त्रा-मत्ससह, आर्यासप्तशती तथा वज्रालम्ब के बहुसंख्य पद्यों में परकीया के त्रिम सहाम प्रणय का उन्मुख और कहीं-कहीं भीमत्स चित्रण है, वह किन स्मृति में ममयित है ? कवि लोकजीवन का यथार्थ द्रष्टा है । उसके चरण ठोस पथतल पर होते हैं । वह समाज को जैसा देखता-सुनता है, वैसा ही चित्रित करता है । शोक-जीवन सर्वतोभावेन धर्म से अनुशासित नहीं होता है । अतः पाया में अनीचिय नहीं है । आज भी गाँवों में प्रोपितपतिकायें लगभग सुहागिन स्त्रियों के समान वेश-भूषा धारण करती हैं । शरीर-सस्कार या प्रसाधन का परिदाग केवल विधवायें करती हैं । बहुत सी विधवायें केवल माँग में सिन्दूर डालना बन्द कर देती हैं, शरीर सस्कार पूर्ववत् करती रहती हैं ।

गाथा क्रमाक ५००

जोइसिय कीस चुट्टसि विचित्रकरणाइ जाणमाणो वि ।

तह कह वि कुणसु सिग्घ जह सुक निच्चल होइ ॥ ५०० ॥

( ज्योतिषिक कि प्रमादसि विचित्रकरणानि जानानोऽपि ।

तथा कुहकयमपि शीघ्र यथा धुत्री (धुक) निम्नलो(निम्नल) भवति ॥ )

किमी ज्योतिषी पर आसक्त बन्धकी की उक्ति है । टिप्पणों में धुक के निश्चल होने का ज्योतिष-मन्त्रोपार्थ अज्ञात बताया गया है (पृ० ५१५) । श्लिष्ट शब्दों के अर्थ इस प्रकार हैं—

विचित्रकरण = १. विशेष रूप से चित्रा नक्षत्र का कार्य या प्रभाव, दिन के विभिन्न करण सप्तक भाग ।

२. रति के विचित्र आसन

सुकं निश्चलं होइ = १. शुक्र-ग्रह निश्चल हो जाय<sup>१</sup> (पुल्लिंग की नपुंसकलिंग में परिणति), शुक्र-ग्रह की स्थिति का निर्णय हो ।

२. बोर्य स्थिर हो या गर्भ रह जाय ।

अर्थ—( ज्योतिष-पक्ष ) हे ज्योतिषी ! विशेष रूप से चित्रा नक्षत्र का कार्य जानते हुए भी क्यों चूकते हो ? ( या दिन के विभिन्नकरण सप्तक भागों को जानने हुए भी क्यों चूकते हो ) शीघ्र हो कुछ ऐसा करो जिससे शुक्र निश्चल हो जाय ( या शुक्र की स्थिति कैसी है, इसका निर्णय हो जाय ) ।

( प्रणय-पक्ष ) हे ज्योतिषी ! रति के विभिन्न भासनों को जानते हुए भी क्यों चूकते हो ? कुछ ऐसा करो जिससे बोर्य स्थिर हो जाय ( गर्भ रह जाय ) ।

गाथा क्रमांक ५०१

विवरीए रविबिम्बे नखस्तानं च ठाणगहियाणं ।

न पडइ जलस्य बिंदू सुदरि चित्तट्टिए सुक्रे ॥ ५०१ ॥

( विपरीते रविबिम्बे (रतिबिम्बे) नखत्राणा (नखस्ताना) च स्थानगृहीतानाम् ।

न पतति जलस्य बिन्दु सुन्दरि चित्रास्ये (चित्तस्ये) सुक्रे ॥

—रत्नदेवसम्मत संस्कृत छाया

टीकाकारों ने नखस्तान की प्रणय-पक्षीय छाया नखस्तानाम् की है, जो अस्वाभाविक लगती है । नख-स्ताना का प्राकृत रूप महबसयानं या महबसया होना चाहिये । वज्रालङ्कार के अंग्रेजी संस्करण के पृ० ५१४ पर इस पद्य के शृङ्गारपक्षीय और ज्योतिष-पक्षीय-दोनों अर्थों की अस्पष्टता का उल्लेख है । संस्कृत टीका में शृङ्गार-पक्ष के कुछ शब्दार्थ इस प्रकार हैं—

जलस्य = बोर्यस्य

सुक्रे = बोर्य

परन्तु जल का बोर्य अर्थ आरोपित है । जल और शुक्र का एक ही अर्थ ग्रहण करने पर पुनर्निर्दिष्ट होगी । अत्र द्रिष्ट शब्दों की व्याख्या इस प्रकार करें—

१. अयोध्या के बयोवृद्ध ज्योतिषी ५० गोपीबान्त झा के अनुसार चित्रानक्षत्र में जाने पर शुक्र निश्चल एवं जलवृष्टिकारक होता है ।

विवरीए रतिविम्बे १. विपरीते रतिविम्बे = सूर्य-मण्डल के प्रतिकूल होने पर ( ज्योतिष-पक्ष )

२ विपरीते रतिविम्बे = योनि के विपरीत होने पर

३ विवृतेरतिविम्बे = योनि के विवृत या अनावृत होने पर ( में दोनों अर्थ शृङ्गार-पक्ष में हैं )

मक्षसत्तां १. मक्षत्राणाम् = मक्षत्रों का ( ज्योतिष-पक्ष )

२ नृत्तात्तानाम् = नृः<sup>१</sup> नरस्य सन्<sup>२</sup> इन्द्रियम् आमाना प्राप्तात्तानाम् अर्थात् पुरुषेन्द्रिय अथवा लिंग को प्राप्त ।

३. मक्षार्त्तानाम्<sup>३</sup> = मक्षों से आर्त्त

४. आत्तनखानाम्<sup>४</sup> = नख धारण करने वाली स्त्रियों का

छाण गहियाण १. स्थानकहूतानाम् = स्थानकात् ( गृहान् ) हूतानाम् अपहूतानाम् आनीताना वा अर्थात् अरने पर या स्थान से अपहूत

२. मानेन<sup>५</sup> ग्रहणीयानाम् = सम्मान से ग्रहण करने योग्य

१. ऋतोऽन् ( प्राकृत व्याकरण, १।१२६ ) से नर वाचक नृ शब्द में स्थित ऋकार के स्थान पर अकार हो जाने पर न शब्द ( ण भी ) बनेगा ।

२ स शब्द अनेकार्थक है—

समिन्द्रिये पुरे क्षेत्रे घूम्ये विन्दो विहायनि ।

सवेदने देवलोके शर्मण्यपि नपुंसकम् ॥ —मेदिनी

आस का प्राकृत रूप है—अत्त । तीनों का समास होने पर स का द्वित्व हा जायगा । आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार समास में बहुलाधिकार के कारण दीप और आदेश के अभाव में भी द्वित्व होता है ( सूत्र २।९७ की वृत्ति ) ।

३. सेवाद्विपु ( प्राकृत प्रकाश, ३।९७ ) से द्वित्व ।

४. यहाँ प्राकृत के स्वभावानुसार समास में आस शब्द का परनिपात हो गया है ।

५. टाण् देशी शब्द है । देशीनाममात्ता में इसका अर्थ मान दिया गया है । पाइयसद्महण्यवकार ने मान को अभिमान के अर्थ में ग्रहण किया है, जो ठीक नहीं है । उक्त शब्द का प्रयोग प्रदर्शित करने के लिए उनके प्रमाण भूत आचार्य हेमचन्द्र ने जो गाया दी है, उससे पता चलता है कि उक्त शब्द का अर्थ सम्मान है—

३. मानेन गृहीतानाम् = आदर से गृहीत या प्राप्त
४. गृहीत स्थानानाम् = रतिवन्ध ( आमन विघ्न ) को ग्रहण करने वाली
५. रतिवन्ध में बन्ध
६. अपने स्थान पर स्थित, अपने स्थान को ग्रहण करने वाले ( ज्योतिष-पक्ष )

जल = १. पानी

२. जड़, नीरस ( जलं गोचरने नीरे ह्रीर्बरेऽप्यन्यवज्रहे  
—मेदिनी ) ।

बिन्दु = १. एक बूंद

२. बीच

चित्तद्विप = १. चित्रा में स्थित ( ज्योतिष-पक्ष )

२. चित्त में स्थित रहने वाला अर्थात् काम या प्रणय

३. चित्त में रहने पर

गुरु = १. गुरु, वीर्य

२. गुरु

गायार्थ—( ज्योतिष-पक्ष ) हे सुन्दरि ! जब रविमण्डल अपने स्थान पर स्थित मन्त्रों के प्रतिबुल रहता है, तब गुरु के चित्रा मन्त्र में स्थित होने पर भी जड़ की बूंद नहीं पड़ती है अर्थात् वर्षा नहीं होती है ।

जब सूर्य, मङ्गल, केतु आदि के द्वारा मन्त्रण पीडित होते हैं तब अग्नि पन होता है और वृष्टि नहीं होती है ।<sup>२</sup> बराहमिहिर के अनुसार चित्रा मन्त्र में

टागो न टन्तानं टण्डितम् न यावि टद्वयार्थ ।

(मानो न निर्जनाना गौरवित्थ न चाप्सुतिमानाम्)

हिन्दी में मात्र भी स्थान छन्द सम्मान के अर्थ में प्रचलित है ।

गहिर के ग्रहणार्थ अर्थ का आधार पादयमहमहन्नाथ है ।

१. गहिर का अर्थ है—वज्रित ।

—देसोनाममात्र, २।८९

२. रविगुरुकेदुर्बोद्धि में निजितनमविषादग्राहने च ।

अरति च न शिबं न चारि वृष्टिं नमगहने निरनरके शिबं च ॥

—बृहस्पति, प्रवर्यनाम्न, १०

शुक्र संक्रमण वृष्टिकारक है, परन्तु जब वह हस्त नक्षत्र में पदार्पण करता है तब पीडाकारक एवं जलवृष्टि-निरोधक हो जाता है ।<sup>१</sup>

द्वितीय अर्थ ( श्रृंगार-पक्ष ) १ सुन्दरि ! पुरुषेन्द्रिय के निकट पहुँचो ( प्राप्त ) हुई और सम्मानपूर्वक ग्रहण करने योग्य ( अथवा आदर से उपलब्ध ) सुवर्तियों को विवृत ( अनावृत ) योनि में प्रणय ( या काम विकार ) के शुष्क हो जाने की दिशा में नीरस मनुष्य का वीर्य नहीं पड़ता है ( अथवा जब वीर्य की स्थिति चित्त में होती है तब उक्त योनि में जब पुरुष को एक बूँद भी नहीं पड़ती है ) ।

२—( विपरीत रति की अवस्था में ) पुरुषेन्द्रिय को प्राप्त एवं रतिबन्ध ( आसन विशेष ) में ( पुरुष की अनुचमन के कारण उसका ) स्थान ग्रहण करने वाली महिलाओं की विपरीत ( ओंघी ) योनि में उस समय नीरस पुरुष को एक बूँद नहीं पड़ती, जब वीर्य की स्थिति चित्त में होती है ।

३—जो ( आघातार्थ ) मर्शों को धारण करती है, जो स्थान ( शय्या या अन्य स्थान ) पर वक्र ( गहिय ) हो जाती है, जब महिलाओं की विपरीत योनि में उस समय पानी की भी एक बूँद नहीं पड़ती, जब प्रणय ( या काम विकार ) शुष्क ( रमहीन ) हो जाता है ( अथवा जब वीर्य चित्त में स्थित हो जाता है ) ।

आशय यह है कि जो स्त्रियाँ अभिमानवश मुहं केर सेती हैं और छेड़-छाड़ करने पर मर्शों से धाव कर देती हैं उनकी योनि में वीर्य की कौन कहे, पानी की भी बूँद नहीं पड़ती है ।

### गाथा क्रमांक ५०३

ढञ्जउ सो जोइसिओ विचित्तरणाइ जाणमाणो वि ।

गणिउ सयवार मे उहुइ धूमो गणतस्स ॥ ५०३ ॥

इस गाथा की अस्पष्टता का उल्लेख किया गया है ( पृ० ५१५ ) । अग्नेश्री टिप्पणी में अष्टाध्यायी के 'समानकर्तृकणो पूर्वकात्' इस सूत्र को उद्धृत कर कहा गया है "गाथा में 'गणतस्स' को आवृत्ति के कारण समानकर्तृकता नहीं रह

१ कौरव चित्रकराणा हस्ते पाडा जलस्य च निरोध ।

कूपकृदण्डजपीडा चित्रास्ये शोभना वृष्टिः ॥

—बृहत्संहिता, शुक्राचाराध्याय, ३०

गई है, अतः व्याकरण के नियम का उल्लंघन है।" यह आक्षेप अनुचित है।  
गाथा के संस्कृत रूपान्तर का अन्वय इस प्रकार कीजिये—

विविचकरणनि जानानोऽपि स ज्योतिषिको दह्यताम् । मे शतवारं गणयित्वा  
गणयत धूम उत्तिष्ठति अथवा मे गणयित्वा शतवारं गणयत धूम उत्तिष्ठति ।  
द्वितीयार्थ की अपेक्षा होने पर उत्तरार्थ का अन्वय इस प्रकार करना पड़ेगा—

शतवारं गणयित्वा गणयत मे धूम उत्तिष्ठति अथवा गणयित्वा शतवारं  
गणयत मे धूम उत्तिष्ठति ।

अष्टाध्यायी की काशिकावृत्ति में उपर्युक्त सूत्रस्य समानकर्तृकता का भाव  
स्पष्ट करते हुये आचार्य धामन ने लिखा है—

समानकर्तृकयोरिति किम् ? भुक्तवति ब्राह्मणे गच्छति देवदत्त । अर्थात्  
समानकर्तृक क्रियाओं में कृत्वा प्रत्यय का विधान क्यों किया गया है ? उत्तर यह  
है कि यदि ऐसा न होता तो 'भुक्तवति ब्राह्मणे गच्छति देवदत्त'—इस वाक्य में भी,  
जहाँ भोजन और गमन क्रियाओं के कर्ता पृथक्-पृथक् हैं, क्त प्रत्यय की प्रसक्ति  
हो जाती ।

अब इस सन्दर्भ में प्रस्तुत गाथा का अवलोकन कीजिये । हम पूर्वार्ध और  
उत्तरार्ध को दो स्वतन्त्र वाक्य मानते हैं, क्योंकि एकवाक्यता की प्रकल्पना में तद्  
शब्द ( त ) निराकाश रह जायगा और वाक्य दोष होगा<sup>१</sup> । द्वितीय वाक्य में  
गणककृत प्रथमगणन-व्यापार शतवारोत्तर-गणन-व्यापार का पूर्ववर्ती है । अथवा  
शतवारं गणन-व्यापार भूयोगणन-व्यापार का पूर्ववर्ती है । इन दोनों व्यापारों का  
कर्ता एक ही गणक है, अतः समानकर्तृकता का अभाव नहीं है । यहाँ पूर्वार्ध और  
और उत्तरार्ध के अर्थ-सम्बन्ध का निवेदन कर लेना भी अपरिहार्य है । विविध  
करणज्ञान ज्योतिषिक का उत्कृष्ट गुण है । अभिप्रेत-गुण-विशिष्ट ज्योतिषिक के भी  
भस्मी भवन का कथन विशेष हेतु के बिना असंगत है । अतः व्यजना-व्यापार-द्वारा  
भूयोभूयोगणन व्यापार की प्रतीति भस्मीभवन-कथन के हेतु-रूप में होती है ।  
इस प्रतीति से ज्योतिषिक और गणक में तादात्म्य स्थापित हो जाता है । इस दृष्टि  
से भस्मीभवन और भूयोगणन—इस अशेष व्यापार-परम्परा में समान कर्तृकता  
सिद्ध होती है ।

शब्दार्थ—

धूम = १. धूमकेतु, केतु ( आटे ), ग्रह विशेष ( पाश्य-सद्महृण्य )

२. क्रोध, द्वेष, अप्रोति ( पाश्यसद्महृण्य )

मे = महाम्, मेरे लिये ( ज्योतिष-पक्ष )

२. मम, मेरे ( शृंगार )

सयवार = शतवार—यहाँ शत शब्द संख्याबोधक नहीं, लक्षणया पौनः पुन्य बोधक है ।

‘गणतस्म’ की पंखी तृतीया का भी अर्थ देगी—क्वचिद् द्वितीयादे  
—प्रा० व्या० ३।१३४

अर्थ—विचित्र करणों ( दिन के ज्योतिष प्रसिद्ध चारह भाग ) को जानता हुआ भी वह ज्योतिषी भ्रम हो जाय । मेरे लिये अनेक बार गिन कर पुनः गिनने वाले को धूम-केतु ही याद आता है । (अथवा गिनकर अनेक बार गिनने वाले को धूमकेतु ही याद आता है )

आशय यह है कि ज्योतिषी की गणना के अनुसार मेरी कुण्डली में केतु ग्रह ही अरिष्ट है । अनेक बार गिनकर भी वह इस अरिष्ट ग्रह को हटा नहीं पाया । ऐसे निष्कर्ष ज्योतिषी को जलकर राख हो जाना चाहिये था ।

शृंगार-पक्ष—विचित्र करणों ( रति के आसन विशेष ) को जानता हुआ भी वह ज्योतिषी भ्रम हो जाय । शत बार मैथुन करके पुनः मैथुन करने वाले के लिए मेरे धुआँ चढ़ जाता है ( शरीर में आग लग जाती है, क्रोध आ जाता है ) ।

प्रस्तुत अर्थ व्यंग्य है । ज्योतिषी और गणन व्यापार प्रतीक के रूप में प्रयुक्त होकर उक्त अर्थ की प्रतीति कराते हैं । यह ज्योतिषी के बार-बार रमण से सम्नुष्ट प्रणयिनी की वक्रमणिति है । ‘धूमो रुद्रो विपरीत लक्षणा-द्वारा मानसिक सन्तोष का व्यञ्जक है । साहित्य दर्पण में उदाहृत निम्नलिखित श्लोक में भी कुछ यही भागिमा झलकती है—

यस्मात् सखि याससौ न हचिरे प्रियैकं नोज्ज्वलं,

नो वक्रा यतिरुत्पलं न हमितं नैवास्ति कश्चिन्मदः ।

१. मूल में उक्त शब्द स्मरण का अर्थ देता है । हिन्दी में उठना का अर्थ स्मरण होना प्रसिद्ध है । व्याकरण के छात्र प्रायः कहते हैं—‘सूत्र तो याद है, उसकी वृत्ति नहीं उठ रही है ।

किन्त्वन्येऽपि जना वदन्ति सुभगोऽप्यस्या प्रियो नान्यतो,  
दृष्टिं निक्षिपतीति विश्वमियतामन्यामहे दुःखितम् ।

### गाथा क्रमांक ५०४

३९— जइ गणसि पुणोवि तुम विचित्रकरणेहि गणय सविसेसं ।  
सुकृक्रमेण रहियं न हु लग्न सोहणं होइ ॥ ५०४ ॥  
यदि गणयसि पुनरपि त्व विचित्रकरणैर्गणय सविशेषम् ।  
शुक्रक्रमेण रहितं न खलु लग्न शोभनं भवति ॥

प्र० पटवर्धन ने लिखा है “ज्योतिष पक्ष में ‘शुक्रक्रमेण रहितम्’ का अर्थ स्पष्ट नहीं है ( पृ० ५१२ ) ।” शृंगार पक्ष में उन्होंने ‘लग्न’ ( लग्न ) का अर्थ मैथुन ( Coitus ) किया है । मेरे विचार से उभयपक्ष में उक्त दोनों शब्दों के अर्थ इस प्रकार हैं—

सुकृक्रमेण रहियं = १. शुक्र की गति के बिना ( ज्योतिष पक्ष )

२. वीर्य प्रवेश के बिना ( शृंगार पक्ष )

लग्न = १. लग्न, सूर्य का किसी राशि में प्रवेश करने का काष्ठ  
या विवाहादि का मुहूर्त ( ज्योतिष पक्ष )

२. लग्न या प्रीति ( शृङ्गार-पक्ष )

करण = १. ज्योतिष प्रसिद्ध दिन के ११ भाग

२. कामशास्त्र प्रतिपादित आसन या बन्ध

गणय = १. गिनो

२. मैथुन करो । यहाँ गिनने की क्रिया और गणक दोनों  
मैथुन और मैथुनकर्ता के प्रतीक के रूप में गृहीत हैं ।

गाथार्थ—यदि गिनते हो तो विचित्र करणों से तुम विशेष गणना करो  
शुक्र की गति के बिना लग्न शुभ नहीं होता है । ( अर्थात् जिस राशि में सूर्य के  
अवस्थित होने पर शुक्र अस्त रहता है, उसमें विवाहादि का मुहूर्त शुभ नहीं समझा  
जाता है ) ।

शृंगार-पक्ष—यदि मैथुन करते हो तो विचित्र रतिबन्धों से विशेष मैथुन  
करो । वीर्य-सक्रम ( वीर्य-प्रवेश ) के बिना ( अर्थात् सम्भोग के बिना ) प्रीति  
( लग्न ) शुभ नहीं होती है ।



## गाथा क्रमांक ५०७

अगारय न याणइ न हु बुज्झइ हत्यचित्तसचार ।

इय भाइ कूडगणओ वहू जाणइ सुकमचार ॥ ५०७ ॥

अङ्गारकं न जानाति न खलु बुध्यति हस्तचित्राचराम् (हस्त चित्रमचारम्) ।

इति मात कूटगणक कथं जानाति शुक्रसचारम् ॥

इस गाथा पर यह टिप्पणी है—

The astrological significance of अगारय न याणइ is not clear

बराहमिहिर ने निम्नलिखित नक्षत्रों में मंगल ग्रह के सचार और उदय प्रशस्त बताये हैं—

चारोदया प्रशस्ता श्रवणमघादित्यहस्तमूलेषु ।

एकपदादिविशाखाप्राजापत्येषु च कुत्रस्य ॥

बृहस्पतिहा, भौमाचाराध्याय, १२

गाथार्थ—अरी माँ, यह कूटगणक न तो मंगल ग्रह को जानता है और न यह उसका हस्त एव चित्रा नक्षत्रों में सक्रमण<sup>१</sup> (गमन) ही समझता है। जहाँ शुक्र ग्रह का (हस्त और चित्रा नक्षत्रों में) सचार कर्म जानेगा ?

श्रु गार-पन्—यह बूढ़ मैथुनकारी रति क्रिया (अगारय = अगारत) नहीं जानता है और हाथों का विचित्र सचार (करिहस्त<sup>२</sup> का विचित्र प्रयोग) भी नहीं समझता। अरी माँ, वह कैसे शुक्र (वीर्य) का (योनि में) सचार (प्रवेश) जानेगा ?

इस सन्दर्भ में काव्यप्रकाश के सप्तशोत्सास में उद्धृत निम्नलिखित श्लोक वर्चनीय है—

करिहस्तेन सम्बाधे प्रविश्वान्तविलोडिते ।

उपसपन् ध्वज पुस साधनान्तविराजते ॥

१ शुक्र का हस्त और चित्रा में सक्रमण होने पर क्रमशः पीड़ा और जलवृष्टि होती है ।  
—(गाथा ५०१ की टिप्पणी)

२ 'करिहस्त' का म शास्त्र प्रतिपादित विरोध अशुलि-मुद्रा है, जिसके द्वारा कठिन यानि को शिथिल किया जाता है—

तर्जन्मनामिके युक्ते मध्यमा स्याद्रहिष्कृता ।

करिहस्त समुद्दिष्ट कामशास्त्रविचारदे ॥

## गाथा क्रमाक ५१२

सच्च जरए कुसलो सरसुप्पन्न य लवखसे वार्हि ।  
एय पुणो वि अग विज्ज विडगेहि पन्नत्त<sup>१</sup> ॥ ५१२ ॥

सत्य ज्वरे कुशल स्वरसोत्पन्न च लक्षसे व्याधिम् ।  
इद पुनरप्यङ्ग वैद्य विडङ्गं प्रज्ञप्तम् ॥

—रत्नदेवसम्मत संस्कृत छाया

प्र० पटवर्धनकृत अनुवाद इस प्रकार है—

हे वैद्य ! तुम सचमुच ज्वर का निदान करने में कुशल हो । तुम देखने हो कि मेरा रोग प्रेम के कारण उत्पन्न हुआ है । मेरा यह शरीर ( केवल ) विडग ( वायभिडग नामक दवा ) से स्वस्थ होगा ( अन्यार्थ—केवल ज्वर के शरीर का समीप होने से दूर होगा ) ।

उपयुक्त अर्थ नितागत अनौचित्यपूर्ण है, क्योंकि यह नायक वैद्य के चिह्नितार्थ उपस्थित होने पर रोग शय्या पर पड़ी व्याजङ्गना परकीया नायिका की श्लेष-गमित उक्ति है, और कोई विदग्ध तरुणी परिवार के समक्ष इतनी उन्मुक्त भाषा में अपने प्रच्छन्न प्रणय का उद्घाटन नहीं करती । पूर्वार्ध के ऋजुकथन में भोलापन भले ही हो, वह 'बाँकपन' नहीं है, जो किसी उत्कृष्ट काव्य का प्राण होता है । इस भोले अर्थ में नायिका की विदग्धता नहीं, मिलजुलता का बीभत्स प्रदर्शन है ।

गाथा में निविष्ट 'पन्नत्त' शब्द का जो अर्थ टीकाकारों ने दिया है, वह अनुमान पर अवलम्बित है । श्रीपटवर्धन ने 'पन्नत्त' का अर्थ स्वस्थ या उपचारित लिख कर पुन उसे संस्कृत प्रणष्ट से सम्बद्ध करने का प्रयत्न किया है, तो रत्नदेव ने उसका अर्थ 'पुनर्नूतनीसजातम्' बताया है । वस्तुतः यह शब्द सज्ञानार्थक शब्द निष्पन्न है । सिद्धान्तकौमुदी की तत्त्वबोधिनी टीका में 'वा दान्तशान्तपूर्णदस्त स्पष्टच्छन्नज्ञप्ता'—इस पाणिनीय सूत्र द्वारा निपातित ज्ञप्त शब्द के सन्दर्भ में निम्नलिखित उल्लेख है—

ज्ञप्तिमित्यज्ञाया मारणतोपपत्तिनामानेचित्युक्त ।

—पूर्व वृद्धन्त प्रकरण

१ अंग्रेजी टिप्पणी में इस गाथा के द्वितीयार्ध का भाव अस्पष्ट घोषित किया गया है । इ० पृ० ५१९

अर्थात् मित सजक जप् पातु मारण, तोपण और निशामन ( श्रवण ) में प्रयुक्त होता है । यज्ञीय प्रकरण में सर्वत्र जप् का मारण अर्थ प्रसिद्ध है । अतः प्रसंगानुसार प्रज्ञप्त ( पञ्चत ) का उक्त अर्थों में से कोई भी अर्थ ले सकते हैं ।

विलष्ट वदार्थ—सरसुप्पन्न = ( स्वरसोत्पन्नम् )—

१—स्वरसेन<sup>१</sup> स्वभावोत्पन्नम् अर्थात् स्वभाव से उत्पन्न ( व्याधिपक्ष )

२—स्वकीयेन रसेन<sup>२</sup> रसेन प्रेम्णावोत्पन्नम् अर्थात् अपने प्रेम से उत्पन्न । ( प्रणयपक्ष )

विअग = व्यङ्ग्यम् १—( लण्डनीयम् ) लण्डन करने योग्य या नष्ट करने योग्य ( पादयसद्वहणव )

विडग = १—विडग अर्थात् वायुभिडग नामक औषध  
२—विटाङ्ग, जार ( विट ) का अग

पन्नस = प्रज्ञप्तम्, प्ररूपित, कथित या मारित,

गाथा का चिकित्सा पक्ष में प्रकट अर्थ यह है—

चैद्य । तुम ज्वर के निदान में सचमुच कुशल हो और स्वभावतः उत्पन्न हो जाने वाले रोग को देख रहे हो, क्योंकि इस ( रोग ) को पुनः वायुभिडग से लण्डनीय ( नाश्य ) बताया है ।

प्रणयपक्षीय मुत्ताप—चैद्य । तुम ज्वर के निदान में सचमुच कुशल हो और अपने प्रेम से उत्पन्न रोग को लक्षित कर रहे हो, क्योंकि इसको पुनः विट ( उपपत्ति ) के अग से लण्डनीय ( उपशाम्य ) बताया है ।

उपमूर्त्त अर्थ 'विअग' को एक पद मानकर किये गये हैं । यदि विडग में श्लेष न मानें तो अर्थ यह होगा—

यद्यपि यह रोग स्वाभाविक है ( पक्षान्तर में—तुम्हारे प्रणय से उत्पन्न है ) फिर भी इस शरीर को विडगों ( वायुभिडगों ) के द्वारा मार डाला गया है ( प्रज्ञप्त = मारित ) । अर्थात् मैं अर्थ ही वायुभिडग खाते खाते मरी जा रही हूँ ।

१ पादयसद्वहणव

२ रसो गन्धरसे जले ।

शृङ्गारादी विषे वीर्ये तिक्तादी दवराणयो ॥

यह अर्थ 'वि अग' को समास-रहित पद मानकर किया गया है। अग गायः के उत्तरार्ध का यो अर्थ करें—

चिकित्सा पक्ष—यह अग फिर भी बायमिडगों से सन्तुष्ट हो गया है।

प्रणय पक्ष—यह अग फिर भी चिट (प्रेमी) के अगों से सन्तुष्ट हो गया है। अपरित् इस समय तुम्हारे अगों के स्पर्शमात्र से सन्तुष्ट हो गया है। अर्थ में 'एय' (एतम्) का सम्बन्ध 'अग' के साथ किया गया है, व्याधि साथ नहीं।

### गाथा क्रमांक ५१६

गहवइसुएण भणिय अउव्वविज्जत्तण हयासेण ।

जेण पउजइ पुक्कारय पि पन्नत्तियाण पि ॥ ५१६॥

गृहपतिसुतेन भणितपूर्ववैद्यक हताशेन ।

येन प्रयुङ्क्ते पुक्कारय (पूस्काररतम्) अपि प्रशक्तिकानामपि ॥

—रत्नदेवकृत संस्कृत छा

इसमें किसी विलासी गृहपतिकुमार के विलक्षण वैद्यक-शास्त्रों की कराम का वर्णन है। पद्य के चतुर्थ चरण में प्रयुक्त 'पन्नत्तिया' शब्द की व्याख्या में लि है—The meaning of this word is obscure both in the ca of the overt and the covert senses of the stanza आशय है कि इस शब्द का न तो प्रकट अर्थ स्पष्ट है और न गुप्त। रत्नदेव मोन है उन्होंने एक पक्ष में 'पन्नत्तियाण' का अर्थ 'प्राप्तानाम्' दिया है। मेरे विचार श्लिष्ट शब्दों के अर्थ निम्नलिखित हैं—

क-पन्नत्तिया (पणत्तिया) = पचास स्त्रियाँ, पण्ण = पचास या पचा (प्र पय) ति शब्द का अर्थ पाइयट्टमहम्म अनुसार स्त्री है।

१. समाप्ति वा (२।१७) इम हैमयूत्र की वृत्ति के अनुसार त का द्विब होने अनन्तर स्वाधिक क प्रत्यय जुड़ने पर पणत्तिया या पन्नत्तिया शब्द ति होगा। सम्पर्क ति शब्द प्राचीन हिन्दी साहित्य में लिय, लीय, लिया में ही के रूप में देखा जा सकता है—

गुर तिय नर तिय नाम तिय, अम चाहति सब कोय ।

मोद लिये हुनही फिर, सुखसो मो मुठ होय ॥

ख-पञ्चतियाण (प्रज्ञसिदान प्रज्ञसिज्ञान वा) = प्रज्ञप्ति अर्थात् उपदेश का दान  
या प्रज्ञप्ति सज्ञक जैनशास्त्र का  
ज्ञान अथवा मृत्युदान (प्रज्ञप्ति  
= मृत्यु)

ग-पणत्तियाण (प्राज्ञसिकेय्य) = चतुर्थ्या पछो, ज्ञानिभ्य अर्थात् ज्ञानियों के  
लिये या ज्ञान सपन्न श्रमणियों के लिये  
(प्राज्ञसिकाय्य)

घ-पणत्तियाण = पणतियों वा प्रपौत्रों के लिये ।

- पुक्कारय (पुक्कारकम्) = १ पुक्केन्द्रिय या शिखन (कारक = इन्द्रिय)  
२ औपघ विशेष—टीका  
३ (फूत्कार) फूँक (फूत्कार + क) यहाँ  
फूत्कार या फूँक का अभिप्राय जादू-टोन के  
मिश्रित भण्ड फूँकने से है ।  
४ फूत्काररत्त नामक रत्न विशेष

—संस्कृत टीका

विज्जसण = १ वैद्यक शास्त्र  
२ पाण्डित्य या विद्या

गाथा में वि (अपि) शब्द दो बार आया है । यहाँ विभिन्न प्रसंगों के अनुसार  
उस के अर्थ निन्दा, विरोध और अवधारण<sup>१</sup> है—

गाथा का वैद्यक पक्षीय अर्थ—दुष्ट गृहपति कुमार ने अपूर्व वैद्यक शास्त्र  
बढ़ाया है जिससे (बहु) जाह फूँक का भी प्रयोग करता है और उपदेश दान का  
भी (अथवा मृत्युदान भी, मार भी डालता है) ।

उपदेश दान का तात्पर्य यह भी है कि कानों के समीप फूँक मारते समय  
संकेत स्थल की सूचना भी दे देता है । मृत्युदान से यह सूचित होता है कि प्रणयी  
वैद्य की एक-एक फूँक पर प्रेमिका के प्राण लटपने लगते ॥

अथवा उत्तरार्ध के निम्नलिखित अर्थ करें—

१ पुक्कारय नामक औपघ का प्रयोग भी करता है और प्रज्ञसिदान (उपदेशदान)

भो ( अथवा मृत्यु दान का भो ) अर्थात् दवा भो देता है और मार भो डालता है ।

२ प्रज्ञप्ति-शास्त्रज्ञ मुनियों के लिये भो पुष्कारय नामक जड़ी का ही प्रयोग करता है (जैनमुनि सच्चित्त वनस्पतियों के सेवन से विरत रहते हैं ) ।

शृङ्गार पक्ष—दुष्ट गृहपति पुत्र ने अपूर्व विद्या बताई है, जिससे वह पचाव (या पाँच) स्त्रियों के लिये भो पुरुषेन्द्रिय (लिङ्ग) का प्रयोग करता है ।

अथवा द्वितीयाध के निम्नलिखित अर्थ करें—

१ प्रपौत्रियों के लिए भो लिङ्ग का प्रयोग करता है ।

यह किसी ऐसी वृद्धा को उक्ति है जो गृहपति कुमार की गतिविधियों से असन्तुष्ट है ।

२. लिङ्ग का प्रयोग भो करता है (भोग) और उपदेश भो देता है ।

### गाथा क्रमांक ५१८

विज्जय अन्न वार मह जरओ सयरएण पन्नत्तो ।

जइ त नेच्छसि दाउ ता कि छासो वि मा होउ ॥ ५१८ ॥

वैद्यान्य वार भ्रमज्वर शतरयेण (शतरत्नेन) प्रसन्न ।

यदि तन्नेच्छसि दातु तत् कि तक्रमपि (पदशोतिरपि) मा भवतु ॥

—रत्नदेवसम्मत सस्कृत छाया

चिकित्सार्थ प्रभी वैद्य के उपस्थित होने पर कामज्वर-भीडिता नायिका की सम्बन्धीति है । टीकाकार रत्नदेव सूरि के अनुसार श्लिष्ट पदों के अर्थ निम्न लिखित हैं—

सयरयेण = १ औषधेन

२. शतस्य रत्नम्

छासो = १. तत्रम्

२ पदशोति

पन्नत्त<sup>१</sup> का कुछ भी अर्थ नहीं दिया है । अंग्रेजी अनुवाद में भी उपर्युक्त अर्थों को स्वीकार किया गया है । प्रो० पटवर्धन रत्नदेव की व्याख्या में 'शतस्वरत्नम्

१ पन्नत्त शब्द के अर्थ के लिये गाथा सख्या ५१२ का अवसोरन कीजिये ।

और 'पटशीति' में निहित तर्क-शृङ्खला नहीं जोड़ सके हैं। दोनों टीकाकारों ने 'सयरय' को औषध विशेष बताया है परन्तु वह औषध विशेष क्या है—इसका पता नहीं है। अतः मैं उस अर्थ की अपेक्षा न करके अन्य व्याख्या दे रहा हूँ—

सयरयेण = १. शयस्य हस्तस्य रयेण रजसा ताम्रिक विभूत्या वैद्यक प्रसिद्ध ताम्रादि भस्मना वा ( पञ्चसाध शय पाणिरित्यमरः ) हाथ की धूल, जिसका आशय भस्म या आयुर्वेदीय भस्म से है। यह विदग्ध नायिका की वक्रमणिति है।

२ सौ समोग। ( शृङ्गार-पक्ष )

अथवा शय का अर्थ स्व है ( पाइसहमहणव )। इस प्रकार 'सयरयेण' का अभिप्राय अपने द्वारा दो हुई भस्म या आयुर्वेदीय भस्म से है। रक्त-सुवर्णादि-भस्मों के साथ-साथ झार-पूँक वाली भस्मों से भी रोगों का उपचार होता है। उपर्युक्त सरणि से उपचार और शृङ्गार—दोनों पक्षों में सम्पूर्ण गाथा के में अर्थ होंगे—

उपचार-पक्ष—बैध। अन्ध बार मेरा ज्वर हाथ की भस्म ( या आयुर्वेदीय भस्म या तुम्हारी भस्म या भस्म ) से मारा गया था ( नष्ट हो गया था ) यदि उसे नहीं देना चाहते तो क्या मट्टा भी नहीं होगा ( मिलेगा )।

शृङ्गार-पक्ष—बैध, अन्ध बार मेरा ज्वर सौ समोगों से नष्ट हो गया था, यदि उतना नहीं देना चाहते तो क्या छियासी समोग भी नहीं होंगे ?

भाव यह है कि पहली बार नायिका का कामज्वर नायक ( बैध ) के सौ बार रमण करने से दूर हो गया था, इस बार वह छियासी ( चौदह कम ) ही चाह रही है।

गाथा क्रमांक ५२०

मोत्तूण वालतत तह य वसीवरणमतततेहि।

सिद्धत्येहि महम्मड तदणो तरणेण विज्जेण ॥ ५२० ॥

गाथा में स्थित महम्मड शब्द को ग्रीका में चटुत करक भी रत्नदत्त ने कोइ अर्थ नहीं दिया है। प्रो० पटवर्धन ने इसकी छाया 'प्रहृष्यते' की है। उनके अनुसार हम्महन् का घात्वादेश है और त्रिया के आदि में विद्यमान 'म' प्र उपसर्ग है। परन्तु प्र उपसर्ग के स्थान पर म का प्रयोग अस्वाभाविक और नियम विन्ध

है। संभव है, लिपि-कर्त्ताओं ने 'पहम्मइ' को महम्मइ' लिख दिया हो। यहाँ समस्या आदिबर्तों में की है, क्योंकि प्राकृत में हम्मइ किया ही होती है, महम्मइ नहीं। गाथा पर अपभ्रंश का प्रभाव मान कर इस समस्या का समाधान अन्य प्रकार से भी हो सकता है। अपभ्रंश में प्रतिपेक्षार्थक अव्यय मा के स्थान पर प्रायः म हो जाता है। प्रतिलिपिकारों के प्रमाद से 'म हम्मइ' का 'महम्मइ' हो जाना निदान्त स्वाभाविक है। किया का लट लोडर्थक है (व्यत्ययश्च ४।४४७)। अब गाथा का अर्थ इस प्रकार है—

इस तरुण वैद्य के द्वारा यह तरुणी बालातन्त्र (स्त्रीरोगशास्त्र) को छोड़ कर ऐसे पीतसर्पों (पीली सरसों) से मृत मारी जाय, जो बलीकरण करने वाले मन्त्र-तन्त्रों से युक्त है (या बलीकरण करने वाले मन्त्री-तन्त्रों के साथ पीत सर्पों से मृत मारी जाय)।

क्रिया का लडर्थ (वर्तमानकालिक अर्थ) भी ग्राह्य है। किसी प्रीति-ज्वर-पीडिता बाला की चिकित्सा बालातन्त्रोक्त उपायों से हो रही थी। न उसका मो-साह-पूँक करने वाला तरुण वैद्य-उपचारार्थ बुलाया जाता था और न उनकी व्याधि ही दूर हो रही थी। इस रहस्य को जानने वाली सहेली की उक्ति है—

बालातन्त्रोक्त उपायों को छोड़ कर यह तरुण वैद्य के द्वारा अग्निमन्त्रित सर्पों से नहीं मारी जा रही है (अर्थात् जिस उपाय से व्याधि छोड़ेगी, वह नहीं हो रहा है)।

### गाथा क्रमांक ५२१

अग्न च रुद्ध इच्चिय मज्ज पिपासाइ पूरियं हिययं ।

नेहसुरयत्त्यगे तुह सुरय विज्ज पडिहाइ ॥ ५२१ ॥

अग्न (अन्यत्) ॥ रोचत एव, मम पिपासया (प्रियाशया) पूरित हृदयम् ।

स्नेहसुरताम्रिज्ञे तव सुरत वैद्य प्रतिमाति ॥

—रत्नदेव सम्मत ससृष्ट छाया

यह भी जार के उपचारार्थ उपस्थित होने पर अनग-ज्वर-पीडित कामिनी की उक्ति है। पद्य का उत्तरार्थ रत्नदेव-द्वारा अध्यास्यात्तु है। उन्होंने ससृष्ट छाया मात्र दी है। उस छाया में श्रेय की कोई समावना नहीं मूचित होती है।

१ इस गाथा के उत्तरार्थ का अनुवाद श्री पटवर्धन ने नहीं किया है।



अंग्रेजी अनुवादक भी श्लेष का निर्वाह करने में असमर्थ है। उन्होंने उत्तरार्ध की अस्पष्टता को धोपणा करते हुए लिखा है कि 'नेहमुरय' का अर्थ कदाचित् 'स्नेह प्रचुररत' है। प्रणय-पक्ष में अन्न की व्याख्या 'अन्य' करते हुए उनका अभिमत है कि यहाँ नपुंसक लिङ्ग अन्यत् शब्द पुलिग अन्य के अर्थ में प्रयुक्त है।<sup>१</sup> इस विद्वत् एव शिल्प गायक की व्याख्या यह है—

शब्दार्थ ( उपचारपक्ष )—अन्न = अन्न ( अनाज )

पियासा = पिपासा, प्यास

नेह ( न+इह ) यहाँ नहीं, यह शब्द संस्कृत से सीधे प्राकृत में ले लिया गया है।

मुरय = मुष्ट रक्षासि यस्मिन् अर्थात् घुग्घुक्त या भलिना यह शब्द विरहिणी नायिका के धारीरिक सस्काराभाव-जनित मालिन्य का व्यञ्जक है।

न पहिहाइ = ( न प्रतिभाति ) नहीं जान पड़ती अर्थात् उसका पता हो नहीं लगता है।

मुरय = ( मु+रजम् ) सुन्दर घुल अर्थात् ममूत या आयुर्वेदीय भस्म।

अन्त्य ( अन्ल+य ) यहाँ 'य' स्वाधिक 'क' का रूप है। अन्त्य का अर्थ है, आर्द्र। यह देशी शब्द है।

प्रणय-पक्ष—अन्न = अन्यत् किम्पि वस्तु, अन्य कोई वस्तु।

पियासा ( प्रियासा ) = प्रिय की आशा ( चाह )।

मुरय ( मु+रय ) = १. अत्रिक वेग

( मुरत ) = २. मीथुन

पहिहाय ( प्रतिभाति ) = रचता है, अच्छा लगता है।

नेह ( स्नेह ) = प्रेम

गायार्थ—( चिकित्सापक्ष ) हे वैद्य, मुझे अन्न नहीं रचता, मेरा हृदय प्यास से भरा है। इस मन्त्रि ( घृष्ट भरे ) और प्रन्वैद से आर्द्र शरीर में तुम्हारे ममूत या आयुर्वेदीय भस्म का पता नहीं लगता।

प्रणय-पक्ष—हे वैद्य ! अन्य कोई वस्तु रचती हो नहीं, मेरा हृदय प्रिय की

चाह ( आशा, तुष्णा ) से भरा है । प्रणय के प्रवेग से आर्द्र अग ( योनि ) में तुम्हारा मँगुन रुचता है ।

गाथा क्रमांक ५२४

धुत्तोरयस्य कज्जे गहिराणि परोहडाइ वच्चतो ।

धम्मिय सुरगकाओ कुरयाण वि नवरि चुक्किहिसि ॥ ५२४ ॥

धत्तुरकस्य ( धूर्तरतस्य ) कार्ये गभीरान् गृहपश्चाद्भ्रूणान् व्रजन् ।

धामिक सुरङ्गकान् कुरवकेभ्योऽपि ( कुरतेभ्योऽपि ) केवल भ्रतिष्यसि ॥

श्रीपटवर्धन-स्वीकृत संस्कृत छाया

रत्नदेव ने सुरङ्गा, कुरवक और धत्तुर—तीनों को पुष्पवाचक माना है और उत्तरार्ध की व्याख्या में लिखा है—

क—सुरङ्गाकार्ये कुरवकाण्यपि चुक्किहिसि न प्राप्स्यसि ।

ख—सुरतकार्ये कुरतान्यपि न प्राप्स्यसि ( शृङ्गार-पक्ष ) ।

टीका का आशय यह है—

अरे धामिक, धत्तुरे क लिये घर के पीछे के भागों में भटकते हुये तुम सुरगा के लिये कुरवकों से भी वचित रहोगे ( धूक जावोगे ) ।

शृङ्गारपक्ष—धूर्तर-रत के लिये भटकते हुए तुम सुरत के लिये कुरतों से भी वचित रहोगे ( सुरग = सुरत ) ।

अग्नेश्री अनुवाद इस प्रकार है—

क—तुम सुरगक और कुरवक से भी वचित रहोगे ।

ख—तुम सुरगक ( सुरत ) और कुरत से भी वचित रहोगे ।

प्रथम व्याख्या में दोष यह है कि पूर्वार्ध में जब एक बार धामिक की व्रज ( भ्रमण ) का प्रयोजन 'धुत्तोरय' को बताया गया है तब उत्तरार्ध में पुनः सुरगा ( जब कि मूल में सुरगक शब्द है ) को प्रयोजन के रूप में उपन्यस्त कर, उसके लिये कुरवक से वचित रह जाने की चेष्टा करना कोई अर्थ नहीं रखता है । साथ ही पष्ठान्त 'धुत्तोरय' से सप्तम्यन्त 'कज्जे' का अन्वय करना तो स्वाभाविक है परन्तु सुरगकाओं से उसको सम्बद्ध करना व्याकरण की स्पष्ट अवहेलना है ।

द्वितीय व्याख्या में दोनों पक्षों की मित्र विभक्तियाँ बाधक हैं । एवीन्द्र अग्नेश्री टिप्पणी में लिखा है—

We should expect सुरगकाओ कुरयात वि (पृ० ५२३) परम्पु सगोमन अनावश्यक है। 'कुर्यात' और 'सुरगकाओ' में समानान्तरकरण न होने से कोई शक्ति नहीं है। अर्थ इस प्रकार करें—

सुरगकाओ (सुरङ्गकाओ) = १ सुन्दर वर्ण से (रङ्ग = वर्ण, रग)

२ सुन्दर आनन्द से (रङ्ग = आनन्द)

गाथा में कुर्यात की दृष्टि पचमो का अर्थ दे रही है। कुर्यात शब्द सुरत का विपरीत अर्थ प्रकट करता है। सुरत का सायंकला तन्पादि की सुखमता में हो है। सुरत (कुर = पुष्पो, रत = रमण) तो नगी एव कजोर मूँच पर व्यभिचारियों के गरा किमी बीहड़ स्थान पर छिप कर किया जाता है। अब पुरो गाथा का अर्थ में प्रकाश हो जायेगा—

अरे पुजारी, (धार्मिक) धतूरे के लिये घर के पीछे गभीर (गहरे) भागों में टकते हुये तुम केवल कुरवकों के सुन्दर वर्ण से भी वचित रह जाओगे (अर्थात् नन्द रग वाले कुरवक-पुष्प भी तुम्हें नहीं मिला पायेंगे। केवल यही लाभ इस मण से मिलेगा। यह व्यर्थ है)।

शृङ्गारपक्ष—अरे पुजारी, घूर्तास्त (घूर्ता या विदग्ध स्त्री के साथ रमण) के ये घर के पीछे के गहरे भागों में घटकते हुये तुम कुत्तों (पुष्पो पर की जाने ली कुत्तित रति) के आनन्द से भी वचित रह जाओगे।

गाथा क्रमांक ५३८

चदणवलिय दिदकचित्रवण दोहर सुपरिमाण।

होइ घरे साहीण मुमल धन्नाण महिलाण ॥ ५३८ ॥

अग्रणी टिप्पणी में लिखा है—

'चदणवलिय' The sense of this expression is obscure (५२८) अग्रणी अनुवाद में (पृ० ३४९) 'चदणवलिय' और 'दिदकचित्रवण' कुछ भी अर्थ नहीं दिया गया है। व्याख्यात्मक टिप्पणी में यह चलेख है—

“क्या चन्दन का अर्थ छोटा या अन्य कोई धातु है?”

उक्त पदों में अर्थ इस प्रकार है—

चदणवलिय = १. चदण चदणकट्टेण वलिय रदय अर्थात् चन्दन की लकड़ी से निर्मित (रचित) (वल = उत्पन्न होना, दक्षिण पारमपद-

महर्षय) अहवा चदणणामधिज्जेण रमणेणा वलिय जडिय  
अर्थात् चन्दन नामक रत्न से जडा हुआ ।

२. चदणेण चच्चिय अर्थात् चन्दन से चचित । यह अर्थ  
शृङ्गार-पक्ष में ग्राह्य है । विलासी तरुण अपने अंगों में  
चन्दन लगा लेते हैं ।

दिठकचित्रवण = १. जिसका काची-बम्बन सुदृढ है । मूसल के सिरे पर  
लगाया जाने वाला बलयाकार लोहा काची कहलाता  
है । हिन्दी में इसे सेम कहते हैं ।

२. जिसका गोलाकार अग्रभाग सुदृढ है (लिंग के अग्र भाग  
में गोलाई होती है) ।

गाथार्य—वे महिलायें धन्य हैं, जिनके घर में चन्दन की लकड़ी से बना  
हुआ, सुदृढ सेम से युक्त, दीर्घ एवं सुन्दर परिमाण (नाप) वाला मूसल स्वाधीन  
(बरा में) रहता है ।

शृङ्गारपक्ष—वे महिलायें धन्य हैं, जिनके घर में चन्दन-चचित (अर्थात्  
सुवासित), सुदृढ बलयाकार अग्रभाग वाला, दीर्घ और सुन्दर परिमाण वाला  
लिंग स्वाधीन (अपने बरा में) रहता है ।

इस अर्थ में मूसल लिंग का प्रतीक है, वाचक नहीं ।

गाथा क्रमांक ५३९

घोरगस्याइ सुंदरकचीजुत्ताइ हुति नियगेहे ।

घन्नाण महिलियाण उक्खलसरिसाइ मूसलाई ॥ ५३९ ॥

रत्नदेव ने 'घोरगस्याइ' का अर्थ 'स्थूल दीर्घाणि' लिखा है, फिर भी प्रो०  
पटवर्धन ने पुनरुक्ति दोष (Tautology) का उल्लेख किया है (पृ० ५२९) परन्तु  
विवक्षा और प्रकरण ने अनुसार यहाँ उक्त पद के मित्र-भिन्न अर्थ हैं—

घोरगस्य = १ स्थूल (मोटा) और लम्बा (गुरु)

२ थोड़े वजन का अर्थात् हल्का । यहाँ गुरु का अर्थ वजन है ।  
भारी वजन वाला मूसल कष्टप्रद होता है । घोरगस्य  
अवधी में स्वल्प के अर्थ में खूब प्रचलित है । अपभ्रंश  
काव्यों में इसी अर्थ में 'थोडा' का प्रयोग हुआ है—

कहो बि गहंडु तुरगम कामु बि । थोट्ट कहो बि दिगार राहासु बि ॥

—पञ्चमचरित, जुज्जाकड, ६२।१५।६

पिय हउं थक्री सयलु दिणु, तुहु विरहमि किलत ।

थोट्ट जल जिमि मच्छलिय, तल्लोविस्ति करति ॥

—कुमारपाल प्रतिबोध

माया मिल्लही थोडिय बि, दूसइ धरित विमुदु ।

कजिम विमुदु बि तुहइ, मुदु बि गुलियड दुदु ॥

—सावयधम्म बोहा

मूर्धन्य वर्ण इ के स्थान पर उसके सजातीय र का हो जाता अस्वामादिक नहीं है । 'योर-मध्य' के उपर्युक्त दोनों अर्थों में प्रथम उस स्थिति में प्राह्य है जब मायिका स्वस्थ एवं बलवती हो । तृतीय अर्थ कृष्णकाय महिला के प्रसव में स्वीकार्य होगा ।

गायार्थ—घन्यमहिलाओं के अपने घर में मोटे और लम्बे (या थोड़े बजन वाले) सुन्दर लौह बलय (सेम) से युक्त और सदृश (ओखली) के अनुरूप मुसल रहते हैं ।

शृङ्गारपद्म—घन्यमहिलाओं के घर में मोटे और लम्बे (या थोड़े लम्बे अर्थात् छोटे) सुन्दर बलयाकार अग्रभाग वाले और योनि के अनुरूप लिंग सुलभ रहते हैं ।

इस अर्थ में सदृश और सुलभ क्रमशः योनि और लिंग के प्रतीक हैं ।

गाथा क्रमांक ५४८

रज्जति नेय कस्स वि रत्ता पसयच्छि न हु विरज्जति ।

दिणयरकर व्व छेया अदिदुदोसा वि रज्जति ॥ ५४८ ॥

रज्यन्ते नैव कस्मिन्नपि रत्ता प्रसृताश्चि न खलु विरज्यन्ते

दिनकरकरा इव ऋतेका अदृष्टदोषा अपि रज्यन्ते ।

—रत्नदेवसम्मत संस्कृत छाया

श्री पटवर्धन ने यह अर्थ लिखा है—

“यतुर मनुष्य किसी व्यक्ति से प्रेम नहीं करते हैं । यदि वे प्रेम करते हैं तो कभी विरक्त नहीं होते हैं । मृगलोचने ! वे बिना 'दूसरों' का दोष देखे ही प्रेम

करने लगते हैं। इसलिये वे तन सूर्य-किरणों के समान हैं जो रात को न देखकर लाल हो जाती है (साय और प्रातः किरणें प्रायः लाल हो जाती हैं)। उपर्युक्त विशेषतायें चतुर नहीं बल्कि भोले एवं निष्कपट मनुष्य में पाई जाती हैं। यह अर्थ 'वातासवरणवज्जा' में संकलित अन्य गायार्थों में वर्णित छेकों के कुटिल स्वभाव सर्वथा प्रतिकूल है। प्रस्तुत गायार्थ के पूर्व और समनन्तर सगृहीत पद्यों में छेकों को 'दुराराहा' (दुराराध्य), दुस्वाराहा (दुस्वाराध्य) कह कर उनकी कुटिलता का इन पद्यों में वर्णन है—

रज्जावति न रज्जोहि हरति हियय न दंति निदहिमय।

छेया भुयमसरिसा उसिऊण परमुहा होंति ॥

अर्थात् छेक प्रेम करावे हैं, करते नहीं, हृदय हरते हैं, अपना हृदय देते नहीं। वे भुजग के समान डँक कर पराङ्मुख हो जाते हैं। अतः उक्त अंग्रेजी अनुवाद असंगत है। छेक प्रकृति एवं प्रकरण के अनुकूल अर्थ के निमित्त कतिपय श्लिष्ट पदों की व्याख्या में किञ्चित् परिवर्तन करना पड़ेगा—विरज्जति (वि + रज्जति = वि + रज्यन्ते) = विशेष अनुरक्त होते हैं।

अदिट्टोसा (अदृष्टोसा) = न दृष्टा नावलोकिता दोषा रात्रिमे अर्थात् जिन्होंने रात्रि को नहीं देखा है। अन्यत्र भी इस शब्द की व्याख्या यों ही जायगी—

न दृष्टा दोषा दुग्गुणा येः अर्थात् जिन्होंने दुर्गुणों को नहीं देखा है।

विरज्जति = वि (अपि) = भी, रज्जति = अनुरक्त या लाल हो जाती है। यहाँ संस्कृत छाया में 'अपि रज्यन्ते' करना होगा। छेक-वस्तु में विरज्जति का अर्थ है—विरक्त हो जात है। अतः अर्थ करते समय 'वि रज्जति' को विरज्जति पढ़ना होगा।

गाथार्थ—भुजगोचने। छेकजन किसी पर अनुरक्त नहीं होत, अनुरक्त होने पर भी विशेष अनुरक्त नहीं होते। जैसे रात्रि को न देखने वाली भी रात्रि किरणें (रश्मि रश्मि) रक्त (रक्त) हो जाती है, वैसे ही छेकजन कोई दोष देखे बिना विरक्त हो जाते हैं।

'अदिट्टोसा विरज्जति' में रश्मि और दोष के लिंगों के आधार पर लक्षणादिका व्यवहार समारोपात्मक समारोहित है। छेक-वस्तु में दोष दर्शनरूप कारणभाव में भी विरक्ति रूप-कारणोत्पत्ति के कारण विभावना है।

गाथा क्रमांक ५५०

रञ्जावति न रञ्जहि दैति असोक्ख न दुन्निखा होति ।

अमुयविणय ति एहि दुक्खाराहा जए छेया ॥ ५५० ॥

यौ पटवर्धन ने 'अमुयविणय' का ठोक अर्थ देकर भी उस पर अविश्वास प्रकट किया है । उनके अर्थ का समर्थन मेदिनी कोश का यह वाक्य करता है—

विनया तु बलाया स्त्री शिष्यायां प्रणयी पुमान् ।

संस्कृतटीका में तुलसीचरण का 'अमुयमि जाण इहि' यह पाठ उद्धृत है । अनेजो टिप्पणी में इस पाठ का अर्थ अस्पष्ट बताया गया है । यदि निम्नलिखित उग से सोचें तो इसका कुछ अर्थ निकल सकता है—

'अमुयमि' को 'अमुये मि' पढ़िये । 'अमुये' का अर्थ है—है मूल । 'मि' अवि या वि (संस्कृत अवि) का अपभ्रंश रूप है (देखिये शास्त्रमहर्षिणाद) । अवि या वि का प्रयोग पादपूर्ति के लिये होता है । पठमचरित्र के निम्नलिखित पद में 'वि' का कोई अर्थ नहीं है, वह केवल पादपूर्ति के लिये ही आया है—

जद पदम जिणरहो वि हु, भमिहि मयरे सुवप्परिक्किणो ।

ता होही जाहारो नियमा पुण अणत्थण मत्त ॥ —८।१४९

जब उत्तरार्ध का यह अर्थ कर सकते हैं—

'अरी मूलें ! इस समय जगत में छेकवन दुरायध्य हैं'—(यह) जान लो ।

गाथा क्रमांक ५५५

अत्तासत्ते वि पिए अहिमयर आयर कुणिज्जासु ।

उद्धच्छि वेयणाइ वि नमति चरियाइ वि गुणेहि ॥ ५५५ ॥

इसकी संस्कृत छाया यह दो गई है—

अन्यासत्तेऽपि प्रियेऽधिकतरमादर कुर्वीया ।

ऊर्ध्वशि वेदना अपि नमन्ति चरिता अपि गुणै ॥

परन्तु तुलसीमान्त 'वेयणाइ' को वेदना और 'चरियाइ' को चरिता कैसे समझ लिया गया ? श्लेषवर्धन के अनुसार यहाँ श्लिष शब्द है और उत्तरार्ध का भाव विलुप्त स्पष्ट नहीं है (पृ० १३४) । संस्कृत टीका में उक्त शब्दों पर विशेष प्रकाश नहीं डाला गया है । 'चरियाइ वि गुणेहि' का पिण्डितार्थ 'चरित्रगुणै' अवश्य लिखा है । उपर्युक्त गाथा के द्वितीयाध की संस्कृत छाया यों होगी—

ऊर्ध्वासि वेदनया अपि नमन्ति चर्याया अपि गुणं ।

शब्दार्थ—वेदना = ज्ञान ( वेदना ज्ञानदु खयो — मेदिनी )

चर्या = चरित्र

पूर्ववर्ती टीकाकारों ने वेदना का अर्थ दुःख किया है ।

अर्थ—विशाल लोचने । अन्य रमणी में आसक्त होने पर भी प्रिय का अधिक-तर आदर करना, क्योंकि लोग ज्ञान से भी झुक जाते हैं ( विनम्र हो जाते हैं ) और चरित्र के गुणों से भी ।

गाथा में किसी को विमल बनाने के दो हेतु बताये गये हैं—ज्ञान और चरित्र । नायिका को चरित्र-गुण ( आदर ) युक्त होने का सुझाव दिया गया है ।

गाथा क्रमांक ५६१

वण्णद्धा मुहरसिया नेहविहूणा वि लग्गए कठ ।

पच्च्छा करइ वियार बलहट्टयसारिसा वेसा ॥ ५६१ ॥

रत्नदेव ने द्वितीय चरण की छाया में की है—

स्नेह विहीनापि सगति कष्टम् ।

इसकी सस्मृत टीका यह है = “स्नेह विहीनापि तैलादिरहिना कण्ठे तालुनि सगति, अतिदुःखात्तस्या ।” गाथा में वेश्या की तुलना चने की रोटी से की गई है । टीकाकार ने अर्थ ठीक-ठीक ही दिया है परन्तु सस्मृत छाया दोष-पूर्ण है । ‘नेह विहूणा विलग्नए कठ’ में ‘वि’ विरोध सूचक अव्यय है जो वेश्या पर भी सार्थक है, क्योंकि वह प्रेमरहित होने पर भी गले से लिपट जाती है । चने की रोटी की स्थिति मित्र है । ‘स्नेह विहीन ( तैलादिरहित ) होने पर भी कठ में लग जाती है’—इस वाक्य में ‘ओ’ के द्वारा विहीन स्नेह होना और वण्णद्धा का विरोध सूचित हो रहा है । उससे यह अर्थ निकलता है कि यद्यपि स्नेही होने पर चने की रोटी को गले में नहीं लगना चाहिये ( या अटबना चाहिये ), फिर भी वह लगती है । यह वर्णन अनुभव विरुद्ध है । तथ्य यह है कि घी या तेल लगा देने पर चने की रोटी सरलता से गले के नीचे उतर जाती है, अटबती नहीं है । ऊपर उद्धृत टीका वाक्य से स्पष्ट प्रकट होता है कि जगमें चने की रोटी के अर्थ करते समय ‘वि’ को विन्मुख छोड़ हो दिया गया है । चने की रोटी के दान में अर्थ करते समय ‘वि लग्गए’ को ‘विलग्नए’ पढ़ना होगा—



विलग्न = विलयति अर्थात् विलोप रूप से लग जाती है  
( या अटक जाती है )

इन अर्थ में 'वि' अपि का प्राकृत रूप नहीं है । यह वि उपमग है ।

### गाथा क्रमांक ५६२

सहइ सलोहा घणघायताडण सह य बाणसवध ।

पुठिब्व पठरकुडिला वेस्सा मुट्ठोइ सवहइ ॥ ५६२ ॥

सहते सलोमा ( सलोहा ) घनघाउताडन तथा च बाणसम्बन्धम् ।

सदशिकेव प्रचुरकुटिला वेश्या मुट्ठया सवहति ॥

—रत्नदेवसम्मत संस्कृत छाया

यहाँ बाण संरचना के समय कठोर घनाघात सहन करने वाली सैंडलो और वेश्या की तुल्यता का स्तिष्ट शब्दों में प्रतिपादन है । संस्कृत-टीका में 'सलोहा' की उभयपक्षीय व्याख्या कर दोष पदों की छाया भाग दे दी गई है । श्रीपटवर्धन ने स्तिष्ट-पदों के निम्नलिखित अर्थ दिये हैं—

सलोहा = १—सलोमा ( वेश्या-पक्ष )

२—सलोहा ( सदशिका पक्ष )

घणघायताडण = १—घनों के आघातों की पीडा (सदशिका-पक्ष)

२—समोगजन्य मुट्ठ निष्पीडन ( वेश्या-पक्ष )

बाणसंबंध = १—बाण का सम्बन्ध ( सदशिका-पक्ष )

२—लिंग का सम्बन्ध ( वेश्या-पक्ष )

पठरकुडिला = १—प्रचुरकुटिला ( सदशिका-पक्ष )

२—व्यवहार में कुटिल ( वेश्या-पक्ष )

सवहइ = १—वेश्या केवल घृसा मारती है या घूमे से

जोती जाती है । ( वेश्या-पक्ष )

२—

।

यहाँ मुटि का अर्थ न तो घृसा है और न सवहइ का अर्थ विजित होना ही है । लिंग बाण का अभिवेध नहीं, आहार्य अर्थ है । अंग्रेजी अनुवादक ने कदाचित् याकार मादृश्य के बल पर ही उसका यह अर्थ किया है परन्तु श्लेष गुल प्रेरितया बाण और बाण ( वान ) की अभेद कल्पना अधिक सुकर एवं समोचीन है ।

‘पटर कुटिला’ का अर्थ अपूर्ण है। अब उपर्युक्त पदों की यथार्थ व्याख्या नीचे की जा रही है—

बाणससवध = १—बाण ( शर ) का सम्बन्ध बाणों बाणों या सम्बन्धों यस्य, यह ताडन का विरोध है जो बाणों से सम्बद्ध है ( सदसिका-पक्ष )

२—बाण ( दण्ड या नीरस ) का मर्ग ( वेश्या-पक्ष )

पटरकुटिला = १—प्रचुर कुटिल ( सदसिका-पक्ष )

२—पौर कुटिल अर्थात् पौरजनों के प्रति कुटिल व्यवहार करने वाली ( वेश्या-पक्ष )

मुट्टी (मुष्ट्या मुष्टे वा) = मुट्टी से

स ( स्वम् ) = धन

बहइ = से लेती है ( वेश्या-पक्ष )

मुट्टइ सवहइ (मुष्ट्या सवहति) = मुट्टी में बहन करती है या मुट्टी में रखती है ( अर्थात् अपनी पकड़ में रखती है ) (सदसिका-पक्ष )

गाथा का अर्थ यह है—

जैसे लोह-युक्त प्रचुर कुटिला सदसिका ( मँहमी ) बाणों से सम्बन्धित, कठोर धनों का आघात सहती है और उस बाण की अपनी पकड़ ( मुट्टी ) में रखती है, वैसे ही लोभयुक्त एवं पौरजनों से कुटिल व्यवहार करने वाली वेश्या ममोन्मत्त सुन्दर अग निष्पीडन एवं नीरस ( दण्ड ) जनों के समर्थ का सङ्गन करती है और ( वेश्यागामियों की ) मुट्टी से धन से लेती है।

गाथा क्रमांक ५६३

जाओ पिय पिय पद एकर विज्जाइ त चिय पलित ।

होइ अवरट्टिओ च्विय वेमामत्यो निगमि छ ॥ ५६३ ॥

इसमें तुलानि और वेश्यागम्यों के साम्य का वर्णन है। टीकाकारों ने इन प्राकृत की रसकृत छाया इस प्रकार दी है—

१ हैम प्राकृत व्याकरण, ३।२९

यात प्रियं प्रिय प्रति एक निर्वापयति तमेव प्रदीप्तम् ।

भवत्यपरस्थित एव वेश्यासार्यस्तृणान्निरिव ॥

इरा अराधनार्थ छाया से वेश्यासार्य और तृणान्नि—दोनों पदों से सम्बद्ध अर्थ एव श्लेषजन्य चमत्कारातिशय का सम्यक् स्फुरण सम्भव नहीं है । प्रो० पटवर्धन को इसकी व्याख्या में पर्याप्त आकर्षण और विकर्षण करना पड़ा है । उन्होंने विलष्ट पदों के ये अर्थ दिये हैं—

त पलितं चिय विज्ज्ञाह = १—फूस की भाग जैसे ही लगती है वैसे ही एक के बाद दूसरे तृण को बुझा देती है ।  
( अग्निपक्ष )

२—जैसे ही उनमें प्रणय या आसक्ति की भाग लगती है वैसे ही एक के बाद दूसरे वेश्या—प्रेमी को नष्ट कर डालती है । ( वेश्या-पक्ष )

‘विज्ज्ञा’ क्रिया का वेश्या-पक्ष में कोई सगत अर्थ न बैठने के कारण उन्होंने लिखा है—

The root विज्ज्ञा is used here in the metaphorical sense ‘to destroy or to ruin’ अर्थात् यहाँ विज्ज्ञा का आरोपित या ध्वनित अर्थ है, नष्ट कर देना । रत्नदेव ने ‘त चिय पलित’ को ‘त चिय अपलित’ समझ कर व्याख्या की है । परन्तु ये विलष्ट कल्पनायें प्रकृत-पदों में स्थित निगूढ़ श्लेष को न समझने के कारण की गई हैं । उचित गाथा की संस्कृत छाया इस प्रकार होगी—

यात प्रिय प्रिय ( यातोऽप्रिय प्रियम्<sup>१</sup> ) प्रति एक विध्यापयति ( विध्यामाति ) तदेव ( तमेव ) प्रदीप्तम् ( प्रलितम् ) ।

भवत्य परस्थित एव ( भवत्यवरस्थित एव ) वेश्यासार्यस्तृणान्निरिव ॥

तृणान्नि-पक्ष में ‘विज्ज्ञाह’ की छाया विध्यापयति पादयसद्महृण्यव

१ प्राकृत व्याकरण में सर्वत्र बहुलाधिकार से यह प्रयोग सिद्ध है । यद्यपि ए और ओ के पदान्तात् अ के आने पर प्रायः सन्धि नहीं होती है तथापि संस्कृत से सीधे श्लेषार्थ शब्द निष्पन्न करने में कोई बाधा नहीं है ।

के आधार पर दी गई है। वस्तुतः आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार वि उपसर्ग पूर्वक इन्द्र धातु के संयुक्त वर्ण 'न्ध' के स्थान पर श होता है—

इन्धो श—हेम सूत्र, २।८

पुन द्वित्व (अनादौ शोपादेशयोद्वित्वम्—२ । ८९) एवं पूर्ववस्थित झकार के स्थान पर जकार हो जाने (द्वितीयतुर्ययोरुपरि पूर्व—२।९०) के अनन्तर 'ह्रस्व' संयोगे—इस सूत्र से ह्रस्वादेश करने पर विज्ञा तथा 'स्वराणां स्वरा' (४।२३८)—इस सूत्र से दीर्घत्वविधान करने पर विज्ञा क्रिया निष्पन्न होगी, जिसका अर्थ है बुझाना। अतः 'विज्ञाश्' की (तूणान्नि-पक्ष में) हेमचन्द्रसम्मत छाया 'वीन्धे' है। अनेक विद्वान् 'विज्ञाश्' की छाया विष्माति' करते हैं, जिसे केवल रूपान्तर कहा जा सकता है। 'त चिप' की, श्री पटवर्धन कृत छाया 'तमेव' स्वीकार करने पर नपुंसक तूण के साथ उसका अन्वय कठिन हो जायगा।

साम्बार्थ—विध्यापयति (वीन्धे) = बुझा देती है (तूणान्नि-पक्ष)

विध्यायति = वि + ध्यायति, चिन्तन नहीं करती है, अर्थात् उपेक्षा करती है।

यह वि उपसर्ग अभाव-द्योतक है। (वेद्या-पक्ष)

एकम् = १-केवलम्

२-श्रेष्ठ—एकोऽयं केवलः श्रेष्ठ सख्या कलकोऽपविष्टयो  
—अनेकार्थ सप्रह

पलित = १-प्रदीप्त

२-प्रज्वलित, पूर्णतया लित या आमक्त (वेद्या-पक्ष)

अवरट्टिय = १-अपरस्थित, अन्य में स्थित, (तूणान्नि-पक्ष)

२-अवरस्थित, अधम जन में स्थित अर्थात् नीच जनो  
में आसक्त (वेद्या-पक्ष)

जात्रो पिय पियं पइ = इष्ट-इष्ट के प्रति गया हुआ (तूणान्नि-पक्ष)। वेद्या-पक्ष में इसकी संस्कृत छाया 'जातोऽप्रिय प्रिय प्रति' होगी। इसका अर्थ है—अप्रिय प्रेमी के प्रति गया हुआ प्रिय और अप्रिय-दोनों के प्रति गया हुआ।

मावार्थ—जैसे तूण की आग इष्ट-इष्ट (प्रिय) तूण के निरुद्ध जाती है एवं उस प्रज्वलित मात्र तूण को तुरन्त बुझा देती है (जलते हों बुझा देती है)

और अन्य तृण में स्थित हो जाती है ( रग जाती है ) वैसे ही वश्या समूह अवाञ्छित प्रेमी के निकट जाता है एवं उसी पूर्णतया आसक्त श्रेष्ठ पुरुष की उपेक्षा ( अचिन्तन ) करता है तथा अघम नरो में स्थित हो जाता है ( अघम मनुष्यों से सम्बन्ध जोड़ लेता है ) ।

गाथा क्रमांक ५६४

निर्मलपवित्रहारा बहुलोहा पुलङ्गण अगेण ।  
खगलङ्ग्य व्व वेसा कोसेण विना न सवहइ ॥ ५६४ ॥  
निर्मलपवित्रहारा ( धारा ) बहुलोमा ( लोहा ) पुनक्तिनाङ्गेन  
खद्गलङ्गिकेव वेस्या कोसेन विना न सवहइ

प्रस्तुत गाथा में निविष्ट 'सवहइ' का अर्थ रत्नदेव न 'वशीभवति' लिखा है । सत्सुत टीका पर अवलम्बित अंग्रेजी अनुवाद इस प्रकार है—

जिसके हार निर्मल और पवित्र हैं, जो प्रचुर लोभयुक्त है, जिसके अंग पुरुषों से परिपूर्ण हैं, जो कोश ( धन ) के बिना वश में नहीं होती, वह वश्या उस खद्गलङ्गिका के समान है, जिसकी धारा निर्मल एवं पवित्र है, जो प्रचुर सौहृद्य-युक्त है, जो पुरुषों से परिपूर्ण ही दिखाई देती है ( प्रतिफलित किरणों के प्रकाशातिरेक के कारण ) और जो कोश ( म्यान ) के बिना वश में नहीं होती है ( या नियन्त्रित नहीं होती है ) ।

उपर्युक्त अनुवाद में 'सवहइ' क्रिया के साथ बलपूर्वक अत्याचार किया गया है । 'पुलङ्गण अगेण' का खद्गपक्षीय अर्थ, जिसमें तृतीया विभक्ति की उपेक्षा कर दी गई है, निरान्त असंगत है ।

शब्दार्थ—सवहइ = १ सज्जित होती है या तैयार होती है ( पादमण्ड-महण्यव ) ।

२. बहन करती है या धारण करती है ।

पुलङ्गण अगेण = १. पुलक्तिनाङ्गेन, पुलङ्गित अर्थों से ( वेस्यापक्ष )

२ पुलङ्ग ( दृष् ) + क्त ( अ ) = पुलङ्ग्य = दृष्ट, अव-लोकित, देखे गये या अनावृत अंग ॥ ( खद्गपक्ष )

प्राकृत में दृष् धातु को वैकल्पिक पुलङ्ग आदेश हो जाता है ( हैम सूत्र, ४।१८१ ) इस दृष्टि से अर्थ यों होगा—

जैसे निर्मल एव विज्वलक धारा वाली, प्रचुर लौहयुक्त सङ्गलतिका ( तलवार ) म्यान के बिना, दिखाई पड़ने वाले ( नये या अनावृत ) अग से ( युद्ध में जाने के लिये ) सज्जित नहीं होती है ( अर्थात् म्यान के साथ ही जाती है ) वैसे ही निर्मल एव पवित्र हारो वाली, प्रचुर-लोभ-युक्त बेस्वा, धन-राशि ( कोश ) के बिना पुलकित अगों से ( रमण के लिये ) सज्जित ( तैयार ) नहीं होती है ( अथवा द्रव्यराशि के बिना किसी को बहन ( धारण ) नहीं करती अर्थात् अगोकार नहीं करती है ) ।

गाथा क्रमांक ५६६

न गणेइ रूपवत न कुलीन नेय रूपमपन्न ।

वेस्सा वाणरि-सरिसा जत्य फल तत्य सकमइ ॥ ५६६ ॥

इसके पूर्वार्ध की छाया यों दी गई है—

न गणयति रूपवन्त न कुलीन नैव रूपमपन्नम् ।

यहाँ समानार्थक 'रूपवन्तम्' और 'रूपमपन्नम्' की उपस्थिति के कारण पुनरुक्ति दोष आ जाता है । मुद्द छाया का स्वरूप यह होगा—

न गणयति रूपवन्त न कुलीन नैवारूपमपन्नम् ।

'नैव रूपवपन्न' में सन्धावचामग्लोपविरोधा बहुलम्<sup>१</sup>—इस वररुचि सूत्र से पूर्वस्वर-लोप के अनन्तर 'नैवरूपवपन्न' पद निष्पन्न होता है । प्रो० पटवर्धन ने पुनरुक्ति के मार्जन के लिये यह समावना व्यक्त की है कि 'न गणेइ रूपवत' पूर्व सवर्ण सन्धि के परिणामस्वरूप इकारोत्तरवर्ती अकार के लुप्त हो जाने पर 'न गणेइ रूपवत' हो गया होगा । परन्तु प्राकृत में ऐसे प्रयोग दुर्लभ हैं । पाणि में अवश्य ऐसे प्रयोग मिलते हैं<sup>२</sup> । आचार्य हेमचन्द्र ने स्पष्ट उल्लेख किया है कि इकार और उकार के पश्चात् यदि क्रमशः इकार और उकार नहीं आता, कोई अन्य स्वर आता है तो मन्त्रि नहीं होती है—

न युवर्णस्यास्ये—१।६

गायार्थ—वस्वा वानरी के समान जहाँ फल ( लाभ ) होता है वहाँ जाती

१ प्राकृत प्रकाश, ४।१

२ परो मन्त्रि

है। वह न रूपवान् को गिनती है, न कुलीन को और न कुम्प (अल्प सम्पन्न) को।

### गाथा क्रमांक ५७०

सपत्तिमाद् काल गमेगु सुलहाइ अप्पमुत्ताए ।  
देउलवाढयपत्त तुट्टणसील अद्महम्प ॥ ५७० ॥

प्रो० पटवर्धन सम्मत छाया—

बाल्या काल गमय सुलभयाल्पमूल्यया ।  
देवकुलवाटकपत्र नुटनशीनमतिमहापम् ॥

रत्नदेव ने 'सपत्तिमा' का अनुवाद 'सपत्निका' देकर अन्य दुन्दुबों के साथ उसका भी भाव स्पष्ट नहीं किया है। टीका के 'हे पुत्रि सपत्निकया एव काल गमय' इस उल्लेख से सूचित होता है कि गाथा में किसी बाला के प्रति उसके हितैच्छु का उपदेश है। परन्तु कस्या प्रकरण में इस उपदेश की स्वरूपत कोई विशेष सार्थकता नहीं प्रतीत होती है। ऐसी व्याख्या करना अंधेरे में तीर फेंकना है। प्रो० पटवर्धन ने दशानाममाला के अनुसार 'सपत्तिमा' को देशी शब्द घोषित किया है और उसका अर्थ बाला या पिप्पलीपत्र दिया है। अग्नेजी टिप्पणी में पता नहीं कि 'देउलवाढयपत्त' का अर्थ कदाचित् बिन्दपत्र है। आ पटवर्धनवृत्त अग्नेजी अनुवाद इस प्रकार है—

'अपना समय पीपल के पत्तों ( या बाला पत्ती ) में बिठा दो क्योंकि यह सुलभ एवं अल्पमूल्य है। देवमन्दिरोद्यान के वृक्ष का पत्ता टूटन बाला और अति महार्घ होता है' ।<sup>१</sup>

यदि गाथा में निविष्ट दुल्लह, अप्पमुत्ताए, तुट्टणसील और अद्महम्प विशेषणों पर किंचित् सूक्ष्मता से ध्यान दें तो उपर्युक्त अनुवाद की विसंगतियाँ स्वतः उभर आयेगी। पिप्पलपत्र की सुलभता में जितना ओचित्य है उतना उसकी अल्पमूल्यता में नहीं, क्योंकि इस दश में वह बिना मूल्य भी प्राप्त हो जाता है। जिस 'तुट्टणसीलता' ( भगुरता ) 'देउलवाढयपत्त' और सपत्तिमा में धर्म-पाथवय प्रतिपादित करना कवि को अमाष्ट है, वह क्या पिप्पलपत्र में महा है ? देवमन्दिर से सम्बन्ध होना व कारण किता वाटिका के वृक्ष-पत्रों में अति-

महार्घता का गुण नहीं आ जाता, अति पवित्रता अवश्य समभव है। यदि कदाचित् कारण विशेष से महार्घता भी आ जाये तो भी अति-महार्घता असमभव है। अतः पत्र-महार्घता का हेतु देवमन्दिरोद्यान-सम्बन्ध अपार्यक है। यदि गाथा में 'पत्त' का अर्थ पत्र (पत्ता) होता तो कवि उसे 'फटने वाला' लिखता 'टूटने वाला' नहीं। यहाँ न तो 'पत्त' का अर्थ पत्र है और न 'सपत्तिया' का अर्थ विप्लव-पत्र। देशीनाममाला के साक्ष्य पर यदि 'सपत्तिया' का अर्थ वाला सुलभ भले हो हो, प्रायः बाजारों में बिकती नहीं, यदि कभी बिकती भी है तो अल्प मूल्य नहीं होती। अतएव उपर्युक्त व्याख्यायें भ्रामक एवं व्यर्थ हैं। वस्तुतः 'सपत्तिया' एक पद ही नहीं है। भ्रमवश दो भिन्न शब्दों को एक समझ लिया गया है—

१ स = स्वम् २ पत्तिया = पत्तिया = पात्री, पात्री का प्राकृतरूप 'पत्ती' होगा। स्वाधिक क (य) जोड़ने पर 'पत्तिया' हो जायगा। स्वम् का अर्थ है— अपना और पात्री का अर्थ है—वाली। गाथा के पूर्वार्ध का अन्वय निम्नलिखित होगा—

सुलहाइ अपमृल्लाए पत्तियाइ स काल गमेसु।

( सुलभयाल्पमूल्यया पात्र्या स्व काल गमय )

'देडलवाडयपत्त' का अर्थ राजमवन का पात्र (वर्तन) है। वाडय शब्द यहाँ बाटिका नहीं, भवन के अर्थ में प्रयुक्त है। वज्रजालग की भाषा पर अपभ्रंश का प्रभूत प्रभाव है। बहुत सी गाथाओं में अपभ्रंश की विभक्तियों का निःसंकोच प्रयोग किया गया है। अतः हम विवेच्य गाथा को उसी प्रभाव-परिधि में रखते हैं। अपभ्रंश में प्रायः एक स्वर के स्थान पर दूसरा स्वर हो जाता है (स्वराणां स्वरा प्रायोऽपभ्रंशे)। इस रीति से भवन वाचक सस्कृत वादी शब्द प्राकृत में 'वाडी' और अपभ्रंश में वाड हो गया। पुनः स्वाधिक क प्रत्यय (य) सयुक्त होने पर वही वाडय बन गया है। प्राकृतत्वात् लिंग भ्रम्यय के परिणामस्वरूप भी 'वाडी' का 'वाड' होना संभव है। यद्यपि मेदिनी कोश में 'कुटी वास्तुनो स्त्रियाम्' और हेमचन्द्रकृत अनेकार्थसंग्रह में 'वाटी वास्तो गृहोद्यानकुदयो' इत्यादि उल्लेखों के साक्ष्य पर कहा जा सकता है कि सस्कृत में स्त्रीलिंग वाटी शब्द ही भवनवाचक है, वाट शब्द नहीं। परन्तु ऐसी बात नहीं है, सस्कृत ग्रन्थकारों ने वाट शब्द का भी भवन के अर्थ में प्रयोग किया है—

इत्य यशोदा तमशेषशेखर मत्वा सुत स्नेहनिबद्धवीर्यम् ।

हस्ते गृहीत्वा सहाराममच्युत नीत्वा स्ववाट कृतवत्यथोदयम् ॥

—श्रीमद्भागवत महापुराण, १०।११।२०



गाथार्थ—सुखम एव अल्प मून्धवासी चाली से (या पत्रिका = पत्तल से) अपना समय बिता दो । राजमदन में प्रयुक्त होन वाले पात्र (वर्नन) टूटने वाले और बहुत मून्धवान होत है ।

धानी, पत्तल या पत्ता अपनी पत्ती का शरीर है और राजमदन का पात्र वेश्या का ।

### गाथा क्रमांक ५७६

मा जाणह मह सुहय वेस्साहियय समम्मणुत्ताव ।

सैवाललित्तपत्तरसरिस् पडणेण जाणिहिसि ॥ ५७६ ॥

मा जानीत मम सुमग वेश्याहृदय मम्मनोत्तावम्

सैवाललित्तपत्तरसरिस् पडनेन शास्वसि

—रत्नदेवसम्मत्त सङ्कृत छाया

अंग्रेजी अनुवाद इस प्रकार है—

“यह मत मोची (या विद्वान्त करो) कि विस्वासयुक्त अभ्यक्त भाषणों से परिपूर्ण मेरा वेश्या-हृदय सुन्दर है । तुम अपने पतन से जानोगी कि यह उस मस्तर के समान है जो कोई से ठक चुका है ।”

उपर्युक्त अर्थ सङ्कृत टीका के आधार पर है और उसके अनुसार गाथा किसी वेश्या को सम्बोधित की गई है । यह अनुवाद किता भी दृष्टा में उचित एवं समीपप्रद नहीं कहा जा सकता । इस प्रकार अर्थ करने पर हृदय का विशेषण ‘सम्मनोत्ताव’ (अभ्यक्त कथनयुक्त) असंगत हो जाता है, क्योंकि वेश्याहृदय मूढमविवारों का अविकरण है, मुखनिष्ठ स्मूल उल्लाषों का नहीं । श्री० पटवधन ने हृदय का अर्थ Heart लिखा है जो ठाक नहीं है । यहाँ उसका अर्थ छाती (Breast) है ।

हृदय मानसे बुद्धोरोरपि तपुसकम् ।

—मदिनी

विवक्ष्य गाथा का मूढ छाया निम्नलिखित है—

मा जानीत मम सुसुहृद वेश्याहृदय स्वमनोत्तावम् ।

सैवाललित्तपत्तरसरिस् पडनेन शास्वसि ॥

‘सम्मन’ का अर्थ मदन (शाम) है—सम्मनो मयणरेसा—

देवीनाममाला, ६।१४१

उत् उपसर्ग युक्त 'लाव' (लू + कतरि घञ्) का अर्थ है—उधाड़ने या काटने वाला । स्व शब्द आत्मीय वाचक है । 'स्वमदनोल्लाव' की व्याख्या यह है—स्वस्य स्वानुरक्तस्य जनस्य मदनोल्लाव काम—विकाराच्छेदकम् । प्रस्तुत गाथा में वेश्या के आलिंगन को ही जीवन का चरम-सौख्य समझने वाले किसी विलास-लोलुप तरुण को सचेत किया गया है ।

गाथार्थ—स्वजनो (प्रेमियो) की काम वासना का उच्छेद (उपशमन) करने वाली, वेश्या की छाती मुझे सुखद होगी—यह मत समझो । तुम अपने पतन से जानोगे कि वह शैवाल-लित प्रस्तर के समान है ।

### गाथा क्रमांक ५७९

न हु कस्स वि देति घण अस्स देंट पि तह निवारति ।

अत्था किं किविणत्था सत्थावत्था सुयति व्व ॥ ५७९ ॥

न खलु कस्यापि ददति घनमन्य ददतमपि तथा निवारयन्ति

अर्था किं कृपणस्था शास्त्रावस्था अयन्त इव

—रत्नदेवकृत सस्कृत छाया

श्री पटवर्धन न उपयुक्त छाया को गोरखधवा बताकर चतुर्थ चरण में यह परिवर्तन किया है—

स्वस्थावस्था स्वपन्तीव—और पूरी गाथा का अनुवाद यो किया है—

“वे स्वयं किसी को धन नहीं देते, देत हुये अन्य व्यक्ति को भी रोक देते हैं, तब क्या हम यह कह सकते हैं कि कृपणों के धन निश्चिन्त ( अपने में स्थित ) होकर सोते हैं ।” विभिन्न दृष्टियों से विचार करने पर यह अनुवाद उचित नहीं प्रतीत होता । गाथा में ‘व्व’ ( इव ) या तो उपमा द्योतक हो सकता है या उत्प्रेक्षा द्योतक । प्रश्नवाचक किम् शब्द की उपस्थिति के कारण उसे उत्प्रेक्षा द्योतक मानना सम्भव नहीं है क्योंकि सभावना स्वरूपतः प्रश्नशून्य होती है । प्रश्न के आविर्भाव के साथ ही उत्कटैककोटिक सन्देहात्मक सभावना व्यापार ( उत्प्रेक्षा का हेतु ) निरस्त हो जाता है । ‘किम्’ को वितर्क द्योतक मानने पर भी अर्थात् सशय की ही उपलब्धि होती है । इस प्रकार सभावना स्वयं सशय का विषय बन जाती है । अतः ‘व्व’ ( इव ) को उपमा-द्योतक मानना ही उचित है । मैं रत्नदेवकृत सस्कृत छाया को ही उपयुक्त एवं अर्थपूर्ण समझता हूँ । श्री पटवर्धन उस अव्याख्यात छाया का अर्थ नहीं समझ सके । फलतः उन्हें दूसरी छाया गढ़नी पड़ी । रत्नदेवकृत सस्कृत छाया की व्याख्या इस प्रकार है—

मातार्यं—अर्था ( अर्थ ) = १—उन

२—अभिधेय, प्रतिपाद्य विषय

सत्पावत्या ( शास्त्रावस्था ) = शास्त्रों में अवस्थित, यह पद अर्थ का विशेषण है ।

किविणत्या ( कृपणस्थाः ) = कृपण में स्थित ।

सुयति ( धूयन्ते ) = सुने जाते हैं ।

भावार्थ—कृपण किमी की भी धन नहीं देते और अन्य देते हुये व्यक्ति को रोक देने हैं । क्या उनके धन ( कृपण में स्थित धन ) शास्त्र में अवस्थित ज्ञान-तत्त्व ( अर्थ = अभिधेय, प्रतिपाद्यतत्त्व ) के समान सुने जाते हैं ?

आशय यह है कि शास्त्र में जिस ज्ञान तत्त्व का वर्णन होता है वह धृति का विषय है, चतु का नहीं । जैसे शास्त्र की कुछ-कुछ पदवर्णन का अर्थ जब बहत्तर जाड़ा है तब सामान्य जन भी केवल सुनते हैं । उस परम तत्त्व का साक्षात् अनुभव करने की क्षमता सब में नहीं रहती है, उसी प्रकार दूसरों की कर्मा का विषय बनने के लिये ही कृपणों के पास धन रहता है । उपभोग न करने के कारण वह प्रत्यक्ष दिखाई नहीं पड़ता । उपर्युक्त अर्थ में 'स्व' को प्राकृतवात् 'सत्पावत्या' में अन्वित किया गया है । यदि किं किविणत्या । ( किं कृपणस्था. = धूमिते कृपणे स्थिता ) को एक पद मान लें तो अर्थ का स्वरूप यह हो जायगा—

मानों कृतित कृपण में अवस्थित अर्थ ( धन और अभिधेय या तत्त्व ) शास्त्र में स्थित रहकर सुने जाते हैं ।

उत्तरार्थ के इस अर्थ में 'स्व' से उत्प्रेक्षा प्रकट होती है । यदि हम 'स्व' को अवधारण के अर्थ में ग्रहण करें तो पूर्वोक्त रत्नदेवकृत संस्कृत छाया के चतुर्थ चरण का किंचित् परिवर्तित स्वरूप यह हो जायगा—

शास्त्रावस्था. धूयन्त एव ।

तब उत्तरार्थ का यह अर्थ होगा—

१. पादयमदमहण्य में प्राकृत सर्वस्व के आधार पर 'स्व' को वा का रूप माना गया है । वा के अनेक अर्थों में अवधारण भी एक है । मैरिनी कोश में वा को उपमा वाचक माना गया है और यह भी बताया गया है कि यह शब्द केवल पादपूर्ति के लिये प्रयुक्त होता है ।

क्या कृपण में अवस्थित अर्थ ( धन और अमिषेय या तत्त्व ) शास्त्र में स्थित होकर केवल सुने जाते हैं ।

इस अर्थ में न उपमा है और न उत्प्रेक्षा ।

### गाथा क्रमांक ५८५

देमि न कस्स वि जंपइ उद्धारजणस्स विविहरयणाइं ।  
चाएण विणा वि नरो पुणो वि लच्छीइ पम्मुक्को ॥ ५८५ ॥  
ददामि न कस्यापि वदति उद्धारजनस्य विविवरत्नानि  
त्यागेन विनापि नरः पुनरपि लक्ष्म्या प्रमुक्तः

—रत्नदेवकृत सत्कुत छाया

रत्नदेव ने 'उद्धार' का अर्थ उद्धार लिखा है । श्री पटवर्धन ने उत् + द्वार = उद्द्वार = अद्धार अर्थात् द्वारहीन या दरिद्र—यह अर्थ किया है । अग्रजी अनुवाद इस प्रकार है—“कृपण, 'गृहहीनों को विविध रत्न देता हूँ'—यह नहीं कहता है । परन्तु फिर भी बिना दिये मनुष्य धन द्वारा त्याग दिया जाता है ।”

उपर्युक्त अनुवाद से कृपणता के अमिषेय चरमोत्कर्ष की अविकल अवगति नहीं होती है क्योंकि कार्पण्य का व्यजक दानामात्र है, जल्पनाभाव नहीं । अर्थ-श्लोक जल्पन प्रतिषेध मौनवातुत्व का भी सामक हो सकता है, क्योंकि उच्चाशय दाता सत्पात्रो को प्राज्य-द्रव्य देकर भी मौन रहते हैं, दिशेरा नहीं पीटते हैं । यदि पूर्वार्ध-प्रक्राम्त जल्पन-प्रतिषेध में विधेयत्व अभीष्ट होता तो उत्तरार्ध में 'जल्पनेन विनापि' इत्यादि कहकर उसका अनुवाद किया जाता । 'त्यागेन विनापि'—इस विरोध की परिपूर्णता के लिये पूर्वार्ध में त्यागामात्र का प्रमुखतया प्रतिपादन उचित है । अन्यथा दोनों गाथाओं में कोई सम्बन्ध नहीं रह जायेगा । गाथा का अर्थ यह है—कृपण कहता है—मैं किसी भी उद्धार ( श्रेष्ठ = सत्पात्र ) व्यक्ति को विविध रत्न नहीं देता हूँ । ( परन्तु ) दान के बिना भी मनुष्य को लक्ष्मी छोड़ देती है ।

### गाथा क्रमांक ५८७

सिरजाणुए निउत्तो उड्डो हत्थेण खणणकुसलेण ।  
कुहालेण य रहियं कह उड्डो आणए उययं ॥ ५८७ ॥

अर्थों में होने वाले, इस प्रत्यय के व्यापक प्रयोगों को अवधी के निम्नलिखित उदाहरणों से भली-भाँति समझ सकते हैं—

छोल या स्वभाव—रिसिहा (क्रोधी स्वभाव वाला)

चोंकहा ( चोंकने के स्वभाव वाला )

लतहा ( लात मारने की आदत वाला )

ललचिहा ( लालची स्वभाव वाला )

नैकट्य —गुरहा ( घूर के निकट रहने वाला )

निवास —कलकतिहा ( कलकत्ता में रहने वाला या कलकत्ता का निवासी )

पुरबहा ( पूरब का निवासी )

उतरहा ( उत्तर का निवासी )

प्रवृत्ति —टोटकहा ( जाड़-टोने में प्रवृत्ति वाला )

टोनहा ( टोना करने वाला )

रुचि —गुरहा ( गुद में रुचि रखने वाला )

भतहा ( भ्रात में रुचि रखने वाला )

नैपुण्य —ढोलिहा ( छोल मजाने में निपुण )

ढेलहा ( ढेला फेंकने वाला )

प्राचुर्य —पनिहा ( जिसमें पानी अधिक है )

ककरहा ( जिसमें ककण अधिक है )

भोनहा ( जिसमें नमक अधिक है )

पण्य —कपडहा ( कपड़ा जिसका विक्रय या पण्य है )

बरतनहा ( बर्तन जिसका विक्रय या पण्य है )

प्रहरण —लठिहा ( लाठी जिसका प्रहरण या हथियार है )

तरवारिहा ( तलवार जिसका प्रहरण है )

सस्करण—तेलहा ( तेल से सस्कृत या तेल में बनी वस्तु )

नियोग —मितरिहा ( भीतर नियुक्त )

रक्षण —घटहा ( घाट का रखक )

सुल्यता —मुरदहा ( मुरदे के समान, जैसे मुरदहा बेल )

ससृष्टि —दुषहा ( दुष से ससृष्ट )

इस प्रत्यय का दर्शन अर्वाचीन प्राकृत व्याकरणों में नहीं होता । परन्तु इसका मूल संस्कृत में सुरक्षित है—

कसम्मा वमयुत्तितुतयस —वष्टाघ्यायो, ५।२।१३८

तुन्दिल्लिवटेर्म —अष्टाघ्यायो, ५।२।१३८

उपर्युक्त सूत्रों में उल्लिखित भ प्रत्यय ही हिन्दी में हा हो गया है। संस्कृत तुन्दिम से ही अवधी का तोनिहा शब्द बना है। पाणि में भी इस प्रत्यय के अस्तित्व का पूर्ण पता है—

तुण्ड्यादोहि भो

—भोग्यस्थान व्याकरण, ४।८३

यहाँ तुण्डिम ( चौंघ वाला ) सातिम ( शालि वाला ) आदि शब्दों की निष्पत्ति बताई गई है। प्राकृत में तण्डा के अन्य स्वर का ह्रस्वादेश करने के पश्चात् हा प्रत्यय का विधान करने पर तण्डा शब्द बनेगा। संस्कृत में उसकी छाया तुण्ड्यावर्ती है। संस्कृत छाया में तुण्डका शब्द विन्य है।

गाथा क्रमांक ६००

किसिओ सि कीस केनव कि न कओ धन्नसगहो मूढ ।

कतो मणपरिओसो विमाहिय भुजमाणस्त ॥ ६०० ॥

असितोअमि कस्मात् केराव कि न कुओ धम्मामहो ( धान्यसग्रह ) मूढ

कुओ मन्न परिओसो विपाखिका ( विपाधिक ) भुज्जानस्य

—श्रीपटवर्धनसम्मत संस्कृत छाया

अमेजी अनुवाद यों है—

केराव, क्यों दुर्बल हो ? अरे मूढ । क्यों तुमने धान्य-सग्रह नहीं किया ? ( श्लेष-द्वारा—क्यों तुमने सुन्दर रमणियों का सग्रह नहीं किया ? ) जो व्यक्ति हानि-प्रद पदार्थ का भोजन करता है ( जो वस्तु विषयुक्त हानिकर है ) उसे कैसे मानसिक सम्तोष हो सकता है ? ( श्लेष-द्वारा—जो व्यक्ति विशाला नामक गोपी के साथ सम्भोग करता है उसे कैसे मानसिक सम्तोष हो सकता है ? )

टिप्पणों में लिखा गया है कि इस भाषा के पूर्वार्ध में प्रश्न और उत्तरार्ध में उसका उत्तर है। यह उत्प्रेक्ष्य प्रमज्जित है। पूर्वार्ध में कृशता और धान्य-सग्रहामाव का हेतु पुछा गया है और उत्तरार्ध में बताया गया है, मानसिक-तृप्त्यामाव का हेतु विपाधिक भोजन, जो अपृष्ट-प्रतिवचन होने के कारण सम्त प्रणयक है। त्रिजीविष्य रहने पर किसी भी अनुन्मत्त मनस्तुतिकामी पुरुष का जान-बूझकर विपाधिक भोजन करना उचित रहित एवं अवम्बव है। भोजन की विपाधिकता गरण का हेतु है, मनस्तोषामाव का नहीं। विष को

प्राह्य एव आपातत सुसिकारक बनाने के लिये ही उसे भोजन या गुठादि में मिला दिया जाता है। वस्तुतः भोजन की अनास्वाद्यता या रूक्षता मनस्तोषामात्र का हेतु है। गायत्रा में उसी का उल्लेख अपेक्षित है। रत्नदेवसूरि ने भोजन-पत्र में 'विसाहिय' की छाया 'विसाधितम्' की है ( वि + साधितम् = अनिष्यन्, अपरिपक्व या उचित रीति से न बनाया हुआ )। वही शुद्ध भी है क्योंकि कच्ची ( अघपकी ) रसोई विवशता की स्थिति में भले ही ग्राह्य हो जाय, सन्तोषप्रद नहीं हो सकती है। सूक्ष्मदृष्टि से पर्यालोचन करने पर 'किसिओ' के अन्तराल से भी साक्षित हुये श्लेष की झलक मिलती है—

किसिओ = १ कुशित = दुबल

२ कृष्ट = साक्षित या सिंचा हुआ।

प्रसंग—किसी उन्मत्त यौवनावल्लवी के अनुपम लावण्य पर विशाखा-प्रेमी कृष्ण को आकृष्ट होते देखकर उसकी ( वल्लवी की ) सहेली की भगिमा-पूर्ण चर्च है।

अर्थ—कृष्ण, तुम दुबल क्यों हो ? अरे मूढ़ ! तुमने धान्य-संग्रह क्यों नहीं किया ? जो अपरिपक्व ( कच्चा ) भोजन करता है, उसके मन को सन्तोष कैसे मिल सकता है ?

शृङ्गार-पक्ष—कृष्ण, तुम आकृष्ट क्यों हो गये ? अरे मूढ़ ! तुमने सुन्दर रमणी का सम्यक् अधिग्रहण ( स = सम्यक्, ग्रह = अधिग्रहण या स्वीकार ) क्यों नहीं किया ? जो विशाखा ( एक गोपी ) के साथ सभोग करता है, उसे सन्तोष कैसे मिल सकता है ?

अप्रेमी टिप्पणी में लिखा है कि विषाधिकम् ( विसाहिय ) में विष का अर्थ जल भी हो सकता है परन्तु जलाधिक वस्तु में पेयता का गुण ना जाता है, भोज्यता का नहीं। अतः वह भी अनुपयुक्त है।

पाणय पट्टाड पेम्माड — ६०३वीं गायत्रा का अन्तिम वर्ण

प्रो० पटवर्धन का आक्षेप है कि यहाँ पणय ( प्रणय ) और पेम्मा ( प्रेम ) में पुनरुक्ति दोष है। यह आक्षेप सारहीन है। गायत्रा में प्रणय का अर्थ विश्राम है, प्रेम नहीं—

प्रणय प्रथये प्रेम्णि याञ्वाविश्रमयोरपि — मेदिनी

हम इस वर्णन को पुनरुक्तवदामास मान सकते हैं। प्रणय-प्ररुड ( पणय-

परुष ) का अर्थ है—विश्वास से उत्पन्न । अथवा उसकी छाया 'प्रणत प्रसन्नानि प्रेमाणि' करके यह अर्थ ले सकते हैं—

विनम्र लोगो के द्वारा उत्पन्न किये हुये प्रेम को ।

गाथा क्रमांक ६०४

सत्त्वं चिय चवइ जणो अमुणियपरमत्थ नदगोवालो ।

धणजीवणो सि केसव आभीरो नत्थि सदेहो ॥ ६०४ ॥

सत्यमेव वदति जनोज्ञात परमार्थो नन्दगोपाल

स्तन्यजीवनोऽसि केचवाभीरो नास्ति सन्देह

—धोपटवर्धनमम्मठ ससृष्ट छाया

रत्नदेव ने इसकी व्याख्या नहीं की है । श्रीपटवर्धन ने 'अमुणिय परमत्थ' को 'अमुणियपरमत्थो' समझकर इस पद्य का निम्नलिखित अर्थ दिया है—

“लोग यह सत्य ही कहते हैं कि नन्दगोपाल ( कुण्ड के पोषक पिता ) सत्य को नहीं जानते हैं । अरे कुण्ड ! तुम माता की छाती का दूध पाने वाले अहीर ( मूर्ख ) हो—इसमें सन्देह नहीं है ।”

उपर्युक्त अर्थ के सम्बन्ध में उनका यह उल्लेख है—

This seems to be the sense. But the exact point of the taunt is obscure

यहाँ उसकी युक्तिमत्ता का विवेचन अनावश्यक है । द्वितीय-पाद में अवशिष्ट 'अमुणियपरमत्थ' को 'अमुणियपरमत्थो' समझना केवल क्लृप्तकल्पना है । 'अमुणिय-परमत्थनदगोवालो' एक ही समस्त पद है । उसकी व्याख्या यों होगी—न मुणियो णाओ परमो सेट्ठो अत्थो अण पयोअण वा जेण सारिसो नदत्ता गोवालो गोरक्षओ कह्णो इच्छत्थो अर्थात् परम अर्थ को न जानने वाला, नन्द का चरवाहा या गोरक्षक । 'परमत्थ' और 'धणजीवणो' पदों में श्लेष है और उनका अर्थ निम्नलिखित है ।

परमत्थ (परमार्थ) = १. श्रेष्ठतम (परम = श्रेष्ठ, अर्थ = धन)

२. अन्तिम प्रयोजन अर्थात् मैथुन (परम = अन्तिम, अर्थ = प्रयोजन)

धण जीवन (स्तन्य जीवन) = १. स्तन्य क्षीरमेव जीवनामाजीविका यस्य अर्थात् दूध ही जिसकी जीविका है, दुग्ध-विक्रेता ।



२ स्तन एव जीवन प्राणप्रदो यस्य अर्थात् स्तन ही जिसे जिलाता है। अथवा स्तन एव जीवन प्रिय जीवित वा यस्य अर्थात् जिसे स्तन ही प्रिय है या स्तन ही जिसका जीवन है।

यह किसी ऐसी सुरतोत्कण्ठिता विदग्ध गोपिका की सोचासक्ति है, जिसके पीनपयोवरों का सपमर्दन करके ही कृष्ण सतुष्ट रहते थे एव एकाग्र में मग्न हो बसकर उपलब्ध होने पर भी मँयुन के लिये कभी प्रयास नहीं करते थे।

अर्थ—केशव, लोग सत्य हो कहते हैं उत्कृष्ट धन को न जानने वाले, तुम, नन्द के चरवाहे (गोपाल) एव क्षीरग्रीवी (या दुग्ध-विक्रेता) अक्षीर (गति-विशेष) हो—इसमें सन्देह नहीं है।

शृंगारपक्ष—केशव, लोग सत्य कहते हैं—अन्तिम प्रयोजन (अर्थात् समोग) को न जानने वाले तुम, नन्द के चरवाहे एव स्तन से जोवित रहने वाले (या स्तन-मर्दन को ही अति प्रिय समझने वाले) अक्षीर (मूर्ख) हो—इसमें सन्देह नहीं है।

गाथा क्रमांक ६०९

चदाह्यपडिबिबाए जाइ मुकुटहासभीयाए।

गोरीइ माणविहङ्गणघडतदेह हर नमह ॥ ६०९ ॥

चन्द्राहतप्रतिबिम्बाया यस्या मुक्ताट्टहासभीताया

गौर्या मानविषटनघटमानदेह हर नमत

—रत्नदेवकृत संस्कृत छाया

छायाकार ने व्याख्या नहीं दी है। अंग्रेजी टिप्पणी में शब्दों का अर्थ देकर लिखा है कि इस पद्य का भाव स्पष्ट नहीं है अर्थ-काठिन्य के कारणों का वगन इन शब्दों में है—

१ The sense of this stanza remains obscure, because of the expression चदाह्यपडिबिबाए।

२. The reason of Parvat's mana is not clear

मेरे विचार से गोरी के मानहेतु और 'चदाह्यपडिबिबाए' की दुरधिगम्यता के कारण गाथा में जो दुःसूचना आ सकती है, उससे कहीं अधिक ममानक अर्थ-व्याघातकारी तत्त्व संस्कृत छाया में निविष्ट हो गया है। जिस पर धीपटवधन की दृष्टि ही नहीं पड़ी। चन्द्राहतप्रतिबिम्बाया मुक्ताट्टहासभीताया यस्या गौर्या

मानविघटनघटमानदेह हर नमः—यह संस्कृत छाया वाक्य साक्षात् है, क्योंकि यस्या की आकांक्षा पूर्ण करने वाला कोई भी पद नहीं है। 'जिस गौरी का' इन वाक्यांश को सुनते ही 'किस गौरी का?' यह प्रश्न निसर्गत समन्वित हो जाता है। अतः उस प्रकान्त-प्रश्न का उत्तर बिना दिये अप्रकान्त हर को प्रणाम करने का उपदेश देने के कारण पूर्ववाक्यांश अनर्गल प्रलाप बन कर रह जाता है। 'जिस गौरी के मानविघटन में घटमानदेह हर को प्रणाम करो' यह वाक्य तब तक अपूर्ण एवं अशुद्ध है जब तक 'जिस' की आकांक्षा 'उस' शब्द के विनियोग द्वारा पूर्ण नहीं कर दो जाती।<sup>१</sup>

वस्तुतः उक्त संस्कृत छाया ही प्रस्तुत गाथा को दुर्बलता का मूल निदान है। यदि उस अशुद्ध छाया को निम्नलिखित परिभाषित स्वरूप दे दें तो आकांक्षत्व दोष की निवृत्ति हो जायगी और आपिक क्षुब्धता का भी निराकरण हो जायेगा—

चन्द्राघृतप्रतिबिम्बाया (चन्द्राघृतप्रतिबिम्बाया वा) जातिमुक्ताद्रहासभीताया  
गौर्या मानविघटनघटमानदेह हर नमः ॥

गाथार्थ—चन्द्राघृतप्रतिबिम्बाया = चन्द्रेण आघृत गृहीत प्रतिबिम्ब यस्या  
अथवा चन्द्रेण आघृत प्रतिबिम्ब यस्या  
अर्थात् चन्द्रमा ने जिसके प्रतिबिम्ब को  
धारण किया है।

जातिमुक्ताद्रहास भीताया = जातिरिव मालतीपुष्पमिव मुक्तस्वयन्तो योज्ज्वलास-  
स्तभाद् भीताया अर्थात् चमेली के पुष्प के  
समान विकीर्ण अट्टहास स डरी हुई।

अंग्रेजी अनुवादक ने प्रतिबिम्ब का अर्थ मृत्तमण्डल किया है, जो विलकुल निराधार एवं कपोलकल्पित है।

प्रसंग—शिव के मुक्ताद्रहास से भीत पार्वती जब शरणाग्र्य उनके निकट पहुँची तब उन्हें पति के ललाटस्थ चन्द्र में अपनी प्रतिच्छवि दिखाई पड़ी। फिर तो उसे अपनी मर्त्या समझकर तुरन्त हो मानकर बैठी। प्रस्तुत गाथा में उन्होंने कोपकपायिताभी अम्बिका के अनुनय भ सलम्ब शिव को प्रणाम करने का उपदेश है।

गाथार्थ—जो चमेली के पुष्प के समान ( शिव के ) उन्मुक्त शुभ अट्टहास

१ प्रागुपासस्तु यच्छब्दस्तच्छब्दोपादान बिना साक्षात् ।

—काव्यप्रकाश, सप्तम उल्लास

से भीत हो चुकी थी तथा जिनका प्रतिबिम्ब चन्द्रमा में पड़ रहा था, उन गौरी में मानापनयन में जिनका शरीर व्यापृत है, उन शिव को प्रणाम करो। शिव के ललाट पर स्थित कलामात्रावशेष शशिशकल में प्रकाश-पुञ्ज का स्फुरण न होने कि कारण प्रतिबिम्बन क्रिया स्वामाविक है।

### गाथा क्रमांक ६१०

नमिऊण गोरिवयणस्स पल्लव ललियकमलसरभमरं।

कय-रइ-मयरद-कल ललियमुहं तं हरं नमह॥ ६१० ॥

नत्वा गौरीवदनस्य पल्लव ललितकमलसरोभ्रमरम्

कृतरतिमकरन्दकल ललितमुख तं हरं नमः॥

—रत्नदेवकृत व्याख्यात छाया

अंग्रेजी टिप्पणी में लिखा गया है कि 'गौरी वयणस्म पल्लव' और 'कय-रइ-मयरदकल'—इन दो वर्णनों की दुर्बुद्धता के कारण इस गाथा का अर्थ स्पष्ट नहीं है। टिप्पणी के अनुसार 'गौरी-वयणस्स' 'ललियकमलसरभमर' से अन्वित नहीं हो सकता और नमिऊण का भी सम्बन्ध स्पष्ट नहीं है। निम्नलिखित ढग से किया गया अंग्रेजी अनुवाद केवल शान्दिक है—

"सुन्दर मुख वाले उन शिव को प्रणाम करो जो गौरी के मुखरूपी शरीर में भँवराने वाले मधुप हैं।"

लेखक ने इस अनुवाद के सम्बन्ध में यह टिप्पणी दी है—

"The rendering given in the English translation is a desperate attempt to salvage some sense out of the stanzas."

उपपुक्त गाथा की दुर्बुद्धता का कारण संस्कृत छाया की अशुद्धि है। पूर्वार्ध की छाया इस प्रकार होनी चाहिये—

नत्वा गौरी वदनस्य पल्लव ललितकमलसरभ्रमरम् ।

'गौरीवदनस्य पल्लवम्' का अर्थ है—गौरी के मुख के पल्लव को अर्थात् अधरों को। सर का अर्थ है—जाने वाला (सरतीति सर, सृ गतो + अच्)। देशीनाममाला में कमल को मुख का पर्याय बताया गया है—

पिडरपडहेषु मुहुरिणेषु अ कमलो ।—२।५४

यहाँ एक ही कमल में दो भिन्न अर्थों (मुख और पंज) का अनेकारोप होने के कारण श्लेष मूलक रूपक है। अतः कमल का अर्थ है—मुख (कमल) रूपी कमल

( पकज ) । कयरदमकरदकल' ( कृतरतिमकरन्दकलम् ) हर का विशेषण है । इसका अर्थ है—जिसने रतिरस की कला का अभ्यास किया है ( कृता अभ्यस्ता रतिमकरन्दस्य रतिरसस्य कला निपुणता येन ) । अब पुरी गाथा का भाव विवृण्व स्पष्ट है । अर्थ—गौरी के अपरों को प्रणाम करके उन ललित मुख शिष को प्रणाम करो, जो सावय्य-युक्त मुखरूपी कमल के निकट जाने वाले ( गुम्बनाय ) ध्रमर हैं और जिन्होंने रति-रस की कला का अभ्यास किया है ।

### गाथा क्रमांक ६२८

जा इच्छा कावि मणोपियस्य तगय मण म्मि पुच्छामो ।  
ससय वहिल्लो सि तुम जीविज्जइ अग्रहा कत्तो ॥ ६२८ ॥

येच्छा कापि मन प्रियस्य तद्गत मनसि पुच्छाम ।  
शशक त्वरितोऽसि त्व ओष्यतेऽन्यथा कुत ॥

—रत्नदेवकृत सस्कृत छाया

निम्नलिखित अंग्रेजी अनुवाद बिल्कुल शाब्दिक है—

“जो हृदय को प्रिय है उसको जो कुछ भी इच्छा होती है, हम उसे अपने मन में पूछ लेती हैं । अरे शशक, तुम बहुत शीघ्रगामी हो, अन्यथा तुम कैसे जीवित रहते ।”

इन अर्थ में पूर्वार्ध और उत्तरार्ध परस्पर असम्बद्ध हैं और पद्य के तात्पर्य का भी पता नहीं है । अनुवादक ने ‘तगय’ का अर्थ ‘उस मन प्रिय के विषय में’ या ‘उस इच्छा के विषय में’ ( पृ० ५५९ ) लिखा है, जो ठीक नहीं जैचता है । ‘तगय’ और ‘मणमि’—दोनों की पुष्टि नहीं, एक पद माना जा सकता है । ‘तगय’ को अकारण हृत्त विभक्ति घोषित करना ठीक नहीं है । गाथा में किन्ही ऐसी प्रोषित-पत्रिका का वर्णन है, जिसका मन अपने प्रिय के अनुध्यान में इतना लब्ध हो गया है कि उसे विरह की अनुभूति कभी असह्य नहीं हो सकती । जब देखती है तब प्राणेश्वर को मन-मन्दिर में उपस्थित पाती है । उनको ममस्त भाकाशाओं का उसे पता है । प्राणों के घृत-प्रकोष्ठ में प्रतिष्ठित प्रिय की प्रणमपूर्ण प्रतिच्छवि ही उसके जीवन का अमूल्य सम्बल है । अतः उसी के सहारे जी रही है । प्रणय की इस उत्कट तल्लोलता का मर्मस्पर्शी वर्णन कबीरदास के निम्नलिखित दोहे में दिखाई देता है—

१. वज्रालङ्कार ( अंग्रेजी संस्करण ), पृ० ३६३ पर मूल अंग्रेजी देखिये ।

प्रीतम को पतियाँ लिखूँ, जो कट्टे होय विदेस ।

तन में मन में नयन में, ठाकूँ क्या सदेस ॥

शब्दार्थ—तत्पद्यमणम्मि (तद्गतमनसि) = तेन प्रियेण गत यात तद्गत तस्मिन् तद्गते मनसि, यत्र ध्यानमार्गेण प्रिय प्रविष्ट इत्याशय । अर्थात् प्रिय के द्वारा गये हुए मन में या जहाँ ध्यान-मार्ग से प्रिय आते हैं, उस मन में । दूर से आकर मन में बस जाने वाले प्रिय का प्रतीक है शशक । शशक तीव्रगामी होता है ।

२ त प्रिय गत यातम् (द्वितीया अति-तीव्रतितगतत्पस्त प्राप्तपत्नै' के अनुसार समास) यह पद मन का विशेषण है । इस व्याख्या में 'तद्गतमनसि' का अर्थ है—प्रिय के पास गये हुये मन में । यहाँ द्रुतगामी मन ही शशक है ।

पुच्छामी = पच्छाम = पूछती है (अस्मदो द्वयोश्च—पा० सू०, १।१।५९ से वैकल्पिक बहुवचन) । 'पूछती हूँ' का ध्वनितार्थ है—पूर्ण करती हूँ क्योंकि अतिशय प्रिय व्यक्ति की इच्छाओं को पूछ कर कोई निश्चेष्ट नहीं रहता है ।<sup>१</sup>

१४ साहित्य में इस प्रकार के प्रयोग दुर्लभ नहीं है । रामचरितमानस की निम्नलिखित चौपाइयों में विभीषण के अभिवेक के लिय 'सिन्धु नीर' माँगने का वर्णन है, मँगाने का नहीं, परन्तु उत्तरवर्ती वचन के आधार पर माँगना मँगाने में पर्यवसित हो गया है—

एवमस्तु कहि प्रभु रनघोरा, माँगा तुरत सिन्धु कर नीरा ।

जदपि तात तब इच्छा नाही, मोर दरस अमोघ जग माझी ।

अस कहि राम तिलक तेहि सारा, गुमन-वृष्टि नभ भई अपारा ।—सुन्दरकाण्ड

व व्यवहार में भी ऐसे प्रयोग प्रायः देखे जाते हैं, जैसे—

'मैं प्रतिवध कवि सम्मेलन में श्यामनारायण पाण्डेय को बुलाता हूँ'—इस वाक्य का यह भी अर्थ है कि श्यामनारायण पाण्डेय मेरे कविसम्मेलन में आते हैं ।

गाथायें—जब प्रिय मन में आते हैं (या जब मन प्रिय के निकट जाता है) तब उसी मन में उस की जो कुछ भी इच्छा रहती है, मैं पूछ लेती हूँ (ध्वनि—पूरा कर देती हूँ)। शशक ! (हे प्रियतम या हे मन) तुम द्रुतगामी हो अन्यथा किस ढंग से जीवित रहा जाय ? ( अर्थात् विरह में जीवित रहने का यही ढंग है । यदि तुम द्रुतगामी न होते और उतनी दूर से आकर मेरे मन में बस न जात तो मया इस प्राणान्तक विधोम में जीवित रहने का अन्य कौन सा उपाय या ? )

### गाथा क्रमांक ६३४

सधुक्किज्जइ हियए परिमलआणादियालिभालहि ।

उल्लाहि वि दिसिमणिमज्जरीहि लोयस्स मपणगी ॥ ६३४ ॥

सुदुष्यत हृदय परिमलानन्दितालिमालामि

आर्द्राभिरपि दिग्मणिमज्जरीमिलोकस्य मदनाग्नि

—रत्नदेवकृत व्याख्यात सस्कृत छाया

‘दिसिमणिमज्जरी’ ( दिग्मणिमज्जरी ) का अर्थ अस्पष्ट बताकर प्रस्तुत गाथा का जो अधूरा अनुवाद किया गया है, वह इस प्रकार है—

“लोगों के हृदय में कामाग्नि प्रज्ज्वलित कर दी गई है, फूलों के सौरभ से आनन्दित भमरों की पक्षि के द्वारा मारों आर्द्र .... । ( पृ० ३६४ )

‘दिसि’ सप्तम्यन्त ससृष्ट दिसि शब्द का प्राकृत रूप है, जिसका प्रयोग जायपालम्बनात्मक एकवचन में किया गया है । ‘मणिमज्जरी’ वाक्यलक्षिक प्रयोग है । इस प्रयोजनवती सारोपा लक्षण में मणि और मज्जरी का तादात्म्य मज्जरीनिष्ठ कान्तिशालित्वादि धर्मों का अभिव्यक्त है । इस शब्द का अर्थ है—मणियों के समान कान्ति वाली मज्जरी ( आम का बीर ) । ‘दिसिमणिमज्जरी’ इस संयुक्त पाठ के स्थान पर ‘दिसि मणिमज्जरी’ यह असंयुक्त पाठ स्वीकार करने पर कोई काटिभ्य नहीं रह जाता । सस्कृत छान्दा में ‘विद्मणिमज्जरी’ के स्थान पर ‘दिसि मणिमज्जरी’ का निवेश करना चाहिये ।

अर्थ—दिवाजो में परिजनों से अलिमालाओं को आनन्दित करने वाली ( रम से ) आर्द्र, मणितुल्य मज्जरियों से भी लोगों के हृदय में मदनाग्नि प्रदोष हो उठती है । ‘उल्लाहि’ पद विरोधाभास-जनित वैचित्र्य का व्यञ्जक होने के कारण व्यय नहीं है । ‘परिमलानन्दितालिमालामि’ ‘मणिमज्जरीमि’ का विशेषण है ।

१ अंग्रेजी टिप्पणी में इस विशेषण की उपयोगिता को अस्पष्ट बताया गया है ।

—वज्रालम्ब ( अंग्रेजी संस्करण ), पृ० ३६५

श्री पटवर्धन ने पूर्वार्ध और उत्तरार्ध को स्वतन्त्र रखकर परिमल के लिये पुष्पों का आशेष किया है, जो ठीक नदी है ।

### गाथा क्रमांक ६३६

किं करइ तुरियतुरिय अलिउलघणवम्मलो य सहयारो ।  
पहिघाण विणासासकिय ज्व लच्छी वसंतस्स ॥ ६३६ ॥

किं करोति त्वरितत्वरितमत्तिकुलघनशन्दरच सहकार  
पयिकाना विनाशाशङ्कितेव लक्ष्मीर्वसन्तस्य

—रत्नदेवकृत अभ्याख्यात संस्कृत छाया

प्र० पटवर्धन ने इसका अनुवाद इस प्रकार किया है—

“अमरो के प्रचुर शब्द से युक्त आनन्दो-जलदी क्या कर रहा है ? ऐसा लगता है, वसन्त की देवी पयिकों के विनाश के प्रति सन्देहयुक्त है ।”

टिप्पणी में लिखा गया है कि “गाथा के पूर्वार्ध और उत्तरार्ध में कोई सर्व-पूर्ण सम्बन्ध स्पष्ट नहीं है । क्रिया-विशेषण ‘तुरिय-तुरिय’ एवं प्रश्न ‘किं करइ’ की भी सार्थकता समझ में नहीं आती है । ‘किं करइ सहयारो’ यह प्रश्न अनुत्तरित रह गया है । उत्तरार्ध को किसी प्रकार भी उक्त प्रश्न का उत्तर नहीं कहा जा सकता । ‘वम्मल’ शब्द ‘पाइयसद्महण्णव’ में सकलित नहीं है । सम्भवतः वह ममर से निष्पन्न हुआ है ।”

उपर्युक्त उल्लेख अविचारित एवं निराधार है । ‘किं करइ सहयारो’ यह प्रश्नवाचक वाक्य ही नहीं है । यहाँ किम् शब्द निन्दार्थक है—

किं क्षेप-निन्दयो प्रश्ने वितर्के . . . —अनेकार्यसंग्रह

‘तुरिय-तुरिय’ क्रियाविशेषण भी अपार्थक्य नहीं है । वह वसन्त की आगमन से किंचित् पूर्व ही मधुकर-मण्डलो-मण्डित रमान-कुञ्ज में द्रुत गति से बिजु भ्रमण उद्दीपन सामर्थ्य का अभिव्यञ्जक है । ‘सहयार’ ( सहकार ) में एक शब्दाध्यवसान-मूलक रूपक है—

सहयारो = सहकार आनन्द एव सहकार सहाय सहचरो वा अर्थात् आनन्दरूपी सहायक । ‘वसंतस्स लच्छी’ Goddess of spring ( वसन्त की देवी ) के अर्थ में नहीं है । उसका अभिप्राय वासन्ती सुषमा से है । ‘वम्मल’ कोलाहल वाचक देशी शब्द वमान का अपभ्रंश प्रभावित रूप है । ‘आसकिया’ का अर्थ यहाँ सन्देही ( Apprehensive ) नहीं, सम्भावित है ( देखें—पाइयसद्महण्णव ) । अब गाथा का अर्थ इस प्रकार करें—

भ्रमरों के प्रचुर कोलाहल से युक्त ( वासन्ती सुषमा का ) सहायक ( या सहचर ) आश्रय, स्वरित-स्वरित बसा कर रहा है ( अर्थात् निन्दनीय कार्य करने जा रहा है ) । ऐसा लगता है, मानो पक्षियों ( चिरहियों ) के विनाश के लिये वासन्ती सुषमा संभावित है ( अर्थात् वसन्त के आने की संभावना है ) 'अलि उलघणवम्मल' पद में अतिशयोक्ति है ।

गाथा क्रमांक ६४०

किंकरि करि म अजुत्तं जणेण जं बालओ त्ति भणिओ सि ।

धवलत्तं वेत्तो कट्टयाण साहाण मल्लिणत्तं ॥ ६४० ॥

किंकरि कुरु मायुत्तं जनेब यद्वाचक इति भणितोऽति

धवलत्वं इदानीः कण्टकानां शाखानां मलिनत्वम्

इसकी व्याख्या न तो रत्नदेवसूरि ने की है और न ओ० पदवर्धन ने की । प्रेजी अनुवाद में इस गाथा का स्थान रिक्त छोड़कर पाद-टिप्पणी दी गई है कि 'व स्पष्ट नहीं है । अर्थ की जटिलता के कारणों का उल्लेख इस प्रकार है—

क—स्त्रीलिंग सम्बोधन 'किंकरि' का किसी भी दशा में पुत्तिय 'बालओ' 'णिओ' और 'वेत्तो' के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता ।

ख—पूर्वाचं और उत्तरार्च के मध्य कोई तार्किक सम्बन्ध स्पष्ट नहीं है । किंकरि अर्थ गृह्णेतिका लिखा गया है परन्तु उत्तरार्च से सूचित होता है कि गाथा में भी ऐसे वृक्ष की किंकरि शब्द से सम्बोधित किया गया है, जिसके काँटे ध्वस्त र शाखाएँ श्याम होती हैं । अतः उक्त अर्थ उपयुक्त नहीं है । वस्तुतः यहाँ करि का अर्थ कीकर ( बबूल विशेष ) है । 'बालओ' का अर्थ शालक प्रकरण-शब्द प्रतीत होता है क्योंकि इस विशेषण का प्रयोग न तो गृह्णेतिका के लिये पुक्त है और न कीकर के लिए ही । प्राकृत में 'बा' का अर्थ दो ( द्वि ) होता

बाल्य शब्द का और बाल्य के योग से बना है । उसका संस्कृत रूपान्तर लय ( द्वयोरालयो द्वपाल्य प्राकृतं बाल्यो ) होगा । अर्थ है—दोनों का आलस्य अथवा आश्रय । यह गाथा किसी ऐसे आश्रयदाता के सन्दर्भ में कही गई है, जो ने आश्रितों को समान दृष्टि से नहीं देखता था ।

अर्थ—हे कीकर ! कष्टों की धवलता और शाखाओं की श्यामता (मलिनता) न करते हुये अनुचित ( कार्य ) मत करो क्योंकि तुम दोनों ( कष्टों और शालों ) के आश्रय ( आलस्य ) कहे गये हो ।



## गाथा क्रमांक ६४१

मा रज्ज सुहजणए सोहजणए य दिट्ठमत्तम्मि ।  
मज्जिहिंसिय साहसिया सा हसिया सब्वलोएण ॥ ६४१ ॥

मा रज्ज गुमजनके सोमाञ्जनके च दृष्टमात्रे ।  
मद्ध्यय इति माहमिका मा हमिता सर्वलोकेन ॥

—रत्नदेवमम्मठ संस्कृत छाया

अंग्रेजी अनुवाद यों किया गया है—

“गुमजनक महिजन को देखने ही अनुरक्त मन हो जाओ, तुम टूट जाओगी”—  
इस प्रकार साहसिक युवती लोगों के द्वारा हुँयी गई ।

टिप्पणी में गाथा के अर्थ की अस्पष्टता के साध-माय उपर्युक्त अंग्रेजी अनुवाद के प्रति अमन्तोष प्रकट किया गया है । अतएव उसकी उपयुक्तता का विवरण अनावश्यक है । गाथा के तृतीय पाद में अवस्थित ‘साहसिया’ शब्द का अर्थ टीकाकारों ने ‘साहमिका’ किया है परन्तु प्रथम एवं द्वितीय पाद में जो वर्णन आया है, उससे किसी महिला की साहसिकता नहीं प्रकट होती है । किसी प्रियदर्शन तरुण को देखते ही अनुरक्त हो जाना कठिन साहस नहीं, एक सरल एवं स्वभाविक व्यापार है । अत उक्त अर्थ, प्रकरण के अनुकूल नहीं लगता है । ‘साहसिया’ संस्कृत शास्त्राभिज्ञता का अपभ्रंशरूप है, जिसमें पूर्वपद ह्रस्व हो गया है । इसका अर्थ है—शास्त्र पर आश्रित ( साह सिया = शास्त्रा श्रिता ) । रत्नदेव ने ‘सुह-जणय’ का अर्थ गुमञ्जनक लिखा है परन्तु यह शब्द संस्कृत व्याकरणानुमोदित नहीं है । संस्कृत में खश् या खष् प्रत्यय उपस्थित होने पर सोपपद धातु में मुमा-गम का विधान है । इस गाथा से पता चलता है कि प्राकृत में ष्वल् प्रत्यय के यो में भी मुमागम होने लगा था । वज्रालम्ब की निम्नलिखित गाथा में ऐसे कई शब्दों का एक साथ प्रयोग दिखाई देता है—

सुहियाण सुहजणया दुक्खंजणया य दुक्खियजणस्स ।

एए सुहजणया सोहजणया वसतस्स ॥ ६४१ × ४ ॥

अत वह अर्थ अप्राप्त तो नहीं है परन्तु यहाँ संस्कृत व्याकरण का भी अनुरोध स्वीकार कर लेने में क्या शक्ति है ? मेरे विचार से निम्नलिखित व्याख्या अधिक संस्कृत है—

सुहृजणय = सुमञ्जनक = सु + मञ्जन + स्वाधिक क = सुष्टु मञ्जन मञ्जो यस्य  
अर्थात् सरलता से टूट जाने वाला ।

भाषा में अप्रस्तुतप्रथमा पद्धति से किसी प्रियदर्शन परान्तु भगुर-प्रणय तरण  
का वर्णन है जिसे देखने ही दोषों पर ध्यान दिये बिना ही अनुरक्त हो जाने वाली  
तरणी उपहामास्पद बन गई थी ।

अर्थ—“सरलता से टूट जाने वाले (या सुख उत्पन्न करने वाले = सुख जनक)  
घोमाञ्जन ( सहिजन ) को देखने ही प्रसन्न ( रञ्ज ) मत हो आओ, टूट  
जाओगी” ( गिरने के कारण ) इस प्रकार शास्त्रा पर माधित ( शत्रु पर लड़ी  
हुई ) तरणी सब लोगों के द्वारा हँसी गई ।

वमन्तामस ॥ जब घोमाञ्जन की स्वभावतः भगुर शास्त्रार्थ पुण्य-प्रशस्त्यद्व  
होकर मुक्त जाती है तब बहुत ही मनोरम लगती है । उस समय उन पर आरोहण  
करना बड़े चाहत का कार्य है । किसी भी क्षण ( शास्त्रार्थ के टूट जाने के कारण )  
आरोहकभूमि पर गिर सकता है और उसके हाथ-पैर टूट सकते हैं । अतः पुण्यनरा-  
क्रान्त वासन्त घोमाञ्जन पर चढ़ने वाली कोमल-कलेवर क्षमिनी को साहसिका  
ही कहा जायगा । महिलाजन-मुलम घालीनता और लज्जा का परिचय करने के  
कारण उसका हास्यास्पद होना भी स्वाभाविक है ।

द्वितीयार्थ—“इस प्रियदर्शन एव अक्षिर-प्रणय तरण को देखने मात्र से  
अनुरक्त मत हो जाओ, निराश होना पड़ेगा” इस प्रकार वह प्रणयिनी लोगों द्वारा  
हँसी गई ।

यदि घोमाञ्जनक ( सुहृजणय ) पद को भी स्पष्ट भान लें तो द्वितीय अर्थ  
भी होगा—

“सुख ( सुहृजणय ) और घोमा उत्पन्न करने वाले ( घोमाञ्जन ) दुषक  
को देखने मात्र से प्रेम मत करो, अन्त में तुम्हें निराश होना पड़ेगा” इस प्रकार  
( कहकर ) सब लोगों ने प्रियाधिका ( साह = प्रिय, सिया = शिवा ) महिला का  
उपहाम किया ।

इस व्याख्या में ‘सुहृजणय’ का अर्थ घोमोत्पादक किया गया है । देखो शब्द  
साह प्रिय वाचक है ( दे० पाश्यसहस्रहृणव ) साहसिया का अर्थ है प्रिय की  
आश्रिता अर्थात् प्रेमिका—साह प्रिय सिया ।

## गाथा क्रमांक ६४५

मूलाहितो साहाण निग्गमो होई समलखत्ताण ।  
साहाहि मूलबधो जेहि कजो ते तरु धन्ना ॥ ६४५ ॥

ग्रीष्म के प्रकरण में वरगद का वर्णन अप्रासंगिक नहीं है । गाथा में उन वट-वृक्षों की प्रशंसा की गई है जो निदाघ-तप्त श्रान्त पयिकों को अपनी शीतल छाया में आश्रय देते हैं । टीकाकार रत्नदेव के अनुसार इसमें ग्रीष्माग्नि का वर्णन है, वरगद का नहीं । उसका आशय इस प्रकार है—

ग्रीष्माग्नि ऐसा वृक्ष है जिसकी शाखायें अग्न्य वृक्षों के समान मूल से नहीं निकलती हैं, शाखाओं से ही जड़ें फूटती हैं । ग्रीष्माग्नि का प्राकट्य मूल ( नीचे बर्षात् पुष्पी ) से नहीं होता है । शाखाओं ( सूर्य की रश्मियों ) से ही वह पनपती है ।

## गाथा क्रमांक ६५५

जाणिज्जइ न उ पियमप्पिय पि लोयाण तम्मि हेमते ।  
सुयणसमागम वग्गी णिच्च णिच्च सुहावेइ ॥ ६५५ ॥

प्रो० पटवर्धन इसके पूर्वार्ध में एव उत्तरार्ध में अपेक्षित शार्किक सम्बन्ध नहीं ढूँढ सके हैं । अर्थ इस प्रकार है—

वस हेमन्त में लोगो को प्रिय और अप्रिय का भी पता नहीं चलता ( या प्रिय और अप्रिय भी नहीं जाना जाता ) । आग सज्जनों के समागम के समान प्रतिदिन सुख देती है ।

## गाथा क्रमांक ६५६

दृज्जतु सिसिर दियहा पियमप्पिय जणो वह्हइ ।

दहवयणस्म व हियए सीयायवणक्खओ जाओ ॥ ६५६ ॥

रत्नदेव ने इसकी व्याख्या नहीं की है। श्री पटवर्धन ने उत्तरार्ध का अर्थ न समझने के कारण उस अर्थ का अनुवाद नहीं किया है। पूर्वार्ध का अर्थ जो अनुवाद इस प्रकार है—

“सिसिर के दिन भस्म हो जायें। लोग प्रिय और अप्रिय का अनुभव करते हैं।” यह अर्थ कुछ अटपटा सा लगता है। एक तो ‘वह्हइ’ का मोठा अर्थ ‘दोना’ है, ‘अनुभव करना’ नहीं, दूसरे सिसिर को अभिषाप देने का कारण भी इसमें स्पष्ट नहीं है। यदि प्रिय और अप्रिय की अनुमति को उसका कारण मानें तो पुरम्भ यह प्रश्न उठता है कि क्या अन्य ऋतुओं में प्रिय को ही अनुमति होती है, अप्रिय की अनुमति कभी होती ही नहीं है? इस द्वन्द्वरामक वचन में अभिषाप देने का अवसर सब भाँटा है जब प्रिय से निरुत्तरे बचिष्ठ वचन अप्रिय का दुर्बह भार बोते-बोते धक कर बैठ जाता है।

मैं इस गाथा की व्याख्या के पूर्व कतिपय शब्दों के अर्थ दे देता आवश्यक समझता हूँ—

पिय = प्रियाम्, पत्नी को

अप्पिय = अप्रियाम्, अनिष्ट, अवाञ्छित, जो प्रिय नहीं है उसको।

वह्हइ = वहति, ठोता है।

दियहा = समय, दिवस शब्द यही कालवाची है।

सीयायवणक्खय = सीतायवनक्षय, सीत से ताप (आतपन) या धूप का विनाश (सिसिर-वर्ष)।

सीयायवणक्खय = सीतायवनक्षय अथवा सीताकथनक्षय, सीता के वियोग का भय या सीता के वचनों को चोट (दण्डन-वक्ष)।

सस्सुत्त में यु धातु का अर्थ सयोग और वियोग, दोनों होता है—

यु मिथ्यणेऽमिथ्यणे च ।

—सिद्धान्तकौमुदी, अदादि-प्रकरण

इस पाठ में स्मृत् प्रत्यय जोड़ने पर वियोगार्थक वचन शब्द निष्पन्न होता है। प्राकृत में कप् धातु को ‘चव’ आदेश हो जाता है—

कथेवर्जर-पञ्जरोपाल-पिपुण-संध-बोल्-चव-जम्प-सीत-साहा

—है० श०, ८४१२

इस 'चव' से ल्युट् प्रत्ययान्त चवण शब्द बनने पर जब सीता शब्द के साथ उसका समास होगा, तब माया की प्रकृति के अनुसार चकार लोप और य श्रुति होगी और सीताचवण (सीता का कथन) शब्द सिद्ध होगा ।

खज = १—क्षय, विनाश

२—क्षत, भय<sup>१</sup> और चोट या घाव

उपर्युक्त गाथा किसी घूर्त जार की छक्ति है । इसमें ग्राम्य जनों की निष्किञ्चनता का मार्मिक मकेत है । प्राचीन काल में गाँवों में इतनी दरिद्रता थी कि लोग हेमन्त और शिशिर में शीतनिवारणार्थ अपेक्षित ओढ़ने का जुगाड नहीं कर पाते थे<sup>२</sup> । परिवार के कई-कई व्यक्ति एक ही ओढ़ने के नीचे पुआल में सिमिट कर हिममिक्त रातों में आत्मरक्षा करते थे । गाथा में जिस निस्स्व एवं अचम ग्रामीण युवक का वर्णन है, वह अपनी अप्रिय पत्नी का सान्निध्य विलुप्त नहीं चाहता था । परन्तु शिशिर की विवशता के कारण उसे उसी पत्नी का साथ एक ही शय्या पर सोना पड़ता था । यही नहीं, शीत के कारण एक अवाञ्छित महिला के लण अंगों का निविड परिरम्भ भी करना पड़ता था । इस सारी विवशता का अपराधी आखिर शिशिर ही तो है । यदि निदाघ के दिव होते तो वह पत्नी का मुह न देखता । अतः शिशिर काल का भस्म हो जाना ही अच्छा है । मूल प्राकृत की संस्कृत छाया निम्नलिखित होगी—

बह्यन्ता शिशिरदिवसा प्रियामप्रिया जनो बहति ।

दशवदमस्यैव हृदये शीतातपनक्षयो ( सीतायवनक्षत सीताकथनक्षत वा ) जात  
( जातम् ) ॥

उपमेय-पक्ष में श्लेषानुरोध से क्षत को पुलिग रूप दे दिया गया है । लिंग-विपर्यय की यह प्रवृत्ति वज्रालम्ब की दिलष्ट और अदिलष्ट, दोनों प्रकार की गाथाओं में दिखाई देती है ( देखिये, ११६, १३१, ६५७ ) ।

वर्ण—शिशिर का समय भस्म हो जाय । ( क्योंकि ) लोग अवाञ्छित पत्नी को भी बहन कर । है । जैसे रावण के हृदय में सीता के वियोग से भय उत्पन्न

१ देखिये, आप्टे का संस्कृत कोश

२ देखिये, गाथासप्तशती

हो गया या वैसे ही चीत से आतप ( धूप या गर्मी ) का विनाश हो गया है ।

अथवा

सिधिर-काल भस्म हो जाय । ( क्योंकि ) वाञ्छित और अवाञ्छित, दोनों प्रकार की महिलाओं को बहन करना पड़ता है । जैसे, सीता के कटुवचनों से रावण के हृदय में चोट लग गई थी वैसे ही चीत से आतप का नाश हो गया है ।

गाथा क्रमांक ६५७

अवधूयअलवक्षणाधूसराठ दोसंति फस्सलुक्खाओ ।

उय सिसिरवायलइया अलवक्षणा दीणपुरिस ज्व ॥ ६५७ ॥

अवधूतलक्षणधूसरा दुक्षन्ते फस्सलुक्खाः

पस्य सिसिरवातगुहीता अलवक्षणा दीन पुण्या इव

—श्री पटवर्धन-स्वीकृत संस्कृत छाया

रत्नदेव के अनुसार 'अवधूय अलवक्षणाधूसराठ' की संस्कृत छाया 'अवधूत-लक्षणधूसराः' है, जिसे उक्त पद का एकपक्षीय अर्थ कहा जा सकता है । टीका में इस गाथा की स्पष्ट व्याख्या नहीं की गई है । दो एक शब्दों के अर्थ दे दिये गये हैं, जिनसे काठिन्य कम होता तो दूर रहा, और अधिक बड़ गया है । श्री पटवर्धन ने भी इसे दुःख कह कर छोड़ दिया है । उनके अनुसार 'अवधूयअलवक्षणाधूसराठ' और 'फस्सलुक्खाओ' 'सिसिरवायलइया' के विशेषण हैं । 'अलवक्षणा' 'दीणपुरिस' का विशेषण है । साथ ही उन्होंने यह भी संकेत किया है कि 'अलवक्षणा' शब्द इत्येव-द्वारा उपमान और उपमेय, दोनों ॥ अन्विष्ट है । रत्नदेव ने 'सिसिरवायलइया' का अर्थ 'सिसिरवातगुहीता' किया है परन्तु इस एक-पक्षीय अर्थ को स्वीकार कर लेने पर 'व' (इव) के माध्यम से उपमा का वर्णन करवे वाली गाथा में कोई उपमेय ही नहीं रह जाता है । श्री पटवर्धन के द्वारा सुझाया हुआ अर्थ 'सिसिरवातलक्षणा' प्रसंगानुकूल न होने से ठीक नहीं जँचता है । वस्तुतः उक्त पद विशेष्य ( उपमेय ) का वाचक है परन्तु प्रकारान्तर से उसका उपयोग विशेषण के रूप में भी होने के कारण पद्य में किञ्चिन् कूटत्व आ गया है । रत्नदेव भूरि का ध्यान इस तथ्य की ओर नहीं गया, इसी से उनकी संस्कृत छाया अधूरी रह गई । उपमेय और उपमान—दोनों पक्षों में उक्त पद की संस्कृत छाया इस प्रकार होगी—

## उपमेय-पक्ष—शिशिर-वान-लतिका

संस्कृत ओवं ( शोषणे ) धातु से निष्ठान्त वान शब्द निष्पन्न होता है । प्राकृत में निष्ठा के तकार को नकार न होने पर वाय रूप भी बनेगा । वाय का अर्थ है—शुष्क । हेमचन्द्र के अनुसार ( म्लेर्वा-पञ्चाशो, ४।११८ ) म्ले धातु की प्राकृत में वा आदेश हो जाता है—उसका निष्ठान्त रूप वाय होगा । वररुचि ने भी वा क्रिया को म्ले से ही सम्बद्ध किया है—

म्ले वावाजौ—प्राकृत-प्रकाश, ८।२१

महाकवि बाबरताराज ने इस क्रिया का शोषण के अर्थ में प्रयोग किया है—

जाय तारावङ्गो जायतमुनालपाडलमऊह ।

बिज अबालजम्बूफल-भग-पिसग परिवेस ॥

—गडडवहो, ११६५

इस प्रकार सिसिरवायलइया ( शिशिरवानलतिकाः ) का अर्थ है—शिशिर से म्लान या शोषित लतिकायें—शिशिरेण वाता शोषिता वा लतिका ।

उपमान पक्ष—शिशिरवात गृहीता = शिशिर की हवाओं या ठंडी हवाओं से पीड़ित । गाथा में शिशिर-शोषित लतिकाओं की तुलना बीन पुरुषों से की गई है । कपव, स्वरूपरहितत्व (अलक्षण) घूसरत्व, परुषत्व, रुक्षत्व और दुर्मगत्व ऐसे धर्म हैं जो दोनों में उपलब्ध होते हैं । परन्तु 'अवधूयअलक्षणाघूसराउ' और 'फरुसलुक्खाओ' पदों का स्त्रीलिंग, उनका 'दीणपुरिसा' से अन्वय करने में बाधक है । अतः विशेषणों की उभयपक्षीय सगति के लिये स्त्रीलिंग शब्दों के व्याख्यान में लिंगविपर्यय करना पड़ेगा । यदि अर्थान्तर करते समय उक्त स्त्रीलिंग विशेषणों के अन्तिम उकार और ओकार को पृथक् कर दें तो वे स्वतः पुलिग हो जायेंगे । 'उ' अनुकम्पा या आश्चर्य का बोधक अव्यय है ( देखिये, पाइयसइमहण्णव ) और 'ओ' सूचना और पश्चात्ताप का । (ओ सूचनापश्चात्तापे —प्रा० व्या०, २।२०३) । अर्थानुरोध से सम्पूर्ण गाथा का अन्वय इस प्रकार है—

उय अवधूयअलक्षणाघूसराउ फरुसलुक्खाओ सिसिरवायलइया<sup>१</sup> दीणपुरिसा  
व अलवखणा दोसति ।

१ स्त्रीलिंग में जस् विभक्ति के स्थान पर उत और ओत का विधान वैकल्पिक है । अतः वायलइया रूप भी बनेता है ।

—प्राकृत व्याकरण, ८।३।२७

इस प्राकृतान्वय-वाक्य को संस्कृत में रूपान्तरित कर देने पर शिग-विपर्यय की आवश्यकता विलुप्त नहीं रहेगी—

अवधूतलक्षणधूसरा पुरुषरूपा शिशिरवानलत्रिका दीनपुरुषा इव अवज्ञणा दृश्यन्ते ।

इस प्रकार लत्रिका के सभी विशेषण दीनपुरुष के साथ निर्बाह-रूप से अन्विष्ट हो जायेंगे ।

शब्दार्थ—अवधूय अवलक्षणधूसराट = १ अवधूतलक्षणधूसरा ( लता-पत्र )  
२. अवधूतलक्षणधूसरा ( दीनपुरुष )

लता-पत्र में अवधूत का अर्थ है—प्रकम्पित और अवज्ञा का अर्थ है—स्वरूप-रहित अब यदि अपने वास्तविक रूप ( लक्षण ) में न दिखाई देना । दीनपुरुष के पत्र में अवधूतक ( अवधूत+क ) छद्म हो जायगा, जिसका अर्थ है—छानु विशेष ।<sup>१</sup> अवधूतक लक्षण का अर्थ है—अवधूतों के रूपण वाला ।

अलक्षणा = अलक्षणा = श्रीहीन

शब्दार्थ—देखो, प्रकम्पित, स्वरूपगून्म, धूसर, पश्य और रूत हो जाने वाली शिशिर दीपित लत्रिकायें, इस प्रकार श्रीहीन दिखाई देती हैं जैसे—शिशिर वात गुहीत ( जाड़े की हवा से पीड़ित ) दरिद्र पुरुष कम्पित, स्वरूपगून्म, धूसर, पश्य और रूप होकर श्रीहीन दिखाई देते हैं ( अथवा जैसे दरिद्र पुरुष अवधूतों के समान धूल मरे, पश्य, रूत और श्रीहीन दिखाई देते हैं ) ।

गाथा क्रमांक ६६२

सकुट्यकपिरगो ससकिरो दित्तसमल्पयमगो ।

पलित्थाण लज्जमानो न गणेइ अइत्तए दित्त ॥ ६६० ॥

सकुटित्त कम्पनशीलाल्ल शकुनशीलो दत्त सकलपदमार्गं

पलित्तेभ्यो लज्जमानो न गणयति अतोत्ते दत्तम्

—श्रीपटवर्धन-स्वीकृत संस्कृत छाया

रत्नदेव की संस्कृत छाया में अनुपचरण का पाठ इस प्रकार है—

न गणयत्यपि त्वया दत्तम् ।<sup>२</sup>

१. देखिये, श्रीमद्भगवत् पंचम स्कन्ध

२. मुझे यही छाया मा'य है ।



उपमेय-पक्ष—शिशिर-वान-लतिका

संस्कृत ओवे ( शोषणे ) घातु से निष्ठान्त वान शब्द निष्पन्न होता है । प्राकृत में निष्ठा के तकार को नकार न होने पर वाय रूप भी बनेगा । वाय का अर्थ है—गुष्क । हेमचन्द्र के अनुसार ( म्लेर्वा-यन्वायो, ४।११८ ) म्लै घातु को प्राकृत में वा आदेश हो जाता है—उसका निष्ठान्त रूप वाय होगा । वररुचि ने भी वा क्रिया को म्लै से ही सम्बद्ध किया है—

म्लै वावाओ—प्राकृत-प्रकाश, ८।२१

महाकवि वाक्पतिराज ने इस क्रिया का शोषण के अर्थ में प्रयोग किया है—

जाय तारावङ्गो वायतमुणालपाडलमरुह ।

बिब अवालजम्बुकल-भग-पिसग परिवेस ॥

—गड डवहो, ११६५

इस प्रकार शिशिरवायलइया ( शिशिरवानलतिका\* ) का अर्थ है—शिशिर से म्लान या शोषित लतिकायें—शिशिरेण वाना शोषिता वा लतिका ।

उपमान पक्ष—शिशिरवात गृहीता = शिशिर की हवाओं या ठंडी हवाओं का पीडित । गायी में शिशिर शोषित लतिकाओं की तुलना दीन पुरुषों से की गई है । कष, स्वरूपरहितत्व (अमक्षण) घूसरत्व, परुषत्व, रूक्षत्व और दुर्भगत्व ऐसे धर्म हैं जो दोनों में उपलब्ध होते हैं । परन्तु 'अवधूयअलवक्षणघूसराठ' और 'फरुवलुक्खाओ' पदों का स्त्रीलिंग, उनका 'दीणपुरिसा' से अव्यय करने में बाधक है । अतः विशेषणों की उभयपक्षीय सगति के लिये स्त्रीलिंग शब्दों के व्याख्यान में लिंगविपर्यय करना पड़ेगा । यदि अर्थान्तर करते समय उक्त स्त्रीलिंग विशेषणों के अन्तिम उकार और ओकार को वृथक् कर दें तो व स्वतः पुलिग हो जायेंगे । 'उ' अनुकम्पा या आश्चय का बोधक अव्यय है ( देखिय, पाइयसद्महण्णव ) और 'ओ' सूचना और पश्चात्ताप का । (ओ सूचनापश्चात्तापे—प्रा० व्या०, २।२०३) । अर्थानुरोध से सम्पूर्ण गायी का अव्यय इस प्रकार है—

उम अवधूयअलवक्षणघूसराठ फरुवलुक्खाओ शिशिरवायलइया<sup>१</sup> दीणपुरिसा  
व्व अलवक्षणा दीसति ।

१ स्त्रीलिंग में जस् विभक्ति के स्थान पर उत और ओत का विधान वैकल्पिक है । अतः वायलइया रूप भी बनता है ।

—प्राकृत व्याकरण, ८।३।२७

इस प्राकृतान्वय-वाक्य को संस्कृत में रूपान्तरित कर देने पर अंग-विपर्यय की आवश्यकता बिल्कुल नहीं रहेगी—

अवधूतालक्षणधूसराः पुरुषरूपा शिशिरवानलतिकाः दीनपुरुषा इव अनजगा-  
दुदयन्ते ।

इस प्रकार लतिका के सभी विशेषण दीनपुरुष के साथ निर्बाध-रूप से अन्वित हो जायेंगे ।

शब्दार्थ—अवधूय अलक्षणाधूसराः = १. अवधूतालक्षणधूसराः ( लता-पक्ष )  
२. अवधूतकलक्षणधूसरा. ( दीनपुरुष )

लता-पक्ष में अवधूत का अर्थ है—प्रकम्पित और अलक्षणा का अर्थ है—स्वरूप-रहितरूप अर्थात् अपने वास्तविक रूप ( लक्षण ) में न दिखाई देना । दीनपुरुष के पक्ष में अवधूतक ( अवधूत+क ) शब्द हो जायगा, जिसका अर्थ है—साधु विशेष ।<sup>१</sup> अवधूतक लक्षण का अर्थ है—अवधूतों के लक्षण वाला ।

अलक्षणा = अलक्षणा = श्रीहीन

गाथाार्थ—देखो, प्रकम्पित, स्वरूपशून्य, धूसर, परप और रुझ हो जाने वाली शिशिर घोषित लतिकायें, इस प्रकार श्रीहीन दिखाई देती हैं जैसे—शिशिर वात गूहीत ( जाड़े की हवा से पीड़ित ) दरिद्र पुरुष कम्पित, स्वरूपशून्य, धूसर, परप और रुझ होकर श्रीहीन दिखाई देते हैं ( अथवा जैसे दरिद्र पुरुष अवधूतों के समान धूल-भरे, परप, रुझ और श्रीहीन दिखाई देते हैं ) ।

गाथा क्रमांक ६६२

संकुड्यर्कपिरंगो ससंकिरो दिघ्नसमलपयमग्नो ।

पल्लिमाण लज्जमानो न गणेइ अइत्तए दिघ्नं ॥ ६६२ ॥

संकुचित कम्पनशीलाङ्गः सङ्कुनशीलो दत्त सकलपदमार्गः ।

पलितेभ्यो लज्जमानो न गणयति अतीते दत्तम्

—श्रीपटवर्धन-स्थीवृत संस्कृत छाया

रत्नदेव की संस्कृत छाया में चतुर्थचरण का पाठ इस प्रकार है—

न गणयत्ययि त्वया दत्तम् ।<sup>२</sup>

१. देखिये, श्रीमद्भगवत् पंचम स्कन्ध

२. मुझे यही छाया मान्य है ।

अग्नेजी अनुवादक ने लिखा है—‘दिनसयत्पयमग्ने’ में कदाचित् मग्न शब्द का परनिपात हुआ है। मत उसे ‘मग्नादिनसयत्पजो’ ( मार्गदत्तसकल पद ) समझना चाहिये। ‘मार्गदत्तसकलपद’ का अर्थ इस प्रकार है—

“जो मार्ग में पूर्ण एवं समान पद रखता है।”

‘अदत्तं दिन’ का भाव अस्पष्ट बताया गया है। रत्नदेव ने इसके अर्थ पर किंचित् प्रकाश डालते हुए लिखा है—

अयि इति मामन्त्रणे वत्तमिति न गणयति ।

श्रीपटवर्धन ने अपनी टिप्पणी में इस व्याख्यावाक्य का भाव अस्पष्ट बताया है। हम विवेच्य गाथा का व्याख्यान करने के पूर्व प्रासंगिक भूमिका को स्पष्ट कर देना आवश्यक समझते हैं। उरुण नायक अब अँधेरी रातों में चोरी-चोरी परकीया नायिका के घर में रमणार्थ जाया करता था, तब रहस्य-भेद के भय से सिकुड़ा-सिकुड़ा-सा रहता था। उसके अग कभी-कभी भय से काँप उठते थे। प्राय कुत्ता की शका बनी रहती थी तथा सुगम एवं सुर्यम, सभी स्थानों पर पैर रखते हुए चलना पड़ता था। आज वह बृद्ध हो चुका है। श्वेत केशों को लजाता हुआ प्रिया के घर नहीं जाता है परन्तु साहच्य के दिनों में प्रिया के उद्दाम-प्रणय ने जो कुछ सिला दिया था, अब उन्ही गुणों का अभ्यास कर रहा है, क्योंकि वृद्धता के कारण जगो में सकोच ( श्रुतिर्मा ) उत्पन्न हो गया है और वे काँपने भी लगे हैं ( वृद्धता के कारण )। कुटुम्बियों के प्रति शका रहने लगी है ( ये मेरा धन ले लेना चाहते हैं, इत्यादि सोच कर ) और मार्ग में सचल ( लज्जलङ्घाते ) पद रखता हुआ चलता है। कवि ने प्रणय और वार्धक्य के जिन अनुभावों की योजना की है, वे उभयत्र साधारण हैं।

शब्दार्थ—सकुड्मवपिरगो { सकुचित कम्पनशीलाङ्ग } = १ भय वश सिकुड़े या झुके हुए तथा काँपते हुए अंगों वाला ( प्रणय-पक्ष )

२. वृद्धता जनित सकोच ( श्रुतिर्मा ) युक्त काँपते हुए अंगों वाला ( वार्धक्य पक्ष ) ।

सकोच ( सिकुटना ) और कम्पन वृद्धता और भय दोनों कारणों से उत्पन्न होते हैं ।

ससकिर ( स्वशङ्खनशीलः ) = कुत्तों से शका करने वाला ( प्रणय-पक्ष ) ।

ससकिर ( स्वशङ्खनशील ) = कुटुम्बियों से शका करने वाला

( स्व = अपने लोग, कुटुम्बी ) ।

दिन्न सयल पयमगो = १. जो मार्ग में सचन (लडखड़ाता) पर रखता है—दिन्नो सयलो सकपो पयो चलणो जमि सो दिन्नसयलपयो । दिन्नसयलपयो-मगो जस्त सो दिन्नसयलपयो, मगोसु दिन्ना सयला पया जेण वा (बुद्धता-पक्ष) ।

२ सभी स्थानों पर मार्ग बनाने वाला या सजल स्थान पर भी मार्ग बनाने वाला—दिन्नो ठवियो सजलेसु सज्जेसु पएसु ठाणेषु मगो पडो जेण । दिन्नो ठवियो सयलेसु ससलिलेसु पएसु ठाणेषु मगो पडो जेण वा (प्रणय-पक्ष) ।

गणेइ = अभ्यास करता है ।<sup>१</sup>

अइ (अपि) = अरी

तए (त्वया) तेरे द्वारा (छन्दोजुरोष से त का द्वित्व हो गया है) । बुद्धा नायिका की सहेली उससे कह रही है कि अरी, देख, तेरा पुराना प्रणयी तेरे दिये हुये गुणों का अब भी अभ्यास कर रहा है ।

गायार्थ—(पौवन में उत्कट-प्रणयावेग से तेरे गृह में रमणार्थ आने पर) जो सिक्कुवा-सिक्कुवा सा रहता था अब जिसके अंग भी कठिन परिस्तिथियों में) काँप उठते थे, जो कुत्तों से डरता रहता था (कि कहीं भूँकने न लगे) तथा सभी (सुगम या दुर्गम) स्थानों पर मार्ग बनाया करता था (क्योंकि प्रणयी दुर्गम स्थानों में भी राह ढूँढ लेता है) वही (बुद्धावस्था में) श्वेत बाला से लज्जाता हुआ, तेरे दिये हुये (सिखाये हुये) गुणों का अभ्यास कर रहा है, क्योंकि अब अबों में बुरियाँ (सक्रोच) पक गई हैं और वे काँपने लगे हैं, (उस) अपन कुटुम्बिया से शका होने लगी है तथा वह मार्ग में लडखड़ाते हुए चरण रखता है ।

गाथा क्रमांक ६६३

वम्मह भवसण दिव्वोसहीइ अग च कुणइ जरराओ ।

पेच्छह निट्ठुरहियओ एण्हि सेवेइ त कायो ॥ ६६३ ॥

इसकी संस्कृत छाया इस प्रकार दी गई है—

मन्मथभक्षण-दिव्योपध्याङ्ग च करोति जराराज ।

प्रेक्षध्व निष्ठुरहृदय इदानी त सेवते काम ॥

रत्नदेव ने इस गाथा की व्याख्या नहीं की है और प्रो० पटवर्धन ने भी इस का अनुवाद नहीं किया है। अंग्रेजी टिप्पणी में लिखा है कि 'वम्मह भक्षण-दिव्योपधो' तथा 'अग' शब्दों के अर्थ स्पष्ट नहीं हैं।

प्रस्तुत गाथा की जटिलता का प्रमुख कारण उपर्युक्त संस्कृत छाया है। छाया को प्राञ्जल रूप देने के पूर्व कतिपय पदों का आर्थिक विवेचन आवश्यक है। 'वम्मह भक्षणदिव्यो' इस पद में बहुव्रीहि है। यहाँ प्राकृत की प्रकृति के अनुसार दिव्य शब्द का पर-निपाठ हो गया है। समस्तपद का संस्कृत रूपान्तर 'मन्मथ-दिव्य भक्षण' होगा। इसका अर्थ है—कामदेव ही जिसका सुन्दर भोजन है (मन्मथ एव दिव्य भक्षण भोजन यस्य)। इस पद में निम्नलिखित समासान्तर भी सम्भव है—मन्मथस्य दिव्य भक्षण (कतरि स्युट्) भक्षक, अर्थात् कामदेव का दिव्य भक्षक। 'कुणइ' क्रिया का सम्बन्ध प्राकृत कुण (कृ का घात्वादेश) से नहीं है। यहाँ 'कुण' शब्द संस्कृत कूणधातु (कूण सकोच्चे) से निष्पन्न है। प्राकृत की प्रकृति और छन्द के अनुरोध ने 'कूण' को 'कुण' बना दिया है। 'कुणइ' का संस्कृत रूपान्तर कूणयति है। कूणयति का अर्थ है—सकुचित कर देता है या मुका देता है। तृतीय चरण निविष्ट 'निट्ठुर हियओ' पद 'जरारामो' का विशेषण है, चतुर्थ चरणस्थ 'कामो' का नहीं। 'जरारामो' में निम्नलिखित दृग से श्लेष है—

जरारामो (ज्वरराज) ≈ १ श्लेष ज्वर

२. जराराज अर्थात् वार्षक्यरूपी राजा

त शब्द स्त्रीलिंग ताम् का प्राकृतरूप है और द्वितीय चरण में अवस्थित 'राही' से अन्वित है। गाथा की संस्कृत छाया को यह रूप देना चाहिये—

मन्मथदिव्यभक्षण सख्या अङ्ग च कूणयति जराराज (ज्वर राज) ।

प्रेक्षध्व निष्ठुरहृदय इदानी सेवत ता काम ॥

प्रसंग—इस पद्य में काम विकार की अपरिहार्यता का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन है। नायिका की अवस्था अब ढल चुकी है, फिर भी उसका मन कामवासना से मुक्त नहीं हो सका है। नायिका को सहेली किसी अन्य से उसकी इस प्रवृत्ति का वर्णन कर रही है।

अर्थ—देशो, काम ही जिसका दिव्य भोजन है (या जो काम का दिव्य भक्षक है) वह निरतुर हृदय वार्धक्यरूपी ज्वरराज सखी के अग को सिकोड़ रहा है (उनमें झुरियाँ पड़ रही हैं या वे झुकते जा रहे हैं)। इस समय भी काम उसकी (सखी की) सेवा कर रहा है।

स्वामिमत्त सेवक वही होता है, जो गाढ़े दिन में भी काम आये। काम नायिका का इतना मत्त सेवक है कि वार्धक्य में भी साथ नहीं छोड़ रहा है।

### गाथा क्रमांक ६७३

अवहरइ ज न विहिय ज विहियं तं पुणो न नासेइ ।

अइणित्ठणो नवरि विही सित्थं पि न वड्ढिउ देइ ॥ ६७३ ॥

प्रो० पटवर्धन ने लिखा है कि इस गाथा का भाव स्पष्ट नहीं है।<sup>१</sup> रत्नदेव ने 'विहिय' का अर्थ 'कृतम्' लिखा है, जिसे आधार मानकर अग्नेजी टिप्पणी में बहुत बड़ा ऊहापोह किया गया है। सस्कृत-टीका में 'अवहरइ ज न विहियं' की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

विधियं कृतं तन्नापहरति अर्थात् जो नहीं किया गया है, उसका अपहरण विधि नहीं करता है। यह व्याख्या बिल्कुल निरर्थक है। श्री पटवर्धन ने भी 'विहिय' का अर्थ 'कृतम्' ही स्वीकार किया है। अतः उन्हें बहुत अधिक मतकना पड़ा है और अन्त में इस निताम्य सरल गाथा को भी दुरुह घोषित करना पड़ा।

यहाँ 'विहिय' का अर्थ है—पूर्व-निर्धारित। मनुष्य को अपने जीवन में जो कुछ भी प्राप्य होता है, वह विधाता-द्वारा बहुत पहले से ही निर्धारित रहता है। उसमें किसी भी प्रकार म्युनाधिक्य सम्भव नहीं है।

गामार्थ—जो पूर्व-निर्धारित नहीं है उसे हर लेता है, (प्राप्त नहीं होने देता) जो निर्धारित है उसे नष्ट नहीं करता (सँजोये रहता है), भाग्य हो मनुष्यो को उनका प्राप्य देने में अति निपुण है, एक कण भी बढ़ने नहीं देता।

### गाथा क्रमांक ६८१

केसाण दंतणह ठक्कराण बहुयाण बहुयणे तह य ।

यणयाण ठाणचुक्काण मामि को आयर कुणइ ॥ ६८१ ॥

श्रीपटवर्धन ने चतुर्थ चरणावस्थित 'बहुयणे' को 'बधूजने' समझकर तृतीय-चरणावस्थित 'यणयाण' से इस प्रकार अन्वित किया है—बहुयणे तह य थणयाण ( बधूजने तथा च स्तनानाम् ) । परन्तु यह क्लिष्ट-कल्पना उचित नहीं है । इस व्याख्या के गाथा में वधू शब्द की दो बार निरर्थक आवृत्ति होने पर पुनरुक्ति दोष होगा । बधूजने तथा च स्तनाना स्थानच्युताना क आदर करोति—इस वाक्य का सीधा अर्थ है कि बधूजनो में स्थानच्युत स्तनो का कौन आदर करता है । प्रश्न यह है कि तरुणियों के उरोजो की उन्मत्ति को सहृदय और आदर तरुणियाँ ( बधूयें ) देती हैं या तरुण ? भला तरुणियों के कामोद्दीपक उरोजों के स्थानच्युत हो जाने पर दूसरी बधूटियों का क्या जाता है, जो वे उनका आदर नहीं करेंगी । याद 'बहुयणे' की सप्तमी विभक्ति को यद्यपि के अर्थ में लें तो भी पुरारुद्ध कल्पना होगी । अतः 'बहुयणे' की उपर्युक्त व्याख्या ठीक नहीं है । यदि 'बहुयणे' का सस्कृत-रूपान्तर 'बधूजने' कर दे तो अर्थ-सौकर्य होगा, गाथा के सस्कृत रूपान्तरका अन्वय इस प्रकार करना चाहिये—

स्थानच्युताना केशाना दन्तनखठकुराणा तथा च बधूकाना स्तनाना बहुजने क आदर करोति । इस वाक्य में 'तथा च' को बधूकाना के पूर्व या पश्चात्—कहीं भी रख सकते हैं । पूर्व रखने पर उत्तरे अर्थ होगा—'और उसी प्रकार बधूओं के स्थानच्युत स्तनो का आदर कौन करता है ?' पश्चात् रखने पर उसका अर्थ यो हो जायगा—स्थानच्युत बधूओं का और स्थानच्युत स्तनो का समादर कौन करता है ?

बहुयण = बधूजन = जनसमूह

गाथार्थ—सखि ! केश, दाँत, नख, ठाकुर ( क्षत्रिय या ग्रामपति ) और बधूटियों के स्तन अब स्थानच्युत हो जाते हैं, तब जनसमूह में उनका आदर कौन करता है ?

गाथा क्रमाक ६८३

गहियविमुक्का तेय जणति सामाइणो नरिदाण ।  
दडो तह न्चिय द्विय आमूल हणइ टकारो ॥ ६८३ ॥

गृहीतविभ्रुवतास्तेजो जनयन्ति सामाजिका नरेन्द्राणाम्  
दण्डस्तथैव स्थित आमूल हन्ति टणत्कारः

—श्री पटवर्धनकृत सस्कृत छाया

रत्नदेव ने इसकी व्याख्या नहीं की है। मूल में 'जणति' के स्थान पर 'जिणति' पाठ भी मिलता है। गाथा को अंग्रेजी में इस प्रकार अनूदित किया गया है—

“राज्य के लोग, जो पहले बन्दी बना लिये जाते हैं और फिर मुक्त कर दिये जाते हैं, राजाओं के प्रताप और महत्त्व को बढ़ाते हैं। बाण जहाँ है वही रहता है, परन्तु धनुष की प्रत्यक्षा की टकार पूर्णतया मार डालने ( या मयभीत करने ) में समर्थ होता है।”

टिप्पणी में प्रमुख शब्दों के अर्थ इस प्रकार दिये गये हैं—

दण्ड = १—Physical Punishment, torture अर्थात् शारीरिक दण्ड

२—Arrow अर्थात् बाण

परन्तु काण्ड के पर्याय दण्ड को भी बाणार्थक मान बैठना ठीक नहीं है। एक दण्ड के अनेक पर्याय होते हैं, परन्तु उनके सभी अर्थ समान नहीं हो सकते हैं। साहित्य में कहीं भी दण्ड का प्रयोग बाण के अर्थ में दिखाई नहीं देता और न कौशों में ही उसका उल्लेख है।

गृहीत = Captured अर्थात् बन्दी

सामाज्यो = समाजिन

यद्यपि 'सामाज्यो' की छाया 'सामाजिका' दी गई है तथापि अनुवादक ने उक्त शब्द का सम्बन्ध 'समाजिन' से जोड़ते हुये लिखा है कि यहाँ सकार में दीर्घता ( Elongation ) आ गई है ( पृ० ५७३ )। सामाजिक या समाजी का अर्थ है—भद्रपुरुष या सम्य व्यक्ति।

अब उपर्युक्त अर्थों का पर्यालोचन करने पर प्रश्न यह उठता है कि यदि सामाजिक का अर्थ भद्रपुरुष है तो उन्हें बन्दी क्यों बना लिया जाटा है? क्या भद्र पुरुषों का साथ राजा ऐसा ही व्यवहार करते हैं? उक्त अंग्रेजी अनुवाद इतना विशुद्ध है कि पूर्वार्ध और उत्तरार्ध में कोई सम्बन्ध ही नहीं रह गया है। यदि गाथा की दोनों पक्तियों में समर्थ-समर्थक-भाव मानें तो उत्तरार्ध के द्वारा पूर्वार्ध का समर्थन समझ नहीं दिखाई देता है।

प्रस्तुत गाथा 'टाण वज्जा' में संकलित है। अंग्रेजी अनुवाद से लगता है जैसा यह अपने धीर्घक से बहुत दूर हट गई है। कदाचित् इसीलिये अनुवादक ने इस 'Out of Place' कहा है (भूमिका पृ० १०)।



अब हम इस भाषा के वास्तविक अर्थ पर विचार करेंगे । इसमें यह बताया गया है कि जो राजा साम, दान और भेद—इन तीनों उपायों को उचित समय और स्थान पर कभी ग्रहण करते हैं और कभी छोड़ देने हैं, उनके प्रभाव की वृद्धि होती है और प्रायः दण्ड की आवश्यकता ही नहीं पड़ती है । मूल में स्थित 'सामादणो' का संस्कृत रूपान्तर 'सामादय' है, 'सामाजिका' या 'समाजिन' नहीं । 'सामादय' का अर्थ है—साम, दान और भेद सजक उपायनय । दण्ड और टकार शब्दों में व्येप है—

दण्ड = १ उपाय विशेष (दण्डनीति)

२ धनुर्दण्ड

टकार = १ ज्या-शब्द

२. ओज, तेज

गाथार्थ—(अनुकूल अवसर और उचित स्थान पर) ग्रहण किये और छोड़ दिये गये सामादि उपाय राजाओं के प्रभाव को उत्पन्न करने हैं । दण्ड तो सभी प्रकार स्थित रह जाता है (अर्थात् उसका कभी उपयोग ही नहीं होता है) । तेज ही शत्रु को आसक्त (जड़ समेत) नष्ट कर देता है । जैसे धनुर्दण्ड अपने स्थान पर ही रहता है परन्तु उसकी टकार (ज्या-शब्द) ही शत्रुओं को मूस समेत मार डालती है (अर्थात् पीड़ित करती है) ।

हन् को पर्यर्थक मानकर निम्नलिखित अर्थ भी संभव है—

धनुर्दण्ड उसी प्रकार स्थित रहता है, उसकी टकार ही शत्रु के निकट (मूत्र = निकट, देखिये मेदिनी कोश) तक पहुँच जाती है । श्लेषानुरोध से हन् के इस अर्थ में अप्रयुक्तत्व शेष नहीं है—

अप्रयुक्तनिहतायीं श्लेषादावदुष्टौ ।

—वाक्य प्रकाश, सप्तमोऽलस

'जिगति' पाठ स्वीकार करने पर पूर्वार्थ का यह अर्थ होगा—

(उचित समय पर) ग्रहण किये गये और छोड़ दिये गये सामादि उपाय राजाओं (प्रतिपक्षियों) का तेज जोत लेते हैं ।

१. महाकवि चाकपतिराजने इस शब्द का इसी अर्थ में इस प्रकार प्रयोग किया है—

विणय गुणो दबाहबरो य मडति जह परिदसम् ।

एह टकारो महरत्तण य वाय पगहँति ॥

—पउद्वहो, ९७

गाथा में यह बताया गया है कि जैसे मुक्ता में सूत्र के प्रवेश के लिये छिद्र के साथ-साथ सूई का प्रवेश आवश्यक है ( क्योंकि सूई की सहायता से ही सूत्र मुक्ता के भीतर प्रवेश करता है ), वैसे ही संपर्क-शून्य प्रभु का अन्तरंग बनने के लिये गुणवान् जनो की तालिका में सेवक का नाम अकिञ्च होना भी अनिवार्य है ।

गाथार्थ—सेवक छिद्ररहित मुक्ताहल के समान उस गुणवान् प्रभु का क्या करे (अर्थात् उसकी कौन-सी सेवा करे) जो उसके (सेवक के) गुणों को मूल गया है (या जानता ही नहीं है या जिस पर कोई भ्रमाव ही नहीं पड़ता है) । जहाँ सूई का प्रवेश नहीं होता वहाँ (अर्थात् छिद्ररहित मुक्ताहल में) सूत्र (गुण) बाहर ही रह जाते हैं ।

अन्य अर्थ—जहाँ तालिका (फिहरिस्त) का प्रवेश नहीं हो पाता (अर्थात् तालिका सामने नहीं लाई जाती है) । वहाँ गुण (अच्छाइयाँ) बाहर ही रह जाते हैं (अर्थात् उपेक्षित रह जाते हैं) ।

### गाथा क्रमांक ६९५

ता निग्गुण च्चिय वर पटुणवल्लभेण जाण परिओसो ।

गुणिणो गुणाणुरुव फलमलहता किलिस्सति ॥ ६९५ ॥

श्री पटवर्धन ने लिखा है कि निग्गुण शब्द 'निग्गुत्तणे (निग्गुणत्व) के अर्थ' में है । उनका यह मत ठीक नहीं है । यहाँ 'निग्गुण च्चिय' का अर्थ 'निग्गुणा एव' है । 'पटुणवल्लभेण' का अर्थ उन्होंने यह दिया है—“जिन्होंने नया स्वामी निश्चित किया है ।” (पृ० ५७६)

मैं समझता हूँ, यहाँ इस शब्द का अर्थ है—प्रभु से होने वाला नया लाभ । जो सेवक गुणहीन होते हैं उन्हें जब स्वामी प्रसन्न होकर कुछ देता है, तब वह कृपोपजीविनी उपलब्धि उनके लिये सर्वथा नई होती है क्योंकि प्रायः गुणहीन होने के कारण उन्हें पुरस्कृत होने का अवसर मिलता ही नहीं है । जब वे बेचारे अर्थात्किञ्च लाभ से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं । गुणीजनों की स्थिति विपरीत है । वे तो सभी सन्तुष्ट होते हैं जब गुणों की गरिमा के अनुकूल कोई पारितोषिक प्राप्त होता है । प्रायः गुणों के अनुरूप पारिश्रमिक मिल नहीं पाता है । अतएव गुणीजन जीवन में अधिकतर असन्तोष-जनित क्लेश से पीड़ित रहते हैं ।

श्री पटवर्धन ने लिखा है—“इस गाथा के पूर्वार्ध का भाव अस्पष्ट रह गया है और उत्तरार्ध से उसकी तर्कसम्मत समझ नहीं बैठती ।” यदि गाथा को उप-

मुक्त मन्दर्भ के आलोक में रख दें तो अर्थ में कोई विषयति नहीं रहेगी ।

गायार्थ—तो निर्गुण (गुणहीनजन) ही श्रेष्ठ है जो प्रभु से नहीं उपलब्धि होने पर सन्तुष्ट हो जाते हैं । गुणीजन गुणों के अनुरूप फल (पारितोषिक आदि लाभ) न पाते हुए बड़ेस उठाते हैं ।

गायार्थ क्रमांक ६९९

किं तेन जाड्येण वि पुरिसे पयपूरणे वि असमर्थे ।

जेण न जसेण भरिय सरिख भुवणतरं सयल ॥ ६९९ ॥

किं तेन जाड्येण वि पुरिसे पयपूरणेऽप्यसमर्थेन

येन न यथासा नृतं सखिद् भुवनान्तरं सकलम्

—रत्नदेव-सम्भव संस्कृत-छाया

रत्नदेव की संस्कृत छाया के आचार पर श्री पटवर्धन ने इसका यों अनुवाद किया है—

“जो पुरुष उच्चपद को पूर्ण करने में भी असमर्थ है, जिसने सरिता के समान सम्पूर्ण जगत् को यश से भर नहीं दिया उसके जन्म देने से भी क्या लाभ ?” इस अनुवाद की ठीक नहीं कहा जा सकता है । ‘पयपूरणे वि’ इस कथन में ‘वि’ (अवि) के द्वारा ‘पयपूरण’ (पदपूरण) की किस तुच्छता का सूचना दी गई है, वह उच्चपद में बिल्कुल नहीं है । प्रायः चाटुकारिता, परिस्मिति-विशेष या अन्य आकस्मिक कारणों से अयोग्य व्यक्ति भी उच्च पदों पर पहुँच जाते हैं और अयोग्य व्यक्ति लड़े लाकटे रह जाते हैं । अतः जब उच्चपद पर पहुँचना केवल अपने अधीन नहीं है तब उसके अभाव में किसी पुरुष के जन्म की अर्थता का प्रतिपादन करना अनुचित है । यदि हीरे की धनमुकुट में स्थान नहीं मिला तो उसका क्या दोष है ? दोष तो उन अधान राजा का है जो उस बहुमूल्य हीरे को पहचान नहीं सका ।

श्री पटवर्धन ने लिखा है—“पयपूरणे” को अपभ्रंश की शैली में करण कारक एकवचन का रूप मानकर निम्नलिखित रीति से उसे उपमान सरित् से भी सबद किया जा सकता है—

यथा सरिता पयपूरणेन (= पूरण) सकल भुवनान्तरं भ्रियते (= व्याप्तिरते)  
तथा येन पुरुषेण पदपूरणे असमर्थेन सकल भुवनान्तरं यथासा न नृत (= व्यातम्),  
तेन पुरुषेण जाड्येण विन् (पृ० ५७७) ।

परन्तु यह क्लिष्ट कल्पना है। यहाँ सोचे-सादे शब्दों में यद्वा कृत् भुवनान्तर-भरण की सरित्कृद् भुवनान्तर-भरण से उपमा दी गई है। 'पय' (पद) का अर्थ है—श्लोक का एक चरण। गायत्रि में काव्य-रचना का महत्त्व और उससे मिलने वाले यश का वर्णन है। चतुर्थ = चरणनिविष्ट भुवणतर पद में श्लेष है। उसको व्याख्या निम्नलिखित है—

भुवणतर (भुवनान्तरम्) = सम्पूर्ण जगत्

भुवणतर (भुवनान्तरम्) = भुवः पृथिव्या ब्रह्मणा च अन्तर मध्यभागम्। अर्थात् पृथ्वी और ब्रह्म के मध्य-भाग को। श्लेषा-नुरोधवश भू का भु हो जाना प्राकृत की प्रकृति के विरुद्ध नहीं है। अपभ्रंश में स्वरों के स्थान पर अन्य स्वर प्राप हो जात है। प्राकृत में भी छन्दोऽनुरोध से गुरु को लघु और लघु को गुरु हो जाता है।<sup>१</sup>

चतुर्थ चरण की संस्कृत छाया में श्लेष की सूचना के लिये 'भुवनान्तरम्' का भी निवेदन आवश्यक है। तभी संस्कृत-छाया पाठ से सरित्पथीय समीचीन अर्थ की स्पष्ट अवगति समभव होगी। सरित्पक्ष में भी भुवनान्तर का अर्थ सम्पूर्ण जगत् समझने की मूल नहीं करनी चाहिये क्योंकि बड़ी से बड़ी सरिता भी सम्पूर्ण जगत् को प्लावित करने में समर्थ नहीं है। अतिशयोक्ति उपमेय के पक्ष में होती है, उपमान के पक्ष में नहीं।

गाथार्थ—श्लोक का एक चरण भी पूर्ण करने में असमर्थ उस पुरुष के जन्म लेने से क्या लाभ है जिसने जगत् के विभिन्न भागों को इस प्रकार यश से नहीं भर दिया जिस प्रकार सरिता पृथ्वी और ब्रह्म के मध्य भाग को (प्लावन से) भर देती है।

गाथा क्रमांक ७०१

किं तेण आइएण व किं वा पसयच्छि तेण व गएण ।

जस्स कए रणरणय नयरे न घराघर होइ ॥ ७०१ ॥

१ गुरु बलाघववशात् ।

—प्राकृतानुशासन, १७।१६

इस गाथा का अंग्रेजी अनुवाद इस प्रकार है—

“उसके जन्म लेने से क्या ? अथवा उसके मर जाने से ही क्या ? जिसके लिये नगर में घर-घर शोक न हो ।” ( मूल का अनुवाद ) प्रो० पटवर्धन ने मूल में स्थित आइय ( आगत ) का अर्थ उत्पन्न ( born ) और गय ( गत ) का अर्थ मृत ( dead ) तथा रणरणय का अर्थ शोक ( sorrow ) किया है । प्रथम दो शब्दों के अर्थ लाक्षणिक हैं । लक्षणा का आशय लेना उसी दशा में उचित है, जब मुख्यमार्ग आविष्ट हो । यहाँ जब मुख्यार्थ से ही काम चल सकता है तब दूर जाने की क्या आवश्यकता है ? यदि उक्त लाक्षणिक अर्थ मान भी लें तो अन्य प्रश्न उठ खड़ा होता है । उन्होंने ‘रणरणय’ का अर्थ शोक किया है । मृत्यु हो जाने पर शोक होना स्वाभाविक है । परन्तु किसी का जन्म होने पर शोक की बात समझ में नहीं आती । यदि कहें कि शोक केवल मरण के लिये है तो गाथा में वैशिष्ट्यहीन जन्म की चर्चा क्यों की गई ? यदि ‘जिसके लिये’ को आगमन और गमन के बजाय उस व्यक्ति विशेष से अन्वित करें तो भी ( जिस व्यक्ति के लिये नगर में घर-घर में शोक न हो ) यह अर्थ नितान्त अमागलिक बन जाता है । यदि शोक के स्थान पर उत्सुकता अर्थ करें तो अमागलिकता नहीं रहेगी । इस सीधी-सी गाथा का वास्तविक तात्पर्य तो यह है कि जिसके जाने पर लोग प्रसन्न न हों और जाने पर दुःखी न हों, उसके जाने और जाने से क्या लाभ है ? कवि ने यहाँ कुशलता पूर्वक एक ही शब्द से हर्ष और उद्वेग—दोनों अर्थों को प्रकट कर दिया है । ‘रणरणय’ अनेकार्थक शब्द है । वह निःस्वाप्त, उद्वेग—औत्सुक्य और अधृति का बोधक है तथा आगमन के पक्ष में औत्सुक्य ( हर्ष जनित ) और गमन के पक्ष में उद्वेग का अर्थ दे रहा है । मैंने हिन्दी अनुवाद में उक्त शब्द का अर्थ अधीरता ( अधृति ) दिया है क्योंकि किसी प्रियदर्शन सज्जन के आगमन पर उसे देखने के लिये जैसी अधीरता प्राणियों में देखी जाती है, वैसी ही उसके चले जाने पर भी होती है ।

गाथा क्रमांक ७०२

उड्ढं वच्चति अहो वयति मूलंकुरं व्व भुवणम्मि ।

विज्जाहियए कत्तो कुलाहि पुरिसा समुप्पन्ना ॥ ७०२ ॥

गाथा का मूलपाठ अनुद्ध है । सग्रहकार ने इसे वाक्पतिराजकृत गउठवहो से सकलित किया है । वहाँ इसका पाठ इस प्रकार है—

वच्चति अहो उहृद अइति मूलकुरब्ब पुहईए ।

बीआहि व एक्कत्तो कुलाहि पुरिसा समुप्पण्णा ॥ ७२२ ॥

गाथा क्रमाक ७१२

अप्प पर न याणसि नून सउणो सि लच्छिपरियरिओ ।

उज्जल-समुहो पेच्छह ता वयण पि हु न ठावेइ ॥ ७१२ ॥

आत्मान पर न जानासि नून समुणोऽसि लक्ष्मीपरिचरित ।

उज्ज्वलसमुल प्रेक्ष्य तद्दशनमपि खलु न स्थापयति ॥

—श्री पटवर्धनस्वीकृत संस्कृत छाया

प्रस्तुत गाथा का विकृत पाठ प्रत्येक व्याख्याकार के समक्ष एक जटिल समस्या उपस्थित कर देता है जहाँ पूर्वार्ध में 'याणसि' और 'असि' क्रियायें मध्यम पुरुष एक वचन की हैं वहीं उत्तरार्ध में प्रथम पुरुष एकवचन की क्रिया 'पेक्खह' भी विद्यमान है। यदि कमल को सम्बोधित मानते हैं तो पुरुषान्तर की क्रिया 'ठावेइ' से उसका अन्वय ही नहीं होता है। यदि 'उज्जलसमुहो' को उत्तरार्ध का कर्ता मान तो कठिनाई यह उपस्थित होती है कि मध्यम पुरुष बहुवचन की क्रिया 'पेक्खह' को किससे सम्बद्ध करें। इन समस्याओं का निराकरण के लिये संस्कृत-टीकाकारों ने पुरुषव्यत्यय-द्वारा 'ठावेइ' को 'स्थापयसि' मानकर व्याख्या करने का प्रयत्न किया है परन्तु वे 'पेक्खह' का अर्थ 'पश्यत' लिखकर उससे सम्बन्धित जटिलता का कोई समाधान नहीं कर सके। संस्कृत-टीका में प्रमुख पदों के अर्थ इस प्रकार दिये गये हैं—

अप्पापर न याणसि = आत्मान पर च न जानीये ।

सउणो = समुध्य

लच्छिपरियरिओ = लक्ष्म्या परिकरित

ठावेइ = स्थापयसि

पेक्खह = पश्यत

उज्जलसमुहो = उज्ज्वलसमूह

श्री पटवर्धन ने 'सउण' का अर्थ 'समुण' और 'उज्जलसमुहो' का अर्थ 'उज्ज्वलसमुल' लिखकर यह अधूरा अनुवाद किया है—

"तुम न तो अपन को और न दूसरे को ही जानते हो। निश्चय ही तुम वस्तुयुक्त ( पश्चान्तर में सदगुणों से युक्त ) हो और लक्ष्मी से सेवित हो ।"

इस अनुवाद के सम्बन्ध में यह पाद-टिप्पणी दी गई है—

The sense of the second half of the gatha is obscure

उपर्युक्त अनुवाद से लगता है, जैसे गायामें कमल की प्रशंसा की गई हो जबकि प्रकरण के अनुसार उसकी निन्दा होनी चाहिये। अतः उक्त अधूरे अनुवाद को भी सन्तोषजनक नहीं कहा जा सकता है।

प्रस्तुत गायामें प्रकरणत कमलनिन्दा वर्णित है। एतदर्थं कवि ने श्लिष्ट पदों का प्रयोग किया है। पूर्ववर्ती टीकाकारों ने श्लेष पर ध्यान नहीं दिया, जिससे सनको व्याख्यायें कमल-प्रशंसा परक बन गईं। उल्लू मुखता का प्रतीक होने के कारण निन्दा का पात्र है। यहाँ तुल्य विशेषणों द्वारा कमल और उल्लू (बलूक) को एक साथ प्रस्तुत किया गया है। यदि चाहें तो कमल के निवास कमल को घनिकों का प्रतीक भी मान सकते हैं। इस सम्बन्ध में एक बात पर और ध्यान देना है। गायामें कमल शब्द का प्रयोग कहीं भी नहीं है। कमल निन्दा-प्रकरण में सकलित होने के कारण ही इसको कमल से सम्बन्ध किया गया है। अयसौकर्य की दृष्टि से विवेच्य गायामें इस प्रकार पढ़ना होगा।

अप्या पर न यागसि नून सज्जो सि लज्जपरिचरिओ ।

उज्ज्वल समुहो पेच्छ ह ता वयण न हु ठावेइ ॥

छाया—आप्यात् ( आप्यम ) पर न जानासि नून सगुणोऽसि ( सङ्गुणोऽसि )  
लक्ष्मीपरिचरित ( लक्ष्मीपरिकरित ) ।

उज्ज्वलसमूह (उज्ज्वलसम्मुख) प्रेक्षस्व ह तावदयन (तद्बदन) न स्थापयति  
शब्दार्थ—अप्या<sup>१</sup> ( आप्यात्<sup>२</sup> ) = जल-विकार ( कदम्ब-तरंग-भगादि )

१. डसेराशोदुहय — प्राकृत प्रकाश, ५।६

२. पाणिनीय व्याकरण अप् शब्द में विकारार्थक भयट् प्रत्यय का विधान करता है परन्तु श्री हर्ष ने कई स्थलों पर आप्य ( अप्यम के अर्थ में ) का प्रयोग किया है। निम्नलिखित श्लोक द्रष्टव्य है—

तस्या मनोवन्ध विमोचनस्य कृतस्य तत्कालमिव प्रचेता ।

पाश दवान करबद्धवास विमुर्बभावाप्यमवाप्य देहम् ॥ नैपथ, १४।६७

टीकाकार मस्तिनाथ ने आप्य शब्द की सिद्धि के लिये चान्द्र व्याकरण का सूत्र 'आप्याञ्च' उद्धृत किया है। अमर कोश में इस शब्द का उल्लेख यों है—

आप्यमप्यमम् ।

अप्पा ( आत्मन ) = अपने से

पर = अधिक भिन्न

सठण ( सगुण ) = १ तन्तु-सहित या गुण-सहित

२. चक्रुन = पक्षी

लच्छिपरियरिय = १. लक्ष्मीपरिचरित = लक्ष्मी से सेवित,

२ लक्ष्मीपरिकरित = लक्ष्मी-द्वारा परि-  
कर बनाया गया ।

उज्जलसमुह = १. उज्ज्वल समूह = जिसका समूह

उज्ज्वल है, २ उज्ज्वल-सम्मुख = सूर्य

क सम्मुख ( उदगच्छति जल यनासी

उज्जल सूर्यस्तस्य सम्मुख ), ३.

जिसका अपना मुख उज्ज्वल है (उज्ज्वल

स्व मुख यस्य ) ।

ह = निन्दायुक्त या पादपूर्ति-प्रयोजक अभ्यय ।

ठाव = १ ठावत् = तो, २ वचनम्

वयण = १. वदनम् = मुँह, २ वचनम्

टावेइ = १. रक्षा करती है । २. स्थिर करता है ।

‘ठावयण’ की अन्य व्याख्या इस प्रकार सम्भव है—

ठा = लक्ष्मी ( पादयसदमहणन )

व = वा = जोर, ही (पादयसदमहणनव )

वाम्ययोस्त्राता-दावदात १।६७, इस हैम

मूत्र स ह्रस्वत्व ।

वयण = घर

‘ठावयण न हू टावइ’ अर्थात् लक्ष्मी ही अपने घर ( वयण = गृह ) को स्थापित नहीं करती ( रखित नहीं रखती ) ।

गाथायं—( हे कमल ) तुम जड़ विकार से अधिक ( या अन्य ) नहीं जानते हो, निश्चय ही तुम्हारा समूह उज्ज्वल है, तन्तुसहित ( या गुण-सहित ) हो तथा लक्ष्मी से सेवित हो । ह देखो तो ( वह लक्ष्मी ) घर ( कमल ) को भी नहीं मुरझात रखती है ( अपना उसे भी थी हीन करके अन्त में चली जाती है या तुषारादि से उसको रक्षा नहीं करती है ) ।



द्वितीयार्थ—तुम अपने से अन्य को नहीं जानते हो, निश्चय ही लक्ष्मी-प्राप्त पङ्क्तिपेठ ( बह्म बनाने से ) यथा ( यथात् उक्त पुराणों के अनुसार लक्ष्मी का बह्म उक्त है ) हो । अरे ! तुम तुम के सम्मुख होकर देखो तो, वह (तुम) तुम्हारे मुख को जो स्थिर नहीं होने देता है ( उक्त शब्दों को देखने में अतर्क्य होता है ) ।

कमल माल का प्रयोग न होने के कारण यदि चणिकनिन्दा के सम्बन्ध में निम्नलिखित अर्थ ग्रहण करें तो भी कोई शक्ति नहीं है—

( हे चणिक ) तुम अपने से अन्य को नहीं जानते हो, ( यथात् अपने अपने क्लेशों को भी शोभामालाओं नहीं समझते ), निश्चय ही तुम लक्ष्मी से खेदित और मुनवान् हो । परन्तु अरे ! देखो तो, उज्ज्वल जनों का ( पूज्यवर्ति मनुष्यों का ) मन्द ( तुम से ) वचन भी नहीं स्थापित करता है ( यथात् बात भी नहीं करता है ) ।

द्वितीय अर्थ प्रवक्तृ ही होगा ।

### गाथा क्रमांक ७१३

लज्जोऽपरिग्रह्या उद्धमुहा जड न दृति ता पेच्छ ।

जैहि चिय उद्धविया त चिय नाल न पेच्छति ॥ ७१३ ॥

पता नहीं क्यों इसे भी अस्पष्ट घोषित कर दिया गया है । इस सुन्दर और मरल पद्य में कवि ने यह बताया है कि जिन पर लक्ष्मी की कृपा हो जाती है, उनको दृष्टि ढँकी हो जाती है । वे उन लोगो की ओर कभी नहीं देखते हैं जिनके श्वाग, बलिदान और धर्म के वृत्त पर आज भी जीवित है । इस मार्मिक उक्त्य की अभिव्यक्ति के लिये कमल की प्रतीक-रूप में चुना गया है । परम्परा-नुसार कमल लक्ष्मी का आवास है । वह जब विकसित होता है तब उसका मुख ऊपर ही रहता है, कभी भी नीचे की दिशा में नहीं मुड़ता है । कदाचित् वह भूल जाता है कि वे ही नाल ( मृणाल ) हैं जिन्होंने कभी कलुषित पंक से ऊपर उठा कर उसे पकड़ म सुरभित कमल ( जल की शोभा बढ़ाने वाला ) बनाने का कार्य किया है और आज भी आकण्ठ जल में निमग्न रह कर कण्टकित पारो म अहरह इस अनुत्तम गुणमा समृद्धि और विभूति का असहनीय भार बो रहे हैं ।

गायार्थ—लक्ष्मी के द्वारा गृहीत ( लक्ष्मी के कृपा-पात्र ) व्यक्ति यदि ऊर्ध्वमुख ( ऊपर की ओर मुँह या दृष्टि रखने वाले ) नहीं हो जाते तो देखो, भला कमल को जिन्होंने ऊपर उठाया है, उन नालों को ही वे न देखते ।

इस वर्णन से कमल का निम्नस्तर से ऊपर उठना और उन्नति के क्षणों में भी नालों पर अवलम्बित रहना व्यक्तित्व होता है । जिससे निम्नस्तर से उठने वाले और ऊपर पहुँच जाने पर भी दूसरों के कन्धों पर टिक कर समुद्रि का उपनोग करने वाले उन अग्रिमानी योगमन्त्रों का परिचय मिलता है जो अपने सहायकों को बिल्कुल मूल जाते हैं ।

### गाथा क्रमांक ७१७

सरसाण सूरपरिस्रियान कमलाण बीस उवयारो ।

उक्खयमूला सुक्खंतपक्का वह न सठविया ॥ ७१७ ॥

सरसाना सूर्यपरिसस्थिताना कमलाना कीदृगुपकार

उत्थातमूलानि शुष्यत्वद्धानि कय न सस्यापितानि

—रत्नदेवस्वीकृत सस्कृत छाया

श्री षटवर्धन ने इस गाथा को अस्पष्ट घोषित कर अनूदित नहीं किया है । रत्नदेव-कृत सज्जित व्याख्या इस प्रकार है —

“सरसाना सूर्यपरिसस्थिताना कमलाना कीदृगुपकार । जानामि यदि सूर्य उत्थातमूलानि शुष्यत्वद्धानि सस्यापयति ।”

यह व्याख्या इतनी सज्जित है कि श्री षटवर्धन जैसे विद्वान् भी इसका मर्म नहीं समझ सके । टीका के ‘जानामि यदि’ में ही सम्पूर्ण अर्थ निहित है । उसका भाव इस प्रकार है —

कमल सदैव सूर्य पर अवलम्बित रहते हैं । सूर्य के उदय और अस्त के साथ उनका भी उन्मीलन और निमीलन होता है । साहित्यिक भाषा में यों तो कह सकत है कि वे सूर्य को देखते ही प्रसन्न हो जाते हैं और न देखने पर नुरन्ध्र मान हो जाते हैं । सूर्य ( मूर ) भी तो बाहिर मूर ( मूर ) ही दृष्टा । जब इतना महत्त्व देना अनुचित भी नहीं है । परन्तु कमल जैसे ही सूर्य पर लट्टु होत हों, सूर्य कमलों का कीन सा उपकार कर देता है, यह समझ में नहीं आता । जब तक बेचारे जल में रहते हैं तभी तक सूर्य की किरणें उन्हें विकसित करती हैं । जब सरोवर का जल गुष्क हो जाता है या उनको जड़ उखाड़ दी

जाता है, उस समय वह सूर (सूर्यरूपी शूर) कहीं रहता है? विपत्ति के दारुण क्षणों में उसकी सूरता (सूर्यता या शूरता) कमलों के किन काम आती है? कवि के व्यञ्जक शब्दों के अनुसार हम सूर (सूर्य) को तभी शूर (वीर) समझें जब वह जल सूख जाने पर अपना जड़ से उखाड़ दिये जाने पर भी कमलों का कोई उपकार (या उपचार) कर सके। परन्तु वह करता क्या है? उससे अपनी तप्त किरणों से उन्हें सुखा डालता है। यही है उसका आधितरक्षण !

शब्दार्थ—सरस = १ जल से युक्त (रस = जल), २. प्रेम से युक्त (रस = प्रेम)।

सूरपरिमिट्टिय = सूर्य (सूर) रूपी शूर (सूर) के सम्मुख स्थित या सूर्य रूपी शूर के आधित।

सठविधा = स्थापित किया अर्थात् पुन उसी स्थान पर लगा दिया।

गाथार्थ—जल से युक्त (जल में रहने वाले) और शूर (सूर्य रूपी शूर) के आधित (सामने स्थित) कमलों का कैसा हित? (अर्थात् सूर्य से उनका कौन सा स्वार्थ सिद्ध होता है?) जिनकी जड़ें उखाड़ दी गई हैं और जिनका पक टूट हो गया है उनको (सूर्य ने) फिर से क्यों नहीं लगा दिया (या वे पुन क्यों नहीं स्थापित (प्रलुब्ध) हो गये?)।

इस गाथा में यह भासिक तथ्य संकेतित है कि मनुष्य जिस परिधि में जन्म लेता है और जो उपादान उसके विकास के पोषक होते हैं, उच्च पद पर पहुँचने पर वह उनकी उपेक्षा करने लगता है। वह अपने निकट के निम्नस्तरीय सहायकों से विमुख होकर बहुत दूर किसी अभिजात वर्ग से अपना सम्बन्ध जोड़ लेता है। परन्तु जब वे आधारभूत प्रमुख तत्त्व नहीं रहते तब उसकी रक्षा नहीं हो पाती है। कमल पक में जन्म लेता है, मूल (जड़) के ठोस आधार पर खड़ा होता है और सरोवर की शीतल जलराशि उसे सजीवनी शक्ति प्रदान करती है। परन्तु मकरन्द, सौरभ, सोन्दर्य, सुकुमारता और धो का आगार बनने पर अपने उन पादर्वचरो की उपेक्षा कर दूर आकाशवासी सूर्य का शरोता करने लगता है।

गाथा क्रमांक ७३०

उत्तमकुलेसु जन्म तुह चदण तरुवराण मज्झमि ।

७३०वी गाथा का पूर्वार्ध

उत्तमकुलेषु जन्म तव चन्दन तरुवराणा मध्ये ।

—रत्नदेव-कृत संस्कृत छाया

श्रीपटवर्धन ने रत्नदेव-कृत संस्कृत छाया को शुद्ध मानकर लिखा है कि 'उत्तमकुलेषुजन्म' यह एक भद्दा प्रयोग है । इसके स्थान पर 'उत्तमकुलमि' होना चाहिए था । परन्तु यह बहुवचन गाथा के अशुद्ध पाठ के कारण है । शुद्ध पाठ इस प्रकार है--

उत्तमकुले सुजन्म ( अर्थात् उत्तम कुल में सुन्दर जन्म )

गाथा क्रमांक ७३५

भूमीगुणेन वडपायवस्स जइ तुगिमा इह होइ ।  
तह वि हु फलाण रिद्धी होसइ बीयाणुसारेण ॥ ७३५ ॥

भूमिगुणेन वटपादपस्य यदि तुङ्गत्वमिह लोके  
तथापि खलु फलानामृद्धिर्भविष्यति बीजानुसारेण

—रत्नदेव कृत संस्कृत छाया

उत्तमकुलेषु जन्म तव चन्दन तरवराणा मध्ये ।

—रत्नदेव-कृत संस्कृत छाया

थीपटवर्धन ने रत्नदेव-कृत संस्कृत छाया को शुद्ध मानकर लिखा है कि 'उत्तमकुलेषु जन्म' यह एक भद्दा प्रयोग है । इसके स्थान पर 'उत्तमकुलमि' होना चाहिए था । परन्तु यह बहुवचन गायी के अनुद्ध पाठ के कारण है । शुद्ध पाठ इस प्रकार है—

उत्तमकुले मुजम्म ( अर्थात् उत्तम कुल में सुन्दर जन्म )

गाया क्रमांक ७३५

भूमिगुणेन वटपायवस्स जइ तुगिमा इहं होइ ।

तह वि हु फलाण रिद्धी होसइ वीयाणुसारेण ॥ ७३५ ॥

भूमिगुणेन वटपादपस्य यदि तुङ्गत्वमिह लोके

तथापि खलु फलानामृद्धिर्भविष्यति बीजानुसारेण

—रत्नदेव-कृत संस्कृत छाया

इस पर रत्नदेव की यह व्याख्या है—

यद्यपि भूमिगुणेन वटवृक्षो ह्रस्वः सञ्जातस्तथापि फलप्राप्त्यर्थं तथा भविष्यति येन सर्वेऽपि प्राणिनः सुखिनाः भविष्यन्ति । अर्थात् यद्यपि भूमि के गुणों से वटवृक्ष का आकार छोटा हो गया है फिर भी फलों की इतनी अधिकता होगी कि सभी प्राणी सुखी हो जायेंगे ।

उपर्युक्त व्याख्या ठीक नहीं है क्योंकि एक तो तुङ्गत्व का अर्थ ह्रस्वत्व नहीं होता है और दूसरे वटवृक्ष के आकार की लघुता का कारण भूमि का दुर्गुण है, गुण नहीं । भूमि के गुणों को पाकर तो उसकी ऊँचाई आकाश चूमने लगती है । वटवृक्ष जितना हो विशाल क्यों न हो जाय, उसके नन्हें-नन्हें असह्य फलों से सभी प्राणी कभी सुखी नहीं हो सकते, कुछ स्वल्पाहारो छोटे फलभक्षी पक्षी अवश्य सुखी हो जाते हैं । थीपटवर्धन ने यह अर्थ किया है—

“यद्यपि वटवृक्ष की ऊँचाई, मिट्टी की विलक्षण विशेषता का परिणाम हो सकती है तथापि फलों की प्रचुरता बीज की विशेषता के अनुसार होगी ।”

व्याख्यात्मक टिप्पणों में गायी की आलोचना इन शब्दों में की गई है—

“मिट्टी और बीज, दोनों सम्मिलित रूप से वृक्ष के आकार और फलप्राप्त्यर्थ के हेतु हैं। गाथोक्त प्रकार से उन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता।”

यदि अग्नेजी अनुवाद को प्रमाण मान लें तो उपर्युक्त टिप्पणी में कुछ भी अनीचित्य नहीं है। परन्तु प्राकृत-गाथा का तात्पर्य कुछ दूसरा ही है।

गाथा में समासोक्ति पद्धति से श्लिष्ट विशेषणों द्वारा प्रस्तुत वट वृक्ष पर अप्रस्तुत सिंहासनारूढ अकुलीन राजा के व्यवहारों का आरोपण किया गया है।

शब्दार्थ—भूमि = १. मिट्टी या पृथ्वी

२. स्थान

भूमिर्वसु-धराया स्यात् स्थानमात्रेऽपि च स्त्रियाम् ।

—मेदिनी

रिट्ठी (आदि) = वृद्धि, बढा होना

बीज (बीज) = १. बीज

२. बीर्य

जह 'यदा' = जब (पादयसद्महण्य)

‘फलाण रिट्ठी’ का अन्य अर्थ इस प्रकार भी कर सकते हैं.—

फलाण + अरिट्ठी (फलनामनटि) = १ फलों की अशुद्धि, २. नाम अपवा महत्कार्यों का न होना।

फल हेतुकृते जातीफले फलकसस्ययो ।

त्रिफलाया च कङ्काले दस्ताये व्युष्टितामयो ॥

—अनेकार्यसंग्रह

गाथार्थ—यहाँ भूमि के गुण से (पक्षान्तर में स्थान या पद के गुण से) जब वटवृक्ष में ऊँचाई होती है (पक्षान्तर में महत्त्व आ जाता है) तब भी फलों (पक्षान्तर में लाभ या कार्य) की लपुता, बीज (पक्षान्तर में बीर्य) के अनुसार होगी।

यह राजाश्रय से निराश किसी दुर्ग्न सेवक की उक्ति है। आशय यह है— वट वृक्ष का आकार उर्वर भूमि में विशाल एवं अनुर्वर भूमि में दुर्ग्न हो जाता है

१. Both the soil and the seed should be jointly responsible for the stature of the tree and abundance of its fruit. They cannot be separated as done in this stanza.

—वज्जालम (अग्नेजी संस्करण), अग्नेजी टिप्पणी, पृ० ५८८

परन्तु मिट्टी के प्रभाव से बहुत बड़ी, ऊँचाई प्राप्त कर लेन पर भा उसके फल अपन मन्हें से बीज के अनुसार बहूत हो छोटे होते हैं। इस प्रकार जब कोई दरिद्र एवं अकुलीन पुण्य उच्चस्थान (राजनिहासन) पर पहुँच जाता है, तब स्थान के प्रभाव से उसमें महत्ता तो आ जाती है परन्तु दाचकों या सबकों को मिलने वाला लाभ, उसका दरिद्र पिता के बीज के अनुरूप बहुत स्वल्प होता है। अथवा उसके काय पिता के बीज के अनुरूप हो हात ह।

गाथा क्रमांक ७३९

मउलतस्त य मुक्ता तुज्य पलासा पलास सउर्जाहि ।

जेण महुमाससमए नियवण सति सानलिय ॥ ७३९ ॥

मुकुल्यतञ्च मुक्तास्तव पलासा पलास अकुल

यन महुमामममय निजबदन पटिति स्थामलितन

—एतद्वचनं कृतं संस्कृत भाषा

संस्कृत-टीका के आधार पर इसका जो अर्थही अनुवाद किया गया है, उसका हिन्दी रूपान्तर निम्नलिखित है—

‘हे पलास वृक्ष, जब तुम खिल रहे थे तथा तुम्हारे पत्ते पत्तियों के टाण छोड़ दिए गए क्योंकि वसन्त के दिनों में तुमने अपना मुँह काटा कर दिया है।’

ध्यात्मिक दृष्टि में ‘सउप’ और ‘पलासा’ के निम्नलिखित अर्थ दिये गए हैं, जिनका उपयोग अनुवाद में नहीं किया गया है —

सउप = १—पत्ती २—तृण

पलासा = १—पत्ते २—फलादा

‘पलासा’ को ‘फलादा’ मान बैठना केवल अदृक्त्वम्भा है। वृक्ष या वृक्ष के फलों को पत्ती छोड़ दें—यह तो ठीक है परन्तु पत्तों से उनका क्या अनुपम है? विषय सम्बन्ध या प्राप्ति के अभाव में त्याग का कोई अर्थ नहीं है। ‘पलासा’ (पलास-पत्र) का तात्त्विक अर्थ पलासवृक्ष हो नहीं सकता है। क्योंकि निर्दोष सत्त्व के लिए रुचि या प्रयोजन से एकत्र होना आवश्यक है।

१ मुस्यापवाध तदुपोने रुचिनाऽप्यभोजनात् ।

अग्नौ वा स्थितं तत्र सा सपारोचिता क्रिया ॥

—काम्यसूत्रम्, द्वितीय समुच्चार

यही न तो रुढ़ि है और न प्रयोजन । अतः लक्षण का आशय लेना ठीक नहीं ।  
मुँह का काला होना, पगियों के पन्ना को छोड़ देने का हेतु नहीं है । मूलगठ  
के अनुसार मोचन क्रिया हा मुँह काला हान का हेतु है ।

शब्दार्थ—पन्नाम = १—किङ्क-वृक्ष

२—राजम ( परं मामम् अन्नात्ताडि पन्ना )

पलामा = १—पत्ते

२—माम की भाषा

सउणहिमुद्धा = १—( स + गुण = मगुण ) अपने गुणों के द्वारा छोट  
दिय गया ।

२—( शकुने ) पक्षियों ( चात्ह, कोए आदि ) क द्वारा  
छोट दी गई

मधुमास = १—अश्वि २—मधु और मास

( मासादवा, प्रा० व्या० १।२९ से अनुनासिक शेष )

सन्तुत छाया का परिवर्तित रूप यह होगा —

मुकुलपद्म मुकुलस्तव पलाशा पलाश स्वगुणे ( शकुने ) ।

येन मधुमाससमये ( मधुमाससमय ) निजबदन सदिति क्षामलितम् ॥

प्रस्तुत गाथा में किसी ऐसे उपपत्तिगोल स्वामी का बचन है जिसने चिरकाल  
से सेवार्त भक्त सेवकों के गुणों की उपासना कर दी है ।

अर्थ—हे पलाश, जब तुम मुकुलित हो रहे थे तभी तुम्हारे पत्ते अपने गुणों  
के द्वारा छोड़ दिये गये ( अर्थात् पतझड़ से उत्पन्न होकर बागी विवर्णता के कारण  
गुणहीन हो गये ) जिससे वनस्पति के दिनों में तुमने अपना मुँह काला कर लिया है ।

उपर्युक्त अर्थ के साथ शब्दशक्ति के प्रभाव से निम्नलिखित अर्थ भी व्यक्त  
होता है जिसमें उपेक्षित सेवक क हृदय का अपरिमित आक्रोश प्रतिबिम्बित है—

अरे पलाश ! जब तुम मोटे हो रहे थे तभी पगियों ( चोन्हों, कोशों आदि )  
ने तुम्हारे मांस की भाषा छोट दी थी ( जो सबसे अवन होता है उसका मांस  
चोत्ह और कोए भा कहा जाता ), जिससे इन मदिरा<sup>१</sup> और मास के मलय  
( अर्थात् जब उक्त पदार्थों का संवन किया जाता है ) में तुमने अपना मुँह काला  
कर लिया ( अर्थात् समाज में मुँह दिखाने योग्य नहीं रह गया ) ।

१. मधु शब्द का अर्थ मदिरा है ।



यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि पलाशमुकुल का वर्ण श्याम होता है ।

माथा क्रमाक ७४१

ददृष्टुं किमुया साहा त बालाइ कीस वेलविओ ।

अहवा न तुज्ज दोसो को न हु छलिओ पलासेहि ॥ ७४१ ॥

दृष्ट्वा किमुक शाखास्त्व बाल्या कस्माद् वञ्चित

अथवा न तव दोष को न खलु च्छलित पलाश

श्रीपटवर्धन ने इस गायी को जटिलता का उल्लेख किया है ( पृ० ५८९ ) । उनका अंग्रेजी अनुवाद केवल शाब्दिक है और उपर्युक्त संस्कृत छाया पर अवलम्बित है । उक्त अनुवाद का हिन्दी-रूप इस प्रकार है—

“हे किमुक ( पलाश ) । तुम्हारी शाखा को देखकर तूषणी ने तुम्हें क्यों ठग लिया ? अथवा तुम्हारा दोष नहीं है, पलाशो ( राक्षसों और पलाश-वृक्षों ) न किसे नहीं छला ।”

तूषणी का पलाश-वृक्ष को ठगना समझ में नहीं आता है । रत्नदेव-कृत व्याख्या इस प्रकार है—

दृष्ट्वा हा इति खेदे । एव बाल्या किमिति प्रचारित । अथवा न तव दोष को नाम न च्छलित पलाश ।

परन्तु इस टीका का अभिप्राय स्पष्ट नहीं है ।

विवेच्य गायी की व्याख्या के पूर्व कुछ पदों के सम्बन्ध में विचार कर लेना आवश्यक है । ‘किमुया’ लुप्तविभक्तिक द्वितीयान्त पद है जो ‘किमुय’ (किमुक) का अर्थ देता है । स्मादौ दीर्घह्रस्वो—इस हेम सूत्र से अन्त्यवर्ण दीर्घ हो गया है । ‘साहा’ लुप्तविभक्तिक तृतीयान्त पद है और ‘सालाइ’ (शाखया) के अर्थ में है । इस प्रकार तृतीया का लोप वज्रालम्ब की अनेक गायीओं में दिखाई देता है (देखिये, ३७३, ४९० और ७२६वीं गायीयें, जहाँ गयवईए के लिये गयवई, कज्जलेण के लिये कज्जल और सगमासाए के लिये सगमासा का प्रयोग है ।) ‘तबालाइ’—यह असंयुक्त नहीं, संयुक्तपद है । तब (ताम्र = लाल) में मनु-अथक बाल’ प्रत्यय जोड़न पर स्त्रीलिङ्ग में तबाला शब्द बनेगा जो विभक्ति

१. प्रात्विःलोत्तालवन्तेन्ता मनुष

—प्राकृतप्रकाश, ४।२५

जुड़ने पर तृतीया में 'सबालाड' हो जायगा । इसका अर्थ है—रक्तवर्ण वाली ।  
पूर्वार्ध को छाया हो करनी होगी —

दृष्ट्वा किंशुक आश्रया ताम्रवत्या कस्माद् वञ्चित ।

गाथाय—(तुम) पलाश-पुष्प (किंशुक) को देखकर रक्तवर्ण वाली शाखा (पुष्पों के कारण पलाश की शाखामें लाल हो जाती हैं) के द्वारा कैसे ठग लिये गये । अथवा तुम्हारा दोष नहीं है, पलाशों (राक्षसों और वृक्षों) ने किसे नहीं छला ?

इस अर्थ में कोष्ठकनिविष्ट सर्वनाम 'तुम' शुक का संकेत करता है । गाथा के 'किमुया' पद में मुद्रालंकार के द्वारा सूच्यर्थ मुया (शुक) की सूचना मिलती है । अथवा उक्त संस्कृत छाया को यह रूप दें—

दृष्ट्वा किंशुकाशा, हा त्व वालया कस्माद् वञ्चितः ।

रक्तवर्ण किंशुक-भङ्गित पलाशद्रुम का अद्भुत सौन्दर्य देखकर कोई फलाशी शुक उसकी मनोहर शाखा पर जा बैठा । यह देख सवेदनशील कवि के कोमल कंठ से सहानुभूति का स्वर फूट पड़ा है । पूर्वार्ध का अन्वय वाक्य निम्न-लिखित है—

हे शुक कि दृष्ट्वा आशा ? ( अस्त्विति शेष ) त्व बालया ( स्त्रीस्वात्माया-विन्या तथा आशारूपया ) कस्माद् वञ्चित ।

गाथाय—हे शुक ! क्या देखकर आशा हो गई है ? ( अथवा देखकर क्यों आशा हो गई ) अरे ! तुम उस आशा-तृष्णी के द्वारा क्यों ठग लिये गये ? अथवा तुम्हारा दोष नहीं है, पलाशों ने किसे नहीं छला है ?

पलाशवक्ष के पुष्प अति लुभावने होते हैं परन्तु उसका फल नि सार एव अलाय होता है ।

गाथा क्रमांक ७६२

रयणायर त्ति नाम बहुत ता उवहि किं न सुसिओ सि ।

मज्जे न जाणवत्तो अत्थत्थो ज गया पारे ॥ ७६२ ॥

रत्नदेव ने इसको निम्नलिखित संस्कृत छाया को है—

रत्नाकर इति नाम बहुस्तद् उदधे किं न शुष्कोऽसि ।

मध्ये न वानवर्तिनोऽर्थोऽर्थिनो यद् गता पारे ॥

श्री पटवर्धन ने 'जाणवत्ती' को वैकल्पिक छाया 'यानोपात्रिण.' का उल्लेख करते हुये उत्तरार्ध का यह अन्वय किया है—

“अ अत्यथा जाणवत्ती पारे न गया ।”

पूरी गाथा का अंग्रेजी अनुवाद यो है—

“अरे समुद्र रत्नाकर नाम धारण करते हुए तुम पूर्वकाल में ही शुष्क क्यों नहीं हो गये क्योंकि तुम्हारे ऊपर से यात्रा करने वाले घनेच्छु पति-वणिक् दूसरे तट पर नहीं पहुँच सके ( अर्थात् दुर्घटना घट्ट होकर मर गये ) ।”

इस अर्थ पर यह टिप्पणी दी गई है:—

“यह किसी प्रकार भी स्पष्ट नहीं है कि पोतबाह्य व्यापारियों को नाकस्मिक दुर्घटना का उत्तरदायी समुद्र का रत्नाकरत्व क्यों है ।”

उपर्युक्त शका का समाधान करना आवश्यक नहीं है क्योंकि अंग्रेजी अनुवाद ही दोषपूर्ण है ।

हम 'मज्जे न' को समुत्तपद ( तुतीयान्त मज्जेन ) मानते हैं । अत उत्तरार्ध की संस्कृत छाया यों होगी.—

मज्जन जानवत्ती अत्यल्पिणी ज गया पारे ।

( मध्येन यानपात्रिणीऽर्थापिनी यद् गताः पारे )

समुद्र का नाम रत्नाकर है । गाथा उसके रत्नाकरत्व का उपहास करती हुई कहती है—

अरे रत्नाकर नामधारी समुद्र ! तुम सूख क्यों नहीं गये क्योंकि घन तोलुप पोतबाही वणिक् तुम्हारे मध्य से होकर उस पार चले गये । तात्पर्य यह है कि समुद्र की उस रत्नाकरता की बिक्रार है, जिसका घनतोलुप सापनिकों की भी दृष्टि में कुछ मूल्य है ।

यदि होता तो वे समुद्र के मध्य में ही रत्नों की कामना से ठहर जाते, उस पार कभी न जाते । गाथा की सन्दावली में विलक्षण व्यङ्ग्यता है । निगूढ अङ्गना-व्यापार की समझे बिना इसकी व्याख्या असम्भव है । 'रत्नपात्र' से समुद्र की अनन्तनिधि, 'नाम बह्व' से उसका अदातुत्व एवं कार्पस्य, 'मज्जेन' से रिक्तता एवं सेवन वैफल्य, 'अत्यल्पिणी' से उपाधि = वैतथ्य, 'गया पारे' से याचक बुद्ध-वृत्त उपेक्षा और 'जाणवत्तिनी' से शान्तिक निष्ठतोभातिशयता व्यञ्जित हाता है ।

### गाथा क्रमांक ७८७

हिययट्टिओ वि सुहवो तह वि नयणाण होइ दुप्पेच्छो ।

पेच्छह विहिणा न क्या मह हियए जालयमववखा ॥ ७८७ ॥

रत्नदेव ने समानार्थक 'जालय' ( जालक ) और 'गववख' ( गवाक्ष ) शब्दों के सह-प्रयोग से सम्भावित पुनरुक्ति की आशंका का मार्जन इन शब्दों में किया है—

विरहिणी प्रलापत्वात् न शब्दपौनरुक्त्यम् अर्थात् एक ही अर्थ में जालक और गवाक्ष शब्दों का प्रयोग होने पर भी पुनरुक्ति नहीं है, क्योंकि यह एक विरहिणी-प्रलाप है । श्री पटवर्धन ने भी पृष्ठ ६२ पर इस कथन को प्रमाण के रूप में उद्धृत कर गाथा में पुनरुक्ति दोष स्वीकार किया है । मैं समझता हूँ, पुनरुक्ति की आशंका ही यहाँ व्यर्थ है । दोनों शब्दों में एक विशेषण है, दूसरा विशेष्य । अनेकार्थक जालय ( जाल + स्वार्यक क ) शब्द का अर्थ शरीराला नहीं, जाली है । 'जालय-गववखा' का अर्थ है—जालीदार शरीराला ।

### गाथा क्रमांक ७८९

माणविहूणं रुंदोइ छोडयं सिलधोयगयछाय ।

जं वसण न सुहावइ मुय दूर नम्मयाडे तं ॥ ७८९ ॥

इसकी छाया 'विस्तारेण त्यक्तम्' ठीक नहीं है । अंग्रेजी में 'छोडय' की छोडिय के अर्थ में प्रयुक्त बताया गया है, परन्तु प्राकृत 'छोडय' शब्द का अर्थ है—छोटा । 'रुंदोइ छोडय' का संस्कृत अनुवाद 'विस्तारे लघु' है । 'रुंदोइ' तृतीयान्त नहीं, सप्तम्यन्तपद है ।

### अतिरिक्त गाथाएँ

३१ × ७—अइचपियं विणस्सइ दत्तच्छेएण होइ विच्छाय ।

ढलहल्यं चिय मुच्चइ पाइयकव्वं च पेम्म च ॥ १ ॥

संस्कृत टीका में प्राकृतपदों के संस्कृतरूप माग दिये गये हैं । अंग्रेजी अनुवाद केवल शाब्दिक है—

“प्राकृत-काव्य और प्रेम बहुत दबाये जाने पर नष्ट हो जाते हैं । दाँत से काटने पर वे अपने सौन्दर्य को खो देते हैं । इस लिये दोनों को सुकुमार बताया गया है ।”

यही महाराष्ट्री में शौरसेनी की विशेषता आ गई है। 'अदिट्टए' का अर्थ है—  
अति इष्ट या अधिक प्रिय ( अति + इष्ट + क ) । शौरसेनी की प्रकृति के अनु-  
सार अति के त का द हो जाने के अनन्तर पूर्व स्वर का लोप हो गया है।  
इस दृष्टि से संस्कृत छाया के द्वितीय पाद का परिमार्जित पाठ यह है—

अतोष्टके मानः ।

गायार्थ—प्रिय के न देखने पर मोलमुक्त, देखने पर ईर्ष्या, उनसे अधिक प्रेम  
होने पर मान और दूर चले जाने पर दुःख होता है। सखि ! प्रियजन से सुख कहाँ  
मिलता है ?

९० × ६—कज्ज एव प्रमाणं कह व तुल्यमेण कज्जइत्ताणं ।

जइ तं अबहेरिज्जइ पच्छा उण दुल्लहं होइ ॥ ३ ॥

कार्यमेव प्रमाणं कथं वा तुलाप्रेष कार्यकर्तृणाम्

यदि तदवहेत्यते पश्चात् पुनर्दुर्लभ भवति

इसकी टीका यों की गई है—

कार्यकर्तृणा पुण्याणा कथं वा कार्यमेतत् यत् तुलावत् प्रमाणं कार्यकृत्यु  
आप्तोपपत्तेः । नो वा । यदि तत् कार्यं अबहेरिज्जइ अबहेत्यते पश्चात् तत् कार्यं  
दुर्लभं भवति । अर्थात् कार्य करने वाले पुरुषों का कार्य तुला के समान कर्मठ पुरुषों  
में प्रमाण स्वरूप कैसे हो सकता है ? अथवा नहीं । यदि उसकी उपेक्षा होती है  
तो पुनः वह कार्य दुर्लभ हो जाता है ( नहीं हो पाता है ) । टीकाकार ने 'तुल्य'  
को संस्कृत तुला से सम्बद्ध किया है । परन्तु वह देशी शब्द है जिसका अर्थ है—  
काकशालीय न्याय<sup>२</sup> ( नयोप से होगा ) ।

निम्नलिखित अंग्रेजी अनुवाद संस्कृत-टीका से तो सर्वथा भिन्न हो है, मूल  
प्राकृत गायिका का पदावली से भी बहुत दूर है—

“ओ लोग किसी महत्कार्य को पूर्ण करने में लगे हैं, उसके लिये एक प्रारम्भ  
कार्य का ( दृढ़ता एवं निश्चयपूर्वक ) करना, बहुत महत्त्वपूर्ण वस्तु है। दैविक  
एव सांयोगिक-व्यापार कैसे काम आ सकते हैं ? यदि उपेक्षा हुई ( प्रारम्भ में ) तो

१. अनादावपुत्रोस्तथयोर्द्वौ—प्राकृत-प्रकाश, १२।३ ।

२. तुल्यं काकशालीय—देशीनाममाला, ५।१५ ।

उपर्युक्त अनुवाद मूल प्राकृत की 'मुच्चद' क्रिया का अर्थ 'उच्यते' समझ कर किया गया है और नितान्त असुद्ध है। इसमें प्रणय और प्राकृत-काव्य की समानताओं को भी स्पष्ट नहीं किया गया है। गायिका का अभिप्राय यह है—

जब बहुत कसकर प्रगाढ़ आलिंगन किया जाता है या जब किसी प्रकार का अधिक दबाव डाला जाता है और जब प्रेमिका को दाँतो से काट लेता है ( चुम्बन के समय ), तब प्रणय का सौन्दर्य ( माधुर्य ) समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार जब कोई अनाड़ी गला दबाकर गाने लगता है या गायक के दाँत खरिबि रहते हैं ( टूटते रहते हैं ), तब प्राकृत-काव्य श्रीहीन हो जाता है। वास्तव में प्राकृत-काव्य और प्रेम दोनों को ख़ुला छोड़ दिया जाता है ( तभी वानन्द आता है )।

शब्दार्थ—चपिय = दबाया गया। प्रणयपक्ष में आलिंगनातिरेक और काव्यपक्ष में गला दबा कर गाना अभिप्रेत है।

दतच्छेद = प्रणयपक्ष में दाँतो से काटना और काव्यपक्ष में दाँतों का टूटना।

मुच्चद = मुच्यत, छोट दिया जाता है।

उलहलय = उन्मुक्त ( ख़ुला, ढीला )

७२ × २—अद्विष्टे रणरणओ दिष्टे ईसा अद्विष्टए माणो।

दूर गए वि दुख पिए जणे सहि सुह कत्तो ॥ २ ॥

अद्विष्टे रणरणको दृष्ट ईश्या अद्विष्टे मान

दूर गतेऽपि दुःख प्रिये जाने सखि मुख कुत

—परम्परागत संस्कृत छाया

श्री पदवधनकृत्र अप्रजी अनुवाद इस प्रकार है—

“प्रेमी को न देखने पर अशान्ति, देखने पर ईर्ष्या, न देखने पर मान (?) और दूर चले जाने पर दुःख होता है। सखि! प्रियजन से सुख कहाँ मिलता है?”

यहाँ 'अद्विष्टे' और 'अद्विष्टए'—इन दोनों शब्दों का एक ही अर्थ दकर अनुवादक ने एक सरस गायिका को पुनर्वक्ति-दोष-दूषित कर दिया है। वस्तुतः गायिका में पुनर्वक्ति नहीं है। हेमचन्द्र के अनुसार प्राकृत के विभिन्न भेदों का परस्पर व्यत्यय सम्भव है। एक प्राकृत के लक्षण दूसरी प्राकृत में भी पाये जा सकते हैं।

यहाँ महाराष्ट्री में शोरसेनी की विशेषता आ गई है। 'अदिट्टए' का अर्थ है—  
अति इष्ट या अधिक प्रिय ( अनि + इष्ट + क ) । शोरसेनी की प्रकृति के अनु-  
सार अति के त का व हो जाने के अनन्तर पूर्व स्वर का लोप हो गया है।  
इस दृष्टि से संस्कृत छाया के द्वितीय पाद का परिभाजित पाठ यह है—

अतीष्टके मान ।

गाथार्य—प्रिय के न देखने पर आसुक्ष्म, देखने पर ईर्ष्या, उनसे अधिक प्रेम  
होने पर मान और दूर चले जाने पर दुःख होता है। सखि ! प्रियजन से मुक्त कहाँ  
मिलना है ?

२० × ६—कज्ज एव प्रमाण कह व तुलमेण कज्जइत्ताण ।

जइ त अबहेरिज्जइ पच्छा उण दुल्लह होइ ॥ ३ ॥

कार्यमेव प्रमाण कथ वा तुलमेण कार्यकर्तृणाम्

यदि तदवहेत्यते पश्चात् पुनर्दुर्लभ भवति

इसकी टीका यों की गई है—

कार्यकर्तृणां पुरुषाणां कथ वा कार्यमेतत् यत् तुल्यवत् प्रमाण कार्यकृतसु  
आस्थायते । नो वा । यदि तत् कार्यं अबहेरिज्जइ अबहेत्यते पश्चात् तत् कार्यं  
दुर्लभ भवति । अर्थात् कार्य करने वाले पुरुषों का कार्य तुला के समान कमठ पुरुषों  
में प्रमाण स्वरूप कैसे हो सकता है ? अथवा नहीं । यदि उसकी उपेक्षा होती है  
तो पुनः वह कार्य दुर्लभ हो जाता है ( नहीं हो पाता है ) । टीकाकार ने 'तुल्य' की  
संस्कृत तुला से सम्बद्ध किया है। परन्तु वह देशी शब्द है जिसका अर्थ है—  
काकतालीय न्याय<sup>२</sup> ( संयोग से होना ) ।

निम्नलिखित अंग्रेजी अनुवाद संस्कृत-टीका से तो सर्वथा भिन्न ही है, मूल  
प्राकृत गाथा को पदावली से भी बहुत दूर है—

' जो लोग किसी महत्कार्य को पूर्ण करने में लगे हैं, उनके लिये एक प्रारम्भ  
कार्य का ( दृढता एवं निश्चयपूर्वक ) करना, बहुत महत्त्वपूर्ण वस्तु है। दैविक  
एवं साधार्मिक न्यायपर कैसे काम आ सकते हैं ? यदि उपेक्षा हुई ( प्रारम्भ में ) तो

१ अनादावपुनोस्तथयोर्दधी—प्राकृत-प्रकाश, १२।३ ।

२ तुल्य काकतालीय—देशीनाममाला, ५।१५ ।

आगे चलकर उसका पूर्ण होना कठिन हो जाता है ।<sup>१</sup>”

प्राकृत गायिका का सीधा और सरल अर्थ यह है—

कार्य ही प्रमाण कैसे हो सकता है ? जो लोग काकातालीय न्याय से ( सयोग से ) किसी कार्य में सफल हो जाते हैं, वे यदि उस अवसर ( सयोग या यदुच्छ ) को उपेक्षा कर दें तो फिर कभी भी वह कार्य नहीं कर सकते हैं ।

तात्पर्य यह है कि सयोगवश सुच्छ व्यक्ति भी असाध्य एवं कठिन कार्य कर डालता है, अतः कार्य को पूर्णता की ही योग्यता या सामर्थ्य का प्रमाण नहीं मान सकते । कार्य को पूर्णता, योग्यता ही नहीं, कभी-कभी यदुच्छा पर भी निर्भर रहती है । सयोगवश किसी कठिन कार्य को कर डालने वाले व्यक्ति जब उक्त अवसर की अवहेलना कर देते हैं, तब फिर कभी भी उसे नहीं कर पाते ।

संस्कृत-टीकाकार ने मूल में 'त' को 'कज्ज' से अन्वित किया है परन्तु यह अविधि पूर्वार्ध में प्रतिपादित श्रुत्य के अनुकूल नहीं है ।

१० × १२—बुद्धो सच्च मित्त चरत नो महाकम्ब ।

पुब्ब सच्च पि सुहं पच्छा दुक्खेण निव्वहइ ॥ ४ ॥

बुद्धि सत्य मित्र (?) नो महाकान्यम्

पूर्वं सर्वमपि सुख पश्चाद् दुःखेन निर्वहति

—उपलब्ध अपूर्ण छाया

यह गायिका छन्द की दृष्टि से अशुद्ध है । संस्कृत टीका ने 'सुयमा' कह कर इसकी व्याख्या ही नहीं की है । उपर्युक्त अपूर्ण छाया पर अवलम्बित अधूरा अंग्रेजी अनुवाद इस प्रकार है—

“बुद्धि, सत्य, मित्री” — महाकाम्य—ये सब प्रारम्भ में सरल होते हैं, परन्तु पश्चात् इनका निर्वाह कठिन हो जाता है ।”

१ Discharging ( with determination and tenacity ) a work undertaken is the most important thing in the case of those who are engaged in accomplishing great tasks How possibly can random and casual efforts ( तुलमोज ) avail ? If it is ignored ( neglected ) ( in the beginning ) later on it becomes difficult to accomplish.



गाथा में 'चरत नो' पद का ठीक-ठीक अर्थ नहीं किया जा सका है। मेरे विचार से यही 'चरत' 'उवचरत' के अर्थ में प्रयुक्त है। प्राकृत में 'चर' का प्रयोग सेवा करने के अर्थ में भी होता है।<sup>१</sup> 'नो' संस्कृत ना ( नृ = नर ) का प्राकृत-रूप है। प्राकृत-ग्रन्थों में इसे देखा जा सकता है।<sup>२</sup> बाहुलकात् 'नो' और 'णो' का अनेक स्वीकार कर 'चरत नो' का निम्नलिखित अर्थ कर सकते हैं —

चरत = सेवा करता हुआ।

नो ( णो ) = नर

दोनों शब्दों का समास में 'चरत नो' रूप हो जायगा। तब उसका अर्थ होगा—सेवा करता हुआ नर या सेवक। इस दृष्टि से गाथा को आर्थिक अति इस प्रकार दूर की जा सकती है —

बुद्धि, सत्य, मैत्री, सेवारत सेवक और महाकाम्य—ये सभी आरम्भ में प्राप्त होते हैं, परन्तु पश्चात् इनका निर्वाह करना कठिन हो जाता है।

आशय यह है कि बुद्धि-वैभव, सत्य, मैत्री तथा महाकाम्य का रक्षना के ममान सेवारत सेवक का कार्य भी आरम्भ में सरल होता है, परन्तु अन्त गुरु उमका निर्वाह कर ले जाना एक दुःख प्रक्रिया है।

१६१ × १—अप्यत्यय न लब्धइ पत्यिज्जतो वि कृष्यन्ति तदिदं ।

हृदी कह सहिज्जइ कयंतवगहि गण मति ॥ ५ ॥

अप्रापित न लभ्यते प्राप्यमानोऽपि कृत्स्नि नन्द ।

हा धिक् कय सहिष्यत कृतान्तवर्ति मय मति ॥

श्री पटवर्धन ने शान्दिक अनुवाद देकर दिखा है कि इनका भाव स्पष्ट नहीं है। प्रस्तुत पद्य अहरह सेवारत किसी अभाव-ग्रस्त गुरु-सेवक का उक्ति है, जिसके

कृपण स्वामी कठोर धन का उचित मूल्य नहीं देता था। प्रायः उदार स्वामी बिना मांगे ही सेवकों का देय चुका देते हैं। यदि कभी किसी कारणवश विलम्ब हो जाता है और सेवक को मांगना पड़ता है तो वे उन्हें मुँह-माँगा धन दे डालते हैं। जो इतने अधिक उदार नहीं होते वे बिना मांगे तो कुछ भी नहीं देते परन्तु मांगने पर सेवा का उचित मूल्य चुका देने में नहीं हिचकते। तृतीय कोटि उन कृपणों की है जो बिना मांगे टका भी नहीं देते और मांगने पर बाँखें भी टाल कर लेते हैं। ऐसे स्वामियों के आश्रित सेवकों के मनोरथों का अन्त हो जाता है, क्योंकि प्राप्ति का तीसरा उपाय ही नहीं है। प्रस्तुत पत्र में 'कथं' (कृतान्त) शब्द सानिप्राय है। वह केवल यम वाचक नहीं है, निम्नलिखित अर्थ का भी व्यञ्जक है—

कथं (कृतान्त) = कृतोऽन्तः (मनोरथानां येन, कृतोऽन्तः पराकाष्ठा येन। अर्थात् जिसने (मनोरथों का) अन्त कर दिया है या जिसने पराकाष्ठा कर दी है (कृपणता की)।

'कथं वसहि गए सते' का एक अर्थ है—यमराज के घर जाने पर। दूसरा अर्थ इस प्रकार है—

जिसने मनोरथों का अन्त कर दिया है या जिसने कृपणता की पराकाष्ठा कर दी है, उसके घर जाने पर।

सेवक ने क्रोधी राजा के समक्ष यह अश्रिय बापा पड़ो होगी—यह सनब नहीं है। उसने एकान्त में भावातिरेक की दशा में मनोगत स्वामी को सम्बोधित कर अपना आक्रोश प्रकट किया होगा। बापा की किसी निर्दोष याचक की उक्ति भी मान सकते हैं।

अर्थ—हे नरेन्द्र ! बिना मांगे मिलता नहीं और मांगने पर तुम क्रुद्ध हो जाते हो। हाय पिक्कार है, जब यमराज के घर जाओगे तब ( वहाँ की यातना ) कैसे सहोगे।

अन्यार्थ—पिक्कार है, जिसने अन्त कर दिया ( अर्थात् अति कर दी ) है उस ( आश्रयदाता, या कृपण नरेश ) के घर जाने पर ( अर्थात् सेवाकार्यरत होने पर ) मैं ( यह अनावज्रित क्लेश या अप्राप्ति रूप अपमान ) कैसे सहूँ।

यहाँ कृतान्त में अण्ववसान है। कभी जो दान न करने वाले मनुष्य की यम-लोक में नाना यातनाएँ दी जाती हैं। अतः याचक की उक्ति सार्थक है। सेवक

को उक्ति भी इसलिये सायक है कि जब अपना ही द्रव्य दूसरे को दान-रूप में न देने पर यमलोक में भयकर परिणाम भुगतने पड़ते हैं सब भला अपने सेवका का अजित धन हजम कर जाने वाला नराधम यमयातना से कैसे मुक्त हो सता है ?

१९९×२—दत्तुल्लिहण सव्वगमच्चण हत्थचल्लणायासं ।

पोढगइदाण मय पुणो वि जइ णम्माया सहइ ॥ ६ ॥

संस्कृत टीकाकार ने इसका रूपान्तर इस प्रकार किया है —

दन्तोत्तिष्ठनं सर्वाङ्गमञ्जनं हस्तचालनायासम् ।

प्रौढ गजेन्द्राणां मदं पुनरपि यदि नर्मदा सह्यते ॥

अंग्रेजी अनुवाद यों है—

‘यह नर्मदा ही है जो प्रौढ गजेन्द्रों की प्रमत्तता की स्थिति में शीशों व गर्तों का खोदना, सम्पूर्ण शरीर को जल में डुबो देना और मुँह-गंधासन का ध्यायन ( कष्ट ) सहन कर लेती है ।’

मूक्य दृष्टि से देखने पर उपर्युक्त अर्थ कुछ अचूरा-ना लगता है । गाथा कथल गजेन्द्रों की जल-झोटा का वर्णन कर वहीं विश्रान्त नहीं हो जाता है । यह मध्य-शक्ति के प्रभाव से शृङ्गारिक व्यापार की भी अभिरुचि बना करता है । टीकाकारों का ध्यान निरूढ ध्वनि उत्पन्न की ओर गया है नहीं, इति चेत् यत्पूज्य अर्थ रहकर मोन हो गये । स्तिष्ट पदों के अर्थ ये हैं,—

दत्तुल्लिहण ( दन्ता-लेखनम् ) = १—शीशों व गर्तों का खोदना या

पोद्गदशान ( प्रौढ गजेन्द्राणाम् ) = १—प्रौढ गजराजों का

२—गजराजों के

गजेन्द्रा इव ) (

मय ( मदम् ) = १—मत्तता

२—वीर्य ( मयम् )

मदो रेतस्यहृक्कारे मद्ये हर्षे

कस्तूरिकाया धूम्ये च मदो

गम्मया ( नर्मदा ) = १—नर्मदा नदी

२—रति-केलि<sup>१</sup> प्रदान

रतिरेति

गाथा का प्रथम अर्थ अंग्रेजी अनुवाद में  
प्रकार है—

( कपोलादि पर ) दाँतों से होने वाला क्षय,  
हो जाता, ( कुचादि पर ) हाथ चलाने से उत्पन्न  
प्रौढ पुरुषों का वीर्य ( या रमणोन्माद )  
बाली तुम्हारी ( नर्मदा ) सह लेती है ।

१९९×४—सरला मुहे न जीहा थोवी

रे रदनकोटिगव्विर गद्द न

सरला मुझे न जिह्वा स्तोको

रे रदनकोटिगविन् गजेन्द्र न

श्रीपटवर्धन ने 'थोव' को 'ठोर' माना है और  
'रदनकोटिगविन्' किया है । अंग्रेजी अनुवाद यों है—

"तुम्हारे मुह में सीधी जिह्वा नहीं है ( मुँहो है  
( या भीटा है ), तुम्हारी दृष्टि मद से भ्रमानक है, हे  
के वीर्यमय पर शर्व करते हो, इन दोषों के कारण तुम

संस्कृत-टीकाकार ने 'रघुकोटिगवित्' की व्याख्या 'रत्नकोटिगवित्' की है। दोष पदों का अर्थ अंग्रेजी अनुवाद के ही समान है। वस्तुतः उपर्युक्त दोनों व्याख्यायें अपूर्ण हैं। प्रस्तुत गाथा समान विशेषणों-द्वारा गजराज की असेव्यता के साथ-साथ किसी घनो राजा की असेव्यता का भी वर्णन करती है। हम इस वर्णन को समासोक्ति की सहायता नहीं दे सकते, विशेष्य 'गद्द' भी श्लिष्ट है—

गद्द ( गजेन्द्र, गवेन्द्र ) = १—गजेन्द्र

२—गो + इन्द्र ( गवेन्द्र ) अर्थात् राजा

अवादेश के पश्चात् प्राकृत नियमानुसार पूर्णस्वर और वकार का लोप हो जाने पर 'गद्द' शब्द निष्पन्न होगा। गो शब्द पृथ्वी-वाचक है, अतः 'गद्द' का अर्थ है—राजा। अथवा संस्कृत गवेन्द्र शब्द से सीधे ह्रस्वादेश ( ह्रस्वः सयोगे ), वकारलोप तथा अनुस्वार करने पर 'गद्द' सिद्ध हो गया। 'ठोव' को 'ठोर' मानने की आवश्यकता नहीं है। हाथी का मुँह कुम्ह के निकट स्थूल होता है परन्तु उसका निचला भाग, जिससे वह कार्य करता है सम्पूर्ण सहनन की अपेक्षा बहुत छोटा एवं पतला होता है। अन्य श्लिष्ट शब्दों के अर्थ इस प्रकार हैं—

सरला मुँहे न जीहा = १—तुम्हारे मुँह में सीधी जिह्वा नहीं है ( गजपक्ष )

२—तुम्हारे मुँह से सीधी बात नहीं निकलती है।

( नृपपक्ष )

हृत्थ = १—सूँड ( गजपक्ष )

२—हाथ ( नृपपक्ष )

मद = १—हाथी के प्रस्तक से धरित होने वाला जल

( गजपक्ष )

२—गर्व

रघुकोटिगवित् = १—रत्नकोटिगवित्, दाँतों के अग्रभाग से गवित ( गजपक्ष )

२—रत्नकोटिगवित्, कोश में स्थित रत्नों की धेनियो या कोटि सख्या से गवित ( नृपपक्ष )

१. सोऽपूर्वा रसना विपर्यय विविस्तत् कर्णयोश्चापल,

दृष्टिः सा मद विस्मृतस्वपरदिक् किं भूयसोत्तेन वा ।

सर्वं विस्मृतवानसि अमर हे यद्धारणोऽप्याप्यसौ,

अन्त शून्यकरो निषेधत इति भ्रातृ क एष ग्रह ॥ —कव्यप्रकाश, ७

प्रीडगद्गदण ( प्रीड गजेन्द्राणाम् ) = १—प्रीड गजराजों का ।

२—गजराजों के समान प्रीड पुरुष ( प्रीड गजेन्द्रा इव ) ( प्रपय-पक्ष )

मय ( मदम् ) = १—मत्तता

२—वीर्य ( प्रपय-पक्ष )

मदो रेतस्वहृद्गारे मद्ये ह्ये भदानयो ।

कस्तूरिकाया धैव्ये च मदो कूपकवस्तुनि ॥

—अनेकार्यसंग्रह, २।२१४

गम्मया ( नर्मदा ) = १—नर्मदा नदी

२—रति-केलि<sup>१</sup> प्रदान करने वाली सुन्दरी ( नर्म-रतिकेलि ददातीति नर्मदा )

गाथा का प्रथम अर्थ अंग्रेजी अनुवाद में दिया जा चुका है, द्वितीय अर्थ इस प्रकार है—

( कपोलादि पर ) दांतों से होने वाला सत्व, सम्पूर्ण लिंग का भग में प्रविष्ट हो जाना, ( कुचादि पर ) हाथ चलाने से उत्पन्न व्यायास और गजराजों के समान प्रीड पुरुषों का वीर्य ( या रमणोन्माद )—यह सब तो केलि प्रदान करने वाली सुन्दरी ( नर्मदा ) सह लेती है ।

१९९×४—सरला मुहे न जीहा धोवो हृत्यो मउवभडा दिट्टो ।

रे रयणकोडिगव्विर गइद न ठु सेवणिज्जो सि ॥ ७ ॥

सरला मुहे न जिह्वा स्तोको हस्तो मदोद्भटा दृष्टि

रे रत्नकोटिगविन् गजेन्द्र न खलु सवनोपोर्जित

—संस्कृतटीका स्वोद्धृत छाया

क्षीपटवर्धन ने 'धोव' को 'ठोर' माना है और 'रयणकोडिगव्विर' का अर्थ 'रत्नकोटिगविन्' किया है । अंग्रेजी अनुवाद यों है—

“तुम्हारे मुह में लीची जिह्वा नहीं है ( मुडी है ), तुम्हारा सूँढ बिछाल है ( या मोटा है ), तुम्हारी दृष्टि मद से भगानक है, हे गजराज । तुम अपने दांतों के तीक्ष्णता पर गर्व करते हो, इन दोषों के कारण तुम सेवनीय नहीं हो ।”

संस्कृत-टीकाकार ने 'रयणकोटिगव्विन्' की व्याख्या 'रत्नकोटिगव्विन्' की है। शेष पदों का अर्थ जग्रेजी अनुवाद के ही समान है। वस्तुतः उपर्युक्त दोनों व्याख्यायें अपूर्ण हैं। प्रस्तुत भाषा समान विशेषणों-द्वारा मञ्जराज की असेव्यता के साथ-साथ किसी धनी राजा की असेव्यता का भी वर्णन करती है। हम इस वर्णन को समासोक्ति की सजा नहीं दे सकते, विशेष्य 'गद्द' भी श्लिष्ट है—

गद्द ( गजेन्द्र, गवेन्द्र ) = १—गजेन्द्र

२—गो + इन्द्र ( गवेन्द्र ) यथात् राजा

अवादेश के पश्चात् प्राकृत नियमानुसार पूर्णस्वर और वकार का लोप हो जान पर 'गद्द' शब्द निष्पन्न होगा। गो शब्द पृथ्वी-वाचक है, अतः 'गद्द' का अर्थ है—राजा। अथवा संस्कृत गवेन्द्र शब्द से सीधे ह्रस्वादेश ( ह्रस्व समोणे ), वकारलोप तथा अनुस्वार करने पर 'गद्द' सिद्ध हो गया। 'ठोव' की 'ठोर' मानने की आवश्यकता नहीं है। हाथी का मूँह कुम्भ के निकट स्थूल होता है परन्तु उसका निचला भाग, जिससे वह कार्य करता है सम्पूर्ण सहनन की अपेक्षा बहुत छोटा एवं पतला होता है। अन्य श्लिष्ट शब्दों के अर्थ इस प्रकार हैं—

सरला मुँह न जीहा = १—'तुम्हारे मुँह में सीधी जिह्वा नहीं है' ( गजपक्ष )

२—'तुम्हारे मुँह से सीधी बात नहीं निकलती है।

( नृपपक्ष )

हृत्थ = १—सूँह ( गजपक्ष )

२—हाथ ( नृपपक्ष )

मद = १—हाथी के मस्तक से क्षरित होने वाला जल

( गजपक्ष )

२—गर्व

रयणकोटिगव्विन् = १—रत्नकोटिगव्विन्, दातों के अग्रभाग से गर्वित ( गजपक्ष )

२—रत्नकोटिगव्विन्, कोश में स्थित रत्नों की श्रेणियों या कोटि सख्या से गर्वित ( नृपपक्ष )

१. सोऽपूर्वा रसना विषयय विचिस्तत् कणयोऽप्रापत्,  
दृष्टि. सा मद विस्मृतस्वपरदिक् किं भूयसोत्तेन वा ।  
सर्वं विस्मृतवानसि भ्रमर हे यद्धारणोऽप्राप्यसौ,  
अन्तःशून्यकरो निषेव्यत इति भ्रात क एष ग्रह ॥ —काव्यप्रकाश, ७

न सेवणिज्जो सि = १—न चढ़ने योग्य हो ( गज-पक्ष )

२—सेवा न करने योग्य हो ( नृप-पक्ष )

गायार्थ—( गज-पक्ष ) मुह में सीधी जिह्वा नहीं है, सूँड स्वल्पाकृति है, दृष्टि मद से भयानक हो गई है, अरे दाँतो की कोरो पर गर्वशील गजेन्द्र, तुम आरोहणयोग्य नहीं हो ।

( नृप-पक्ष ) सीधे मुह बात नहीं करते हो, हाथ छोटा है ( और छोटे हाथ से थोड़ा दान ही संभव है ), दृष्टि गर्व से भयानक बन गई है, अरे करोड़ों रत्नों पर गर्वित ( या रत्नों की श्रेणियों पर गर्वित ) नरेन्द्र ! तुम सेवा करने योग्य नहीं हो ( क्योंकि घनी होने पर भी तुम्हारी सेवा करके कोई कुछ पा नहीं सकता ) ।

१९९ × ५—कुजर मइद दसणविमुक्कपुक्कारमय पसणेण ।

न हु नवरि तए अप्पा वि सो वि लहुयत्तण पत्तो ॥ ८ ॥

कुञ्जर मृगेन्द्रदर्शनविमुक्तपूस्कारमदप्रसंगन ।

न खलु केवलं त्वया आत्मापि सोऽपि लघुत्व नीत

—उपलब्ध संस्कृत छाया

संस्कृत टीका में 'पत्तो' की छाया 'प्रापित' दी गई है, 'प्राप्त' होना चाहिये । नीत भावार्थ है, छाया नहीं । उत्तरार्ध का अंग्रेजी अनुवाद इस प्रकार है—

"तुमने अपने आप को बटा कर बहुत निम्न स्तर पर पहुँचा दिया है ।"

उपर्युक्त अनुवाद अशुद्ध है । उसमें 'नवरि' ( केवल ) और 'सोवि' ( सो-ऽपि ) पक्षों की उपेक्षा कर दी गई है । गाथा का अर्थ इस प्रकार होना चाहिए—

अरे कुञ्जर, जब मृगेन्द्र को देखते ही सब छोड़ कर चीत्कार करने लगे तब तुमने अपनी श्रेष्ठ आत्मा को ही नहीं, उस दुर्धर्ष आक्रामक सिंह को भी लघु बना दिया ।

'आत्मापि' से गजेन्द्र की श्रेष्ठता और 'सोऽपि' से आक्रामक सिंह की दुर्धर्षता के साथ-साथ यह ध्वनित होता है कि ऐसे हीनसत्त्व शत्रु पर शौर्य प्रदर्शनकारी सिंह भी कलंकित हो गया ।

२१४ × १—ओ सुयइ विल्लरविल्ललुलियधम्मिल्लकुतलकलावो ।

अन्नत्थ वच्च वाणिय अम्ह मुत्ताहल कत्तो ॥ ९ ॥



अहो स्वपिति ॥ लुसितवम्मिल्लकुन्तलकलाप  
अभ्यन्न व्रज वणिग् अस्माक मुक्ताफल कुत

—उपलब्ध संस्कृत छाया

इसकी संस्कृत छाया सज्जित है। 'विल्लर' और 'विल्ल' का अर्थ अस्पष्ट बताया गया है। संस्कृत-टीका में 'विल्लर' का अर्थ 'विरल' लिखा गया है, जो बिल्कुल ठीक है। संस्कृत विरल प्राकृत में 'विल्लर' के रूप में अवश्य प्रचलित रहा होगा। इसका प्रमाण अवधों का बहुत प्रचलित शब्द 'विडर' है, जिसने विरल से विरल (वर्ण विपर्ययद्वारा) और 'विलर' से डलयरलयोरभेदात् 'विडर' का रूप धारण कर लिया है। 'विल्लर' वर्ण-विपर्यय एवं लकार-द्वित्व की स्थिति में विरल का अपभ्रंश रूप है। 'विल्ल' देशी शब्द है। इसका अर्थ हेमचन्द्र ने इस प्रकार दिया है—

विल्लमच्छे विलसिए

—देशीनाममाला, ७।८८

( विल्ल स्वच्छ और विलसित के अर्थ में है )

इस दृष्टि से संस्कृत छाया का स्वरूप यह होगा—

ओ स्वपिति विरलाच्छलुलितवम्मिल्ल कुन्तल कलाप ।

अभ्यन्न व्रज वणिग् अस्माक मुक्ताफल कुत ॥

शब्दार्थ—लुलित = प्रसृत, विकीर्ण

वम्मिल्ल = केशपाश या जुड़ा

कुन्तलकलाप = केशों का गुच्छा

विल्लरविल्ल = १—विल्लर + विल्ल ( समास में व का द्वित्व और सन्धि होने पर रेफस्थ अकार का लोप ) किंचित् मलिन ।

२—किंचित् स्वच्छ ( विल्लर + विल्ल )

ओ = सूचना का चोख ।

गाथा में जिस तृष्ण व्याघ्र का वर्णन है, वह प्रारम्भिक जीवन में दुर्घर्ष और एव उत्साही आखेटक के रूप में प्रसिद्ध था। परन्तु अब नवोदय के प्रणयपाश में बँध कर इतना विषयी हो चुका है कि जीविका के लिये भी गजराजों का वध नहीं करता। तब भी दूर-दूर के वणिग् हाथी-दाँत, मुक्ताफल और व्याघ्रकृत्ति खरीदने उसके द्वार पर पड़चढ़े रहते हैं। विदग्ध व्याघ्र-माता पुत्र की अकर्मण्यता और विलासिता की सूचना जिन शब्दों में दे रही है, उनसे ऐसा लगता है जैसे

वह हिंसा छोड़कर धार्मिक बन गया है। इस सम्बन्ध को ध्यान में रख कर गाथा के पूर्वार्ध की निम्नलिखित वैकल्पिक छाया भी करनी होगी —

ओ स्वपिति विरलानच्छलुन्ध्याधार्मिक कुन्तलकलापः ।

प्राकृत 'अधम्म' ( अधर्म ) शब्द में मतुषयक इत्थ प्रत्यय जोड़ने पर 'अधम्मिल्ल' शब्द बनता है। सन्धि में 'लुत्थिय' के अन्त्य अक्षर का लोप हो जाने पर 'लुत्थियधम्मिल्ल' हो जायगा। अर्थ होगा—अधर्मवान् या अधार्मिक। यहाँ 'कुन्तलकलाप' का अर्थ भी भिन्न हो जायगा—

कुन्तल = प्रास

कलाप ( कलाप ) = तूणीर या बाण ।

'ओ' पञ्चत्ताप का द्योतक है ।

समास—( धार्मिक-पक्ष ) लुत्थिया इत्थत्त विकीर्णा वित्थरन्विल्ला किञ्चिन्मल्लिन्ना अधम्मिल्लो अधम्मवन्त ( हिंसासाधनत्वात् ) कुन्ता प्रासा कलापा ( कलापा ) तूणीरा या जस्त ।

( शृगार-पक्ष )—विरले कोमले ( विलक्षणे वा ) स्वच्छे च धम्मिल्ले केशपाशे लुत्थितो विकीर्णो मिलितो वा कुन्तलाना केशाना कलाप समूहो पत्य ।

मूल में लुत्थिय का पूर्व निपात हो गया है ।

गाथायं—( धार्मिक-पक्ष ) ओ जिसके किञ्चित् अस्वच्छ ( प्रयोगान्नाव से ) पापपुण ( अधम्मिल्ल ) प्रास और तूणीर इधर उधर अस्तव्यस्त पड़े हैं, वह मेरा पुत्र सो रहा है। वणिक् अन्यत्र जाओ, मेर पास मुक्ताफल कहाँ ? यहाँ अधर्मवान् दास्रसमुदाय का अस्तव्यस्त पड़ा रहना—यह सूचित करता है कि आखेटक की उनमें अब रुचि नहीं है। दास्रों के प्रति उपेक्षाभाव उसकी धार्मिकता की अभिव्यक्ति करता है। शृगार-पक्ष—ओ मेरा पुत्र सो रहा है। उसके बालों की लटें प्रिया के कोमल एव स्वच्छ केश-पाश में मिश्रित हो गई हैं। वणिक् अन्यत्र जाओ, हमारे पास मुक्ताफल कहाँ !

उपयुक्त अर्थों में एक वाच्य है, दूसरा व्यर्थ ।

२१४ × ५—अच्छत्ता करिवहण तुह तणुओ धणुहरं समुल्लिहइ ।

योर-धिरयणहराण किं अम्ह माहण्य ॥ १० ॥

आस्ता तावत् करिवघनं तव तनुजो धनुर्हरं समुल्लिखति  
स्थूलस्थिरस्तनभराणा किमस्माक माहात्म्यम्

—उपलब्ध संस्कृत छाया

उपर्युक्त छाया में 'धनुर्हरम्' के स्थान पर 'धनुर्भरम्' होना चाहिये। इस स्थल पर श्रीपटवर्धन यथार्थ से किञ्चित् दूर हट गये हैं। अतएव उन्हें इस सरस एवं सरल गायी को भी अस्पष्ट कहना पड़ा। उनकी व्याख्या यो है—

गजों को मारना तो दूर रहा, तुम्हारा पुत्र धनुर्दण्ड (Bow staff) को छीलकर हल्का कर रहा है। नहीं तो हमारे स्थूल, सुदृढ़ एवं भारी स्तनो का क्या महत्त्व है (शक्ति है)।

विवेच्य गायी व्यंग्य प्रधान शैली में लिखी गई है। इसमें सन्निहित ध्वनि उत्त्व को समझने के लिये प्रकरण पर दृष्टि रखनी पड़ेगी।

वनवासी बलवान् व्याध प्रतिदिन सुहृद्धार धनुष को अनायास हाथ में लेकर आखेट के लिये जाया करता था। जब से घर में चन्द्रमुखी नवोद्भा पत्नी आ गई तब से वह इतना कामुक हो गया है कि अगो की सारी शक्ति ही समाप्त हो गई है। जिस भारी धनुष को वह कभी पुष्पवत् उठा लेता था, आज उसी को हाथ में लेने पर साँसें फूलने लगती हैं। अतः भार कम करने के लिये उसका दण्ड छील कर हल्का कर रहा है। कामुक व्याध का यह व्यापार देखकर उसकी प्रिया सास से कहती है :—

हे सास ! हाथियों को मारना तो दूर रहा, तुम्हारा पुत्र भारी धनुष के भार को (धनुर्भर) छील कर हल्का कर रहा है। हमारे पीन एवं सुदृढ़ पयोधरों की क्या महत्ता रह गई ? तात्पर्य यह है कि हमारे इन पयोधरों का महत्त्व तो तब था जब वह विषय-सेवन के अतिरिक्त अन्य किसी कार्य में रुचि ही न लेता। अभी तो वह आखेट करने की बात भी कभी-कभी सोचता है और उसके लिये भारी धनुष को हल्का करने का प्रयत्न करता है। गिठार है, ऐसे विपन्न स्तनो को जो अपने आकर्षण से प्रणयी को एकनिष्ठ भी नहीं बना सकें।

अथवा तुम्हारा पुत्र विषय-सेवन-जनित दुर्बलता के कारण भारी धनुर्दण्ड को छील रहा है, यह क्या हमारा माहात्म्य है ? बरे ! यह तो हमारे पुष्ट पयोधरों का प्रभाव है (अर्थात् हमारे पीनोन्नत पयोधरों के आकर्षणबल विषयी होकर आज इस स्थिति पर पहुँच गया है कि पुराने भारी धनुष को उठाने की नहीं रह गई है। हे सास ! मैं निरपराध हूँ। (अपराधी से दुष्ट पयोधर)।

अथवा उत्तरार्ध का अर्थ यो करें —

यह हमारे पौन पयोधरो का महत्त्व है क्या ? ( अर्थात् उन्ही का महत्त्व है ) ।

२८४ × ६—वक् ताण न कोरइ किं कज्ज जस्स ते वि याणति ।

सम्भावेण य छेया पुत्ति देवज्ज वेप्पति ॥ ११ ॥

वक् तेषा न कियते किं कार्यं यस्य तेषां जानन्ति

सद्भावेन च छेका पुत्रि देवा इव गृह्यन्ते

संस्कृत टीका 'न' को 'जानन्ति' क्रिया से सम्बद्ध करती है —

हे पुत्रि, छेका ये ते न जानन्ति ।

जिससे गाथा के अन्तराल तक पहुँचने के लिये कोई भी रन्ध्र नहीं मिलता । श्री पदवर्चन ने 'किं कज्ज जस्स ते वि जाणति' का निम्नलिखित अर्थ दिया है —

“वे यह जान लेते हैं कि एक मनुष्य का क्या कार्य है ।”

परन्तु उक्त प्राकृत-वाक्य का सीधा और सरल अर्थ यह है —

जिसका क्या कार्य है, वे भी जानते हैं ।

यहाँ 'जस्स' के लिये 'तस्स' की आकांक्षा स्वाभाविक है । गाथा में कहा भी 'तस्स' पद नहीं है । समुच्चयार्थक 'वि' से समुच्चित 'त' किसी अन्य की भी अपेक्षा रखता है, परन्तु उसके साथ अन्य को समुच्चयमान पद दिखाई नहीं देता । इन विसंगतियों के कारण द्वितीय चरण निष्ठान्त अव्ययस्थित एव अनगल प्रनाप-ता प्रतीत होता है । अब व्यवस्था के लिये उक्त अंश का पाठ एव उसकी छाया इस प्रकार होगी—

किंज्ज जस्स ते विजाणति

( केचुर्यं यस्य ते विजानन्ति )

अर्थात् जिसकी किकरता ( सेवा या अनन्याधयता ) होती है ( उसे ), विशेषतः जानते हैं । उपर्युक्त पाठ में 'वि' 'जाणति' क्रिया का उपसर्ग है । 'किं' और 'कज्ज' पूर्यक् नहीं, एक पद बन गये हैं । अब गाथा का अर्थ स्वतः स्पष्ट है—

अर्थ—उन ( छेको ) से बक्र व्यवहार नहीं किया जा सकता । वे जिसकी ( उनके प्रति ) सेवा होती है, उसे विशेषतः जानते हैं । वेदी, छेक देवताओं के समान सच्चे प्रेम से ही बशीभूत होते हैं ।

सात्पर्य यह है कि विदग्ध-जन सच्ची सेवा को पहचानते हैं और छल-कपट से बशीभूत नहीं होते हैं ।

३०० × ६—गाढतरचुम्बणुप्फुसियबहलणीलजणाइ रेहति ।

बप्फभितरपसरियगलतबाहाहि अच्छीइ ॥ १२ ॥

गाढतरचुम्बनप्रोञ्छितबहलनीलाञ्जने शोभेते

बाष्पाम्यन्तरप्रसृतगल्त्" " (?) अक्षिणी

—उपलब्ध खडित संस्कृत छाया

प्रस्तुत गाथा का ठीक-ठीक संस्कृत रूपान्तर न तो संस्कृत टीकाकार कर सके हैं और न श्री पटवर्धन ही । श्री पटवर्धन ने मूल गाथा में निम्नलिखित संशोधन का सुझाव देकर 'बप्फ' शब्द को अस्पष्ट कहा है—

Read गलतबाहाइ for गलतबाहाहि

The sense of बप्फ is obscure.

न तो उक्त संशोधन ही आवश्यक है और न 'बप्फ' शब्द का अर्थ ही अस्पष्ट है । संभवतः अधुपर्याय 'बप्फ' और 'बाह' की एक साथ उपस्थिति होने के कारण अंग्रेजी अनुवादक को दोनों में एक की अस्पष्टार्थता का आभास हुआ होगा । परन्तु गाथा में 'बप्फ' के साथ 'बाह' का नहीं, 'बाहा' ( बावा ) का प्रयोग है । बाहा का अर्थ है—बाधा या अवरोध । इस दृष्टि से गाथा का संस्कृत रूपान्तर यो होगा—

गाढतरचुम्बनप्रोञ्छितबहलनीलाञ्जने शोभेते ।

बाष्पाम्यन्तरप्रसृतगलद्बाधाभिः अक्षिणी ॥

अपराधी नायक मानवती नायिका का मानापनयन कर रहा था । वह बार-बार विरोध करती जा रही थी । अन्त में उसने जलपूर्वक चुम्बन कर लिया । इससे बाँखों से कज्जल-मिश्रित अधुओं की तरल धारा फूट पड़ी और मान-जनित सारा अवरोध तुरन्त विगलित हो गया । उत्तरार्ध का अन्वय इस प्रकार है—

अक्षिणी बाष्पाम्यन्तर प्रसृत गलद्बाधाभिः शोभेते ।

( अक्षिणी नयने बाष्पाम्बुजरे प्रसृताभि गलन्तीभिश्च बाधामि शोभेते  
अर्थात् अश्रुओं के प्रवाह के भीतर बड़ी हुई और पिघलती हुई बाधाओं के द्वारा  
जैसे सुन्दर लगती हैं )

गायार्थ—प्रगाढ चुम्बन से जिनका घना कृष्ण काजल प्रोज्झित हो चुका  
है, व क्षीण अश्रुधारा के भीतर विवर्धमान विरोधों ( बाधाओं ) के विगलित हो  
जान के कारण सुन्दर लगती हैं ।

३१० × २—सो तण्हाइयपहियब्ब दूमिओ तीइ दिट्ठमेत्तेहि ।

पय पवाक्कल्लेहि व थणेहि उम्मयियमुहेहि ॥ १३ ॥

स तृपितपविक इव दूनस्तस्या दृष्टमान्त्वाम् ।

पदि-प्रपाकलशाम्यामिव स्तनाभ्या दम्बमुखाभ्याम् ॥

—उपलब्ध संस्कृत उाया

इस गाय का अर्थ इस प्रकार दिया गया है —

“वह उसके कृष्णमुख पयोयों को देखते ही ऐसे दुःखी हो गया जैसे कोई  
तृपित बटोही भागस्य पानोद-शाठा में दम्बमुख कलशों को देख कर दुःखी हो  
जाता है ।”

संस्कृत-टीका में ‘उम्मयिय’ का संस्कृत-रूपान्तर ‘उम्मपित’ दिया गया  
है और ‘दिट्ठमेत्तेहि’ ( दृष्टमान् ) की व्याख्या उपमान-पक्ष में इस प्रकार की  
गई है—

असगत है। कृष्णमुख पयोधरो को देखते ही किसी भी मनवले युवक के मन में स्वभावतः आनन्द ही होता है, दुःख नहीं। विलास-प्रिय नवयुवक का मगमोत्कण्ठा से दुःखी होना भी सम्भव है, परन्तु तृपित-पथिक का, पानीपशाला के कलशों को देखकर, दुःखी होना सम्भव में नहीं आता है। उसे तो आनन्द-विभोर हो जाना चाहिये था। कलशों की दम्भमुखता में दुःख उत्पन्न करने की क्षमता नहीं है। सस्कृतटीका के अनुसार तृपित पथिक के दुःख का कारण पानी की स्वल्प मात्रा है, जिससे तृपा-निवृत्ति किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है।

प्राकृत शब्द 'ओमयिय' ओकार को ह्रस्वता के कारण 'उम्मयिय' ( अव + मस्ति क ) हो गया है। 'ओमयिय' का अर्थ है—अयोमुख या मत् ।' लटकते हुए ( अयोमुख ) पयोधरो की देखकर विलास-प्रिय तृष्ण ही नहीं बुझी होते हैं, पानीपशाला के ओंघे कलशों को देखकर तृपित बटोहों भी व्यथित हो उठते हैं। गाथा का अर्थ इस प्रकार होगा—

वह ( तृष्ण ) उस ( महिला ) के नभमुख ( लटकते हुए ) पयोधरो की दलने ही दुःखी हो गया, जैसे कोई तृपित पथिक पानीपशाला के उन घड़ों को देखकर दुःखी हो उठता है, जिनके भीतर पानी की थोड़ी मात्रा देख ली गई है।

३१२ × ११—ठाणयरेहि एहि अहोमुहेहि अणवरयपोडेहि ।  
सिहिणेहि नरिदेहि व कि किज्जइ पयविमुक्केहि ॥ १४ ॥

स्थानकराभ्यामाभ्यामयोमुलाभ्यामनवरतप्रोढाभ्याम्  
स्तनाभ्यां नरेन्द्राभ्यामिव कि क्रियते पदविमुक्ताभ्याम्

—उपलब्ध संस्कृत छाया

इनमें पदाधरो और राजाओं का औपम्य वर्णित है। वर्णन रिलेट है परन्तु सस्कृत-टीका प्राकृत शब्दों का संस्कृत रूपान्तर देकर ही ग्रीन हो गई है। केवल 'पयविमुक्क' की व्याख्या इन शब्दों में की गई है—

पदविमुक्ताभ्यां स्थानच्युताभ्याम् ।

अंग्रेजी अनुवाद का भावार्थ इस प्रकार है—

'जो अपने स्थान से च्युत हो चुके हैं, जो पूर्वकाल में अपनी स्थिति ( Position ) बनान में समय थे, जिन्होंने ( परिपुष्टता के कारण ) अपना

( अक्षिणो नयने बाष्पाम्बन्तरे प्रनृतानि गलन्तीनिश्च बावाभि शीमेते  
अर्थात् अश्रुओं के प्रवाह के भीतर बड़ी हुई और पिघलती हुई बावाओं के द्वारा  
बाँजें सुन्दर लगती हैं )

गाथाय—प्रगाड चुम्बन से त्रिनका घना कृष्ण काजल प्रोज्झित हो चुका  
है, वे बाँजें अश्रुवारा के भीतर विद्यमान विरोधों ( बावाओं ) के विगलित हो  
जाने के कारण सुन्दर लगती हैं ।

३१० × २—सौ तण्हाइयपहियब्ब दूमिओ तोइ दिट्ठमेत्तेहि ।

पय पवाकलत्तेहि व यणेहि उम्मयियमुहेहि ॥ १३ ॥

स तृपितपयिक इव दुनस्तस्या दृष्टनात्रान्याम् ।

पयि-प्रपाकनशान्यानिव स्तनान्या दग्धमुच्छान्याम् ॥

—उपलब्ध संस्कृत छाया

इस गाथा का अर्थ इस प्रकार दिया गया है —

“वह उसके कृष्णमुख पयोधरों को देखते ही ऐसे दुखी हो गया जैसे कोई  
तृपित बटोही मार्गस्थ पानीय-घाटा में दग्धमुख कलशों को देख कर दुखी हो  
जाता है ।”

संस्कृत-टीका में ‘उम्मयिय’ का संस्कृत-रूपान्तर ‘उन्मयित’ दिया गया  
है और ‘दिट्ठमेत्तेहि’ ( दृष्टमाने ) की व्याख्या उपनान-पक्ष में इस प्रकार की  
गई है—

दृष्टा स्तोका नात्रा पानीमलक्षणा येषु ते दृष्टमात्रा । तदृष्टमानं ।  
उन्मयित का अर्थ टीका में नहीं लिखा है । संस्कृतटीकानुसार गाथा का यह अर्थ  
होना चाहिये—

वह ( दुबक ) उनके उन्मयित-(?)-मुख पयोधरों का देखते ही दुखी हो  
गया, जैसे कोई तृपित पयिक मार्गस्थ पानीय-घाटा ( घाट ) के उन कलशों को  
देखकर दुखी हो जाता है त्रिनके जल की थोड़ी मात्रा देख ली गई है ।

यदि उन्मयित का भी अर्थ दिया गया होता तो उपर्युक्त व्याख्या में कोई  
कमो हा नहीं थी । यो पटवर्धन ने संस्कृतटीका के ‘पयि प्रपाकलक्षणे’ इस  
व्याख्या-वचन में अवस्थित पयि शब्द की समस्त-पद के रूप में छाया में निविष्ट  
कर दिया है, जो उचित नहीं है । समास-गत पय शब्द में सप्तमो निरर्थक  
है । गाथा का अर्थ जो अनुवाद, त्रिनका नावार्य ऊपर दिया गया है, निरान्त



असगत है। कृष्णमुख पयोऽरों को देखते ही किसी भी मनवले पुत्र के मन में स्वभावतः अनन्द ही होता है, दुःख नहीं। विलास-प्रिय नवपुत्रक का नगमोत्कण्ठा से दुःखी होना भी सम्भव है, परन्तु तृपित-पथिक का, पानीपशाला के कृष्णों को देखकर, दुःखी होना समझ में नहीं आता है। उसे तो आनन्द-विभोर हो जाना चाहिये था। कलशों की दग्धमुखता में दुःख उत्पन्न करने की क्षमता नहीं है। सम्स्कृतटीका के अनुसार तृपित पथिक के दुःख का कारण पानी की स्वल्प मात्रा है, जिससे तृपा-निवृत्ति किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है।

प्राकृत शब्द 'ओमयिय' ओंकार की ह्रस्वता के कारण 'उम्मयिय' (अव + मत्तिक) हो गया है। 'ओमयिय' का अर्थ है—अवोमुख या नत। सटकते हुए (अवोमुख) पयोऽरों को देखकर विलास-प्रिय तद्वत् ही नहीं दुःखी होते हैं, पानीपशाला के औंधे कलशों को देखकर तृपित बटोहा भी व्यथित हो उठते हैं। गाथा का अर्थ इस प्रकार होगा—

बह (तद्वत्) उस (महिला) के नतमुख (सटकते हुए) पयोधरों को देखने ही दुःखी हो गया, जैसे कोई तृपित पथिक पानीपशाला के उन घटों को देखकर दुःखी हो उठता है, जिनके भीतर पानी की थोड़ी मात्रा देख ली गई है।

३१० × ११—ठाणररेहि एहि अहोमुहेहि अणवरयपोडेहि।

सिहिण्हि नरिदेहि व किं किञ्जइ पयविमुक्केहि ॥ १४ ॥

स्थानकराभ्यानाभ्यामधोमुलान्मामनवरतप्रीदाभ्याम्

स्तनाभ्या नरेन्द्राभ्यामिव किं क्रियते पदविमुक्ताभ्याम्

—उपलब्ध सस्कृत छाया

इसमें पयोधरों और राजाओं का ओपम्य वर्णित है। वर्णन सिलिष्ट है परन्तु सम्स्कृत-टीका प्राकृत शब्दों का सस्कृत रूपान्तर देकर ही मोन हो गई है। केवल 'पयविमुक्क' की व्याख्या इन शब्दों में की गई है—

पदविमुक्ताभ्या स्थानच्युताभ्याम्।

अनेजी अनुवाद का भावार्थ इस प्रकार है—

“जो अपने स्थान से च्युत हो चुके हैं, जो पूर्वकाल में अपनी स्थिति (Position) बनाने में समर्थ थे, जिन्होंने (परिपुष्टता के कारण) अपना

मुह झुका लिया है, जो पहले निरन्तर प्रवर्धमान थे वे स्तन, उन स्थानभ्रष्ट राजाओं के समान क्या कर सकते हैं, जो पहले अपना उच्च स्थान बनाने में समर्थ थे, जिन्होंने अपना मुह ( विनम्रता के कारण ) झुका लिया था और जो पूर्वकाल में निरन्तर ( शक्ति के क्षेत्र में ) प्रवर्धमान थे ।”

उपयुक्त अनुवाद चमत्कारशून्य है । उममें स्लेप का निर्वाह भी नहीं हो सका है । प्राकृत गायत्री की छाया इस प्रकार होनी चाहिये —

स्थानचरैरेतेरघोमुखैरनवरतप्रौढः ।

स्तनैरनरेन्द्रैरिव किं क्रियते पयोविमुक्तं ( पदविमुक्तं ) ॥

शब्दार्थ—स्थानचर = १ स्थान से चलित ( चर = चल, चलायमान )

= २ ( याणयर )—स्थानम् उपशान्ति स्थैर्य वा चर-  
तीति स्थानचर, शान्त हो जाने वाले या उद्यम-  
हीन हो जाने वाले । अथवा स्थाने स्वराज्ये चरति  
भ्राभ्यति निरुद्देश्य स्थानचर, अपने राज्य में  
निरुद्देश्य भटकने वाले ।

अधोमुख = १—जिनका मुख ( वय. परिणति के कारण ) नीचे की ओर हो गया है ।

= २—जिनका मुँह लज्जा से नीचा हो गया है ।

अनवरत प्रौढ = १—जो पुराने ( तादृश्य में होने वाले ) सभोगों के कारण परिपक्वता को प्राप्त हो चुके हैं ( अनवैन अनूतनेन तादृश्यकालकृतेन रतेन सभागेन प्रौढं परिणतिं गतैरिति ) ।

२—निरन्तर वृद्ध

पयोविमुक्तं. = दुग्धहीन

पदविमुक्तं. = पदच्युत, जिन्होंने अपना राज्य खो दिया है ।

गायार्थ—जो स्थान से चलित हो चुके हैं, जो प्रपमावस्था के सभोग से परिणत हो चुके हैं, जिनका मुँह नीचे हो गया है, वे दुग्धहीन स्तन, उन पदच्युत एवं निरन्तर वृद्ध राजाओं के समान क्या कर सकते हैं, जो ( निराश एवं अनूत्साह से ) उद्यमरहित हो चुके हैं और जिनका मुँह ( लज्जा से ) नीचा हो गया है ।

३१८ × ६ वालालावष्णणिहो नवत्त्वत्स्वित्स्व माउल्लिगस्स ।

चिचिच्च दूरपक्का करेइ लालाउय हियय ॥ १५ ॥

बालाभाष्यनिर्गन्वीनवत्त्वोव मातुलिङ्गस्य  
चिञ्चेव दूरपक्वा करोति ललाकुल हृदयम्

—उपलब्ध संस्कृत छाया

उपर्युक्त संस्कृत छाया में 'ललाकुलम्' के स्थान पर 'ललायुतम्' होना चाहिये ।

३४९ × ६ अब्बो जाणामि अह पेम्म च हवेइ लोयमज्झम्मि ।

यिरभासाए रइय न पोडिय नवरि दिव्वेण ॥ १६ ॥

अहो जानाम्यह प्रेम च भवति लोकमग्ये

स्मिराशया रचित न पीडित केवल दैवेन

—उपलब्ध संस्कृत छाया

श्री पटवर्धन ने इसका यह अनुवाद किया है —

“अहो, मैं जानती हूँ कि कैसे इस जगत में प्रेम सुदृढ़ आशा के द्वारा रचित होता है परन्तु कैसे यह भाग्य से पीडित है ?”

उपर्युक्त अनुवाद सन्तोषजनक नहीं है क्योंकि अनुवादक पूर्वाश्रय या उत्तरार्ध के किसी वाक्य से 'न' का अन्वय नहीं कर सके हैं । यह किसी ऐसी निराश प्रेमिका की मर्ममोदिनी उक्ति है, जिसने कभी बखे ही आशा से प्रणय का मूलपाठ किया था ।

गाथापथ—हाम में जानती थी कि अगत में प्रेम सुदृढ़ आशा से रचित होता है, वह केवल भाग्य से पीडित ( भाग्याघोन या भाग्य से बाधित ) नहीं होता । ( परन्तु खेद है, प्रेम केवल भाग्य के ही अधीन होता है )

इस अर्थ में 'न' को अन्तिम चरण से सम्बद्ध किया गया है । उसे द्वितीय चरण से समुक्त करके यह अर्थ ले सकते हैं —

मैं जानती हूँ कि ससार में प्रेम सुदृढ़ आशा से रचित नहीं होता । वह केवल भाग्य के अधीन रहता है ।

अथवा यह अर्थ करें —

अहो, ससार में प्रेम सुदृढ़ आशा से निर्मित होता है—यह तो मैं जानती थी परन्तु वह केवल भाग्य से पीडित होता है ( भाग्य ही उसमें बाधक बनता है )—यह नहीं जानती थी ।

‘जानामि’ का भूतकालिक अर्थ हेमचन्द्र के ‘व्यत्ययश्च’, ४४४७—इस सूत्र से समर्थित है। इस अर्थ में जानामि क्रिया को प्रमुखता दी गई है। अथवा इसका निम्नलिखित अर्थ समझें —

बहो, ससार में प्रेम सुदृढ़ आशा से निमित्त नहीं होता है और भाग्य से पीड़ित होता है—इसे मैं जानती थी ( या जानती हूँ )।

इस प्रकार ‘न’ निषेध और ‘जानाति’ क्रिया के अन्वय-भेद से विवेच्य गायत्री के कई अर्थ समभव हैं।

३४९ × १० तो को वि न दीसइ सामलगि जो घडइ विघडिय पेम्प ।

घडकप्पर च भग्ग न एइ तेहि चिय सलेहि ॥ १७ ॥

म कोऽपि न दृश्यत इयामलाङ्गि यो घटयति विघटित प्रेम  
घटकपर च भग्न नैति तरेव (?)

—उपलब्ध अपूर्ण छाया

संस्कृत छाया का चतुर्थ चरण सन्दिग्ध है। ‘सलेहि’ पद को छोड़ दिया गया है। संस्कृत टीका के अनुसार ‘सलेहि’ की छाया का अनुवाद ‘सर्व’ होना चाहिये। श्री पटवर्धन ‘सर्व’ का अर्थ नहीं समझ सके। उन्होंने टीका के इस पद को प्रत्याकित किया है। इस शब्द का अर्थ है—साँचा। ‘सल’ शब्द देशी प्रतीय होता है परन्तु देशीनाममाला आदि कोशों में संगृहीत नहीं है। उसके अर्थ का आधार केवल निम्नलिखित टीका है —

तरेव सले सर्वे न एति नापच्छति ।

गायार्थ—अभि इयामलाङ्गि, ऐसा कोई भी नहीं दिखाई देता जो टूटे प्रेम को जोड़ सके। फूटा पड़ा उन्हीं साँचों में नहीं आता ( अर्थात् उसका आकार पुनर्बन्ध नहीं हो सकता या साँचे में पुनः उसी रूप में नहीं बनाया जा सकता )।

३९७ × २—हारण मामि कुमुमच्छदायलुप्पन्नचिद्धिणा दइदो ।

वम्भोसणो न मन्नः उल्लूविजा तेण म उहद ॥ १८ ॥

हारण सति कुमुमच्छदायलुप्पन्नचिद्धिना दम्भ  
वम्भोसणो न मन्वते विध्यापित न न दहति

—उपलब्ध संस्कृत छाया

गाथा और संस्कृत टीका के सम्बन्ध में यह पाद टिप्पणी है .—

The sense of the Gatha and that of the commentary are obscure.

संस्कृत-टीका के निम्नलिखित वाक्य से गाथा के अर्थ पर कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ता —

य. शीतवीर्येण दग्धो भवति ॥ शीतत्वे न उपशमन प्राप्नोति ।

क्योंकि पूर्वार्ध-वर्णित बहिर् में शीतवीर्यता की कल्पना लोकविद्वद् हैं ।

श्री पटवर्धन ने गाथा का यह अर्थ किया है —

“सखि, मैं समझती हूँ, पुष्प-समूह के नीचे से उठी (उत्पन्न) आग के द्वारा जला हुआ कामदेव (वर्मेपण) बुझा नहीं, अभी तो मुझे ससत जला रहा है ।”

उपर्युक्त अर्थ अपूर्ण है । इसमें ‘हारेण’ पद को बिल्कुल छोट दिया गया है । ‘कुसुमच्छदायलुप्यन्मन्त्रिणि’ ‘हारेण’ का विशेषण है । अर्थ में उसे विशेषणवत् ही रखना होगा । गाथा का अर्थ इस प्रकार होगा :—

सखि, जिसके पुष्प-समूह के नीचे से अग्नि उत्पन्न हो गई थी, उस हार के द्वारा दग्ध होकर कामदेव, मैं समझती हूँ, बुझा नहीं । अभी तो मुझे जला रहा है ।

यह वर्णन किसी वियोगिनी का है । उस बेचारी को शीतल पुष्पहार भी दाहक प्रतीत हो रहा था । अतः वह सोचती थी कि पुष्पहार की इस असह्य ज्वाला से हृदय में अवस्थित उत्पीडक कामदेव अवश्य जलकर राख हो जायगा और मेरी यह विरह-व्यथा दूर हो जायगी । परन्तु मनोरथ अपूर्ण हो रह गया । काष्ठ अग्नि में दग्ध हो जाने पर भी तब तक लोगों को जलाता रहता है जब तक उसका अंगार बुझकर राख नहीं हो जाता । इसी प्रकार यद्यपि कामदेव स्वयं जल तो गया है परन्तु अभी जलते हुये अंगार के रूप में है, बुझा नहीं है । अतः विरहिणा को जना रहा है । पुष्पहार की दाहकता का अत्युक्तिपूर्ण वर्णन है ।

४२१ × १—अह्वा तुज्ज न दोसो तस्स उ ख्वस्स हियकिलेसस्स ।

अज्जावि न प्पसोमइ ईसायति व्य गिरित्तणया ॥ १९ ॥

अथवा तव न दोषस्तस्य तु न्यस्य हितक्लेशस्य

अद्यापि न प्रसीदति ईर्ष्यायमाणेव गिरित्तनया

मानवती गिरिजा को मनाकर निराश लौटी दूती को चकि है। श्री पटवर्धन ने पादटिप्पणी में लिखा है कि टीका-सहित गाथा का अर्थ स्पष्ट नहीं है।

अग्रजी अनुवाद यों है—

‘यह तुम्हारा दोष नहीं है। यह सौन्दर्य का दोष है जो कष्ट को जन्म देता है। ईर्ष्या करती हुई पार्वती प्रसन्न नहीं हो रही है।’

संस्कृत-टीका में ‘हितक्लेशस्य’ की व्याख्या इन शब्दों में की गई है—

हितं क्लेशो यस्य अतो हितक्लेशः, तस्य हितक्लेशस्य ।

टीका का आशय यह है—अनेक अनुनय-विनय के पश्चात् भी पार्वती का मान नहीं टूट रहा है, इसका कारण उनका वह अपरिमित सौन्दर्य है, जिसे क्लेश भोगना और भोगाना ही प्रिय है। यदि वे कुस्प होती तो किस दूते पर इतना कठोर ध्यान करती। सुन्दरी का मान सोमा देता है, असुन्दरी का नहीं। सौन्दर्य गर्व का कारण है और गर्व मान का। इस प्रकार मानिनी के लिये विरह-जनित क्लेश अनिवार्य है। अब ‘हितक्लेश’—यह सौन्दर्य का विशेषण सापक है। अथवा ‘हित क्लेशस्य’ की छाया ‘हितक्लेशस्य’ है। व्याख्या इस प्रकार करें—

हृत्ती दूरीकृत क्लेशः प्रणयोत्कण्ठाजनितसन्ताप येन । अर्थात् जिसने प्रणयोत्कण्ठा से उत्पन्न कष्ट को दूर कर दिया था। इस आलोक में गाथा का अर्थ यह होगा—

हे शिव ! ईर्ष्या करती हुई पार्वती, जो अब तक प्रसन्न नहीं हो रही है, यह आपका दोष नहीं है। यह तो उस सौन्दर्य का दोष है, जिसने (कभी सयोगावस्था में) आपके प्रणयोत्कण्ठाजनित सन्ताप को हर लिया था। पार्वती के मान न छोटने का कारण अनन्त लावण्य और शिव के सतत अनुनय का कारण हितक्लेशत्व है। ‘हित क्लेश’ का अस्य अर्थ इस प्रकार भी कर सकते हैं—

हितं स्थापितं क्लेशो यस्मिन् ।

४५४ × २—सातम्मि ह्रियं दुल्हम्मि माणुसे अल्लियसगमासाए ।

हरिषण्व मूड मयतप्पिहाइ दूर हरिज्जिहिसि ॥ २० ॥

साते हृदय दुर्लभे मनुष्ये अलोकावगमायया

हरिष इव मूड मृगनृप्पिकुत्ता दूर हरिष्यत

इसकी संस्कृत-टीका नितान्त अव्यवस्थित है। लेखक ने एकबार 'माणसे' का अर्थ 'मनुष्यमवे' लिखा है और दूसरी बार 'मनुष्य'। 'अलीकसगमासापो' को 'अलीकसगमासा' समझ कर उसकी व्याख्या मनुष्य के विशेषण के रूप में की है, जो व्याकरण-विरुद्ध है। अंग्रेजी अनुवाद यों है—

“हे मूढ़ हृदय, दुर्लभ-जन के सगम को मिथ्या भासा से तुम उसी प्रकार दूर तक ले जाये जाओगे जैसे कोई हरिण मृगतुण्डा-द्वारा दूर तक भटकाया जाता है।”

इस अनुवाद में 'माणसे' और 'सासम्मि' पद उपेक्षित रह गये हैं। भाषा का अर्थ इस प्रकार होना चाहिये—

भरे मूढ़ मन ! मानुष-सुख ( मानुष = मनुष्य, सात = सुख ) दुर्लभ हो जाने पर तू उसी प्रकार मिथ्या सगमासा के द्वारा दूर तक भ्रमराया जायगा जैसे हरिण मृग मरीचिका के द्वारा दूर तक भोकाया जाता है।

८९६ × ८—बहले तमधयारे रमितप्रमुक्तायो सासुसुण्हाण ।  
समय चिय अन्निडिया दोण्ह पि सरइहे हत्था ॥ २१ ॥  
बहले तमोऽम्भकारे रमितप्रमुक्तयो स्वासुसुण्णयो  
सममेव सगती ( मिलिती ) द्वयोरपि “ (?) हस्ती  
—उपलब्ध संस्कृत छाया

संस्कृत टीका के अनुसार भाषा का संस्कृत रूपान्तर इस प्रकार है—

बहलेतमोऽम्भकार रमित प्रमुक्तयो. स्वासुसुण्णयो ।  
समकालमेवावलम्बिती द्वाभ्यामपि सारइहे हस्ती ॥

सम्पादक ने टीका के 'स्वासुसुण्णयो' और 'सारइहे' पदों के आगे प्रश्नचिह्न लगा दिये हैं। अंग्रेजी अनुवाद इस प्रकार है—

“यने अम्भकार के मध्य में सास और बह—दोनों ने अपने उपपत्तियों के साथ जलाशय में गुप्तरूप से रमण किया और मुक्त होकर जब तैरती हुई तट की ओर लौटी तब उनके हाथ संयोग से परस्पर छू गये ( मिल गये )।”

जल पूर्ण जलाशय के मध्य रमण करना अस्वाभाविक व्यापार है। अभिसारिकाओं का सकल-स्थल जलधून्य जलाशय में ही समव है। निदीय की निस्तम्भता में रमण एवं व्याप्लवन से जलाशय की प्रशान्त जलराशि का विन्यव

होना स्वाभाविक है। ऐसी स्थिति में उन पुष्कलियों के दुष्कृत्य में गोपनीयता कहाँ रह गई? बाप्लवन से आलोडित, कल-कल-छल-छल करते जलाशय में यदि उनके हाथ परस्पर छू गये तो उसे सयोग कैसे कहा जा सकता है। अन्धकार में कोई भी बाप्लवनकारी जलरव से सतर्क होकर रहस्य की रक्षा के लिये अपनी गति की दिशा बदल सकता है। अतः उक्त व्यं नितान्त असंगत है। संस्कृत टीका 'सरद्दह' को 'सारद्दह' मानती है और श्री पटवर्धन उसे water reservoir लिखते हैं। सार शब्द जलवाचक है—

सार तु द्विषिण्याय वारिषु ।

—अनेकार्यतग्रह

अब 'सर' को 'सार' मानकर व्याख्या करना बहुत उचित नहीं है। स्वरूप से जल प्रत्यापक दह (सरोवर) के नाथ उसका प्रयोग निश्चय है। मूल में 'सासुसोष्ण' पद विशेष महत्त्व का है। संस्कृत-टीकाकार न उसका अप 'शामसोष्णयो' लिखकर यद्यपि ठीक दिशा का संकेत किया है परन्तु 'सोष्ण' को व्याख्या 'द्विष्याम्' पाठको को पुनः निविड अन्धकार में नटकने के लिये अकेला छोड़ देता है। मेरे विचार से 'सासुसोष्ण' का संस्कृतरूपान्तर 'शामसोष्णयो' की अपेक्षा साधुसोष्णयो करना अधिक प्राणमिक है। हेमचन्द्रवृत्त प्राकृत व्याकरण के लुप्तपरवशपता छपसा दीर्घ १।४३—इस सूत्र से रेफ का लोप हो जान पर पूर्वस्थित स्वर दीर्घ हो जायगा और साधु शब्द (जिसे मन्सु हाना चाहिये) सासु का रूप धारण कर लेगा। 'सासु' का अर्थ है—आगुआ क सहित (अधुनि सहित)। 'सोष्ण' का अर्थ है—गर्मी से युक्त (उष्ण तावेन महिषा मुष्ण)। 'सासुसोष्ण' शब्द अम्पवसान के द्वारा अर्ध-दुग्ध का अवबोध है, अतः श्री पटवर्धन के द्वारा स्वीकृत अर्थ भी समझनीय है। मूल प्राकृत की संस्कृत छाना इन प्रकार होनी चाहिये—

बहुले तमोऽन्धकारे रमितप्रमुक्तयो दधुसूययो (साधुसोष्णयो) ।

सममेव भगती द्वयोरपि धारदहं (सारदहं) हस्ती ॥

प्रमुख पदों के अर्थ इस प्रकार हैं—

रमितप्रमुक्तकाय = रमितप्रमुक्तयो = रमिता युक्त प्रमुक्त परित्यक्त च तयो-  
रमित प्रमुक्तयो ।

१ सार शब्द को सरोवर की उन्मूल्यता का भावार्थक मान लेने पर वह प्राप्यक है ।



सामुमुष्णार्ण = वधूस्तुषयोः = साम और बहू के ।

सामुमुष्णार्ण = साधुसोष्णयोः = आंसु से युक्त और उष्णता से युक्त रहने वाली  
( सास और बहू ) के ।

सरदह = १—शरदह = शरत्कालीन सरोवर ।

२—सारदह = जलयुक्त सरोवर ।

अभिनिद्रिया = छू गये या मिले । संस्कृतटीका के अनुसार लटकाया या डाला ।  
विवेच्य गाथा में सास और पुत्रवधू के प्रच्छन्न स्वैराचार का ध्येयपूर्ण शैली में  
चित्रण किया गया है । दोनों एक दूसरे से छिपकर अंधेरी रात में अपने-अपने  
अनुरागियों के निकट अभिसार करती हैं । एक समीप से कृतार्थ हो जाती है  
और दूसरी को परिश्रम ही हाथ लगता है, उमका उपपत्ति बिना रमण किये ही  
छोड़ देता है । एक रमण से उत्पन्न उष्णता को शान्ति के लिये सरोवर में हाथ  
डालती है तो दूसरी आंसुओं भर मुँह धोने के लिये । मयोग से अंधेरी रात में  
दोनों स्वरिणियों के हाथ परस्पर छू जाते हैं । गाथा में छन्द के अनुरोध से यथा-  
संख्य भाव नहीं है ।

अर्थ—निविड अन्धकार में जिसके साथ रमण किया गया था और जिसको  
( बिना रमण किये ही ) छोड़ दिया गया था ( मुक्त ) उन आंसुओं से युक्त और  
( रमण-जनित ) उष्णता युक्त सास और बहू—दोनों के हाथ शरत्सरोवर ( या  
जलमय सरोवर ) में परस्पर एक साथ टकरा गये ( छू गये, या डाले गये ) ।

यदि 'सामुमुष्णार्ण' में श्लेष न स्वीकार करें, केवल 'साधुसोष्णयोः' के अर्थ  
में ही सीमित रहने दें तो गाथा का अर्थ इस प्रकार हो जाएगा :—

दो अज्ञात अभिसारिकाओं में से एक ने ही रमण किया और दूसरी जार के  
द्वारा बिना रमण किये ही मुक्त कर दी गई । अतः एक रतिश्रम-जनित दीर्घश्वास  
से उष्णता का अनुभव कर रही थी तो दूसरी अपमान से जनित रोष की स्थिति  
में लम्बी साँस लेती हुई प्रसन्न हो रही थी । अतः दोनों अगताप की निवृत्ति के  
लिये शरत्सरोवर में चुपके-चुपके गईं और अन्धेरे में दोनों के हाथ एक साथ  
टकरा गये ( या दोनों ने हाथ मिलाये ) ।

संस्कृत टीकासम्मत अर्थ का समर्थन यदि करना चाहें तो इस प्रकार कर  
सकते हैं—

अंधेरी रात में गृप्तरूप से दो अज्ञात अभिसारिकामें अपने-अपने उपपत्तियों के  
निकट पहुँची और रति-क्रिया से मुक्त होकर जब लौटी तब उनके अग सुरता-

दास-जनित प्रश्वास से प्रतप्त हो रहे थे। सयोग से मात्र-प्रक्षालनार्थ एक साथ शरत्सरोवर पर पहुँचने पर दोनों ने हाथ मिलाये ( अपनी सफलता की प्रसन्नता में ) अथवा सयोग से अँधेरे में उन दोनों ने एक दूसरे को हाथ का सहारा दिया।

५०७ X १—सीसेण कह न कीरइ निउंवणं मामि तस्स गणयस्स ।

असमत्तसुक्कसंकमणवेयणा जेण मह मुणिया ॥ २२ ॥

शोर्पेण कय न क्रियते निकुब्बन(?)सखि तस्य गणकस्य ।

असमाप्तशुकसकमणवेदना येन मम ज्ञाता ॥

—उपलब्ध संस्कृत छाया

संस्कृत-टीका में 'निउवण' की छाया 'निकुब्बनम्' की गई है। श्री पटवर्धन ने उसके स्थान पर 'निचुम्बनम्' शब्द रख कर पूर्वार्ध का यह अर्थ किया है :—

“हे सखि ! उस गणक के चरणों का स्पर्श ( चुम्बन ) अपने शिर से बमो न करें।”

इस अर्थ में स्पर्शन क्रिया ( चुम्बन ) के कर्म के रूप में चरणों का बाहर से आक्षेप करना पड़ता है। अतः 'सीसेण' में सप्तम्यर्थक तृतीया मान कर यह अर्थ करना अधिक सरल एवं समोचीन है :—

हे सखि ! उस गणक का मस्तक क्यों न चूम लें।

इस अर्थ में चूमना क्रिया मस्तक से सीधे अन्विष्ट हो जाती है।

५५९ X २—करफसमलणचुवणपीलणणिहणाइ हरिसवयणेहि ।

अत्ता मायदणिहीण किपि कुमरीउ सिक्खवइ ॥ २३ ॥

कर स्पर्शमर्दनचुम्बनपीडन निहननानि हर्षवचनैः ।

आर्या माकन्दनिधीन् किमपि कुमारी शिक्षयति ॥

—उपलब्ध संस्कृत छाया

संस्कृत-टीकाकार ने कूटस्थ के कारण इसकी व्याख्या गलती की है :—

अस्या गाययाः टीक्ष्ण न कृतास्ति । कूटत्वात् ।

श्री पटवर्धन-कृत अंग्रेजी अनुवाद इस प्रकार है :—

“श्रीठा स्त्री मुस्कान के साथ ठसियों को हाथ पकड़ने (प्रेमी का), लिपटने, चूमने, दबाने और घपनघाने की क्रियाओं की शिक्षा देती है, जो माधुर्य एवं आकर्षण की निधि है।”

अर्थ के अन्त में 'मायदणिहीण' को न '१', भीतर ५ (५) इस

प्रकार अंकित किया गया है —

( मायदणिहीण ? )

उपर्युक्त अंग्रेजी अनुवाद और संस्कृत छाया-दोनों दोष-पूर्ण हैं। 'माकन्द-निधीन्' का प्राकृत रूपान्तर 'मायदणिहीण' नहीं, 'मायदणिहिणो' होगा। अन्त्यव्यजनलोप प्राकृत की प्रमुख विशेषता है। अतः अन्त्यहल् का 'ण' के रूप में परिणत होकर दोष रह जाना किसी भी दशा में व्याकरण-सम्मत नहीं है। यही नहीं, 'मायदणिहीण' और 'किं पि' का सह-प्रयोग भी संस्कृत-छाया की प्रमाण मानने पर अर्थाविरोधक बन जाता है। उक्त शब्द स्पष्ट पठ्यन्त है। उसका संस्कृत रूपान्तर है—माकन्दनिधीनाम्। संस्कृत छाया में 'माकन्दनिधीन्' के स्थान पर 'माकन्दनिधीनाम्' होना चाहिये।

बेश्यायें घनी पुरुषों से बड़ा कुटिल व्यवहार करती हैं। इस दृष्टि से देखें तो आम का फल खाने वाले भक्ति से उनका बहुत अधिक साम्य है। कुट्टिणी-सिक्खा में संगृहीत इस प्राकृत गायी में आम के फलों को अप्रस्तुत के रूप में रख कर बेश्याओं की धूर्तता का अत्यन्त बिम्बग्राही चित्र अंकित किया गया है। आम खानेवाला भक्ति हाथ से आम का स्पर्श करता है, उसे चूमने योग्य बनाने के लिये खूब मलता है ( दबाता या मसलता है ), खात समय बार-बार मुँह से चूमता है एक अणु में निचोड़ कर फेंक देता है। बिल्कुल यही प्रक्रिया बेश्याओं की भी है। वे बेश्यागामी का हाथ पकड़ती हैं, रति के समय शय्या पर उपमर्दन करती हैं, चूमती हैं, घन निचोड़ती हैं और अन्त में छोड़ देती हैं।

शब्दार्थ—निहण ( निहनन ) = फेंक देना, छोड़ देना<sup>१</sup>। प्राकृत में 'हण' का हणण ( हनन ) के अर्थ में भी प्रयोग होता है।<sup>२</sup>

मायदणिहीण ( माकन्दनिधीनाम् ) = १—लक्ष्मी के सुदृढ़ भटार अर्थात् धनियों का (माया लक्ष्म्या कन्दा द्वा निषय) देसीनाममाला के अनुसार कन्व शब्द दृढ और मत्त का अवबोधक है :—

कन्दो दढमत्तेसु—२।५१

१. इदुत्तो दसोणो—प्राकृत प्रकाश, ५।१४

२. पाइयसद्धमहणव और आप्टे-कृत संस्कृत शब्द कोश।

३. काराविया य निरया, जमेण वयरणिमाइया बह्वे।

हण-दहण-पयण-भारण छिदण-भज्जतकम्मन्ता ॥

—विगलपूरि-कृत पउमपरिय

२—आम के भटारो या समूहो का  
(माकन्द = आम) यहा पष्ठी चतुर्थी के  
अर्थ में है ।

यदि अपर-यस में मायदधिहीन की संस्कृत छाया 'माधन्निधीनाम्' स्वीकार  
कर लें तो अर्थ इस प्रकार हो जायगा—

माधन्निधीनाम् = माया लक्ष्म्या चन्द्रा काम्या आह्लादका वा निवयस्तेषाम् ।  
लक्ष्मी के काम्य या आह्लादक निधियो अर्पान् धनिको का ।  
चन्द्रोऽम्बुकाम्ययो ।

—अनेकार्थसंग्रह

अर्थ—वैश्यामाता आम के समूहों के लिये ( पक्षान्तर में धनियों के लिये )  
कुमारियों को कुछ सिखा रही हैं जैसे—करस्पर्श, मर्दन चुम्बन, निष्पीडन,  
( निषोडना ) और निह्नन ( फेंक देना या छोड़ देना ) ।

६२४ × ३—कस्स कएण किसोयरि वरणयरं वहसि उत्तमंगेण ।

कण्णेणकण्वहणं वाणरसंखं च हत्थेण ॥ २४ ॥

कस्स कृते कृशोदरि वरमगर (वर्णकर) वहमि उत्तमाङ्गेन  
कर्णेन कर्णवहूत वानरसख्यं च हस्तेन

—उपनिषद् संस्कृत छाया

संस्कृत-टीका में 'वरणयर' के दो अर्थ दिये गये हैं—थोछ नगर और वर्ण-  
कर ( चित्रवत्तरी मण्डन ) । 'कण्वहण' और 'वाणरसंख' को छाया क्रमशः  
'कर्णवहूतम्' और 'वानरसख्यम्' तो दी गई है परन्तु उन शब्दों के अर्थ नहीं लिखे  
गये हैं । अन्त में 'कस्सकृते' का उत्तर 'पातु कृते' लिख कर पद्य को अस्पष्ट ही  
छोड़ दिया गया है । श्री पटवर्धन-कृत शाब्दिक अनुवाद इस प्रकार है :—

“हे कृशोदरि, तुम किसके लिये मातृक पर विशाल नगर, कानों पर कर्ण  
को हस्ता और हाथों पर बन्दरों की सख्या हो रहा हो ।”

उन्नत प्रलापवत् प्रतीत होने वाले इस अर्थ से प्रहेलिका का आशय स्पष्ट  
नहीं होता है ।

'वरणयर' के समान 'कण्वहण' के भी दो अर्थ हैं । इस शब्द की व्याख्या इस  
प्रकार है :—

कण्वहणं = १—कर्णवहूतम् । २—कर्णवपनम् । वहू, पातु में ल्युट् प्रत्यय

जोड़ने पर वहन और घञ् प्रत्यय जोड़ने पर बाह् शब्द बनते हैं । दोनों समानार्थक हैं । बाह् ( प्रवाह ) का प्रसिद्ध पर्याय पूर है । प्रहेलिकाकार ने अर्थ-भ्रम उत्पन्न करने के लिये पूर के स्थान पर वहन का प्रयोग किया है । इस प्रकार कणवहन का अर्थ है—कणपूर ( कर्णाभरण, कनफूल ) । कर्णवधन शब्द कर्ण की हत्या के अर्थ में है ।

संस्कृतटीका में 'वाणरसख' की छाया 'वानरसख्यम्' दी गई है, जो अशुद्ध है । उसे वानरसख्याम् होना चाहिए । इस शब्द का सीधा अर्थ है—वानरा की सख्या । परन्तु प्रहेलिका के मम तक पहुँचने के लिये अन्य अर्थ की भी पहचान आवश्यक है । इसके लिये प्रस्तुत पद की निम्नलिखित रीति से व्याख्या करनी होगी—

वाणरसख = वानरसख्याम् = ( वानरस्य सख्या सज्ञाम् ) वानर का नाम अर्थात् बालिपुत्र अगद ( रामायण का पात्र विशेष ) । अगद एक हस्ताभरण का भा नाम है । इस पद में बहुव्रीहि मानकर भी हम यही अर्थ ले सकते हैं । वानरेषु सख्या गणना यस्यासौ वानरसख्य । वानरो में जिसकी गणना है अर्थात् बालिपुत्र अगद । यह अर्थ अभिप्रेत होने पर छाया में 'वानरसख्यम्' का निवेश करना पड़ेगा । प्रथम अर्थ में सख्या शब्द अर्थभ्रम उत्पन्न करने के लिये व्याख्या ( सज्ञा ) के अर्थ में प्रयुक्त<sup>१</sup> है । अर्थानुरोध से संस्कृतछाया का पूर्वार्ध यो हो जायगा—

कर्णेन कर्णवधन ( कणवहन ) वानरसख्या ( वानरसख्य ) च हस्तेन । प्रहेलिका का बाल्मिक अर्थ ऊपर दिया जा चुका है । निगूढ़ अर्थ इस प्रकार है—

हे कृषोदरि ! तुम किसके लिये मस्तक पर चित्रबल्लरी, कानों में कणफूल ( कर्णपूर ) और हाथों में अगद धारण करती हो ? उत्तर—पति के लिये ।

चित्रबल्लरी एक रचना विशेष का नाम है । महिलायें इसके द्वारा मुखमण्डल को अलंकृत कर सौन्दर्य-वृद्धि करती थी । मूल में वर्णकर शब्द ( वर्ण करोतीति वणकर ) स्वरभक्ति के कारण 'वरणयर' रूप में परिणत हो गया है ।

१. सो च पुगलो परिसुद्धाजीवो त्वव सङ्ग गच्छति

—मिलिंदपञ्च, पृ० २२७, वबई विश्वविद्यालय संस्करण

यस्मिं समये सौर हाति, नेव तस्मिं समये दधोति सङ्ग गच्छति, न नवनीतं ति सङ्ग गच्छति, न सप्पीति सङ्ग गच्छति, न सप्पिमण्डो ति सङ्ग गच्छति, सौर त्वेव तस्मिं समये सङ्ग गच्छति ।

—दीधनिकाय, पोट्टपादमुत्त

६३३ × १—लंकालएण रत्तंवरवेमिण दिन्नपुप्फयाणेण ।

दहदयणेणेव कयं मीयाहरणं पलासेण ॥ २५ ॥

लङ्कालयेन रत्ताम्बरवेपिणा दत्तपुष्पयानेन

दशवदनेनेव कृतं सीताहरणं (सीताहरण) पलासेन

संस्कृतटीकाकार ने 'लंकालएण' में च्युताक्षरा मानकर व्याख्या की है । च्युताक्षरा और दसाक्षरा—प्रहेलिका के भेद हैं । एक में अर्थ करते समय च्युत ( अविद्यमान ) अक्षर जोड़ दिया जाता है और दूसरे में दत्त ( अधिक रहने वाला ) अक्षर छोड़ दिया जाता है । पलाय-पक्ष में अर्थ करते समय च्युताक्षर को जोड़कर 'लंकालएण' को 'अलंकालएण' बनाना पड़ेगा ।

टीकाकार ने शब्दों के अर्थ इस प्रकार दिये हैं—

लंकालएण = १—अलंकालकेन = अत्यधिक काले किसलय वाले (पलाय-पक्ष)

२—लंका में रहने वाले ।

रत्तंवरवेपिणा = १—रत्ताम्बरवेपिणा = लाल आकाश के समान वेश वाले ।

( पलाय-पक्ष )

२—लाल वस्त्र का वेश धारण करने वाले । ( रावण-पक्ष )

दिन्नपुप्फयान = १—दत्तपुष्पयान = जिसने पुष्प का यान दिया है उस पलाय-  
ने । ( पलाय-पक्ष )

२—जिसने पुष्पक विमान दिया है ( रावण-पक्ष )

इस प्रकार गद्या का यह अर्थ होगा—

अत्यधिक कृष्ण किसलय वाले ( पुष्पों के कारण ), लाल आकाश के समान वेश वाले और पुष्पयान ( ? ) प्रदान करने वाले पलाय ने सीता ( श्रुतु ) का आहरण ( हरण ) कर लिया है, ठीक वैसे ही, जैसे लंका में रहने वाले, लाल वस्त्र का वेश धारण करने वाले और ( सीता को ) पुष्पयान प्रदान करने वाले ( अर्थात् सीता को पुष्पक विमान पर बैठा लेने वाले ) मामुनसी रावण ने सीता का हरण कर लिया था ।

यद्यपि द्वितीय पक्ष में 'दत्तपुष्पयान' का अर्थ सन्तोषजनक नहीं है और 'लंकालएण' का अर्थ भी कुछ ठीक नहीं लगता, क्योंकि पुष्पोद्गम के पूर्व पलाय-पक्ष प्रायः शब्द जाते हैं एवं उनका रंग भी काला नहीं होता है तथापि टीकाकार की मौलिकता क्षमास्पद है । टीकाकार की सुझाई दिया वे याचने पर मुझे कुछ दूरमरा हो अर्थ नाशित हो रहा है—

शब्दार्थ—लकालण = अलकालकेन = १—अत्यधिक भौरोँ वाले  
( अल = अत्यधिक, कालय = भौरा )<sup>१</sup>

२—अति धूर्त ( रावण ) के द्वारा ( कालय<sup>२</sup> = धूर्त )

च्युताक्षरा न मानने पर यह व्याख्या होगी—

लकालण = लङ्कालयेन = १—शाखा पर आधित ( लका = शाखा, आलय  
= आश्रय )

२—लका में जिसका घर है ( रावण )

रक्तवस्त्रेणिना = रक्ताम्बरवेशिना = १—लाल वस्त्रों का वेश धारण करने  
वाले ( पुष्पोपचय के कारण पलाश-  
वृक्ष रक्त वर्ण हो जाता है )

२—अनुरक्तएव आकाश में प्रवेश ( बंध =  
प्रवेश ) करने वाले ( आकाशचारी )  
रावण के द्वारा ( रक्तआसी अम्बर-  
वेशी, अम्बरमाकाश विनति प्रविश-  
तीति अम्बरवेशी ) ।

दत्तपुष्पयानेन = १—दत्तपुष्पयानेन = जिसने पुष्प प्रभाव किये हैं ।

२—दत्तपुष्पयानेन = जिसने पुष्पक नामक विमान प्रदान  
किया है अर्थात् पुष्पक विमान पर बैठ कर लिया है ।

पलाश = पलाश = १—पलाश नामक वृक्ष

२—मासभक्षी राक्षस

अर्थ—अत्यधिक भौरोँ वाले ( या शाखा पर रहने वाले ) लाल वस्त्र के  
समान वेश धारण करने वाले ( रक्तपुष्पयुक्त ) और पुष्प प्रदान करने वाले पलाश  
ने सीता ( श्रुतु ) का हर प्रकार से हरण ( आहरण ) कर लिया है ।

द्वितीयार्थ—अतिधूर्त ( या लकावासी ) अनुरक्त और आकाशचारी तथा  
( सीता को ) पुष्पकविमान प्रदान करने वाले ( अर्थात् पुष्पकविमान पर बैठ  
लेने वाले ) मासभक्षी रावण ने सीता का हरण कर लिया ।

६४१ × ३—सच्च चेव पलाशो असइ पल विरहिपाण महमासे ।

तिस्ति अवस्यमाणो जलइ व्व छुहाइ सब्बग ॥ २६॥

१ पाश्यसहस्रहृण्यव

२ देशीनाममाला, २।२८

सत्यं चैव पलाशोऽस्ताति पल विरहिणा मधुमासे  
तृप्तिम् अन्नजन् ज्वल्यतीव सुषया सर्वाङ्गम्

—श्रीपटदर्शनसम्मत छाया

संस्कृत-टीकाकार ने 'जलइ ख' को 'जलमिव' समझकर व्याख्या की है.—

"किमिव । जलमिव । यथा धुमादीनसर्वाङ्गो जलात् तृप्तिं न प्राप्नोति,  
तथा अथ मधुमासो विरहिणा पलम् अन्नजन् सन् तृप्तिं न ददाति ।"

अर्थात् किसके समान ? जल के समान । जैसे धुआँ से प्रदीप्त जर्ग बाला  
व्यक्ति जल से तृप्त नहीं होता उसी प्रकार वसन्त वियोगियों का मास खाता हुआ  
तृप्त नहीं होता है ।

पता नहीं उपयुक्त अर्थ किस व्याकरण से नमयित है । यदि 'अन्नजन्' को  
मधुमास का विशेषण मानते हैं तो 'धुषया ( धुषाया वा ) जलमिव तृप्तिम्  
अन्नजन मधुमास'—यह वाक्य बनेगा । परन्तु 'मधुमासे' की गतभी इसमें बाधक  
है । फिर इस वाक्य का कर्ता तो पलाश है, न कि मधुमास ।

अग्नेयी अनुवाद यों है.—

"मधुमधु वसन्त में पलाश विरहियों का मास खा जाता है और पकाये  
हुये बूने के द्वारा उनका शरीर जलता रहता है । वह सन्तुष्ट नहीं होता है ।

उपयुक्त अनुवाद में 'ज्व' का कहीं उपयोग ही नहीं किया गया है । साथ  
ही बूने से ( छद्वा = मुखा = बूना ) सर्वाङ्ग को जलाना समझ में नहीं आता ।  
मूल में 'जलइ' किया है । उसका स्थान्तर 'ज्वलति' होगा, 'ज्वल्यति' नहीं ।  
अतः छाया में 'ज्वलति' होना चाहिये ।

गाथा का मोषा-सा अर्थ यह है—

मधुमधु वसन्त में पलाश ( गद्यन और वृक्ष ) विरहियों का मास खाता है  
और तृप्त न होने के कारण मानों उसका सर्वाङ्ग मुख से जलता रहता है ( ठनी  
तो जगार के समान रक्तचर्च दिखाई देता है ) ।

अथवा—मधुमधु वसन्त में तृप्त न होता हुआ पलाश ( वृक्ष और राक्षस )  
विरहियों का मास खाता है । ( उसका ) सर्वाङ्ग मानों धुआँ से जलता है ।

इस प्रकार अव्याख्यात एवं प्रमादवश अन्यथा व्याख्यात गाथाओं के अर्थोंद्वारा  
का काय पुनर्हा गया और साथ ही सरस गाथाओं के गम्भीर में उड़ाई गई  
आपत्तियाँ और गलतियाँ का मार्जन भी कर दिया गया । आशा है, सुधीन मेरे  
इस प्रयत्न का महद्दयता और सहानुभूति के साथ मूल्यांकन करेंगे ।



## गाथानुक्रमणिका

अति० = अतिरिक्त गाथाएँ ( पाण्डुलिपि 'अ' में उपलब्ध तथा परिशिष्ट 'क' में पृ० २७४ से ३४१ तक ) । \* यह चिह्न इस बात को सूचित करता है कि वह अतिरिक्त गाथा किस गाथा क्रमांक के बाद है और किस क्रम पर है ।

× = इस चिह्न से चिह्नित गाथाएँ परिशिष्ट 'ख' में विद्यद् रूप से विवेचित हैं ।

पृ० = पृष्ठ (बालासिलोयवज्जा के अन्तर्गत पृ० ३४० पर विवेचित गाथाएँ) ।

अइक्षपिय विणस्सइ अति० 31*7 ×	अज्ज चिय तेण विषा 376
अकए वि कए वि पिए 38	अज्ज चय पत्तयो अज्ज 375
अकुलीणो दीमुह्वो 52	अज्ज चय पत्तयो उज्जागरओ 374 ×
अक्खदियत्तवयारा अति० 284*1	अज्ज पुण्णा अवहो 382
अगणियसमविसमाण 110 ×	अज्ज चिय तेण विषा अति० 300*3
अगणियसेसमुवापा 425	अज्जाह पुच्छवई अति० 72*3
अग्गिं अ पठमसइ 724	अज्जेव पियवासो अति० 462*2
अग्गाहि महु व गहू 351	अज्जाह नीलकचुय 308
अच्छउ ता इयरजणो 93	अज्जाकवोलपरिसठियस्स 679
अच्छउ ता करिवहुप अति० 214*5 ×	अणवरयवहुलरोमव 25
अच्छउ ता फलणिवहु 740	अणवरय वत्तस्स वि 754
अच्छउ ता फससुहु 407	अणुसिज्जिरोउ आलोइऊण 649
अच्छउ ता लोचनमोमरम्भि 408	अणुणयकुसल परिहास अति० 284*4
अच्छउ ताव सविन्मम 420	अणुरायरयणभरिय अति० 312*4
अच्छोहि तेण भणिय अति० 496*11	अणुसरइ मम्मलम्प अति० 31*2
अच्छोहि पइ सिहिणहि 614	अत्ता जाणइ सुण्ह अति० 496*13
अज्ज कयत्तो दिग्गहो 206	अत्ता बहिरधयिया 492
अज्ज वि विद्धरो मुपहू 168	अत्यक्को रसरहिओ 27
अज्ज वि समरइ गओ 191	अत्यस्स कारणण 572
अज्ज गओ ति अज्ज 377	अत्य घरति वियत्ता 584

अस्मि जससा सखा	759	अबुहा बुहाण मज्जे	30
अस्मि घर चिचय गणखो	499	अमय पाइयकब्ब	2
अस्यो विज्जा पुरिसत्तण	120	अमया मओ व्व	309 X
अइत्तणेण अइदत्तणेण	346	अमरत्तकुमुमनजरि	256
अहत्तण्य दात्तय	347	अमणियगुणो न जुप्पइ	183 X
अहिदुठे रणरणओ दिदुठे ईसा		अमुणियजम्मुप्पत्ती अति०	578*1
अदिदुठए अति०	72*2 X	अमुणियपयसचारा	652
अहिदुठे रणरणओ दिदुठे ईसा		अमुणियपियमरणाए	460 X
विहवणा	337	अमुहा खलो अब्ब कुविसा	302 X
अहिदुठे रणरणओ दिदुठे ईसा		अम्हाण तिणकुरभोयणाण	216
अहिदुठिण	338	अलिण व सच्चवेण व	649
अइत्तखरभणिमाइ	9	अलियपयपिरि	350
अइत्तयमिण सूरे	722	अलिय जपेइ जणो	72
अन्नतरायसरिय	567	अलिया खल अब्ब	अति० 31*8
अन्नप्रल्लगकम्पत्त	707	अलियालावे वियसत्त	711
अन्नता मेहुलया	अति० 318*2	अवधुयअल्लखण	657
अन्न त सयइलिय	अति० 349*4	अवमाणिओ अब्ब समाणिओ	165
अन्न घरति हियए	274	अवरेण तवइ सूरो	642
अन्न न इच्चइ छिय	521 X	अवहत्तियनयपसरो	पृ० ३४०
अन्न छइत्तणय	315	अवहरइ अ न विहिय	673
अन्नासत्ते वि पिण	555 X	अवहियिहागमा	378
अन्ने वि गामराया	287	अब्बो जाणामि अह अत्तण	336
अन्नहि पि न पत्ता	226	अब्बो जाणामि अह तुम्ह	558
अन्नो को वि सहाओ	390	अब्बोजाणामि अहपेम्म	
अन्नान्नणहणिज्जर	अति० 328*1	अति० 349*6 X	
अप्पच्छदपहाविर	453	अब्बो तहि तहि चिय	344
अप्पाकज्जेण वि	288 X	अब्बो घावसु तुरिय	490
अप्पत्तिय न सन्नइ अति०	161*1 X	अब्बो व दूति घणया	310
अप्पहिय बायव्व	83	असई असमत्तरया	अति० 496*2
अप्प पर न याणत्ति	712 X	असईण विप्पिय रे	489
अप्पा अम्यता	91	असईहि सई नपिना	481

असमत्पर्मततताण	58 X	इह इंदयपू इह	627
असरिसचित्ते दियरे	465	इह तिवलिरमणे इह अति०	318*1
अह तोरइ नियकध	181	इहपरलोपविरुद्धेण	469
अह मुजइ सह पिय	99	इह पये मा वचमु	373
अह मरइ धुरालगो	180	इह सोए चिय दीसइ	671
अहवा तुज्ज न दोसो अति०	421*1 X	इतोइ कुनहराओ	अति० 214*2
अहवा मरति गुरुवसण	97	इदिदिर छप्पय	236
अह सुप्पइ पियमालिगगिरुण	98	इदिदिर मा खिज्जमु	अति० 252*3
अहिणवगज्जियमहं अति०	445*2	इदीवरच्छि समयार	अति० 454*5
अहिणवपणउच्छन्निदा	259	इसिदिदिनकज्जल	297
अहिणवपेम्मसमागम	621	उचट्ठाणा वि अति०	312*10
अहिणि अब्ब कुडिलगमणा	560	उच उचादिअकवरेण	650
अहिपाइमाणियो	462	उज्जमिरस्स तणुय	364
अगारय न दाणइ	507 X	उज्जमु विसयं	664
जहोऊउत मयणगि अति०	318*3	उइ उच्चति अहो	702 X
जउत्ता मणुरिसेहि	117	उहुत्ता रणरणया	384
जारन च्चिय चहु अति०	64*4	उत्तमकुत्तेमु जम्म	730 X
जारभो जस्स इमो	331	उत्तुयवणधिरवर	305
जाणवणेण उल्लावणेण	330	उद्धच्छो पियइ जल	445*1
जाविहिइ पिओ चुविहिइ	784	उत्तयकनर मा जूर	224
जासन्नपडणभव अति०	312*7	उत्तय मोवा मोवा	128
जासन्नफओ फणसो	155	उच्चिबे धणहारे	306
जावति सगमासा	726	उच्चिज्जइ सहपारो	632
जासाधिज्जइ चनको	725	उच्चेत अणुलि सा	463
इच्छाणियत्तपसरो	393	उयण भुवणकम्मप	774
इत्तो निवसइ अत्ता	496	उयरे अत्तिकम्परिए	166
इय कइयणेहि रइए	794	उयह तस्कोइराओ	654
इय उवणितरण अति०	449*1	उयहिउवणल्लाप	684
इयरकुमुमेमु महयर	246	उत्तवउ को वि महि	342
इय उवणसाण वि फुड	419 X	उवरि मह चिय वम्मह	392
इयरविहगमपवपति	720	उवहि अहोहि गम्भिर	763

जम्बुद्वीपभारो	अति० 605*1	बोसरसु मयष धेतुष	388
ए कुमुमसरो तुह	394 X	बो मुम्मइ वासहरे	324
एकतो स्यइ पिया	अति० 178*3	बो सुयइ विल्लरविल्ल अति० 214*1 X	
एकस्त्ये पत्पावे	4	कइया गबो पिबो	379
एकम्मि कुले एकम्मि	704	कव्वायपिमलन्धो	647
एकरुनरपहरदारिय	204	कज्ज एव्व पमाण अति० 90*6 X	
एक खायइ मइय	577	कण्हो कण्हो निधि	594
एक चिय सल्लिज्जइ	65	कण्हो जयइ जुवाणो	592
एक दठम्मि पय	172	कण्हो देवो देवा वि	602
एक मत्तुपरहिपय	238	कत्तो उगमइ रई	80
एककाइ नवरि नैहो	74	कत्तो त रायपरसु	205
एककेवकमवइवडिय	129	कत्तो लब्धति धुरघराइ	185
एककेण या पासपरि	262	कत्तो लवगकल्लिया	254
एककेण वि जह धुत्तो	531	कत्त वि दलं न यष	237
एककेण विणा पियमाणुसेण बहुयाइ	780	कट्ठमरुहिरविल्लितो अति० 178*2 X	
एककेण विणा पियमाणुसेण		करचरणगडलोयष	316
सम्भाव 781, अति० 80*3		करफुममल्लचुवष अति० 559*2 X	
एककेण वि सरत्त सरेण	217	करिचिकरप्पियपवसरस	199
एकको विम दुम्बिसहो	638	करिणो हरि-गहुर	581
एकको विम दोमो	731	कलियामितेण उब्भेवि	234
एकको वि को वि निय	1,0	कल्लं किर सरहिमबो	365
ए दइइ मह पसिग्गमु	352	कवट्ठण रमति जष	568
एमेव कह वि कल्ल वि	79	कस्स कएण किन्तोमरि	
एमेव कह वि माणसिणोइ		अति० 624*3 X	
अति० 364*2		कस्स कहिग्गति पुट अति० 421*2	
एय पिय नवरि पुट	11	कस्स न भिदइ हियय	295
एय पिय बट्टाहो	59	कट्ट कह वि रएइ पय	22
एय वज्जालम्ब टणं	795	कट्ट नाम तीह त ठह	312
एय वज्जालम्ब मइय	5	कट्ट लइइ सप्परयं	494
ओ सियए मंडय	207	कट्ट वि गुलगावइय अति० 226*2	
ओपियओ पि धम्ममिय	154 X	कट्ट मा न मज्जतिग्गइ जष	398

कह सा न सभलिज्जइ जा सा		कुप्पाइएहि कुल्लेइएहि	अति० 16*1
अत्तत्त	399	कुप्पुत्तेहि कुत्ताइ	अति० 90*4
कह सा न सभलिज्जइ जा सा		कुलबालिया पसूया	अति० 624*2
परबार	401	कुल्लछण अकिती	569
कह सा न सभलिज्जइ जा सा		कुलबालियाइ पेच्छइ	467
नवणनिणि	400 X	कुसल राहे सुहिओ सि	590
कह सा न सभलिज्जइ जा सा		कुकुमकयगराय	619
नीसाध	402 X	कुजर मइदइसण	अति० 199*5 X
ककेलिपल्लवुब्बेलमणहरे	220	कुदलयाभउलपरिट्टिएण	248
कधीरएहि कणवीरएहि	528	केसव पुराणपुरिसो	599
कठभतरणिग्गय	285	केसाण दतणहुठनकुराण	681
कपति बलति समुत्तसति	405	केसिविधारणइहिस्तल	595
का समसीसी तिर्यासदधान	745	को एत्थ सया सुहिओ	खलण 127 X
का समसीसी सह मालईइ	233	को एत्थ सया सुहिओ	पलिअ 8*7
कित्तिमत्त एय	414	को दाऊण समत्पो	677
किगिओ सि कीस	600 X	को देओ उम्बसिओ	442
किसिणिज्जठि लपत्ता	137	खणभगुरेण विसमेण	अति० 349*2
कि करइ किर वराओ	30	खणमत्त सताओ	383
कि करइ कुरगी बहुसुएहि	200	खरपवणचाडुवालिर	444
कि करइ तुरियतुरिय	636 X	खरफस्त सिप्पिउड	688
कि करि करि म अजुत्त	640 X	खउत्त० जणाण दोसा	64
कि ठाल तुज्ज तुमत्तण	736	खउत्तमे परिचत्त	अति० 64*2
कि तुज्ज पढाए	779	खडिज्जइ विहिणा सवहरो	128
कि तेण आइएण व	701 X	सुहुइ न कडुय जपई	अति० 48*1
कि तण जाइएण वि	699 X	गज्जति घणा भणा य पयया	648
कि वा कुलेण कीरइ	143	गरुमल्लुहाठलियस्स	195
कि वा गुणहि कीरइ	अति० 90*13	गहचरिय देवचरिय	668
कि विहिणा सुरलोए	486	गहवइसुएण भणिय	516 X
कीरइ समुद्धरण	अति० 72*5	गहिऊण चूमजजरि	635
कुदिलत्तण व वकत्तण व	574	गहिऊण समयगव	578
कुदालधायधण	589	गहियविमुक्का तेय	683
		गाइयरचउण्णुनिय	अति० 300*6 X

गाढासणस्त कस्त वि	174	चितामदरमयाण	19
गाढाण रता महिलाण	13	चोरण कामुयाण य	658
गाढाणं गीयाण	17	छज्जइ पटुस्स ललिय	147
गाढा रुअइ थणाहा	अति० 15*1	छणवचणेण वरिसो	89
गाढा रुअइ वराई	15	छन्न घम्म पयड च	90 X
गाढाहि को न होरइ	अति० 18*1	छविज्जइ हस सर	718
गाहे भज्जिहिसि तुम	16	छप्पय गमेसु काल	244 X
गिम्ह दवगि	643	छद अयाणमाणहि	18
गुणवज्जिए वि नेहो	अति० 80*1	छद जो अणुवट्टइ	88
गुणहीणा जे पुरिसा	686	छदेण विणा कब्ब	अति० 31*5
गुणिणो गुणेहि विहवेहि	55	छायारहियस्स	737
गुर्विरहसपिविग्गह	अति० 641*1	छिज्जउ सोस मइ होउ	71
गुर्विहवलपिया अवि	273	छिन पुणो वि छिज्जउ	484
गुर्विहववित्पत्त्यभिर	742	छिन्ने रणम्मि बहुपट्ट	176
गोमहिस्तुरमाण	189	छीए जीव न भणिय	अति० 624*1
गरवावारे धरिणी	466	छुहर दढ कुहाल	586
घाएण मओ सहेण मई	219	छेयाण जेहि कज्ज	275
घत्तुण करड भमइ	526	जइ उरामो सि भणइ	471
घेप्पइ मज्झाण पए	670	जइ कह वि दाण छप्पन्न	281 X
घोसततारवणुज्जलेण	286	जइ गणसि पुणो वि तुम	504 X
घञ्चरघरिणी	464	जइ चदो कि बहुतारएहि	266
घलचमरकण्णचालिर	173	जइ देव मइ पसधो	अति० 349*3
घलवल्लयमहलरव	अति० 328*4	जइ देवरेण भणिया	622
घचुपुःकोडिवियलिय	अति० 641*2	जइ नत्थि गुणा ठा कि	685
घदणतरु म्य सुयणा	48	जइ नाम कह वि सोवर	1०3
घदणवलिय दिढकचि	538 X	जइ फुट्ट एत्थ मुयाण	479
घदस्स खओ न हु तारयाण	267	जइ माणो कीस पिओ	355
घदाह्यपडिबिबाइ	609 X	जइ वज्जसि वज्ज तुम अंचल	369 X
घदो पयलज्जइ पुण्णिमाइ	73 X	जइ वज्जसि वज्ज तुम एण्ह	367
घिहूणविशयल्लचहुट्ट	182	जइ वज्जसि वज्ज तुम को	366
चिरपालसठियाइ	अति० 178*1	जइ विसइ विसमविबरे	122

जइ वि हु कालवसेण	757	जह जह बड्ढति घणा वियसइ	209
जइ सा पइणा भणिया	615	जह जह बड्ढेइ ससी	265
जइ सा सहीहि भणिया तुज्ज पई	624	जह जह बाएइविही अति०	119*3
जइ सा सहीहि भणिया तुज्ज मुह	613	जह पढमदिणे तह	279
जइ सामुयाइ भणिया	623	जह पढमे तह दीसइ	793
जइ सो गुणापुराई	470	जह पलहिगुणा परछिइ	710
जइ ना न एइ गेह	417	ज चिय विहिणा लिहिय	674
जइसबाहियकरुस	709	ज जस्स मम्मभेम	81
जणमकुल न मुत्त	493	ज ज डाल सवइ	124
जसो गेहस्स भरो	292	ज जाणइ भणइ जणो	689
जसा विलोलपम्हल	294	ज जाणइ भणउ जणो अति०	90*11
जरम गओ तरय गओ	544	ज जि खमेइ समथो	87
जरय न उज्जगरओ	333	ज जोहाइविलग	225 X
जरय न खुज्जयविडवो	482	जठिय गुल विमग्गसि	533
जम्मदिणे घणणिबडण	149	ज तुह कज्ज भण त	415
जम्मतर न गरुय गरुय पुरिसस्स		ज दिउजइपहरपरम्बसेहि	162 X
गुणगणःगहण अति०	90*10	ज नयणेहि न दीसइ	125
जम्मतर न गरुय गरुय पुरिसस्स		ज पक्खालियसार	791
गुणगणःरुहण	687	ज सेवयाण दुक्ख	151
जम्मे वि ज न हूय	54	जा इच्छा कावि मणो	628 X
जरुणइहणण न तहा	768	जाइविमुट्ठाण नमो	201
जरुणपडेओ बामीभरस्स	767	जाई रुव विज्जा	144
जरुण जल च अमिय	752	जाएण तेण घवलीकओ	760
जरुणिहिमुक्केण वि	747	जाएण भाणप्पसरे	345
जस्स तुम अणुरत्ता	543	जाओ पिय पिय पइ	563 X
जस्म न गिण्हति गुणा अति०	90*3	जाओ सि कोस पवे	733
जस्स न गेण्हति गुणा	698	जाणिज्जइ न उ पियमपिय	655
जह कयप तह पडिमाण	771	जा न चलइ ता अमय अति०	349*7
जह जह न चडइ छावो	210 X	जा नीलजलहरोदार	651
जह जह न समप्पइ	113	जाप्पामुयविरइ	194
जह जह बड्ढति घणा तह तह	208	जारट्टविणिम्मिय अति०	498*6

चारमहाजसमुन्भव	अति० 496*7	इज्जत सकुयकम्ब	अति० 31*3
जब न वियसइ सरसा	242	इज्जत सो जोइसिओ	503 X
जोय जलविंदुसम	665	इज्जसि इज्जसु	454
जूरिज्जइ कि न जए	769	इज्जति कटति	404
जूहाओ वणगहण	198	इज्जतु सिसिरदियहा	656
जे के दि रसा	अति० 412*1	इहिऊण निरवसेस	644
जे जे गुणिणो जे जे	140	इभित्तणम्मि इभेहि	अति० 496*3
जेण विणा न दलिज्जइ	557	इमाण भुत्तसेस	461
जेण सम सबधो	अति० 496*1	इकसि हत्येण मुह	612
जे भग्गा विहवसमीरणेण	142	इलिया य मही	509
जेहि चिय उन्मविया	62	इखरसेसो वि महुरेहि	261
जेहि नीओ वडिड	738	इरुत्तुत्ततो रच्छामुहेसु	625
जेहि सोहुमणिही		तइया बारिज्जती	545
389, अति० 389*1		तइ बोलते बालय	अति० 445*5
जोइखो गिलइ तम	776	तहियहारम	119
जोइसिय कीस चुक्कसि	500 X	तह कह वि कुम्भुत्तुते	380
जोइसिय मा विलबसु	498	तह चपिऊण भरिया	314
जो जपिऊण जाणइ	272	तह जडिण जठ	536
जो ज करेइ पावइ सो त	480	तह क्षीणा जह मउलिय	437
जो चम्मिओ न पावइ	522	तह क्षीणा तुह विरहे	433
जणत्तणइ कणयओरो	327	तह तुह विरहे मासइ	227
जिज्जइ क्षीणम्मि सया	75	तह तण वि ना दिट्ठा	412
जिज्जत हियय फुट्टु	450	तह नीससिय षूहाहिबेण	196
क्षीणविहवो वि सुयणो	94	तह रुक्ख तोइतड	अति० 605*2
ठइडा खलो व्व सुयणो	301	तह वासिय वण मालईइ	232
ठाणत्तुमाण सुदरि	अति० 312*5	त कि पि कम्मरयण	111
ठाणयरेहि एहि	अति० 312*11 X	त कि पि पएस	अति० 252*2
ठाण गुणहि लम्भइ हारो वि		त कि पि कह वि	485
गुण	अति० 90*14	त कि पि साहस	108
ठाण गुणेहि लम्भइ " हारो वि नेय	590	त कि वुचइ कम्ब	अति० 31*6
ठाण न मुयइ धीरो	682	त जत सा कुडी	537



ત દટૂળ જુવાળ	617	તુહ અત્રેસણકજ્જમ્મિ	424
ત નત્થિ ધર ત	અતિ° 64*1	તુહ ગોત્તાયણ્ણ	422
ત નત્થિ ત ન હૂય	278	તુહ તુગપબોહર	૫° 340
ત નમહ જસ્ય મોટ્ટે	591	તુહ વિરહતાવિયાણ	434
તવાઝ તિથિ મુપઓ	160	તુહ સગમદોહલિગીદ	423 X
ત મિત્ત કાયબ્બ જ કિર	68	તુહ મુરયપવરત્થ	અતિ° 389*2
ત મિત્ત કાયબ્બ જ મિત્ત	69	તુગો સ્થિય હોદ મળો	102
ત બલ્લિઓ સિ પિયયમ	289	તુગો યિરો વિસાલો	361
તા કિ કરેમિ પિયસહિ	411	તે મિરિસિહરા તે	221
તા કિ કરેમિ માણ નિજ્જિયરુથસ્સ		તે ઘમ્મા કઢિનુત્તુગ	447
	અતિ° 397*1	તે ઘમ્મા મરયણિયબ	446
તા કિ કરેમિ માણ લોચણ	410	તે ઘમ્મા તાણ નમો તે કુસલા	
તા કિ ભણ્ણ કિ ચિત્તિણ્ણ	676		અતિ° 284*5
તા જાહ તા નિયસહ	અતિ° 389*5	તે ઘમ્મા તાણ નમો તે મરયા	101
તા તુગો મેરુગિરિ	103	તે ઘમ્મા તાણ નમો તે સ્થિય	448
તા ઘણરિદ્ધો તા	659	તે ઘમ્મા સમયગહ	449
તા નિમ્મુણ સ્થિય વર	695	તોલિજ્જતિ ન કેળ વિ	અતિ° 551*1
તા રુવ તાવ ગુણા	134	યણ્ણકળપકલસ	અતિ° 312*3
તાવ સ્થિય ઢલ્હલયા		યણ્ણજુયલ્લં તીદ	311
છયા નેહ્વિટ્ટુણા	અતિ° 284*2	યણ્ણહાર તીદ મમુત્તયં	અતિ° 312*9
નાવ સ્થિય ઢલ્હલયા		યલ્લો ચકમ્મીવો	50 X
મિદ્ધત્થા રણ છેયા	559	યરયરદ ધરા સુરુભતિ	106
ઠાવસિય હોદ મુદ્	339	યરયરયરેદ હિયય	136
ઠાવ ય પુત્તિ છદલ્લો	349	યોરમમ્માઈ સુદર	539 X
ઠા વિશ્વિયણ્ણ મયળ	104	યોરમુસલ્લિસિલ્લો	386
તિળ્લુગા વિ હુ સહુય	135	દડયાદસળતિણ્ણાલુપસ્ય	445
તિલ્લુમમેત્તંણ વિ	626	દટૂળ કિમુયા સાહા	741 X
તિલય વિગ્ગ	416 X	દટૂળ તરણમુરય	319
તિહુયળળમિઓ વિ	593	દટૂળ રયણિમજ્જે	322
તુ ઇં ઠવર્ણિ પિ	456	દટ્ટળ્ણાલપરિસંઘિયસ્સ	359
તુલઓ વ્વ સમા	303	દટ્ટળ્ણાલપમરિય	અતિ° 349*5

दशरोसकलुसिगस्स वि	35	दूरदृष्ट्या न दूरे	77
दशसियकडक्क	552	दूरयरदेसपरिसत्थियस्स	महतस्स 786
दत्तच्छोह तदवियदमोढण	186	दूरयरदेसपरिसत्थियस्स	वहतस्स
दत्तगहक्खयमहिय	323		अति० ८८*2
दत्तुल्लिहण सन्वग	अति० 199*2 X	दूर गए वि कयविप्पिए	340
दत्ते तिणाइ कठे	अति० 364*1	दे ज पि त पि	अति० 226*1
दाहिमफल व पेम्म	334 X	देमि न कस्स वि जपइ	585 X
दाण न देइ न करेइ	332	देवाण वभणाण य	477
दाण न देति बहुल	547	देसियसद्वपलोदृ	28
दारिद्व तुज्ज गुणा	138	देसे गामे नयरे न पसरइ	700
दारिद्व तुज्ज नमो	139	देसे गामे नयरे न वियरइ	
दाहिणकरेण खण	187		अति० 90*15
दिट्ठा हरति दुक्ख	36	देहि त्ति कह नु भण्णइ	158
दिट्ठातुत्ताइ भुवण	277	दोसिय वणगुणसार	792
दिट्ठी विट्ठिठप्पसरो	391	दोहिं पिय पञ्चत्त	42
दिट्ठे वि णु होइ सुह	78	वणसचया सुगुप्ता	565
दिट्ठो सि जेहि पयिय	443	वणु सवइ भुयवलय	अति० 300*1
दिट्ठोहसकलाण	72	वन्न त चेव दिण	785
दिन गेण्हइ अप्पइ	अति० 412*6	वघ्ना बहिरवल्थिया	अति० 64*3
दिन वणाण अण	211	वम्मत्यकामरहिया	145
दिना पुणो वि दिण्णठ	अति० 284*7	वम्मिय वम्मो सुव्वइ	अति० 532*2
दीण अम्मुदरित	44	वम्मो वणाण मूल	अति० 90*8
दीसति ओयसिद्धा	141	ववल ववलच्छोए	597
दीहरस्सहिमाहत्यो	497	घा व धारिया	१०

नदपूरसञ्छहे	354	नाराय निरक्षर	770
न गणेइ रुचवंत	566 X	नासइ जूएण धणं	अति० 90*9
नग्यति गुण। विहडति	123	नासइ वाएण तुसं	अति० 90*5
न जलति न धमययति अति०	389*6	नाह दुई न तुयं	438
न तहा पइमरणे नि हू अति०	214*3	निम्मुण गुणेहि निय	696
न तहा मारेइ विसं	385	निहयकुहालयमज्झ	588
न तहा लोयम्मि	660	निहानमो आवहुरत्तण	353
न मए इणां न कयं	370,	निदमो गुणरहिमो	53 X
अति० 300*7		निदोयउदयकस्तिर	766
न महमहणस्त	118	निबिडवलसठियं	232
नमिऊण गोरिवयणस्त	610 X	निम्मलपवित्तहारा	564 X
नमिऊण ज विडप्पइ	100	नियकम्मोहि वि नीय	703
नयणन्नतरपोलठ	430	मियगुणणेहवयकर	778
नयणाइ तुज्झ मुदरि	296	नियडकुडंग पच्छन्न	472
नयणाइ तुहू विमोर	426	निययाएणु मलिणा	777
नयणाइ नयति	अति० 454*3	निबडइ जहि जहि	पू० 340
नयणाइ पुत्तसु	अति० 454*4	निवयति जत्थ छेया	271
नयणाइ समानियपत्तलाइ	291 X	निहणति पण	580
नयणाण पडठ वज्ज	299	नीरसकरीरस्सर	734
नयरं न होइ	270	नीसससि स्यसि	अति० 226*3
नवजलिनमुणाल्लुण्ण	261	नीससितक्कपिय	406
न दिना सडमावेणं	536	नेच्छइ मग्गममण	169
न वि तहू पडम	325	नेच्छसि परावयार	41
न तहूइ अग्गत्थणियं	60	पटरजुवाणो गामो	476
नहक्कुग्गयमिन्ना ममुह्गय		पत्तानिजेण पट्ठो	177
अति० 312*8		पत्तुक्खेवं नह्गूइ	235
नहक्कुग्गयमिन्ना हारावमि		पज्जरण नह्गूइ	235
अति० 312*1		पज्जगणं गोमंभो	अति० 550*1
नह्मागमेयजणो	51	पडिवज्जंति न सुयणा	40 X
न हयंनि परं न पुवति	37	पडिवन्नं जेण गमं	76
न हू कसग वि वेति पण	579 X	पडिवन्न दिणयर	66

ददरोसकलुसियस्स वि	35	दूरद्धिया न दूरे	77
दरहसियकडवस्स	552	दूरपरदेसपरिसठियस्स ' महत्तस्स	786
दत्तच्छोहं तदवियदमोडण	186	दूरपरदेसपरिसठियस्स	बहुत्तस्स
दत्तगह्वस्सयमहिय	323		अति० ८०*2
दत्तुल्लिहण सम्बध अति० 199*2 X		दूर गए वि कयविप्पिए	340
दत्त तिणाइ कठे अति० 364*1		दे न पि त पि	अति० 226*1
दादिमफलं व पेम्म	334 X	देमि न कस्स वि जंपइ	585 X
दाण न देइ न करेइ	332	देवाण बभणाय य	477
दाण न देति बहुल	547	देसियसदुपलोदु	28
दारिदय सुज्ज गुणा	138	देसे गामे नयरे न पसरइ	700
दारिदय सुज्ज नमो	139	देसे गामे नयरे न विमरइ	
दाहिणकरेण सग्ग	167		अति० 90*15
दिट्ठा हरति दुक्ख	36	देहिं सि कहं नु भण्णइ	158
दिट्ठातुसाइ भुक्ख	277	दोसिय पणगुणसार	792
दिट्ठी दिट्ठप्पसरो	391	दोहिं पिय पज्जत्त	42
दिट्ठ वि हु होइ सुह	78	धणसपया सुगुज्जा	565
दिट्ठा सि जेहि पयिय	443	धणु सपइ भुयवत्तयं अति० 300*1	
दिट्ठलोहसकलाण	72	धन्नं तं चेव दिण	785
दिन्नं गेण्हइ भण्णइ अति० 412*6		धन्ना बहिरपलिया	अति० 64*3
दिन्नं पणाण अय्यं	211	धम्मत्थकामरहिया	145
दिन्ना पुणो वि दिज्जत्त अति० 284*7		धम्मिय धम्मो सुम्भइ अति० 532*2	
दीण अग्गुदरिं	44	धम्मो पणाण मूलं अति० 90*8	
दीसवि जोसिद्धा	141	धवत्तं धवत्तच्छोए	597
दीहरसडियाहत्थो	497	धावति तम्महं पारिया	300
दीहं लण्हं बहुमुत्त	788	धीरा मया वि वज्जं अति० 119*2	
दीहुण्हपउरणी छास	223	धीरेण समं सम	112
दुक्खं कीरइ कम्बं	6	धुत्तीरणं धम्मिय जइ इण्डसि	523
दुक्खहिं वि तुहं विरहे अति० 438*2		धुत्तीरणं धम्मिय जो होइ	
दुग्गयपरम्मि परिणी	457		अति० 532*1
दुग्गं तुमं पिय कुसला	413	धुत्तीरयस्स कज्जे	524 X
दुइ गमागमसेउत्त	418 X	धुत्तीरयाण कज्जेण	525

नइपूरसच्छे	354	नाटय निरस्वर	770
न गणेइ रुक्वत	566 X	नातइ जूएष घष	अति० 90*9
नगति गुणा विहडति	123	नातइ वाएष तुष	अति० 90*5
न जलति न घगवति अति०	389*6	नाह दुई न तुम	438
न तहा पइमरणे वि हु अति०	214*3	निगुण गुणेहि निय	696
न तहा मारेइ विस	385	निहयकुहाअमज्ज	588
न तहा लोयम्मि	660	निहानगो बावहुत्तण	353
न मए हण्ण न कय	370,	निदमो गुणरहिओ	53 X
अति०	300*7	निदोयउदयकसिर	766
न भहुमहणस्स	118	निबिडलत्तठियं	252
नमिज्ज गोरिवयणस्स	610 X	निम्मत्तवित्तहारा	564 X
नमिज्ज ज विदप्पइ	100	नियकम्मेहि वि नोय	703
नयणम्मतरधीलत्त	430	नियगुणणेहवयकर	778
नयणाइ गुज्ज सुवरि	296	नियडकुडग पच्छन्न	472
नयणाइ तुहु विओए	426	नियमालएसु भलिणा	777
नयणाइ नयति अति०	454*3	निवडइ जहि जहि	पु० 340
नयणाइ पुत्तसु अति०	454*4	निवसति जत्थ छेया	271
नयणाइ समाणियपत्तलाइ	291 X	निहणति घष	580
नयणाण पडव वज्ज	299	नीरप्रकरीरखर	734
नयर न होइ	270	नीत्तसति खसि अति०	226*3
नवणल्लिगमुणाल्लुत्तोल	261	नीत्तसिडक्कपिय	406
न विणा सङ्गावण	536	नेच्छइ मग्गमग्ग	169
न वि तहु पढम	325	नेच्छसि परावयार	41
न सहइ अश्रत्तणिय	60	पत्तरजुवाओ भाओ	476
नहङ्गतगयमिन्ना समुहागय	अति० 312*6	पक्खणिण्ण पट्टणो	177
नहङ्गतगयमिन्ना हारावति	अति० 312*1	पक्खुक्खेव नहसूइ	235
नहपामनेयज्जणो	51	पज्जरण नहसूइ	235
न हसति पर न युवति	37	पज्जअण रोमवो अति०	559*1
न हु कस्त वि देति घण	579 X	पडिवज्जति न सुयणा	46 X
		पडिवन्न जेष सम	76
		पडिवन्न दिणयर	66

पश्चिम विषये	719	पुच्छिष्ठज्जता निय	583
पश्चिम विषये मह	आत० 496*14	पुणरुत्तपसारियदीह	222
पश्चिमभरणहर	अति० 349*1	पुरिसविसेसेण सइ	468
पत्ते पियपाहुणए	458	पुरिसे सच्चसमिद्धे	84
पम्मुहसुत्त अट्ठी	790	पुब्बेण सण पच्छेण	474
पयडियकोसगुणइडे	708	पेक्कसह महामुचोज्ज	475
पयडियपयावगुण	अति० 64*5	पेम्मस्स विरोहिय	348
परधरगमणालसिणी	अति० 462*1	पेम्म अणाइपरमस्य	329
परपत्तयणापवन्नं	133	फण्णेण समं महि	156
परपुरपवेसविन्नाण	अति० 438*5	फक्क न मणसि	40
परछोयगयानं पि हु	692	फलसपत्तीइ समो	114
परविवरलद्धलक्खे	57 X	बद्धो नि तुम पोओ	765
परमुच्छेयपहरणेण	729	बहसे तमवयारे रमिय	
परिघूसरा वि सहयार	631	अति० 496*8 X	
परिमुत्तइ करयलेण वि	582	बहसे तमवयारे विज्जुजोएण	
परिहासवासछोइण	607	अति० 72*8	
पल्लविय करयल	313	बहुकूडकवडभरियाण	280
पल्लिपएसे पज्जुस	अति० 214*4	बहुकूडकवडभरिया माया	669
पसरइ जेण समोहो	487	बहुगवल्लुड महुयर	अति० 252*4
पाइयकम्बम्मि रसो	21	बहुतरुवराण मज्जे	732
पाइयकम्बस्स नमो	31	बहुसो वि कहिज्जत	439
पाइयकम्बुल्लावे	अति० 31*4	बंधवभरणे वि हहा	459
पामरबहुयाइ	अति० 300*2	बालय नाहं इई	अति० 438*3
पायडियबाहुमुल	पू० 340	बात्तं अराविलगि	519
पायवडिओ न गणिओ	362	बाल्य असमत्तरया	अति० 328*5
पाविज्जइ जत्य सुहु	675	बाल्यकवोडलावण	अति० 318*5
पासपरिसिठिओ वि हु	691	बाल्य लावण्णपिहो	अति० 318*6 X
पियकेलिसगमोसारिएण	694	बुद्धो सच्चं मित्तं	अति० 90*12 X
पिहुत्त मसिभायणय	510	वेणिं वि महणारंभे	131
पुक्कारएण विज्जय	515	वेणिं वि रण्णुप्पत्रा	203
पुक्कारय पत्तज्जु	513	वेणिं वि हुंति गईओ	95

वे पुरिसा घरइ घरा	45	मह एसि कीस पणिय	491
वे मग्गा भुवणयले	95	महणम्मि सखी महणम्मि	32
व वि सपन्खा तह	260	महिला जत्य पहाणा	जति० 90*2
भग न जाइ पडित	जति० 349*8	महुरारज्जे बि हरी	603
भग्ग पुणो धडिज्जइ	जति० 349*9	महारय विवज्जइ	529
भग्गे बि बले बलिए	163	मा इदिदिर तुगमु	245
भग्गे गिम्हप्पसरो	646	मा उण्ह पियमु जल	441
भणिओ वि जइ न	506	मा जाणसि बीसरिय	जति० 72*6
भइमुहमडण	542	मा जाणह जह दुग	202
भइ कुलगणण	जति० 471*1	मा जाणह मह सुहय	576 X
भमर भमरुण तए	255 X	मा तिज्जमु मणुदियह	193
भमरो भमरो ति गुणो	247	माणबिड्ढण रु दीइ	789 X
भमिओ चिर असेओ	541	माणससररहिमाण	263
भमिओ ति भमसि	772	माणससरोरुहाण	जति० 263*2
भयव हुदास	जति० 496*4	माण अपलवती	357
भुजइ भुजियसस	455	माण हु तम्मि किज्जइ	363
भुजति कसणहसणा	159X	माणिणि मुएतु माण	356
भुमीगय न बसा	723	मा दोस चिय गण्हह	745
भुमीगुणण वडपायवस्स	735 X	मा पत्तिम पि दिज्जतु	488
भुमीसयण जरणीर	152	मा पुत्ति कुणतु माण	358
भुसणपसाहणाठवरैहि	554	मा पुत्ति वकवक	282
भइरा मयककिरणा	395	मा रज्ज सुहजणए	641 X
भडलतस्स म मुवका	739 X	मा रुवमु ओषममुही	473
भग विय अलहवो	307	मा रुवमु पुत्ति	546
भगतो मुलियमुलियाइ	553	मालइ पुणो वि मालइ	239
भज्झण्हपत्तियस्स	440	मालइविरहे रे तरुण	241 X
भइह मालइकलिय	230	मा वक्कह बीत्तम	61 X
भइहुल्लिमाइ कि तुह	231	मा सुमरतु चदन	192
भयणाणत्तसुधुविस्सय	385	मा होतु सुयग्गाही	जति० 90*7
भइमरुमार ति	320	मित्त पयतोयसम	67
भसि मल्लिऊण न याणत्ति	508	मित्ता मूरो कयपत्त	719

मुक्ताहलं व कम्बं	8	रे रे कम्बिकालमहा	43
मुक्ताहलं व पट्टणो	693	रे रे विडम्प मा	483
मुय माण माण पियं	360	रे समिवाहणवाहण मा	371
मुहभारियाइ सुट्ठु वि	540	रे समिवाहणवाहण वारिज्जंतो	372
मुहराओ च्चिय पयडइ	403	रेहइ पियपडिहं भण	अति० 389*4
मूलाहितो साहाण	645	रेहइ सुरयवसाणे	328 X
मेरु तिणं व सग्गो	105	लञ्छिणिलयत्तणुत्ताण	714
मोत्तूण करणगणिमं	505	लञ्छीइ विणा रयणायरत्त	750
मोत्तूण बालंतंत	520 X	लञ्छीए परिगहिया	713 X
मोत्तूण विवडकेसर	अति० 252*1	लत्तिए महुक्खए	29
रइकलहुक्खियगोरो	606	लवणममो नत्थि रत्तो	अति० 90*1
रञ्छानुलगवडिओ	अति० 496*10	त्तकालएण रत्तवर	अति० 637*1 X
रज्जंति नेय कस्स वि	548 X	लकाल्माण पुत्तय	637
रज्जावंति न रज्जाहि न दंति	550 X	लोलावल्लोयणेण वि	283
रज्जावंति न रज्जाहिं हरंवि	549	वइमग्गपेसियाइं	427
रणरणइ धरं रणरणइ	अति० 72*7	वग्गण नहा माहाण	214
रत्तं रत्तेहि सिमं	अति० 300*5	वच्चिहिसि तुम पाविहिसि	अति० 263*1
रत्ते रत्ता कसणम्मि	551	वज्जत्यल व मुहडस्स	178
रमियं जह्निञ्जयाए	661	वडवाणलेण गहिओ	751
रयणाइ मुरण समप्पिज्जण	758	वडवसि विरहे	अति० 389*7
रयनायरत्तत्तेण	356	वडवप्पु मालइकलिए	228
रयनायरत्ति नामं	762 X	वड्ढावियकोसो जं	715
रयनायरम्मि जम्मो	268	वणयतुरमाहिस्सो	630
रयनायरत्तस न हु होइ	755	वण्णद्वा मुहरपिमा	561 X
रयनायरणेण रयणं	746	वम्मह पत्तण्णिज्जो	396
रयणुज्जलप्पवोहं	20 X	वम्महमवत्तणदिब्बोत्तहोइ	663
रयणेहि निरंतरप्पूरिएहि	753	वरतरुणियवण	680
रायणम्मि परिसिञ्चिस्स	678	वमियमयं नरआळ	666
राहाइ कवोलतलुच्छलत्त	596	वरितिहिसि तुम	157
रणरणइ वत्तइ	240 X	ववसायफल विह्वो	116
वंदारविदमदिर	633		



वम पहिय अगण चिय	495	विविह्विह्वगमनिबहण	721
वसिऊण मज्झ हियए	368	विसहरविसग्गिससग्ग	387
वसिऊणसग्गलोए	253	विह्वडउ मडलिवधो	601
वक्कमणियाइ कत्तो अति० 284*3		विह्वडति मुया विह्वडति	672
वक ताण न कीरइ अति० 284*6 X		विह्वक्कए वि दाण अति० 119*1	
वकेहि पिओ सरलेहि	298	विह्वक्कए वि मुयणो अति० 48*5	
वाणियय हत्थिदत्ता	213	विहिणा ज चिय लिहिय	129
वाससएण वि बद्धा अति० 16*2		विहिंविहिय चिय लम्भइ	132
वासारत्ते वावासियाण अति० 373*1		विण्ण विणा वि गया	188
वासारत्ते वासदधुएण अति० 445*3		वेलामहल्लकल्लोत्त	749
विठल फल्लय पोरा	502	वत्तहलालाव	421
विठल वि जल जल अति० 263*4		वसाण कवडसय	571
विज्ज तुहागमण चिय	517	वोसट्टवह्वपरिमल	249 X
विज्ज न एसो जरओ	511	सउणो नहुसउणो	775
विज्जय अन्न वार	518 X	सकुक्कलक निपकठ अति० 472*2	
विज्जुमुयगमसहिय अति० 652*1		सक्कपमसक्कय पि हु	7
वियड सो परिसक्कउ	171	सगुमाण निग्गुणाण य	70 X
वियडा वि जतवाया	534	सच्च अण्ण कोयड	397 X
वियडइ धण न माण	164	सच्च चिय चवइ जणो	604 X
वियलिमत्तएण वि	773	सच्च चिय मुयणी	598 X
वियलिमदल पि	250	सच्च चव पलासो अति० 641*3 X	
वियलिममएण गम	190	सच्च जरए कुसलो	512 X
विमसत्तसरस	243	सच्च पलात्त ज	743
विमसत्तु नाम	229	सच्चुच्चरणा पडिवन्न अति० 48*4	
वियसियमुहाइ	530	सच्छद बोलिज्जइ	148
विरहग्गिजलणजाला अति० 389*3		सच्छदिया सरूवा	12
विरहपलित्तो रे वरमइद	197	सज्जणसलाहणिज्जे	705
विरहेण भदरेण व	381	सट्ठीइ होइ सुहवा	478
विबरीए रडविद	501 X	सत्पत्तप पडिमस्स वि	121 X
विबरीयरया लच्छी	611	सइपलोट्ट दोतेहि	24
विविह्वकइविरइयाण	3 X	सहालय सरूव	535

सहावसद्भीरु	23	सतहि असत्तेहि य	82
सम्भाववाहिरेहि	276	सधृक्किज्जइ हियए	634 X
सम्भावे पहुहियए	175	सपत्तियाइ काल गमेसु	570 X
समजत्तुगविसाला	304	सपत्तिया वि खज्जइ अति०	496*9
सयलजणपिच्छिज्जो अति०	199*3	सभरसि कण्ह कालिदि	605
सरला मुहे न जीहा अति०	199*4 X	सभरिण य रुण	428
सरसल्लिएण भणिय	218	सा तइ सहत्थदिग्ग	432
सरसाण सूरपरिसठियाण	717 X	सातम्मि हियय दुलहम्मि	
सरसा निहसणसारा	575	अति०	454*2 X
सरसा वि दुमा	63	सा तुज्ज कए गयमय	435
सरसा वि हु कव्वकहा अति०	31*1	सा दियह चिय पेच्छइ	
सरहसरमणसमण्ण	326	अति०	438*1
सवियारसविम्मम	293	सामा खामा न सहेइ	514
सव्वत्तो वसइ धरा	697	सामा नियदगच्या	317
सव्वन्नुवयणपक्कय	1 X	सायर लज्जाइ कह	764
सव्वस्स एह पयई	39	सा रेवा ताइ पाणियाइ	187
सव्वगरागरत्त अति०	578*2	सालत्तय पय ऊरएसु	620
सव्वायरेण रक्खह	264	सालकाराहि सल्लखणाहि	10 X
सव्वो गाहाउ जणो	14	सा मुहय सामसगो अति०	438*4
सव्वो छुहिओ सोहइ	161	साहसमवलवतो	107
ससिवयणे मा वच्चसु	पृ० 340	साहीणामयरयणो	761
सहइसलोहा वणघाय	562 X	सिग्घ आरह्ठ कज्ज	92
सहस त्ति ज न दिट्ठो	284	सिद्धगणाउरत्थल अति०	199*1
सहस त्ति ज ष भज्जइ अति०	318*4	सियकसिचदीहज्जल अति०	300*4
सकुइयकपिरगो	662	सिरजाणुए निउत्तो	587 X
सकुयइसकुयते	146	सिसिरमयरदपज्जरण	532
सकेयकुडगोहीण अति०	496*5	सिहिपेहुणावयसा	212
सधडियधडिय	106 X	सिहिरडिय घणरडिय अति०	445*4
सचुणिययोरजुय	179	सिचतो वि मियको अति०	496*12
सपासमए परिकुविय	608	सील वर कुलाओ कुलेण	86
रेति	56	सील वर कुलाओ दालिह	85

सोमन कह न कीरइ अति० 507*1 X	नो मासो त पि दिन अति० 412*3
सुपमाणा य सुमुत्ता 573	सोमणमई उ निवससु 744
सुम्मइ पचमगेय 290	सो सुवइ सुह सो 341
सुम्मइ बलयाण रवो 321	सो सोहइ दूसतो 26
सुयणस्म होइ सुक्ख अति० 48*2	सो होहिइ को वि दिणो 873
सुयणो म कुप्पइ चिय 34	हत्थट्ठिय कवाल 436
सुयणो सुदसहावो 33	हत्थप्फेण वि पिय 409
सुरप्पमुत्त कोवण अति० 328*3	हत्थे ठिय कवाल अति० 72*4
सुरपावसाणसमए अति० 328*2	हयदुग्गमस्स वयण 49
सुरसरिपूर बढविडवि अति० 72*1	हरसरसरणम्मि गओ 269
सुद्धाइ परोहइ 527	हरिणा जाणति गुणा 215
सुमइ व पफ 653	हत्थुण वरणइइ 618
सुत्तिएण निहत्तिएण वि 728	हत्थेहि समं जह अति० 263*3
सुहय गय सुह विरहे 431	हत्थो मवाणमज्जे 258
सुहिउ ति जियइ पू० 340	हत्थो सि महासरइइओ 257
सुहियाण सुहजगया अति० 641*4	हारेण मामि कुमुन अति० 397*2 X
सयच्छेण पेच्छह 318	हा हियय कि किल्म्मसि 452
सण चत्ति पलए 47	हा हिहय क्षीणसाहस 451
सो कस गओ सो सुयणवल्हो	हिट्ठकयकटयाण 706
सो सुहाण 782	हिट्ठट्ठ जडणिवह 150
सो कस गओ सो सुयणवल्हो	हियए ज न निहित अति० 284*8
सो सुहासिय अति० 412*2	हियए जाओ तत्थेव 115
सो को वि न दीसइ सामलणि	हियए रोमुगिण्ण 616
एयम्मि 343	हिययट्ठिओ वि पिओ अति० 412*4
सो का वि न दीसइ सामलणि	हिययट्ठिओ वि सुहो 787 X
जो घइइ अति० 349*10 X	हे हियय जन्ववट्ठिय अति० 454*1
सो चिय सयइ सो चिय 184	होसइ किल साहारो 639
सो ठहाइयपहिय व्व अति० 312*2 X	होहो त किपि दिण अति० 412*5
	होति परकज्जपिरया अति० 48*3